भारतीय संस्कृति कोष

भाग II - कला एवम कलाकृति

CULTURAL ENCYCLOPAEDIA INDICA

VOL.II - ART & ARCHITECTURE

डॉ० किरण कुमारी

भारतीय संस्कृति विशद् एंव बहुआयामी है। इस सांस्कृतिक वृक्ष का भूमि वेदकालीन युग में है तो इसका शिखर आज के वैज्ञानिक काल में। इसकी कई शाखाएँ और प्रशाखाएँ भी है।

इसकी गहन एंव विश्वसनीय प्रस्तुति विदुषी लेखिका द्वारा प्रंशसनीय श्रम विपुल स्वाध्याय एंव अपार श्रम के आधार पर तीन वृहत् खंडों में की गई है। इसमें संस्कृति से सम्बन्धित सभी अंग- उपांग जो ऐसी कृति की अनिवार्यता है प्राप्त है।

इन खंडों में एक ओर वैदिक कालिन यज्ञों की हविष- धूम की सुंगध एंव श्रुतियों में संग्रहित ऋचाओं की अनुगूंज मिलेगी तो दूसरी तरफ हरप्पन मोहिंजोदरों के गर्भ से निस्सृत एंव समृद्ध सभ्यता- संस्कृति की विस्तृत झलक भी। इसमें जहाँ प्राचीन और मध्य युग की आध्यात्मिकता और आस्था प्राणों में स्फूर्त्ति और उल्लास भरती है, वहीं आज के वैज्ञानिक युग की उपलब्धियों तथा सफलताओं- असफलताओं की गाथा भी हमारे चिन्तन को झकझोरती प्रतीत होती है।

नई पीढ़ी की मूल्यहीनता और तद्जनित दुष्परिणामों की चिन्ता भी इस कृति में प्रचुरता से रेखांकित हुई है। अपनी बहुआयामिता में यह ग्रंथ, हिन्दु, बौद्ध, जैन आदि सभी संस्कृतियों को समाहित किये हुए है। मूर्त्ति- कला, वास्तु- कला एंव संगीत पर भी पर्याप्त प्रकाश पड़ता है।

किसी भी भाषा में संस्कृति विषयक ऐसा संग्रहणीय एंव पठनीय ग्रंथ अब तक अनुपलब्ध था। कई ग्रंथों की लेखिका की एक अद्भूत एंव अनुपम प्रस्तुति जो हमारे अतीत और वर्त्तमान का एक वृहद् सांस्कृतिक दर्पण है-

प्रकाशक

Cultural
Encyclopaedia Indica
Vol. II — Art & Architecture

भारतीय संस्कृति कोष
भाग II — (कला)

Printed & Published by:
B.R. Publishing Corporation
425, Nimri Colony
Ashok Vihar, Phase-IV
Delhi-110052
E-Mail : brpc@vsnl.com

First published 2011

ISBN 9788176467513 (set)
ISBN 9788176467520 (Vol.1)
ISBN 9788176467537 (Vol.2)
ISBN 9788176467544 (Vol.3)

Cataloging in Publication Data--DK
Courtesy: D.K. Agencies (P) Ltd. <docinfo@dkagencies.com>

Kiraṇa Kumārī.
Bhāratīya saṃskṛti kosha = Cultural encyclopaedia Indica / Kirana Kumarī. -- 1st ed.
3 v. cm.
In Hindi.
Includes bibliographical references.
Contents: v. 1. Itihāsa -- v. 2. Kalā evaṃ kalākṛti -- v. 3. Dharma evaṃ Saṃskṛti.
ISBN 9788176467513 (set)
ISBN 9788176467520 (Vol.1)
ISBN 9788176467537 (Vol.2)
ISBN 9788176467544 (Vol.3)

1. India--Civilization. 2. India--Religion. 3. Art, Indic. 4. Sculpture, Indic. I. Title. II. Title: Cultural encyclopaedia Indica.

DDC 954 22
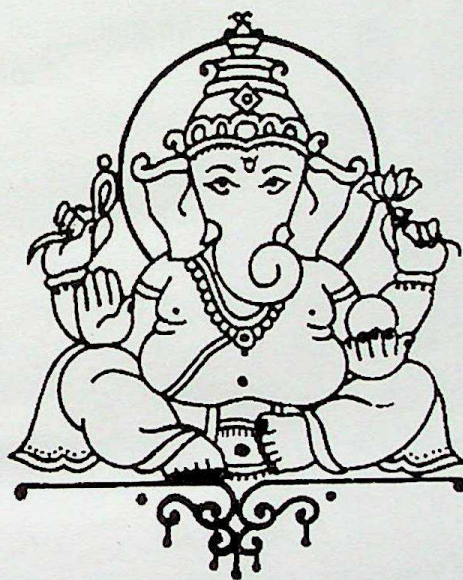
विघ्न-विनाशक श्री गणेश जी को
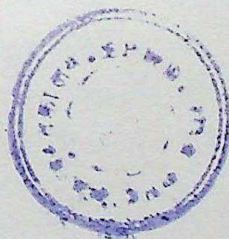
पुरोवाक्

भूमण्डलीकरण के इस युग में जनसंख्या-वृद्धि के कारण आर्थिक विषमता के एकमात्र समाधान हेतु वैज्ञानिक क्रांति विकास की जहाँ अपनी विजय पताका फहरा रही है, ऐसे समय में भारतीय संस्कृति को अनेक चुनौतियों का सामना करना पड़ रहा है। दरअसल, विकास का अर्थ एकांगी बन कर रह गया है। विकास का अर्थ मात्र आर्थिक विकास एवं वैज्ञानिक प्रगति तक ही सिमट कर रह गया है जबकि विकास का अर्थ सम्पूर्ण विकास से है, जिसके अन्तर्गत आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक एवं आध्यात्मिक सभी से है। आज जीवन का उद्देश्य भी बदल गया है। अधिक से अधिक पैसा कमाना ही मात्र जीवन का उद्देश्य बन गया है। जिसके कारण व्यक्ति स्वार्थी बन गया है, प्रत्येक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति से अलग हो गया है, समाज बिखर गया है, परिवार भी टूट गए हैं। ऐसे समय में भारतीय संस्कृति की विशिष्टता की ओर हमारा ध्यान अनायास ही चला जाता है। यहाँ विकास का अर्थ मानव के अंदर निहित सद्गुणों का विकास रहा है। मानवता की रक्षा हमारा उद्देश्य रहा है और सम्पूर्ण राष्ट्र को एक सूत्र में बाँधना हमारा कर्तव्य रहा है। आज उपभोक्तावादी युग में अमीर-गरीब के बीच गहरी खाई बन गयी हैं। जात-पात, ऊँच-नीच की भावना घर कर गयी है। अब तो मात्र दो वर्ग रह गए हैं—पूँजीपति और सर्वहारा ।

ऐसे समय में आवश्यकता है भारतीय संस्कृति की सुनहरी छवि की ओर ध्यानाकर्षण की, जिसे वेदों में ''विश्ववारा संस्कृति'' का नाम दिया गया है। मानवीय साधना के पाँच सोपान हैं – शरीर, आत्मा, मन, बुद्धि और अध्यात्म। इन्हीं की सिद्धि का नाम संस्कृति है। वैदिक काल से लेकर बारहवीं शताब्दी तक जिन तत्त्वों से भारतीय संस्कृति का निर्माण हुआ, वही भारतीय संस्कृति की बुनियाद है। इस कोष में वेद, पुराण, उपनिषद् के वेदकालीन, बौद्धकालीन पुराणकालीन, तंत्रकालीन रामायणकालीन, महाभारतकालीन संस्कृति, समाज, धर्म, दर्शन, व्रत, पर्व, कला, शिल्प, साहित्य, संगीत, भूगोल तथा इतिहास से सम्बन्धित लगभग बीस हजार प्रविष्टियाँ हैं।

आज का युग आर्थिक युग है। हम प्रत्येक कार्य सिर्फ आर्थिक लाभ की दृष्टि से ही करते हैं। हम सभी यह भूल गए हैं कि हमारा शरीर सिर्फ हाड़-मांस, हड्डियों और पसलियों से

ही निर्मित नहीं है इसके अंदर प्राण शक्ति है, आत्मा है, मन है, जिसका कारण परमात्मा है। विज्ञान कहता है परमात्मा क्या है? उसे किसने देखा है? इस प्रश्न का यही जवाब है कि प्रकृति में निहित शक्ति जिसे विज्ञान के शब्दों में 'ऊर्जा', 'इलेक्ट्रान, प्रोटोन, न्यूट्रोन' कहते हैं वही शक्तियाँ विभिन्न रूपों में स्वरूप धारण कर अवतार ग्रहण कर हमारे समक्ष हमारी आवश्यकताओं के अनुरूप हमारी सहायता करने के लिए अवतरित होती हैं। इन सूक्ष्म शक्तियों का अनुभव हम सभी करते हैं, पर प्रत्यक्ष तो उन्हीं को दिखाई देता है जो नैतिक गुणों को धारण कर, नैतिक नियमों का पालन कर परमात्म तत्त्व में अपने को विलीन करता है उसे ही परमात्मा का दर्शन होता है। यह शक्ति सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में निहित है। परमात्मा के बिना एक पत्ता भी हमारी इच्छा से नहीं हिल सकता है।

यही आध्यात्मिक विरासत हमारे भारत की सुनहरी छवि है जिसे भारतीय संस्कृति का मेरुदण्ड कह सकते हैं। आज राजनीति भारत पर इतनी हावी हो चुकी है कि हम भारतीय संस्कृति जो हमारी विरासत है जिसके लिए सम्पूर्ण विश्व के लोग भारत में अध्ययन-अध्यापन के लिए आते हैं, आज उसी सांस्कृतिक विरासत पर भारत सरकार (सोनिया गाँधी की सरकार) रामसेतु को तोड़ने की बात कहकर हमारी सांस्कृतिक विरासत को ही नष्ट करना चाहती है। क्योंकि आर्थिक युग में व्यापार के रास्ते में बाधाएं उपस्थित हो रही हैं। बात यहीं तक होती तो कोई बात नहीं, पर बात यहाँ तक कह दी गयी कि राम, सीता आदि रामायण के सभी पात्र काल्पनिक पात्र हैं। तमिलनाडु के करुणानिधि तो यहाँ तक कह गए कि राम ने कहाँ से इंजीनियरिंग की उपाधि ली थी कि उन्होंने इतना बड़ा पुल बना दिया। वे भूल गए कि हमारी इसी सांस्कृतिक विरासत को देखकर सम्पूर्ण विश्व उसके ज्ञान की खोज कर रहा है। इसके जीते-जागते नमूने अजन्ता, एलोरा को देखकर तो लोग विस्मित हो जाते हैं। एलोरा में एक ही पहाड़ को काटकर सभी धर्मों की कहानी के ऊपर मूर्तिकला का निर्माण किया गया है जिसे देखकर लोग कहते हैं - क्या आर्किटेक्ट था उस समय। अजन्ता में साठ गुफाएँ हैं और सभी गुफाओं में बुद्ध के उपदेश के ऊपर आधारित साधना की सभी मुद्राओं को प्रदर्शित किया गया है। उनके माध्यम से हमें उनके दर्शन का भी ज्ञान होता है।

राजनीति के ठेकेदारों ने रामसेतु को तोड़ने की बात तो कही ही, साथ ही राम के अस्तित्व को भी नकार दिया। वही 'राम' जो हमारे ऋषियों, मुनियों, संतों, महात्माओं, भक्तों के आराध्य देव हैं, जिन लोगों ने उनका अनुभव किया, दर्शन किया और घट-घट वासी कहकर उनके अस्तित्व का दृढ़ प्रमाण दिया। हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि 'राम' एक व्यक्ति नहीं हैं, राम एक महापुरुष ही नहीं हैं बल्कि 'राम' महत्वपूर्ण' तीन तत्त्वों (अर्थात् शक्तियों) के योग हैं - अग्नि, चन्द्रमा और सूर्य। ये अखिल ब्रह्माण्ड के शक्ति प्रतीक हैं। तुलसीदास ने मानस में कहा है–

छिति जल पावक-गगन समीरा
पंच रचित यह अधम शरीरा ॥

इन्हीं तत्त्वों का सम्मिश्रण हमारा शरीर भी है और इन्हीं तत्वों के कारण सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड है, इसलिए मानव को भी परमात्मा का अंश माना गया है। विज्ञान भी इन तत्त्वों को नकार नहीं पाया है। जो चिकित्सा पद्धति हमारे शास्त्रों में बतायी गयी है, उन्हीं तत्त्वों के आधार पर, जिसके शरीर में जिस तत्त्व का अभाव है, उन तत्त्वों की औषधि दी जाती थी। आज का चिकित्सा विज्ञान भी सभी टेस्ट के माध्यम से किस 'ब्लड ग्रुप' के लिए क्या आवश्यक है, उसी प्रकार की दवाओं का सेवन करना बताता है। जिसे हमारे ऋषि-मुनि पहले ही बता गए थे, आज के डाक्टर उन्हीं पर शोध कर रहे हैं।

इस प्रकार 'राम' के अस्तित्व को नकारना सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के अस्तित्व को नकारना है। प्रसिद्ध संत स्वामी रामदास ने कहा है–''राम ही सब कुछ हैं, प्रत्येक प्राणी और प्रत्येक वस्तु के रूप में बस वही विराजमान हैं।'' हमारे भक्त संतों ने भी कहा है–

''प्रेम मुदित मन से कहो राम! राम! राम! श्री राम! राम! राम!
महादेव सदा जपत एक राम नाम, श्रीराम! राम! राम!''

तथापि धर्म से अनुप्राणित एवं भारतीय संस्कृति से प्रेरित जनता अपनी विरासत की रक्षा के लिए प्राणपण से जुट गयी और तत्काल ही उसके अनेक प्रमाण प्राप्त करने के लिए शोध कार्य में संलग्न हो गयी और सप्रमाण राम एवं रामसेतु से जुड़े साक्ष्य को उन्होंने इकट्ठा कर भारत सरकार को करारा जवाब दिया, जिससे सरकार को अपना फैसला वापस लेना पड़ा। भारत ज्ञान प्रोजेक्ट, चेन्नई से श्री पुष्कर भटनागर (ब्यूरोक्रेट) ने ''कब जनमे राम'' पुस्तक प्रकाशित की। जिसका आधार उन्होंने खगोलीय, भौगोलिक एवं साहित्यिक साक्ष्यों को बनाया। वाल्मीकि रामायण के बालकाण्ड के मंत्रों का खगोलीय अध्ययन एवं भौगोलिक स्थिति का अध्ययन करते हुए कम्प्यूटर की सहायता से उन्होंने राम की जन्म तिथि 10 जनवरी, 5114 ई. पू. को माना। उनके जन्म के साथ-साथ उन्होंने रामायण की महत्वपूर्ण घटनाओं–राम का वनवास, राजा दशरथ की मृत्यु, लंका युद्ध, रावण वध, आदि अनेक तिथियों को भी उद्घाटित किया। श्रीराम की भक्ति भावना से अनुप्राणित पूरे देश की जनता रामेश्वरम् धाम जाकर वहाँ से उन साक्ष्यों (पत्थरों) को लायी जिन पर हनुमान ने राम लिखकर श्रीराम को दिया था और उन्हीं को जोड़कर रामसेतु बनकर तैयार हो गया था। कई लोगों को वह पत्थर प्राप्त हुए और उन लोगों ने अधिक वजन वाले उन पत्थरों को पानी में तैरते हुए प्रमाण के रूप में मंदिरों में रख दिया है।

भूमण्डलीकरण के कारण आज के युग में अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों का महत्व बढ़ गया है और प्रत्येक क्षेत्र में उनका हस्तक्षेप होता दिखाई पड़ रहा है। सन् 1945 में संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना विश्व शाँति की स्थापना के लिए की गयी थी। विश्व शांति की स्थापना में तो वह आज तक सफल नहीं हो पाया है। पर हाँ, इसका कार्यक्षेत्र कुछ अन्य विषयों की ओर भी बढ़ता जा रहा है। जनवरी 2007 में इसने एक महत्वपूर्ण निर्णय लिया कि 2 अक्तूबर (महात्मा गाँधी का जन्मदिन) को ''विश्व अहिंसा दिवस'' के रूप में मनाया जाएगा। क्योंकि देश की

आजादी में अहिंसा के माध्यम से गाँधी जी ने जीत हासिल की थी। यह उनका बहुत बड़ा योगदान रहा है। इनके कारण भारत को संसार में गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त हुआ। संसार के सब देशों के लोग भारत को "गाँधी का देश" कहकर पुकारते हैं। उदाहरणार्थ, विख्यात पादरी 'अजरिया' अमेरिका के एक स्कूल में गए। वहाँ बच्चा-बच्चा गाँधी जी को जानता है, यह देखकर उन्हें आश्चर्य हुआ; रोम आदि यूरोपीय देशों में भी उनको ऐसा ही अनुभव हुआ। प्रसिद्ध उपन्यास लेखिका श्रीमति पर्लवक ने नन्हें से बच्चे से जब अमेरिका के एक ग्राम में गाँधी जी की हत्या का समाचार रेडियो से सुना तो हठात् उसके मुख से यह उद्गार निकल पड़ा—अच्छा होता कि मनुष्य को बन्दूक बनाना नहीं आता।

इस प्रसंग में मैं यह कहना चाहूँगी कि आज ईश्वर की महत्ता से मानव का महत्व अधिक बढ़ गया है। जिस मानव को भगवान् ने बनाया है, उसको भूलकर हम मानव को ही भगवान् बना बैठे हैं। यदि भगवान नहीं होते, तो गाँधी क्या इतनी बड़ी लड़ाई जीत पाते। जिस गाँधी को आज हम सभी इतनी महत्ता से देख रहे हैं उनके भी इष्ट देव 'राम' ही थे। राम के सम्बन्ध में इन्होंने 'क्या राम ने खून बहाया था' शीर्षक अपने लेख में लिखा है – "और रामचन्द्र? कौन सिद्ध कर सकता है कि रामचन्द्र ने लंका में खून की नदी बहायी थी? दस सिरोंवाला रावण कब जन्मा था? बन्दरों की फौज किसने देखी? रामायण एक धर्मग्रन्थ है और रूपक है। करोडों लोग जिस राम की पूजा करते हैं वह घट-घट व्यापी है। रावण भी हमारे शरीर में रहने वाले दस सिर वाले विकराल विकारों का रूप हैं। इसके विरुद्ध अन्तर्यामी राम सदा युद्ध करता है। वह तो दया की मूर्ति है। अगर किसी ऐतिहासिक रावण से युद्ध किया भी हो, तो उससे हमें बहुत कुछ सीखने को नहीं मिलता। क्या इन प्राचीन रावण को खोजने की जरूरत है? आज तो वे दर-दर पड़े हैं।"

यह कैसी विडम्बना है कि जो कांग्रेस की सरकार गाँधी के महत्व को स्वीकार करते हुए गर्व से यह कहती है कि गाँधी, नेहरू और पटेल काँग्रेस के थे। मगर गाँधी के इष्टदेव 'राम' के अस्तित्व पर प्रश्नचिह्न लगाते हुए 'राम' के प्रति उनके उद्गार को भी समझ पाते, तो शायद आज वे अपनी सांस्कृतिक विरासत 'रामसेतु' के तोड़ने की बात नहीं करते। अत: 'रामसेतु' के तोड़ने की बात कहकर सरकार ने करोड़ों राम भक्तों की भावनाओं को आहत तो किया ही है साथ ही साम्प्रदायिक तत्त्वों के तुष्टिकरण की अपनी पुरानी नीति को भी उजागर किया है। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि भारतीय संविधान में यह प्रावधान किया गया है कि ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक महत्व की धरोहरों की रक्षा करना सरकार का दायित्व होगा। 'रामसेतु' के रूप में उपलब्ध एक सर्वोत्कृष्ट सांस्कृतिक धरोहर को नष्ट करने की बात पर उसने संवैधानिक प्रावधान के उल्लंघन का अपराध भी किया है। यहाँ रक्षक ही भक्षक बन रहा है।

भारत में शास्त्रों का सुव्यवस्थित ज्ञान न होने के कारण अर्थ का अनर्थ होता जा रहा है। हमारी चिन्तन शक्ति क्षीण होती जा रही है। प्राचीन शिक्षा-पद्धति की तीन सीढ़ियाँ थीं—श्रवण,

मनन, निदिध्यासन। पहले गुरु की बात को अच्छी तरह सुनो, उस पर मनन करो अर्थात् उसके रहस्य को भी खुद सोचने की चेष्टा करो और फिर लगातार उसे ध्यान में रखो। ऐसा करने से ही ज्ञान में परिपक्वता आएगी। साथ ही गुरु के सान्निध्य में तुममें सद्गुणों का संचार होगा और तुम उत्तम संस्कारों से युक्त होकर संसार में सृजन का कार्य करोगे।

आज की परिस्थितियाँ बहुत बदल गयी हैं। आज तो न ही ऐसे गुरु हैं और न ही ऐसे शिष्य। शास्त्रों का ज्ञान देने वाले संत-महात्माओं का प्रवचन मात्र शास्त्रों में कही गयी बातों के अर्थ को स्पष्ट कर देना है, उसके रहस्य को समझने की आवश्यकता न तो उन्हीं को है और शिष्य, जिन्हें जीविकोपार्जन की चिन्ता है, वे भी उसके रहस्य का चिन्तन करना उचित नहीं समझते हैं। वे शास्त्रों को धार्मिक पुस्तक मानकर बैठे हैं।

परन्तु हमारे धर्मशास्त्र वेद, उपनिषद्, पुराण, स्मृति ये सभी मात्र धार्मिक पुस्तक नहीं हैं बल्कि इनमें प्रकृति के सारे नियमों का ज्ञान भरा पड़ा है। उसे समझने की आवश्यकता है।

जब सृष्टि का प्रारम्भ नहीं हुआ था, तो यहाँ देवताओं का निवास था। देवताओं की इच्छा से जब सृष्टि हुई, तो उनका निवास स्थान ऊर्ध्व लोक में हो गया। इसलिए इस भूमि पर भी देवताओं के शासनकाल के अवशेष हमें पुरातात्विक सर्वेक्षणों के द्वारा प्राप्त होते हैं। जिनके आधार पर हम इसका अनुमान लगाते हैं कि हमारी संस्कृति कितनी पुरानी है। पुराण में देवताओं के वंश का वर्णन हमें प्राप्त होता है। मानवीय सृष्टि का प्रारम्भ मनु के समय से प्रारम्भ हुआ। इस सृष्टि को आगे बढ़ाने में ऋषियों का बड़ा योगदान रहा है। हम सभी उन्हीं के वंशज हैं। इसलिए हम पारम्परिक सामाजिक रीति-रिवाजों में अपने गोत्र को याद करते हैं और उन्हीं के नाम का संकल्प लेकर किसी भी शुभ कार्य का सम्पादन करते हैं। अपने गोत्र का ज्ञान हमें पीढ़ी-दर-पीढ़ी अपने पूर्वजों के द्वारा ज्ञात होता है, हमने उन्हें देखा नहीं है। आज यह एक परम्परागत नियम के रूप में पालन किया जा रहा है, कुछ लोग अपने गोत्र को भी भूलते जा रहे है। कभी किसी ने सोचा है कि यह गोत्र क्या है? गोत्र का जो नाम है वह सभी ऋषियों के नाम हैं। गोत्र का अर्थ है हम सभी उन्हीं के वंशज हैं। अर्थात् इस रूप में हम अपने पूर्वजों को याद करते हैं, उनके प्रति हम अपना आभार प्रकट करते हैं और ये ऋषि भी ईश्वर की संतान थे, अत: यह हमारी नींव को बताता है कि हम सभी ईश्वर की संतान हैं, ईश्वर के अंश में इस प्रकार हम सभी अपने पूर्वजों के प्रति और ईश्वर के प्रति कृतज्ञ थे।

आज हमारे देश में पूर्वजों अर्थात् बुजुर्गों की स्थिति अत्यन्त ही दयनीय होती जा रही है। उन्हें अपने-अपने बच्चों से उपेक्षित होना पड़ रहा है। हम सभी इस भौतिकवादी समाज में अपने संस्कार को भूलते जा रहे हैं। संस्कार ही संस्कृति की नींव है। यह संस्कार हम अपने पूर्व जन्मों में किये गए अच्छे कर्मों के द्वारा पाते हैं और दूसरा हम अपने माँ-बाप से सीखते हैं। आधुनिकता की इस दौड़ में माँ-बाप भी बच्चों को अच्छे संस्कार नहीं दे पा रहे हैं। पाश्चात्य प्रभाव में आकर, परिवार, समाज सभी खंडित होता जा रहा है। हम यह भूल रहे हैं कि पाश्चात्य देश पूँजीपति देश हैं। वहाँ की संस्कृति, सभ्यता हमसे भिन्न है। पूँजीपति देश होने के कारण वहाँ की सरकार अपनी जनता का सम्पूर्ण भार अपने कंधों पर ले लेती है। सारी

सुख-सुविधाएं उन्हें उपलब्ध हैं, जिसके कारण वहाँ परिवार और समाज की कोई परिभाषा ही नहीं है। सभी राष्ट्र की जनता है। हमारा देश गरीब है, यहाँ की सरकार अपने कंधों पर सम्पूर्ण जनता का भार वहन नहीं कर सकती है। अतः उन्हें अपने संस्कारों के द्वारा अपने बुजुर्गों के प्रति अपने कर्तव्यों को याद दिलाना होगा। जिस समर्पण भाव से माँ-बाप अपने बच्चे का जीवन बनाने में अपना सर्वस्व न्योछावर कर देते हैं, वहीं माँ-बाप बुढ़ापे में उपेक्षित हो जाते हैं। विकास की इस दौड़ में हम यह भूल जाते हैं कि कोई भी देश विकास के उच्चतम शिखर पर तभी पहुँच सकता है, जब वह अपने देश की संस्कृति, अपनी मातृभाषा को महत्वपूर्ण स्थान दे, क्योंकि वही हमारी नींव है, वही हमारा धरातल है।

वर्तमान काल में पाश्चात्य संस्कृति के प्रथम दर्शन ने भारत को मुग्ध और मोहान्ध कर दिया। कुछ शताब्दियों के सम्पर्क के फलस्वरूप पाश्चात्य जगत की अनेक सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक प्रेरणाएँ भारतीय संस्कृति में आकर बद्धमूल हो गईं। भारत की प्राचीन संस्कृति ने इस नवीन संस्कृति के साथ काफी दूर तक विनिमय सम्बन्ध स्थापित किया। इस विनिमय के फलस्वरूप राष्ट्रवाद और विधानवाद के पश्चात् सिद्धान्तवाद भारत की उर्वर भूमि में आया और सम्पोषित होकर अंकुरित हो गया। इन दोनों संस्कृतियों का भारतभूमि में सम्मिलन हुआ और समन्वय की प्रयोगशाला में फलतः नवीन संस्कृति की रूपरेखा बनी। कहीं पुरानी बातों के मूलरूप को सुरक्षित रखकर भी समझौता किया गया और कहीं नवीन बातों को बिल्कुल आत्मसात् कर लिया गया। भारतीय संस्कृति की यह सहिष्णुता और समन्वय शक्ति उसकी एक बड़ी विशेषता है।

आर्य संस्कृति की यदि कोई विशेषता कही जा सकती है, तो यही कि उसने स्वार्थ-सिद्धि की अपेक्षा पर-सेवा, समाज-सेवा और स्वार्थ की अपेक्षा परमार्थ पर अधिक जोर दिया है। उसने व्यक्ति को समाज में, समष्टि में और भगवान में लीन होने का उपदेश दिया है एवं मार्ग भी बताया है। जो मार्ग, जो विधि, जो क्रिया हमें भगवान की तरफ ले जाती है, वह हिन्दू संस्कृति, आर्य संस्कृति, सज्जन-संस्कृति एवं सुसंस्कृति है। जो हमें उससे विमुख बनाती है, वह अहिन्दू, अनार्य, दुर्जन संस्कृति और कुसंस्कृति है।

प्राचीन भारत में शारीरिक, मानसिक तथा आत्मशक्ति का सामंजस्यपूर्ण विकास ही मानव-जीवन का ध्येय माना गया था। शुक्ल यजुर्वेद के अन्तर्गत विख्यात ईशावाश्योपनिषद् के प्रथम दो मन्त्रों में इन शक्तियों के विकास का आदेश दिया गया है–

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत् ।
तेन त्यक्तेन भु ञ्जीथा मागृधा कस्यस्विद्धनम् ॥
कुर्वन्नेदेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं शता ।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥

अर्थात् अखिल ब्रह्माण्ड में जो कुछ भी चराचरात्मक जगत् देखने-सुनने में आता है, वह सब सर्वाधार, सर्वनियन्ता, सर्वाधिपति, सर्वशक्तिमान, सर्वकल्याण स्वरूप परमेश्वर से व्याप्त

है, सदा उन्हीं से परिपूर्ण है। इसका कोई भी अंश परमेश्वर से रहित नहीं है, ऐसा समझकर ईश्वर को निरन्तर अपने पास समझते हुए, सदा सर्वदा उनका स्मरण करते हुए, इस जगत में केवल कर्तव्य पालन के लिए ही विषयों का यथाविधि उपयोग करो और सौ वर्षों तक जीने की इच्छा करो। किसी के धन का लोभ न करो। कर्म करते हुए कर्मों में लिप्त न होना ही एकमात्र मार्ग है। इसके अतिरिक्त कोई अन्य मार्ग कर्म बन्धन से मुक्त होने का नहीं है।

देश के कर्णधारों का कर्तव्य है कि पुस्तकों, भाषणों और चलचित्रों द्वारा देश के बच्चे-बच्चे में, जो भारत की भावी संतान हैं, भिन्न-भिन्न धर्मों की समानता का भाव भरें। तभी भारत अपनी सांस्कृतिक विशेषता की छाप दुनिया पर छोड़ सकेगा।

डॉ. किरण कुमारी

कृतज्ञता-ज्ञापन

परब्रह्मरूपं चिदानन्दरूपं परेशं महेशं गुणाब्धिं गुणेशम् ।
गुणातीतमीशं मयूरेशवन्द्यं गणेशं नताः स्मो नताः स्मो नताः स्मः ॥

''परब्रह्मरूप, चिदानन्दरूप, परेश, महेश, गुणसागर, गुणेश, गुणातीत, ईश, मयूरेश के पूज्य गणेश को मेरा बारम्बार नमस्कार है।'' क्योंकि यह वृहत् कार्य उनकी ही प्रेरणा का फल है। बचपन से सुनती आयी हूँ कि महाभारत का लेखन गणेश जी ने किया था। व्यास जी बोलते गए थे और गणेश जी लिखते गए थे। मेरा यह कार्य गणेश जी की प्रेरणा से प्रारम्भ हुआ था, अन्तर बस इतना ही है कि यहाँ मति और गति दोनों ही उन्हीं की है। मुझे तो मात्र उन्होंने इसका निमित्त बनाया है, वरना इतना वृहत् कार्य मेरे जैसे प्राणी के लिए संभव नहीं था।

इस कार्य का प्रारम्भ किस प्रकार हुआ, इसकी महत्वपूर्ण अनुभूति मैं आपके समक्ष रखना चाहूँगी। एक दिन मैं पूजा पर बैठी हुई पूजा कर रही थी, तो सामने हमारे प्रत्यक्ष रूप में गणेश की बड़ी प्रतिमा फूल-अक्षत चढ़ी हुई दिखाई दी। मैं स्तब्ध देखती रही और मन में सोचती रही कि इसका रहस्य क्या है? अवश्य ही कोई शुभ कार्य होने वाला है। मन में प्रसन्नता थी, फिर पूजा से उठकर मैं अपने कमरे में आराम करने लगी। मेरा स्वभाव है मैं अपने अध्ययन कक्ष के पुस्तकालय से कोई पुस्तक यूँ ही निकाल लेती हूँ और उसे पढ़ती हूँ। उस दिन मैंने उसी प्रकार एक पुस्तक निकाली, जिसका नाम था – ''भारतीय संस्कृति''। मैं उसे पढ़ गयी पर मुझे ऐसा लगा कि उसमें संस्कृति का सार-तत्त्व ही गायब है। हठात् मेरे मन में इस पर कार्य करने की इच्छा जगी और लगभग पाँच घंटे तक लगातार इसकी विषय सूची को मैंने योजनाबद्ध किया। जब यह प्रोजेक्ट पूर्णतः बनकर तैयार हो गया, तो काफी थकान का अनुभव हुआ और मैं अपने बिस्तर पर लेटकर सोचने लगी की यह कार्य बहुत बड़ा है तथा यह मेरे बस की बात नहीं है। पर जहाँ गणेश जी प्रेरक हों, साथ ही मति और गति भी उन्हीं की हो, तो फिर कोई भी कार्य असम्भव कैसे हो सकता है। जब भी मैं हताश होती, तो गणेश जी सामने उपस्थित हो जाते और पुनः मैं इस कार्य में पूर्ण तत्परता से संलग्न हो जाती। ऐसा लगता मानो वह पहरेदार की भाँति मेरे सामने उपस्थित हों, इस कार्य को करने की प्रेरणा देते रहते।

उन्होंने इस कार्य को करने में मेरी पूर्णतः सहायता की। आज जब यह कार्य समाप्ति पर है तो वे मेरे चारों ओर झूम-झूम कर नाच रहे हैं मानो उनकी इच्छा पूरी हो गयी हो। बिना ईश्वर की इच्छा के सृष्टि में एक पत्ता भी नहीं हिल सकता है और मेरा यह महत् कार्य तो उन्हीं की प्रेरणा का ही प्रतिफल है। अतः मैं सबसे पहले बुद्धिदाता गणेश के प्रति नतमस्तक हूँ जिन्होंने मुझे इस कार्य का निमित्त बनाया। हमारे धर्मशास्त्रों में कहा गया है कि कृतज्ञता से बढ़कर कोई पुण्य नहीं और कृतघ्नता से बढ़कर कोई पाप नहीं है।

बचपन से ही मैं अपने माता-पिता की छत्रछाया में जिन संस्कारों में पलकर बड़ी हुई, वह भी कम महत्वपूर्ण नहीं है – भारतीय संस्कृति पर चिन्तन करने की। मेरे घर का पूरा वातावरण ही धार्मिक एवं आध्यात्मिक भावनाओं से ओत-प्रोत रहा है। इसलिए इस वातावरण में जो चिन्तन उभर कर सामने आएंगे, वह अवश्य ही परिशुद्ध एवं परिपक्व होंगे। मेरे पिता (स्व॰ शारदा कुमार तिउरियार, सेवानिवृत्त आइ॰ए॰एस॰) का व्यक्तित्व भी सच्चाई एवं सादगी का प्रतीक रहा। साथ ही उनका जीवन भारतीय संस्कृति की विशिष्टताओं से युक्त रहा, जो मेरे अन्दर इन विचारों के बीजारोपण का कारण बना। मैं अपने माता-पिता के प्रति भी आभारी हूँ जिन्होंने मुझे इतना अच्छा संस्कार दिया।

धार्मिक वातावरण में जीवन गुजरने के कारण बचपन में संत-भक्त-महात्माओं की कथा कहानियाँ सुनने का मौका मिलता रहा। जब मुझे तीर्थयात्रा और विभिन्न अधिवेशनों में जाने का मौका मिला, तो कुछ ऐसे संत-साधक-तपस्वियों से भी मुलाकात हुई, जिन्होंने अपने जीवन का सर्वस्व भगवान के चरणों में समर्पित कर दिया है और अपना जीवन सेवा भावना में लगा दिया है। ऐसे ही एक साधक हैं डॉ॰ हिम्मत सिंह, सेवानिवृत्त प्रोफेसर, पटियाला विश्वविद्यालय पटियाला। मुझे समय-समय पर इनका प्रोत्साहन मिलता रहा है। मैं इनके प्रति भी आभारी हूँ। नैनीताल स्थित मुक्तेश्वर महादेव के स्वामी जी शुद्धानन्द पुरी जो हिमालय की गुफाओं में तपस्वी का जीवन बिताते हुए विश्व में धर्म एवं शांति की संस्थापना का संकल्प लेते हुए चार महीने बर्फ के अंदर अज्ञातवास में अपना जीवन बिताते हैं। ऐसी ही एक तपस्विनी शकुन्तला देवी हैं जो अपर जिला एवं सत्र न्यायाधीश की पत्नी होते हुए भी सारे ऐशो-आराम को त्याग कर विन्ध्याचल के जंगल में माता नन्दजी भवानी मंदिर में माता की आज्ञा से उनकी सेवा में अपना जीवन बिताने को कृतसंकल्प हैं। मैं ऐसे सभी तपस्वियों के प्रति नतमस्तक हूँ, जो ऋषियों, मुनियों की भूमि को उर्वरक बना रहे हैं और भारतीय संस्कृति की नींव को ठोस स्वरूप प्रदान कर रहे हैं।

ऐसे ही साधना पथ के एक पथिक डॉ॰ भगवती शरण मिश्र भी हैं जिन्हें लोग विश्व प्रसिद्ध पौराणिक तथा ऐतिहासिक उपन्यासकार के रूप में एवं प्रतिष्ठित विद्वान के रूप में जानते हैं, मगर उनकी साधना की ऊँचाई को कुछेक ही जानते हैं। मुझे इनके सम्पर्क में आने का मौका मिला और इनकी साधना के कई चमत्कार भी देखने को मिले। इन्होंने अपने जीवन में जिन नैतिक, आध्यात्मिक एवं धार्मिक मूल्यों को आत्मसात किया है, वह अत्यन्त ही सराहनीय है।

इनका व्यक्तित्व अपने आप में भारतीय संस्कृति का प्रेरणा स्रोत है। ऐसी ही साधिका मेरी सखा डॉ॰ रंजना गुप्ता (व्याख्याता राजकीय महिला महाविद्यालय, गर्दनीबाग, पटना) हैं जिनका व्यक्तित्व भारतीय संस्कृति की जीती-जागती प्रतिमूर्ति है। जिनका अधिकांश समय धार्मिक साधना एवं दीन-दु:खियों की सेवा में ही बीतता है मानों ये दूसरी मदर टेरेसा हों।

साधना पथ के पथिक की चर्चा तो हमने की, मगर साधक का उद्देश्य साध्य की प्राप्ति है। यह साध्य ईश्वरत्व की प्राप्ति अथवा मोक्ष की प्राप्ति है। सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में तैंतीस करोड़ देवताओं की कल्पना की गई है। आज के बुद्धिजीवी लोगों के बीच में सहज ही यह प्रश्न उठ खड़ा होता है कि हमारे धर्म में इतने अधिक देवी-देवताओं की चर्चा क्यों है? अन्य धर्मों में तो गुरु, पैगम्बर, तीर्थंकर, मसीहा आदि बस एक की ही चर्चा है और उनकी ही महत्ता है। यहाँ पर ध्यान देने की बात है कि वे सभी धर्म की अपनी बातों का उपदेश करते हैं और कोई साकार, तो कोई निराकार स्वरूप को प्राथमिकता देते हैं। सामान्य जन गुरु को ही भगवान के सिंहासन पर आरूढ़ कर देते हैं। यह भी उनके साकार स्वरूप को ही भजना है। क्योंकि निराकार तक पहुँचना सब के बस की बात नहीं है। निराकार को जानना तैंतीस करोड़ देवी-देवताओं की शक्ति को आत्मसात करना है।

भारतीय धर्म साधना का प्रारम्भ अनेकेश्वरवाद के रूप में हुआ है। जब सृष्टि का प्रारम्भ हुआ, तो मनुष्य को प्रकृति के जो पशु-पक्षी, जीव-जन्तु, वृक्ष आदि अपने जीवन में महत्वपूर्ण प्रतीत हुए, उनकी वह पूजा करने लगा। प्रकृति के देवता सूर्य, चन्द्र, वरुण, अग्नि आदि की स्तुति एवं प्रार्थना की जाने लगी। जैसे-जैसे मनुष्य की आवश्यकताएँ बढ़ती गयीं वैसे-वैसे उसने देवताओं के विभिन्न स्वरूपों की कल्पना कर, उनसे मनचाही इच्छा हेतु उनका प्रार्थना गान किया और उनसे अपनी मनचाही मुराद पूरी की। इस प्रकार देवताओं के अनेक स्वरूप होते चले गए और उनका अस्तित्व आज भी उसी रूप में विद्यमान है और वे उसी प्रकार मनुष्य का कल्याण करते हैं।

इसका प्रमाण मैं अपनो एक सच्ची अनुभूति के द्वारा प्रमाणित करना चाहूँगी। जब मैं 'भारतीय संस्कृति कोष' के द्वितीय भाग में मूर्तिकला विषय पर काम कर रही थी तो ऐसा हुआ कि मैं चक्रव्यूह में फँस गयी। मैं कुछ प्रमुख मूर्तियों का ही वर्णन करना चाहती थी, जिसके कारण वह कार्य पूरा नहीं हो पा रहा था। प्रत्येक दिन मुझे स्वप्न के माध्यम से, कभी-कभी कुछ प्रत्यक्ष अनुभूतियाँ भी हुईं कि सभी का वर्णन देना है। इतिहासकार तो मात्र काल और कला को ही प्रमुखता प्रदान करते रहे हैं। पर ईश्वर के ऐश्वर्यशाली होने का महत्व उन्होंने कहीं भी प्रतिपादित नहीं किया है। अतः उनके दार्शनिक एवं धार्मिक पक्षों को नकारा नहीं जा सकता है। आज भी भगवान के साकार रूप की ही भक्ति या साधना साधक करते जा रहे हैं और उन सभी का कल्याण भी इस माध्यम से हो रहा है। मूर्ति भी पूजा करते-करते मंत्रोच्चारण से ऊर्जा अथवा शक्ति का केन्द्र बन जाती है। इसलिए उसकी पूजा कल्याणकारी होती है।

ईश्वरीय शक्ति ने मुझे इसका प्रमाण अपनी अनुभूतियों के नाम से दिया और मैंने मूर्तिकला में प्रत्येक मूर्ति के दार्शनिक एवं आध्यात्मिक पक्ष पर अत्यधिक बल दिया, तब जाकर कहीं यह कार्य पूरा हो पाया और मेरे कार्य में प्रगति होनी प्रारम्भ हो गयी। अतः मैं सभी तैंतीस कोटि देवताओं के प्रति आभारी हूँ जिन्होंने स्वयं मुझे प्रेरित कर इस कार्य को बखूबी सम्पन्न करने में सहायता प्रदान की।

किसी भी वृहद कार्य के लिए अनुकूल वातावरण का होना भी आवश्यक है। मेरे घर में प्रारम्भ से ही शिक्षा का माहौल बहुत उच्च कोटि का रहा है। मेरी बड़ी दीदी श्रीमती उषा रानी (प्राचार्या, एन.सी. घोष उच्च विद्यालय, जमालपुर), डा. कुमकुम सिन्हा (पीएच. डी., डी. लिट., व्याख्याता, जगजीवन कॉलेज, गया), श्रीमती कंचन कुमारी (प्रथम श्रेणी ऑफिसर, शिक्षा विभाग, बिहार सरकार), श्रीमती कालिन्दी कुमारी (एम.ए., एल एल बी., एडवोकेट) इन लोगों ने मेरे हर कार्य की सराहना कर मुझे प्रोत्साहित किया। मैं इन लोगों के प्रति कृतज्ञ हूँ।

इसके साथ ही हमारे घर के सभी बच्चों ने भी कम प्रोत्साहित नहीं किया। मैं उनका नाम भी देना चाहूँगी। संजीव कुमार (इंजीनियर इन स्पेस, हैदराबाद), विकास प्रसाद (एस.एम., रेलवे), रानू वर्मा (नेशनल मैटलर्जिकल लेबोरेटरी, काउन्सिल ऑफ साइन्टिफिक एण्ड इण्डस्ट्रियल रिसर्च, जमशेदपुर), अंजली रानी (एम एस. सी, एम सी. ए., एम. बी. ए. शिक्षिका, दिल्ली), इनके पति डॉ. अमलेन्दू शेखर (पी.एच.डी., आई.आई.टी., प्रथम श्रेणी ऑफिसर, ऑल इंडिया रेडियो, दिल्ली), सुमीत कुमार (आटोमोबाईल इंजीनियर), ऋचा कुमारी (कम्प्यूटर इंजीनियर), विनीत, आकाश एवं अपराजिता–इन सभी को मेरी नई पुस्तक आने का इन्तजार रहता है।

अंत में मैं अपने सहयोगी मित्रों के प्रति भी अपना आभार प्रकट करना चाहूँगी जिनके सहयोग के बिना यह कार्य असंभव था। डॉ. आभा रानी 208, भागवत कुँज, बोरिंग रोड, डॉ. वीनिता मिश्रा, व्याख्याता प्राचीन इतिहास विभाग, गंगा देवी महिला महाविद्यालय, पटना, डॉ. अखिलेश कुमार, व्याख्याता इतिहास विभाग, गुरु गोविन्द सिंह कॉलेज, पटना। इन सभी ने मुझे समय-समय पर मार्ग-दर्शन करने में, साथ ही सामग्रियाँ संग्रहीत करने में भी भरपूर सहायता की। अतः मैं इनके प्रति भी आभारी हूँ।

मेरे वे असंख्य पाठक जो मेरी कृतियों में रुचि लेकर मेरा मनोबल बढ़ाते रहे हैं और मेरी रचनाधर्मिता को सुरक्षित रखते रहे हैं उनके प्रति भी कृतज्ञ हुए बिना मैं नहीं रह सकती ।

डॉ. किरण कुमारी

विषय-सूची

1

भारतीय संस्कृति में विभिन्न कलाएँ एवं उनका विकास

भारतीय संगीत का इतिहास

संगीत कला की उत्पत्ति कब और कैसे हुई, इस विषय पर विद्वानों में विभिन्न मत हैं, जिनमें से कुछ का उल्लेख इस प्रकार है :-

1. संगीत की उत्पत्ति आरंभ में वेदों के निर्माता ब्रह्मा जी द्वारा हुई। ब्रह्मा जी ने यह कला शिवजी को दी और शिव के द्वारा देवी सरस्वती को प्राप्त हुई। सरस्वती जी को इसी लिए 'वीणा पुस्तक धारिणी' कह कर संगीत और साहित्य की अधिष्ठात्री माना है। सरस्वती जी से संगीत कला का ज्ञान नारद जी को प्राप्त हुआ। नारद जी ने स्वर्ग के गंधर्व, किन्नर तथा अप्सराओं को संगीत शिक्षा दी। वहाँ से ही भरत, नारद और हनुमान आदि ऋषि संगीत कला में पारंगत होकर भू-लोक (पृथ्वी) पर संगीत-कला के प्रचारार्थ अवतीर्ण हुए।
2. एक ग्रंथकार के मतानुसार, नारद जी ने अनेक वर्षों तक योग-साधना की, तब महादेव जी ने उन्हें प्रसन्न होकर संगीत-कला प्रदान की। पार्वती जी की शयन मुद्रा को देखकर शिवजी ने अनेक अंग-प्रत्यंगों के आधार पर रुद्रवीणा बनाई और अपने पाँच मुखों से पाँच रागों की उत्पत्ति की, तत्पश्चात् छठा राग पार्वती के श्रीमुख से उत्पन्न हुआ। शिवजी के पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण और आकाशोन्मुख होने से क्रमशः भैरव, हिंडोल, मेघ, दीपक और श्रीराग प्रकट हुए तथा पार्वती द्वारा कौशिक राग की उत्पत्ति हुई। 'शिवप्रदोष' स्तोत्र में लिखा है कि त्रिजगत की जननी गौरी को स्वर्ण सिंहासन पर बैठाकर प्रदोष के समय शूलपाणि शिव ने नृत्य करने की इच्छा प्रकट की। इस अवसर पर सब देवता उन्हें घेरकर खड़े हो गए और उनका स्तुति गान करने लगे। सरस्वती ने वीणा, इंद्र ने वेणु तथा ब्रह्मा ने करताल बजाना आरंभ किया, लक्ष्मी जी गाने लगीं और

विष्णु भगवान मृदंग बजाने लगे। इस नृत्यमय संगीतोत्सव को देखने के लिए गंधर्व, यक्ष, पतग, उरग, सिद्ध, साध्य, विद्याधर, देवता, अप्सराएँ आदि सब उपस्थित थे।

3. 'संगीत दर्पण' के लेखक दामोदर पंडित (सन् 1625 ई.) के मतानुसार भी संगीत की उत्पत्ति ब्रह्मा जी से ही आरंभ होती है। अपने मत की पुष्टि करते हुए उन्होंने लिखा है :–

द्रुहिणेत यदन्विष्टं प्रयुक्तं भरते न च।
महादेवस्य पुरतस्तन्मार्गाख्यं विमुक्तदम्॥

अर्थात् – ब्रह्मा जी (द्रुहिण) ने जिस संगीत को शोधकर निकाला, भरत मुनि ने महादेव जी के सामने जिसका प्रयोग किया तथा जो मुक्तिदायक है, वह 'मार्गी' संगीत कहलाता है।

इस विवेचन से प्रथम गत का कुछ अंशों में समर्थन होता है। आगे चलकर इसी पंडित ने सात स्वरों की उत्पति पक्षियों द्वारा इस प्रकार बताई है :–

मोर से षडज, चातक से ऋषभ, बकरा से गांधार, कौवा से मध्यम, कोयल से पंचम, मेंढ़क से धैवत और हाथी से निषाद स्वर की उत्पत्ति हुई।

4. फारसी के एक विद्वान का मत है कि हजरत मूसा जब पहाड़ों पर घूम-घूमकर वहाँ की छटा देख रहे थे, उसी वक्त एक आवाज आई (आकाशवाणी हुई) कि 'या मूसा हकीकी, तू अपना 'असा' (एक अस्त्र, जो फकीरों के पास होता है) इस पत्थर पर मार!' यह आवाज सुनकर हजरत मूसा ने अपना असा जोर से उस पत्थर पर मारा, तो पत्थर के सात टुकड़े हो गए और हर एक टुकड़े में से पानी की धारा अलग-अलग बहने लगी। उसी जलधारा की आवाज से अस्ललामलेक हजरत मूसा ने सात स्वरों की रचना की, जिन्हें 'सा रे ग म प ध नि' कहते हैं।
5. एक अन्य फारसी विद्वान का कथन है कि पहाड़ों पर 'मसीकार' नाम का एक पक्षी होता है, जिसकी नाम में सात सूराख बाँसुरी की भाँति होते हैं। उन्हीं सात सुराखों से सात स्वर ईजाद हुए।
6. पाश्चात्य विद्वान फ्रायड के मतानुसार, संगीत की उत्पत्ति एक शिशु के समान मनोविज्ञान के आधार पर हुई। जिस प्रकार बालक रोना, चिल्लाना, हँसना आदि क्रियाएँ मनोविज्ञान की आवश्यकतानुसार स्वयं सीख जाता है, उसी प्रकार संगीत का प्रादुर्भाव मानव में मनोविज्ञान के आधार पर स्वयं हुआ।
7. ज़ेम्स लोग के मतानुयायियों का भी यही कहना है कि पहले मनुष्य ने बोलना सीखा, चलना फिरना सीखा और फिर शनैः शनैः क्रियाशील हो जाने पर उसके अंदर संगीत स्वतः उत्पन्न हुआ।

इस प्रकार संगीत की उत्पत्ति के विषय में विभिन्न मत पाए जाते हैं। इनमें कौन सा मत ठीक है, यह कहना कठिन ही है, अतः संगीत कला का जन्म कब हुआ, कैसे हुआ, इस पर अच्छा कोई निर्णय न देकर हम आगे बढ़ना ही उचित समझते हैं।

प्राचीन ग्रंथों में संगीत के चार मुख्य मत पाए जाते हैं –

1. शिव मत या सोमेश्वर मत;
2. कृष्ण मत या कल्लिनाथ मत;
3. भरत मत; और
4. हनुमन्मत।

संगीत के इतिहास काल का विभाजन

भारतीय संगीत के इतिहास को निम्नांकित चार भागों में विभक्त किया जा सकता है :–

1. अति प्राचीन काल (वैदिक काल)–(2000 ईसा पूर्व से 1000 ईसा पूर्व तक)।
2. प्राचीन काल (वैदिक सांस्कृतिक परंपरा समाप्त हो जाने के बाद)–1000 ईसा पूर्व से सन् 800 ई. तक।
3. मध्य काल (मुसलिम काल)–800 ई. से 1800 ई. तक।
4. आधुनिक काल–1800 ई. से वर्तमान तक।

1. वैदिक काल (2000 ईसा पूर्व से 1000 ईसा पूर्व तक)

वैदिक संगीत

वैदिक काल में संगीत का प्रचार था, इसका प्रमाण हमें वेदों में भली प्रकार मिलता है। ऋग्वेद में मृदंग, वीणा, पशी, डमरू आदि वाद्ययंत्रों का उल्लेख मिलता है और सामवेद तो संगीतमय है ही। कहा जाता है कि साम-गान में पहले केवल तीन स्वरों का प्रयोग होता था, जिनको उदात्त, अनुदात्त और स्वरित कहते थे। आगे चलकर एक-एक करके स्वर और बढ़ते गए और वैदिक काल में ही साम-गान सप्त स्वरों में होने लगा। इसका प्रमाण ''सप्त स्वरास्तु गीयन्ते सामभि: सामगैर्बुधै: माण्डूक्य शिक्षा'' की इस पंक्ति से भी मिलता है।

'पाणिनि-शिक्षा' तथा 'नारदीय शिक्षा' में निम्नलिखित श्लोक मिलता है। इसके आधार पर सप्त स्वर, उनके उदात्त, अनुदात्त और स्वरित के अंतर्गत इस प्रकार आते थे :–

उदात्ते निषादगांधारी अनुदात्त ऋषभधैवतौ।
स्वरितप्रभवा ह्येते षडजमध्यमपंचमा।।

अर्थात्–

उदात्त . . . . . अनुदात्त . . . . . . स्वरित
नि ग 0 रे ध 0 सा म प

'याज्ञवल्क्य शिक्षा' में भी इसी प्रकार का वर्गीकरण मिलता है।

वैदिक काल में गायन के साथ-साथ नृत्य कला भी प्रचलित थी। इसका प्रमाण ऋग्वेद में आया है–'नृत्यमानो' 'लिंग पुराण' के मतानुसार, शिव के प्रधान गण

नन्दिकेश्वर थे। इन्होंने 'भरतार्णद' नामक एक विशाल ग्रंथ नृत्यकला पर लिखा था। बाद में इसका संक्षिप्तीकरण 'अभिनय दर्पण' में हुआ। नृत्य करती हुई अनेक प्राचीन मूर्तियाँ भी इसका प्रमाण देती हैं कि वैदिक काल में नृत्य कला प्रचलित थी। देवताओं द्वारा सोमरस पान करके नृत्य करने की प्रथा से भी संगीत और नृत्य की प्राचीनता का समर्थन होता है।

2. प्राचीन काल (1000 ईसा पूर्व से सन् 800 ई. तक)

पौराणिक संगीत

इसके उपरांत पौराणिक काल आता है। इस युग में संगीतज्ञ चरित्र से हटता जा रहा था। उसमें संयम का अभाव होता जा रहा था। उच्छृंखलता बढ़ती जा रही थी। फिर भी संगीतकारों का जीवन संतुलित रूप से चल रहा था। विद्वानों का कथन है कि वैदिक काल में संगीत की आंतरिक सुषमा का जैसा उभार हमें प्राप्त होता है, वैसा इस काल में नहीं होता। इस काल में संगीत का पुष्प प्रस्फुटित अवश्य हुआ, किन्तु वह अपना सौरभ विस्तीर्ण क्षेत्र में न फैला सका। इस युग के संगीतकार वैदिक युग के संगीतकारों की भाँति उदार दृष्टि वाले नहीं थे। संगीतज्ञों के मस्तिष्क संकीर्ण होते जा रहे थे। वैदिक युग में जो संगीत यज्ञों में फैल चुका था, वह अब व्यक्तिगत कारा में बन्द हो गया।

तैत्तिरीय उपनिषद्, ऐतरेय उपनिषद्, शतपथ ब्राह्मण आदि ग्रन्थों में संगीत का यथेष्ट दिग्दर्शन है। इनके अतिरिक्त याज्ञवल्क्य रत्न प्रदीपिका, प्रातिभाष्य प्रदीप और नारदीय शिक्षा प्रभृति ग्रन्थों में भी संगीत का परिचय मिलता है। ऋक प्रतिशारव्य (लगभग ईसा से 400 पूर्व) ग्रन्थों में भी सात स्वरों का वर्णन प्राप्त होता है।

इनके अतिरिक्त हरिवंश पुराण में सप्त स्वरों, ग्राम रागों, तीनों स्थानों (मंद, मध्य, तार), मूर्च्छना, नृत्य, नाट्य और वाद्यों का वर्णन प्राप्त होता है। इसी प्रकार मार्कण्डेय तथा वायु पुराणों में षडजादिक सात स्वरों, तीन ग्रामों और मूर्च्छनाओं आदि के अतिरिक्त बीणा, दर्दुर, पणव, पुष्कर, मृदंग और देव दुदुंभि का उल्लेख मिलता है। उर्वशी, हेमा, रंभा, मेनका, मिश्रकेशी, तिलोतमा आदि प्रसिद्ध नर्तकियों के नाम भी हमें इस काल में प्राप्त होते हैं, जिनसे यह स्पष्ट होता है कि नृत्य कला भी इन दिनों उच्च स्तर पर थी।

बौद्धकालीन संगीत

ईसा के 563 वर्ष पूर्व बुद्ध भगवान का जन्म हुआ था। इस काल के संगीत में जीवन की व्यापकता का समावेश अधिक हो गया। अब वही संगीतज्ञ सफल समझा जाता था, जो कि अपने संगीत प्रदर्शन से मानव को समस्त विकारों से ऊपर उठा सके। भगवान बुद्ध के सम्पूर्ण सिद्वान्तों को गीतों की लड़ियों में पिरो दिया गया था। उनका सुन्दर ढंग से गायन करके गाँव-गाँव और नगर-नगर की सुप्त जनता को जागरण के भव्य पथ पर लाया गया। इस काल

में वीणा पर ही गायन होता था। शास्त्रीय संगीत अपने पूर्ण यौवन पर था। संगीत पर जो वासना की धुंध छाई हुई थी, वह विनष्ट हो गई। इस युग में संगीत पर सुन्दर ग्रन्थ भी लिखे गए थे।

कालिदासकालीन संगीत

इस काल में महाकवि कालिदास (400 ई.) द्वारा संगीत और कविता का प्रचार चारों ओर हो चुका था। राज दरबारों में गायक सम्मानित होने लगे थे। कालिदास ने अपनी रचनाओं में संगीत का पुट देकर आश्चर्यजनक प्रगति की। उस समय कविता और संगीत के सम्मिश्रण से संगीत में एक नई चेतना जाग्रत करने का श्रेय महाकवि कालिदास को ही है।

रामायण और महाभारत संगीत

हमारे प्रसिद्ध ग्रन्थ 'रामायण' और 'महाभारत' भी इसी काल में लिखे गए। महाभारत काल 500 ईसा पूर्व से 200 ईसवी तक और रामायण काल 400 ईसा पूर्व से 1000 ईसवी तक माना जाता है।

रामायण में एक वर्णन के अनुसार जब लक्ष्मण जी संगीत के अन्तःपुर में प्रवेश करते हैं, तो वहाँ वीणा वादन के साथ शुद्ध गायन सुनते हैं। रावण को भी संगीतशास्त्र का प्रकांड विद्वान बताया गया है। इसी प्रकार महाभारत में भी सात स्वरों तथा गांधार ग्राम का वर्णन मिलता है। इन दोनों ही ग्रन्थों में संगीत तथा वाद्ययंत्रों का विशेष उल्लेख मिलता है। भेरी, दुन्दुभि, मृदंग, घट, डिडिम, मुदुदुक, आदंवर, वीणा आदि वाद्यों का उल्लेख हम रामायण में देखते हैं। इससे विदित होता है कि महाभारत और रामायण काल में भी संगीत कला प्रचार में रही। वाल्मीकि ऋषि ने ईसा से लगभग 400 वर्ष पूर्व रामायण को लिखा था। विद्वानों का कथन है कि इस काल में संगीतज्ञों की प्रतिष्ठा वैदिक काल की भाँति ही थी। विवाहोत्सवों पर तथा युद्धों में विजय प्राप्त करके आने पर दुन्दुभि बजाकर स्वागत किया जाता था।

वाल्मीकि जी लिखते हैं कि धनुष के तोड़े जाने पर आकाश में देवताओं की दुन्दुभि बज उठी। अप्सराएँ गायन तथा नृत्य करने लगीं। रंग-बिरंगे फूलों की वर्षा होने लगी। सुन्दरी और सयानी सखियां मंगल गाने लगीं और मंगल गान के साथ स्वंयवर की प्रथा पूर्ण हुई।

महाभारत काल में भगवान कृष्ण संगीत के महान पंडित हुए हैं। इन्हीं दिनों रासलीला नृत्य का निर्माण हुआ था। सामान्य लोग भी संगीत से उतना ही प्रेम रखते थे, जितना कि उच्चवर्गीय समाज। महिलाएँ पौराणिक काल से भी अधिक गाने और नाचने की अनुरागिनी हो गई थीं। इस समय लोगों को विश्वास हो गया था कि काम करते हुए संगीत का प्रयोग करने से काम की थकावट मानव के ऊपर अपना आधिपत्य नहीं जमा पाती। इसलिए इस काल के लोग प्रत्येक काम को गाते-बजाते हुए किया करते थे।

विद्वानों का कथन है कि महाभारत काल का संगीत उत्तमता की पराकाष्ठा पर पहुँच चुका था। श्री कृष्ण (जिन्हें हिंदू लोग भगवान मानते हैं) की बंशी में विचित्र जादू था। श्री कृष्ण जैसा बंशीवादक आज तक विश्व में कहीं उत्पन्न नहीं हुआ।

श्री कृष्ण के अतिरिक्त अर्जुन भी संगीत के महान विद्वान थे। जब वे एक वर्ष तक अज्ञात अवस्था में रहे, तो उन्होंने विराट राजा के यहाँ वृहन्नला नाम रखकर, उनकी पुत्री उत्तरा को संगीत शिक्षा दी थी। उन्हें कंठ संगीत तथा वीणा वादन पर पूर्ण अधिकार था। एक विद्वान का कहना है कि ''महाभारत काल के वीर अर्जुन को हम नहीं भूल सकते। महाभारतकालीन संगीत के विकास में इस महान वीर का विशेष हाथ रहा। कहते हैं कि जिस प्रकार श्री कृष्ण बंशी बजाने में अपना कोई प्रतिद्वंद्वी नहीं रखते थे, ठीक उसी प्रकार वीर अर्जुन भी वीणा वादन में उस समय अपना कोई प्रतिद्वंद्वी नहीं रखते थे। वह वीणा पर ही गाते थे।''

इस काल के संगीत ने श्री कृष्ण के द्वारा वही उच्च स्तर प्राप्त कर लिया था जो कि पौराणिक काल से पूर्व वैदिक काल में था। पौराणिक काल के संगीत का स्तर अब ऊँचा उठ चुका था। संगीत ने समाज के स्तर को किसी भी दिशा में गिरने नहीं दिया था। समाज दिन प्रतिदिन उठता जा रहा था। इस काल का संगीत आदर्श संगीत बन गया।

नारदकृत *''संगीत मकरंद''*

आठवीं शताब्दी में नारद का एक और ग्रंथ 'संगीत मकरंद' प्रकाश में आया। इस ग्रंथ में प्रथम बार पुरुष राग, स्त्री राग और नपुंसक रागों का वर्गीकरण मिला। परंतु यह ध्यान देने की बात है कि उन्होंने 'रागिनी' शब्द का प्रयोग नहीं किया। इसमें 20 पुरुष राग, 24 स्त्री राग और 13 नपुंसक राग गिनाए हैं। साथ में स्वर मूर्च्छना, राग, ताल आदि विषयों को लिया गया है। रागों के इन वर्गीकरण का आधार उनका रस है। उनका कहना है कि रौद्र, अद्‌भुत तथा वीर रस के लिए पुरुष राग, शृंगार तथा करुण के लिए स्त्री राग और भयानक, हास्य तथा शांत रस की उत्पत्ति के लिए नपुंसक रागों को प्रयोग में लाना चाहिए। इस ग्रंथ में राग की जातियाँ (संपूर्ण षाडव, औडुव) तथा रागों के गान समय को भी बताया गया है।

श्रुतियों के नाम प्रचलित परंपरा से भिन्न हैं। भरत मुनि ने जहाँ तैंतीस अलंकारों का वर्णन किया है, वहाँ इस ग्रंथ में केवल उन्नीस अलंकारों का निरूपण है। नखज, वायुज, चर्मज, लोहज और शरीरज नाम से नाद के पाँच भेदों का उल्लेख है तथा वीणा के अठारह भेदों का वर्णन है। कहा जाता है कि इसी के आधार पर आगामी ग्रंथकारों ने राग-रागिनी वर्गीकरण किए हैं।

3. मध्य-काल (मुसलिम काल) (सन् 800 ई. से 1800 ई. तक)

मुसलिमकालीन संगीत

मुसलमानों का आगमन भारत में 11वीं शताब्दी में हुआ। इसी समय से भारतीय संगीत में परिवर्तन आरंभ हुआ। भारतीय संगीतशास्त्र उस समय तक संस्कृत भाषा में होने के कारण मुसलमान उसे समझने में असमर्थ रहे, फिर भी गायन-वादन (क्रियात्मक संगीत) में उन्होंने अच्छी उन्नति की। नये-नये रागों का आविष्कार किया व तरह-तरह के नवीन संगीत वाद्य बने,

जिनका तत्कालीन मुसलिम बादशाहों द्वारा आदर हुआ और गायक वादकों का सम्मान होने लगा।

इसके बाद 12वीं शताब्दी में संगीत की दशा विशेष अच्छी न रही, क्योंकि इस काल में मुहम्मद गौरी तथा मुसलिमों द्वारा हिंदू राजाओं से युद्ध होता रहा। जिसके कारण देश में अव्यवस्था फैली, अतः संगीत प्रचार के मार्ग में बाधा पड़ना स्वाभाविक ही था।

जयदेव कृत 'गीत गोविंद'

12वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में 'गीत गोविंद' नामक संस्कृत के एक प्रसिद्ध ग्रंथ की रचना हुई। इसके रचयिता प्रसिद्ध कवि और संगीतज्ञ जयदेव हैं, जिन्हें उत्तर भारत का प्रथम गायक होने का सम्मान प्राप्त था। 'गीत गोविन्द' में राधाकृष्ण सम्बन्धी प्रबन्ध गीत हैं, जिन्हें आज भी अनेक गायक ताल स्वरों में बाँधकर गाते हैं। जयदेव कवि का जन्म बंगाल में बोलपुर के निकटस्थ केड़ला नामक स्थान में हुआ था, जहाँ पर अब भी प्रतिवर्ष संगीत समारोह होता है।

''गीत गोविंद'' की विशेषता पर मुग्ध होकर एडविन अर्नाल्ड ने अंग्रेजी में इसका अनुवाद ''द इंडियन सौंग आफ सौंग्स'' अर्थात् ''गीतों में भारतीय गीत'' नाम से किया है।

शार्ङ्गदेव कृत 'संगीत रत्नाकर'

शार्ङ्गदेव का समय 1210 से 1247 ई. के मध्य का माना जाता है। यह देवगिरि (दौलताबाद) के यादव वंशीय राजा के दरबारी संगीतज्ञ थे।

13वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में पंडित शार्ङ्गदेव ने 'संगीत रत्नाकर' ग्रंथ की रचना की। इसमें नाद, श्रुति, स्वर, ग्राम, मूर्च्छना, जाति इत्यादि का विवेचन भली प्रकार किया गया है। दक्षिणी और उत्तरी संगीत विद्वान इस ग्रंथ को संगीत का आधार ग्रंथ मानते हैं। आधुनिक ग्रंथों में भी 'संगीत रत्नाकर' के अनेक उद्धरण पाठकों ने देखे होंगे। शार्ङ्गदेव ने अपने इस ग्रंथ में मतंग से अधिक विवरण अवश्य दिया है, किंतु सैद्धांतिक दृष्टि से मत लगभग एक-सा है। इसमें गायन, वादन तथा नृत्य तीनों का विवरण है। इसमें स्वराध्याय, राग विवेकाध्याय, प्रकीर्णकाध्याय, प्रबन्धाध्याय, तालाध्याय, वाद्याध्याय और नर्तनाध्याय के अंतर्गत प्रथम अध्याय में नाद का स्वरूप, नादोत्पत्ति और उसके भेद, सारणाचतुष्टय, ग्राम, मूर्च्छना, तान निरूपण स्वर और जाति साधारण, वर्ण अलंकार तथा जातियों का विस्तृत वर्णन दिया गया है।

द्वितीय अध्याय में ग्राम राग व उनके विभाग तथा रागांग भाषांग शब्दों का स्पष्टीकरण और देशी राग व उनके नाम आदि दिए गए हैं।

तृतीय अध्याय में वाग्येकार के लक्षण, गीत के गुण-दोष, गायक के गुण-दोष और स्थायी इत्यादि का विवरण है।

चतुर्थ अध्याय में गान के निवद्ध और अनिवद्ध भेद, धातु व प्रबन्ध के भेद तथा अंगों इत्यादि का विवरण है।

पंचम अध्याय में तालों के विषय में दिया गया है तथा छठे अध्याय में तत्, सुपिर, अवनद्ध और धन वाद्यों के भेद, वादन विधि तथा वाद्यों और वादकों के गुण-दोष दिए गए हैं।

सप्तम अध्याय नृत्य, नाट्य और नृत्त पर है। इसमें नर्तन संबंधी प्रत्येक बात को दे दिया है।

इसमें कुल 264 रागों का वर्णन दिया गया है। इन रागों का वर्गीकरण राग, उपराग आदि के आधार पर किया गया है। इस वर्गीकरण का आधार क्या है, यह विदित नहीं होता। वर्गीकरण इस प्रकार है :

ग्राम राग	30	उपराग	8
राग	20	पूर्व प्रसिद्ध रागाग राग	8
पूर्व प्रसिद्ध भाषांग राग	11	पूर्व प्रसिद्ध रागांगा राग	12
पूर्व प्रसिद्ध उपांग राग	3	पूर्व प्रसिद्ध विभाषा राग	20
पूर्व प्रसिद्ध भाषा राग	96	उनके काल में प्रचलित राग	13
अंतभाषा राग	4	उनके काल में प्रचलित भाषांग राग	9
उनके काल में प्रचलित क्रियांग राग	3		
उनके काल में प्रचलित उपांग राग	27		

शार्ङ्गदेव ने यद्यपि अपने ग्रंथ की नींवें भरत के 'नाट्य शास्त्र' तथा 'वृहद्यंशी' पर रखने की चेष्टा की है, परंतु यह स्पष्ट है कि इनके समय में भरत की जातियाँ नष्ट हो चुकी थीं तथा मतंग के काल के देशी रागों के स्थान पर और अनेक रागों ने स्थान ले लिया था, जिन्हें 'अधुना प्रसिद्ध राग' कहा जाता था। इसलिए शार्ङ्गदेव को इन अधुना प्रसिद्ध रागों के विषय में ही कुछ कहना आवश्यक था। परंतु इन्हें अपने रागों का क्रम पीछे के सिद्धांतों से भी जोड़ना था, इसलिए उन्होंने अपने रागों का संबंध पुराने रागों से और पुराने रागों का संबंध जातियों से जोड़ने का प्रयत्न किया है। परंतु जातियों का बिल्कुल लोप हो जाने के कारण यह संबंध सुचारू रूप से न जुड़ सका। फलस्वरूप यह ग्रंथ संगीतज्ञों के लिए कुछ दुर्बोध-सा हो गया। इस प्रकार यद्यपि शार्ङ्गदेव ने श्रुति स्वर, ग्राम, जाति आदि के वर्णन में भरत का ही अनुकरण किया है, फिर भी इनकी पद्धति में प्रगति और विकास के लक्षणों का अभाव नहीं है। मूर्च्छनाओं की मध्य सप्तक में स्थापना, विकृत स्वरों की कल्पना, मध्यम ग्राम का लोप और प्रति मध्यम की उत्पत्ति इत्यादि 'रत्नाकर' की मौलिकता को प्रकट करती है।

इसके पश्चात् 1300-1800 ई. संगीत का विकास काल माना जाता है। 13वीं शताब्दी के समाप्त होते ही, अर्थात् 14वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में दक्षिण पर यवनों के आक्रमण होने से देवगिरि का यादव वंश नष्ट हो गया, जिसके फलस्वरूप भारतीय संगीत और सभ्यता पर भी यवनों का प्रभाव पड़े बिना नहीं रहा। इसी समय मुसलिमों द्वारा फारस के रागों का आगमन भारत में प्रारंभ हो गया। दिल्ली का शासन सुलतान अलाउद्दीन खिलजी के हाथ में था। इसी समय (1216-1296 ई.) में संगीत कला की विशेष उन्नति हुई।

अमीर खुसरो का समय

इसी समय के लगभग खिलजी के दरबार में हजरत अमीर खुसरो नाम के एक प्रसिद्ध और कुशल गायक राज्य मंत्री थे। इन्होंने अनेक नवीन राग, नवीन वाद्य और तालों की रचना की। इससे संगीत कला विकास की ओर अग्रसर हुई। इनके विषय में कहा जाता है कि अमीर खुसरो ही वह प्रथम तुर्क थे, जिन्होंने अपने देश के रागों को भारतीय संगीत में मिलाकर एक नवीनता पैदा की।

कहा जाता है कि गोपाल नायक के नाम से प्रसिद्ध गायक भी इसी दरबार में आ गए थे और अमीर खुसरो से उनकी संगीत प्रतियोगिता भी दिल्ली में हुई थी।

अमीर खुसरो द्वारा आविष्कृत गीतों के प्रकार, ताल तथा साजों का उल्लेख भी यहाँ पर संक्षिप्त रूप में कर देना अनुचित न होगा :–

गीतों के प्रकार : गजल, कव्वाली, तराना, खमसा, खयाल।

राग : जीलफ, साजगिरि, सरपर्दा, यमन, रात की पूरिया, बरारी, तोड़ी, पूर्वी इत्यादि।

ताल : झूमरा, आड़ा चौताल, सूलपत्रक, पश्ती, फरोदस्त, सवारी इत्यादि।

वाद्य : सितार, तबला।

गोपाल नायक ने भी कुछ रागों का आविष्कार किया, जिनमें पीलू, बडहंस, सारंग और विरम् उल्लेखनीय हैं।

लोचन कृत 'राग तरंगिणी'

15वीं शताब्दी में लोचन कवि ने हिस्दुतानी संगीत पद्धति पर एक प्रसिद्ध ग्रन्थ 'राग तरंगिणी' लिखा। (कुछ) लेखक लोचन का समय 12वीं शताब्दी बताते हैं, किन्तु लोचन कवि ने अपने ग्रन्थ में जयदेव और विद्यापति के उद्धरण दिए हैं। ये दोनों शास्त्रकार क्रमशः 12वीं और 14वीं शताब्दी के हैं, अतः लोचन का समय इस हिसाब से 12वीं शताब्दी ठीक नहीं बैठता। इसमें प्राचीन राग रागिनी पद्धति को छोड़कर ठाठ पद्धति अपनाई गई है। इन्होंने सभी जन्य रागों को 12 जनक मेलों (ठाठों) में विभाजित किया है, अर्थात् कुल 12 ठाठ मानकर उनसे अनेक राग उत्पन्न किए हैं। अपना शुद्ध ठाठ इन्होंने वर्तमान काफी ठाठ के समान माना है। इस ग्रन्थ में इन जन्य रागों की सूची देखने से यह विदित होता है कि इसमें आए हुए सभी राग आज के हिन्दुस्तानी संगीत में गाए जाते हैं। इसलिए यह ग्रन्थ ऐतिहासिक दृष्टि से बड़े महत्त्व का है। यह भी बड़ी रोचक बात है कि इन जन्य रागों में से अनेक रागों के स्वर यवन काल में परिवर्तित कर दिए गए हैं। किन्तु रागों के रूप आज भी ज्यों के त्यों पाए जाते हैं। 'राग तरंगिणी' के अधिकांश भाग में विद्यापति के गीतों पर विवेचन है।

कल्लितनाथ कृत 'रत्नाकर' की टीका

1456-1457 ई. के लगभग विजयनगर के राजा के दरबार में संगीत के सुप्रसिद्ध पंडित कल्लिनाथ थे। इन्होंने शार्ङ्गदेव कृत 'संगीत रत्नाकर' की टीका विस्तृत रूप से लिखी। यह टीका यद्यपि संस्कृत भाषा में ही थी, तथापि इनके द्वारा उनके संगीत शास्त्रकारों ने यथोचित लाभ उठाया।

सुल्तान हुसैन शर्की

पन्द्रहवीं शताब्दी में (1458-1499 ई.) जौनपुर के बादशाह सुल्तान हुसैन शर्की संगीत कला के अत्यंत प्रेमी हुए हैं। इन्होंने खयाल गायकी (कलावंती खयाल) का आविष्कार किया एवं अनेक नवीन रागों की रचना की, जैसे–जौनपुरी तोड़ी, सिद्ध भैरवी, रसली तोड़ी, वारह प्रकार के श्याम, जौनपुरी, सिदूरा इत्यादि।

इसी समय अर्थात् 1485-1533 ई. के बीच उत्तर भारत में भक्ति आन्दोलन ने जोर पकड़ा। भजन कीर्तन के रूप में संगीत का जगह-जगह उपयोग होने लगा। साथ ही साथ बंगाल में चैतन्य महाप्रभु एवं अन्य भगवद्भक्तों द्वारा संकीर्तन का प्रचार हुआ, जिसके द्वारा संगीत को भी यथेष्ट बल प्राप्त हुआ।

रामामात्य कृत 'स्वरमेल कलानिधि'

सन् 1550 ई. के लगभग कर्नाटक संगीत का एक प्रसिद्ध ग्रन्थ 'स्वरमेल कला निधि' (रामामात्य) द्वारा लिखा गया, जिसमें बहुत से रागों का वर्णन दिया गया है। इस छोटे से ग्रन्थ में पाँच प्रकरण हैं। इनके नाम उपोद्घात प्रकरण, स्वर प्रकरण, वीणा प्रकरण, मेल प्रकरण और राग प्रकरण हैं। उपोद्घात प्रकरण में पुस्तक की प्रारंभिक भूमिका मात्र है। स्वर प्रकरण में 'गाधर्व तथा गान' के अंतर्गत संगीत को विभाजित करके इन दोनों पारिभाषिक शब्दों का स्पष्टीकरण किया गया है। स्वर प्रकरण में सात शुद्ध तथा सात विकृत स्वर माने हैं। वीणा प्रकरण में वीणा के दण्ड पर अपने चौदह स्वरों को स्थापित किया है। मेल प्रकरण में बीस ठाठों का शुद्ध तथा विकृत स्वरों सहित वर्णन है। राग प्रकरण में बीस ठाठों के अन्तर्गत 63 जन्यरागों का उल्लेख है। यहाँ यह बात ध्यान देने की है कि जिन ठाठों तथा रागों का उल्लेख इस ग्रन्थ में किया गया है, वे प्रचलित हिन्दुस्तानी संगीत पद्धति में अपने मूल रूप में प्रचलित नहीं हैं। कहीं ठाठों के नाम बदल गए हैं, तो कहीं रागों के स्वर ही परिवर्तित हो गए हैं। परन्तु संस्कृत ग्रन्थों के अध्ययन की दृष्टि से यह एक उत्तम ग्रन्थ है। प्रसन्नता की बात है कि संगीत कार्यालय, हाथरस द्वारा इसका हिन्दी अनुवाद भी प्रकाशित हो गया है।

अकबर का समय

सोलहवीं शताब्दी (1556-1605 ई.) में संगीत की विशेष उन्नति हुई। यह बादशाह अकबर का समय था। अकबर संगीत के विशेष प्रेमी थे। इनके दरबार में छत्तीस संगीतज्ञ थे, जिनमें

प्रसिद्ध संगीतज्ञ तानसेन, बैजू बावरा, रामदास और तानरंग खां के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।

तानसेन और बैजू बावरा

इससे पहले तानसेन राजा रामचन्द्र के यहाँ रहते थे। इनके संगीत की प्रशंसा सुनकर अकबर ने इन्हें अपने दरबार में प्रधान गायक के रूप में रखा। कहा जाता है कि तानसेन और बैजू बावरा की संगीत प्रतियोगिता भी एक बार हुई। तानसेन ने कुछ रागों का आविष्कार भी किया, जिनमें दरबारी कान्हरा, मियां की सारंग, मियां की मल्हार इत्यादि रागों के नाम हैं। तानसेन के संगीत से प्रभावित होकर इनके अनेक शिष्य भी हो गए थे। बाद में यह शिष्य वर्ग दो भागों में बँट गया : (1) रबाविए, जो तानसेन द्वारा आविष्कृत रबाव बजाते थे और (2) बीनकार, जो वीणा बजाते थे। बीनकारों के प्रतिनिधि रामपुर के वजीर खां तथा रबावियों के प्रतिनिधि मुहम्मद अली खां (रामपुर रियासतवाले) माने जाते थे।

स्वामी हरिदास

अकबर के समय में ही स्वामी हरिदास वृन्दावन के एक प्रसिद्ध संगीतज्ञ महात्मा हुए हैं। इनका जन्म संवत् 1569 भाद्रपद शुक्ल 8 (सन् 1512 ई.) में हुआ। तानसेन इनके ही शिष्य थे। स्वामी जी के शिष्यों द्वारा संगीत का प्रचार अनेक नगरों में भली प्रकार हुआ। कहा जाता है कि स्वामी हरिदास जी अपने समय के सर्वश्रेष्ठ संगीतज्ञ थे। इसके विषय में एक कथा इस प्रकार बताई जाती है कि एक दिन तानसेन से अकबर पूछ बैठे कि तानसेन ऐसा भी कोई गायक है जो तुम से भी सुन्दर गाता हो? इस पर तानसेन ने अपने गुरु स्वामी हरिदास का नाम बताया। अकबर ने उनका गायन सुनने की इच्छा प्रकट की, किन्तु तानसेन ने कहा कि दरबार में तो वे नहीं आएंगे। तब एक नवीन युक्ति से काम लिया गया। अकबर ने अपना वेष बदल कर तानसेन का तानपूरा लिया और तानसेन के साथ स्वामी जी के यहाँ जा पहुँचे। जब स्वामी जी से गाने का आग्रह किया गया, तो उन्होंने अपनी अनिच्छा प्रकट की। तब तानसेन ने एक चाल चली। उन्होंने जान बूझकर स्वामी जी के सामने एक राग अशुद्ध रूप में गाया। स्वामी जी से न रहा गया, उन्होंने वह राग स्वयं गाकर तानसेन को बताया। इस प्रकार अकबर की इच्छा पूर्ण हुई। स्वामी जी के गाने से प्रभावित होकर अकबर ने तानसेन से पूछा कि तानसेन, तुम इतना सुन्दर क्यों नहीं गाते? तानसेन ने उत्तर दिया कि जहाँपनाह मुझे जब दरबार की आज्ञा होती है, तभी गाना पड़ता है, किन्तु गुरु जी तो जब उनकी अन्तरात्मा प्रेरित करती है, तभी गाते हैं, इसीलिए उनके संगीत में एक विशेषता है।

ग्वालियर के राजा मानसिंह तोमर

अकबर के समय में ही ग्वालियर के राजा मानसिंह तोमर द्वारा ग्वालियर का प्रसिद्ध संगीत घराना चालू हुआ। ध्रुवपद गायकी के आविष्कार का श्रेय भी राजा मानसिंह को ही दिया जाता

है। इन्हीं के समय में प्रसिद्ध गायक नायक बख्शू हुए हैं, जिनका स्थान तानसेन के बाद दूसरे नंबर पर गिना जाता है।

सूर, कबीर, तुलसी और मीरा

सोलहवीं शताब्दी संगीत और भक्ति काव्य के समन्वय की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रही, क्योंकि इसी शताब्दी में 'सूर सागर' के रचयिता एवं गीत काव्य के प्रकाण्ड विद्वान महात्मा सूरदास, 'रामचरितमानस' के यशस्वी लेखक गोस्वामी तुलसीदास, हिन्दू मुस्लिम एकता के प्रतीक संत कबीरदास तथा सुप्रसिद्ध कवयित्री और भजन गायिका मीराबाई द्वारा भक्तिपूर्ण काव्य के प्रचार से संगीत कला भगवत् प्राप्ति का साधन बनकर उच्चतम शिखर पर पहुँची।

उपर्युक्त चारों संतों के जीवन काल विक्रम संवत् के हिसाब से इस प्रकार होते हैं :-

कबीरदास	जन्म	संवत् 1456	मृत्यु	1575 संवत्
सूरदास	जन्म	संवत् 1540	मृत्यु	1620 संवत्
तुलसीदास	जन्म	संवत् 1554	मृत्यु	1680 संवत्
मीराबाई	जन्म	संवत् 1560	मृत्यु	1630 संवत्

ईसवी सन् की दृष्टि से उक्त चारों भक्तों का समय 1400-1600 ई. के मध्य का माना जा सकता है। इनके भजन और पद अमर हो गए हैं और आज भी भारत के घर-घर में इनका प्रचार है।

पुंडरीक विट्ठल के ग्रन्थ

1599 ई. के लगभग संगीत के एक कर्पाटकी पंडित पुंडरीक विट्ठल द्वारा लिखे हुए संगीत सम्बन्धी चार ग्रन्थ मिलते हैं : 1. सद्रागचन्द्रोदय, 2. रागमाला, 3. राग मंजरी, 5. नर्तन निर्णय। ये ग्रन्थ बीकानेर लाइब्रेरी में सुरक्षित हैं। इनमें नर्तन निर्णय नृत्य कला से सम्बन्ध रखता है और शेष तीन में रागादि का वर्णन है। इन ग्रन्थों में बाईस ग्रन्थों की श्रुतियों पर स्वरों को स्थापित करके वीणा के तार मिलाने का ढंग तथा परदों के स्थानों को बताया गया है। इसके अनंतर 19 ठाठों के अन्तर्गत स्वर स्थान तो वही है, जोकि 'सद्रागचन्द्रोदय' में है, परन्तु उनके विकृत नाम इसमें नहीं दिए हैं। उनके स्थान पर 'एकगतिक नि', 'द्विगतिक नि', 'त्रिगतिक नि' जाति का प्रयोग किया है। प्रत्येक 'गति' का माप श्रुति माना है। स्वर स्थान बताने के उपरान्त वादी, संवादी, अनुवादी, विवादी, ग्रह, अंश, न्यास की परिभाषा देते हैं। रागाध्याय में रागों के तीन वर्ग पुरुष राग, स्त्री राग और पुत्र राग कर दिए हैं। इनमें छह पुरुष राग देकर, प्रत्येक के पाँच-पाँच भार्या राग और पाँच-पाँच पुत्र रागों के नाम दिए हैं। रागों के स्वर बताने के उपरान्त रागों के स्वरूपों (चित्रों) की कल्पना की है तथा उनका गान समय भी बताया है।

'राग मंजरी' में 'राग माला' की भांति ही स्वर स्थान बताए गए हैं। इसमें पुण्डरीक ने अपने जन्य रागों का वर्गीकरण बीस ठाठों में किया है। इस ग्रन्थ के अन्त में उन्होंने कुछ ऐसे फारस के रागों का भी उल्लेख किया है, जो यवनों द्वारा हिन्दुस्तानी संगीत में प्रचलित किए गए थे, जैसे–हुसैनी, यमन, सरपरदा, बाजराज हिजाज, उश्शक इत्यादि। यहाँ यह ध्यान रखने की बात है कि उन्होंने अपना शुद्ध ठाठ दक्षिण के शुद्ध ठाठ को ही माना है।

जहाँगीर का राज्य (18वीं शताब्दी)

सोमनाथ कृत 'राग विवोध'

1605 ई॰ से 1627 ईसवी तक जहाँगीर का राज्य रहा। इसके दरबार में विलास खां, छत्तर खां, खुर्रमदाद, मक्खू परवेजदाद और हमज़ान प्रसिद्ध गायक थे। इसी शासन काल में दक्षिण भारत के राजमुदी स्थान निवासी पंडित सोमनाथ ने संगीत का ग्रन्थ ''राग विवोध'' लिखा। इसका रचना काल ग्रन्थकार ने स्वयं शक् 1531 अर्थात् 1610 ई.) आश्विन शुक्ल तृतीया बताया है। इसमें उन्होंने अनेक वीणाओं का वर्णन किया है तथा रागों का जन्य जनक पद्धति से वर्गीकरण किया है। इन्होंने 22 श्रुतियों पर सात शुद्ध स्वर स्थापित करने के उपरान्त 15 विकृत स्वरों का वर्णन किया है। इन्होंने अपने 75 जन्य रागों का वर्गीकरण 23 मेलों के अन्तर्गत किया है। आज भी अनेक रागों का रूप इन प्राचीन रागों के समान ही प्रतीत होता है। इस प्रकार ऐतिहासिक दृष्टि से यह ग्रन्थ उत्तरी संगीतज्ञों के लिए विशेष महत्त्व का है।

पं. दामोदार कृत 'संगीत दर्पण'

जहाँगीर के समय में ही हिन्दुस्तानी संगीत पद्धति पर 1625 ई. में 'संगीत दर्पण' नामक ग्रन्थ की रचना पं. दामोदार ने की। इसमें 'संगीत रत्नाकर' के भी बहुत से श्लोक कुछ परिवर्तन के साथ मिलते हैं। रागाध्याय का विस्तृत रूप से वर्णन किया गया है। स्वराध्याय में नादोत्पत्ति, श्रुति, स्वर, ग्राम मूर्च्छना तथा 32 तानों का वर्णन है। कूट तानों को बनाने का क्रम तथा खंडमेरू तानों में 'नष्ट' और 'उद्दिष्ट' को खोज़ने का क्रम विस्तार से समझाया है। इसी अभ्यास में स्वर साधारण, वर्ण अलंकार आदि का भी संक्षिप्त वर्णन है।

रागाध्याय में रागांग, भाषांग, क्रियांग और उपांग को संक्षेप में समझाकर मतंग के मतानुसार रागों के तीन भेद (शुद्ध, छायालग और संकीर्ण) बताकर 'रत्नाकर' से 20 रागों के नाम उद्धृत कर दिए हैं और तुरंत शिवमत के अनुसार राग-रागिनियों का वर्णन प्रारंभ कर दिया है। फिर रागों का गान समय और ऋतुओं का संक्षिप्त वर्णन है। इसके उपरान्त 'हनुमन्मत' से तथा 'रागार्णव' मत से राग-रागिनियों के नाम बताए हैं। इस ग्रन्थ के लोकप्रिय होने का कारण इसमें दिए गए राग-रागिनियों के ध्यान हैं। ''संगीत दर्पण'' में दिए गए ध्यानों के कारण यह ग्रन्थ भी लोकप्रिय बन गया। सर विलियम जोन्स की पुस्तक ''द म्युजिकल वॉयस आफ द हिन्दूज'' द्वारा यह भी पता चलता है कि ''संगीत दर्पण'' का फारसी अनुवाद भी हो चुका है। इसके गुजराती तथा

हिन्दी अनुवाद भी वर्तमान काल में प्रकाशित हो गए हैं, इससे इस ग्रन्थ की लोकप्रियता का आभास भली प्रकार मिलता है।

वेंकटमखी कृत 'चतुर्दंडिप्रकाशिका'

1660 ई. के लगभग शार्ङ्गदेव गुरु परम्परा के शिष्य वेंकटमखी पंडित ने दक्षिण पद्धति के आधार पर संगीत का एक ग्रन्थ ''चतुर्दंडिप्रकाशिका'' निर्मित किया। इसमें गणितानुसार मद्रक के 12 स्वरों से 32 मेल अर्थात् ठाठ और एक ठाठ से 484 रागों की उत्पत्ति सिद्ध की है। 72 ठाठों में से 19 ठाठ, जो दक्षिणी पद्धति में प्रयोग किए जाते हैं, का विवरण तथा इन ठाठों से उत्पन्न 55 रागों का विवरण भी इस पुस्तक में दिया है।

शाहजहाँ का समय (17वीं शताब्दी)

शाहजहाँ का शासन काल 1628-1658 ई॰ माना जाता है । यह बादशाह स्वयं गाना जानता था। इसके उर्दू भाषा के गाने अत्यंत मधुर और आकर्षक होते थे। गायकों का इसके यहाँ इतना आदर था कि अपने दरबारी गायक विरगं खां और लाल खां को इसने चांदी से तुलवाकर (प्रत्येक की चांदी लगभग 4500 रुपए की बैठी) पुरस्कृत किया। इसके अतिरिक्त शाहजहाँ के दरबार में प्रसिद्ध गायक रामदास महापट्टेर और जगन्नाथ भी थे ।

औरंगजेब का समय (1658 ई. से 1707 ई.)

औरंगजेब आलमगीर संगीत का कट्टर शत्रु था। उसे संगीत से इतनी चिढ़ थी कि एक दिन हुकम निकाल दिया कि सब साज दफना दिए जाएं। उसके समय में यद्यपि संगीत को राज्याश्रय नहीं रहा, किन्तु पृथक् रूप से संगीतज्ञों की साधना को औरंगजेब भी नहीं रोक सका।

अहोबल कृत 'संगीत पारिजात'

सत्तरहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में उस समय के संगीत विद्वान पंडित अहोबल से सन् 1650 ई. के लगभग हिन्दुस्तानी संगीत का एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ 'संगीत पारिजात' लिखा। इसी पंडित ने सर्वप्रथम वीणा के बाज के तार की लम्बाई पर भिन्न-भिन्न नाप से अपने शुद्ध तथा विकृत स्वरों की स्थापना की। अहोबल का शुद्ध ठाठ भी लोचन की भांति आजकल प्रचलित काफी ठाठ के समान था। इन्होंने शुद्ध विकृत कुल मिलाकर 29 स्वर बताए हैं। इन्होंने अपने रागों का वर्गीकरण ठाठों में नहीं किया है किन्तु यदा कदा ठाठों के नाम दे दिए हैं। इस ग्रन्थ में लगभग 122 रागों का वर्णन मिलता है। प्रत्येक राग में लगने वाले स्वरों की आरोही, अवरोही, ग्रह, न्यास और मूर्च्छना के स्वरों का वर्णन प्राप्त होता है। उनका कहना है कि जहाँ उन्होंने न्यास और अंश स्वर का उल्लेख नहीं किया है, वहाँ इन स्वरों के स्थान पर षडज को ही मानना चाहिए। जिस स्वर समूह से राग प्रारंभ होता है, उसे 'उदग्राहकारक' कहा है। इस प्रकार की उदग्राहकारक तान

प्रत्येक राग की परिभाषा के बाद में दी गई है। 'संगीत पारिजात' का फारसी अनुवाद 1724 ई. में श्री दीनानाथ द्वारा हुआ और हिन्दी अनुवाद श्री कलिंद द्वारा 1941 ई. में होकर 'संगीत कार्यालय' हाथरस से प्रकाशित हुआ।

हृदयनारायणदेव कृत 'हृदय कौतुक' और 'हृदय प्रकाश'

'संगीत पारिजात' के पश्चात् हृदयनारायणदेव ने 'हृदय कौतुक' और 'हृदय प्रकाश' ये दो ग्रन्थ लिखे, जिनमें अहोबल का अनुकरण करते हुए 12 स्वर स्थान वीणा के तार पर समझाए हैं। इन्होंने तरंगिणी के ही बारह ठाठों को लेकर नवीन राग 'हृदय रमा' और जोड़कर एक ठाठ और बढ़ा दिया है। इस नवीन राग में इन्होंने दो नवीन स्वर विश्रुति 'म' तथा त्रिश्रुति 'नि' और जोड़ दिए हैं। साथ में रागों का परिचय देने वाले श्लोक, स्वरों का वर्ज्यावर्ज्य बताते हुए रागों के स्वर स्वरूप को भी बताते हैं। वादी, संवादी, अनुवादी और विवादी को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि राग में पाँच से कम स्वर नहीं होने चाहिए। जो मेल दो, तीन, चार स्वरों का है, उसे 'राग' न कहकर 'तान' कह सकते हैं। इन दोनों ग्रन्थों में जन्यराग का विवरण एक समान है।

भावभट्ट के ग्रन्थ

संगीत विद्वान पं. भावभट्ट ने संगीत के तीन ग्रंथ 1674-1709 ई. के लगभग लिखे–

1. अनूप विलास
2. अनूपाकुश तथा
3. अनूप संगीत रत्नाकर।

भावभट्ट दक्षिणी संगीत पद्धति के लेखक थे। इनका शुद्ध ठाठ मुखारी है। 20 लेखों मेलों (ठाठों) से इन्होंने सब रागों का विभाजन किया है। ''अनूप विलास'' का लगभग समस्त स्वराध्याय शार्ङ्गदेव के ''रत्नाकर'' से लिया गया है। इसमें स्वर, ग्राम, मूर्च्छना, जाति, शुद्ध तान, कूट तान और अलंकार की समस्त परिभाषाएँ 'संगीत रत्नाकर' और 'संगीत पारिजात' से ली गई हैं। इन्होंने 22 श्रुतियों पर ही 42 स्वर नाम रखे हैं। किंतु राग वर्णन में वे इस विषय में मौन हैं। इसमें लगभग 70 रागों की व्याख्या प्राप्त होती है।

'अनूप संगीत' रत्नाकर में पुनः श्रुति, स्वर, ग्राम, मूर्च्छना, तान, वर्ण और अलंकार आदि के विषय में 'रत्नाकर' से ज्यों का त्यों उद्धृत कर लिया है। परिभाषाओं के उपरांत रागाध्याय में कुछ प्रचलित रागों के भेदों को भी बताते हैं, जैसे नट के भेदों के अंतर्गत शुद्ध नट, सालंगनट, छायानट, केदारनट, कल्याणनट, वाराटीनट, सारंगनट, विभासनट, हमीरनट, पूरियानट इत्यादि। इसके उपरांत कुछ रागों के विभिन्न स्वरूपों का वर्णन है। फिर पुंडरीक की 'राग मंजरी' से उनके ठाठों, स्वरों व जन्य रागों को ज्यों का त्यों नकल कर लिया है। इसमें सैकड़ों प्राचीन ध्रुपदों का भी उल्लेख किया है, परंतु उनकी स्वरलिपि नहीं दी गई है।

'अनूपाकुश' में श्रुतियों का वर्णन करके रागाध्याय में राग वर्गीकरण को 'संगीत दर्पण' के अनुसार रखा है। परंतु इस पुस्तक में इन रागों की जो परिभाषा दी गई है, उसकी तनिक भी चिंता न करते हुए प्रत्येक राग में 'संगीत पारिजात', 'हृदयप्रकाश' और 'राग मंजरी' के मतों का उद्धरण दे दिया है। इस प्रकार अनेक परिभाषाएँ परस्पर विरोधी हो गई हैं और पाठकों को उलझा देती हैं।

मुहम्मदशाह रंगीले (18वीं शताब्दी)

सदारंग-अदारंग

अठारहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध (1729-1740 ई.) में मुगल वंश के अन्तिम बादशाह मुहम्मदशाह रंगीले हुए। यह संगीत के अत्यंत प्रेमी थे। बहुत से गीतों में इनका नाम प्रायः आजकल भी पाया जाता है। रंगीले के दरबार में दो अत्यंत प्रसिद्ध गायक सदारंग और अदारंग थे, जिन्होंने हजारों खयालों की रचना करके अनेक शिष्य तैयार किए। वास्तव में खयाल की गायकी के प्रचार का श्रेय सदारंग और अदारंग को ही है। इन्हीं के खयाल आज सर्वत्र प्रचार में आ रहे हैं। इसी काल में शेरी मियाँ ने 'टप्पा' ईजाद करके प्रचलित किया।

अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में संगीत साधना साधारण रूप से चलती रही। इधर मुसलिम शासकों की शक्ति क्षीण होने लगी और अंग्रेजों का पंजा धीरे-धीरे भारत में जमने लगा। इस उथल-पुथल में संगीत कला बड़े-बड़े राज्याश्रयों से पृथक् होकर स्वतंत्र रूप से तथा कुछ छोटी-छोटी रियासतों में पलने लगी।

सल्तनत काल में संगीत का विकास

यह कुछ आश्चर्य की सी बात लगती है कि जिस सल्तनत युग (1206-1526 ई.) को अन्यथा अंधकारमय युग कहते हैं उसी काल में भारतीय संगीत का सर्वोत्कृष्ट विकास हुआ। यह सत्य है कि अमीर खुसरो (जन्म 1253 ई.–मृत्यु 1325 ई.) 13वीं शताब्दी में ही भारतीय संगीत की उत्कृष्टता स्वीकार करते हैं। अपने ग्रंथ ''नूह सिपहर'' (नव आकाश) में वे भारत को दस बातों के कारण अन्य देशों से उत्तम मानते हैं। इसमें आठवां कारण वे इस प्रकार बताते हैं–

> ''भारतीय संगीत से हृदय और आत्मा उद्वेलित हो जाते हैं। यह संगीत किसी भी अन्य देश के संगीत से उत्तम है। इसे सीखना आसान नहीं है। विदेशी लोग तीस और चालीस साल भारतवर्ष में रहने के बाद भी भारतीय लयों को सही नहीं बजा सकते हैं।''

भारतीय संगीत की प्रशंसा वे नवीं बात में फिर कहते हैं–भारतीय संगीत केवल मनुष्य मात्र को ही प्रभावित नहीं करता, यह पशुओं तक को मंत्रमुग्ध कर देता है। हिरन संगीत से अवाक् खड़े रह जाते हैं और उनका आसानी से शिकार कर लिया जाता है।

किंत इस काल में भारतीय संगीत में कुछ नए-नए तत्त्वों का सम्मिश्रण किया गया जो मुसलमानों के साथ 13वीं शताब्दी के आरंभ में भारतवर्ष में आए। ईरानी संगीत की कुछ

विशेषताएँ यहाँ स्वीकार की गईं और कुछ नए राग और नई पद्धतियों का आविष्कार हुआ। अमीर खुसरो के संदर्भ में ही हमें इस सम्मेलन के प्रामाणिक उल्लेख मिलते हैं। उसने भारतीय संगीतशास्त्र का गहन अध्ययन किया। वह ईरानी पद्धति के चार उसूल बारह परदे आदि सिद्धांतों से भी भलीभांति परिचित था। उसने भारतीय और ईरानी सिद्धांतों के सम्मिश्रण से कुछ नए राग निकाले जो मध्यकालीन भारतीय ईरानी संस्कृति के विशिष्ट लक्षण हैं। 15-16वीं शताब्दी में लिखे गए ''रागदर्पण'' के अनुसार अमीर खुसरो ने निम्नलिखित नए रागों का सूत्रपात किया:-

मुजीर	सरपर्द	बसीट	गजन	तराना
ऐमन	फरदोस्त	सुहिल	परगान	निगार
मुवापिक	कौल	साजगारी	बाखर्ज	शहान
जिलाप	ख्याल	उश्शाक	मुनम	

कव्वाली का सूत्रपात भी अमीर खुसरो ने किया। कहते हैं सितार का आविष्कार भी खुसरो ने ही किया। सितार ईरानी तम्बूर या ऊद से मिलता-जुलता होता है और भारतीय वीणा की पद्धति पर बजाया जाता है। किंतु खुसरों के ग्रंथों में इस बात का उल्लेख नहीं पाया जाता है। इसी प्रकार यह कहते हैं कि खुसरो ने मृदंग से तबले का आविष्कार किया।

भारतीय संगीत को इस प्रकार मध्यकाल में एक नई दिशा और एक नया जीवन प्राप्त हुआ। या यों कहना अधिक सत्य होगा कि नई-नई विधियों के जोड़े जाने के फलस्वरूप एक नई कला का जन्म हुआ। ख्याल और तराना जैसे नए-नए रागों ने भारतीय संगीत का स्वरूप ही बदल दिया। प्राचीन संगीत में 'जाति गायन' को प्रधानता दी जाती थी, मध्यकाल के संगीताचार्यों ने 'राग गायन' का प्रचलन किया।

अमीर खुसरो गयासुद्दीन बलबन के समय से गयासुद्दीन तुगलक के राज्यकाल तक प्रसिद्ध दरबारी, सूफी, कवि और संगीतकार थे। उनकी गणना देश के विख्यात संगीतकारों में की जाती है। उस समय संगीत मनोरंजन का प्रिय साधन था। खुसरो अपने ग्रंथ 'किरानुस्सादें' में कैकुबाद (1287-90) के शाही संगीत सम्मेलनों का बड़ा रोचक वर्णन करते हैं। सुलतान जलालुद्दीन खिलजी भी संगीत का बड़ा शौकीन था। उसके दरबार में मुहम्मद शाह, फिकाई की पुत्री चन्गी फनुहा नुसरत खातून और मैहर अफरोज जैसी निपुण संगीतकार रहती थीं। एक अन्य ग्रंथ 'ऐजात ए खुसरवी' में वे अलाउद्दीन खिलजी के राजकाल के संगीतज्ञों का विवरण देते हैं जिनमें भारतीय और ईरानी दोनों पद्धतियों के कलाकार थे। उस समय निम्नलिखित वाद्य बजाए जाते थे :

चंग	चगनाना (सारंगी)
डफ	दस्तके
नाय (बंसी)	रबाब
शहनाई	तम्बूर

खुसरो स्वयं एक बहुत बड़े संगीतज्ञ थे। वे बड़ा सुंदर गाते थे। उन्होंने जो नए-नए राग निकाले उनमें भारतीय और ईरानी दोनों पद्धतियों का सौंदर्य और मिठास था। 'खयाल' का

आविष्कार खुसरो ने किया और यह एक बहुत बड़ी घटना थी। अब तक ध्रुपद शैली चलती थी जिसमें एक ही लय को स्वरों में बढ़ाया जाता था। 'खयाल' के अंतर्गत 'अलाप' होता है जिसमें राग की कड़ियाँ होती हैं और इनमें तानों को मधुर गति से दुहराया जाता है। खयाल बहुत प्रचलित हुआ। खुसरो ने 'तराना' का भी सूत्रपात्र किया। वाद्य संगीत में 'झाला' जो काम करता है, कंठ संगीत में तराना का वही स्थान है। खुसरो संगीत रचनाएँ भी बनाते थे और एक स्थान पर उन्होंने लिखा है कि अगर एकत्रित की जाएँ तो उनकी संगीत रचनाएँ इतनी सारी होंगी जितनी उनकी काव्य रचनाएँ हैं।

गोपालनायक खुसरो के समकालीन एक महान संगीतज्ञ थे। वे दक्षिण के रहने वाले थे और एक किंवदन्ती के अनुसार अलाउद्दीन खिलजी के दरबार में आए थे जहाँ खुसरो से उनकी संगीत प्रतियोगिता हुई थी।

इस काल में सूफी मत के अंतर्गत भी संगीत को प्रोत्साहन मिला। यद्यपि कट्टर मुल्ला दृष्टिकोण के अनुसार इस्लाम में संगीत वर्जित है, तथापि सूफी संत संगीत को 'समा' के रूप में स्वीकार करते थे। संगीत आत्मा को जगाता है और इस प्रकार ईश्वर से मिलने की दिशा में ले जाता है। बड़े-बड़े सूफी संतों के खानकाओं में संगीत सभाएँ होती थीं। धूमधाम से कव्वालियाँ गायी जाती थीं। इस बात पर शेख निजामुद्दीन औलिया का गयासुद्दीन तुगलक (1320-25) और उसकी शह पर मुल्लाओं ने बड़ा विरोध किया किंतु वे संत के संगीत सम्मेलनों में अवरोध नहीं पहुँचा सके। धीरे-धीरे कव्वाली सूफी मत का विशिष्ट अंग बन गया।

सुल्तान मुहम्मद बिन तुगलक (1325-51) अपने पिता के विपरीत उदार प्रकृति का शासक था। वह संगीत का बड़ा शौकीन था और कहते हैं कि 1200 उत्तम कोटि के संगीतज्ञ उसके यहाँ नियुक्त थे जो उसका समय-समय पर मनोरंजन करते थे। फिरोज तुगलक का इतिहासकार अफीक लिखता है कि सुल्तान संगीतज्ञों को संरक्षण देता है। हर शुक्रवार को नमाज के बाद संगीतज्ञ महल में एकत्रित होते थे और अपनी-अपनी कला का प्रदर्शन करते थे। कुछ वाद्य जो उस समय बजाए जाते थे, इस प्रकार थे :

चंग	अर्गुन	नफीरी
कमंच	रुबाब	मिस्कत
नाय	तम्बूर	
ढोल	भीर	

सांस्कृतिक पुनरुत्थान का युग

सल्तनत का आरंभिक काल भयंकर संघर्षों का काल था। विदेशी आक्रमणकारी की समझ में यहाँ का धर्म और इस धर्म पर आधारित कला, सामाजिक व्यवस्था और जीवनयापन का ढंग नहीं आता था और कुफ्र कह कर वह इसे नष्ट कर देना चाहता था। किंतु धीरे-धीरे वह समझ गया कि जिसे वह धराशायी कर देना चाहता है वह नरगिस का पौधा नहीं है, वह बरगद का

विशाल पेड़ है, जिसकी शाखाएं कटती जाती हैं, निकलती जाती हैं और पेड़ अक्षुण्ण अपनी गहरी जड़ों और विशाल तने के बल पर--अपनी प्राचीन परम्पराओं पर जीवित रहता है।

धीरे-धीरे संघर्ष का जोश कम हो गया। एक पड़ोसी ने दूसरे को सहानुभूति से देखा। दोनों मिलकर बैठे और सांस्कृतिक विनिमय आरम्भ हुआ। बाहर से आने वाली नई-नई प्रेरणाओं को धीरे धीरे स्वीकार किया गया और भारतीय मूल के आधार पर एक मिली-जुली संस्कृति का उदय हुआ। सांस्कृतिक सम्मेलन की यह प्रक्रिया समय बीतने के साथ-साथ तेज होती गई और इस प्रकार लगभग 15वीं शताब्दी से सांस्कृतिक पुनरुत्थान का युग आरम्भ हुआ। भक्ति आन्दोलन ने धर्म और समाज की काया पलट कर दी। हिन्दू वास्तुकला में मुस्लिम तत्त्वों के समावेश के फलस्वरूप इस काल में अत्यन्त सुन्दर और मनोरम एक नई शैली का विकास हुआ जो मुगलों के राजकाल में चरमोत्कर्ष पर पहुँची। इस युग का सबसे अधिक प्रभाव संगीत के क्षेत्र में पड़ा। संगीत का सम्बन्ध सीधा हृदय से होता है और भावों से उद्वेलित होते ही यह विद्रोह कर उठता है, सारे बन्धन तोड़कर परिवर्तन को स्वीकार कर लेता है। नई प्रेरणा ने संगीत पद्धति में एक नया जीवन फूँक दिया और उसे विकास की एक नई दिशा की ओर उन्मुख कर दिया।

संगीत को इस युग में बड़े व्यापक पैमाने पर राजकीय संरक्षण और प्रोत्साहन प्राप्त हुआ। कड़ा मानिकपुर के शासक मलिक सुल्तानशाह के पुत्र बहादुर मलिक ने संगीतज्ञों का एक बृहत् सम्मेलन बुलाया। इसमें 'संगीत रत्नाकर' आदि संगीत के अठारह ग्रंथों को एकत्रित करके सब विवादास्पद विषयों का निर्णय कराया गया और परिणामस्वरूप 1428 ई. में 'संगीत शिरोमणि' नामक ग्रंथ की रचना हुई जिसमें कुल निर्णीत बातें संकलित थीं।

जौनपुर के इब्राहीम शाह शर्की (1400-1436) और उसके पौत्र हुसैनशाह शर्की (1457-79) भारतीय संगीत से बड़ा प्रेम करते थे। उनके दरबार में भारतीय संगीत की बड़ी उन्नति हुई। वहीं से खयाल गायकी की एक नई पद्धति चली और कम से कम तीन नए रागों का आविष्कार हुआ। इसी प्रकार कश्मीर के शासक जैनुल आबदीन के दरबार में भारतीय राग गाए जाते थे और संगीतज्ञों को आश्रय मिलता था।

मेवाड़ के महाराणा कुंभा (1433-68) अपने युग के एक महान संगीतज्ञ थे। इस कारण उन्हें 'अभिनव भारताचार्य' कहा जाता था। उन्होंने संगीत पर बड़े-बड़े ग्रंथ लिखे जैसे ''संगीत राज'' और 'संगीत मीमांसा'। 'गीत गोविंद' पर उन्होंने 'रसिक प्रिया' नाम से एक टीका लिखी। उन्होंने ''संगीत रत्नाकर'' पर भी एक टीका की रचना की। इससे उनके संगीत के आचार्यत्व का तो पता चलता ही है, तत्कालीन संगीत की उन्नतावस्था का भी अनुमान होता है।

ग्वालियर के राजा मानसिंह तोमर (1486-1516) भी संगीत के एक बहुत बड़े कोविद थे। उन्होंने संगीताचार्यों का एक विशाल सम्मेलन बुलाया जिसमें रागों का विधिवत वर्गीकरण किया गया। इसके आधार पर 'मान कुतूहल' नामक एक बहुमूल्य ग्रन्थ लिखा गया जिसमें संगीत कला की सूक्ष्मतम बातों का विद्वतापूर्ण विवेचन किया गया। मानसिंह ने ध्रुपद को पुनर्जीवित किया और कुछ नए राग निकाले। उन्होंने ही ग्वालियर में शास्त्रीय संगीत की एक परम्परा की स्थापना

की। विश्वविख्यात तानसेन ग्वालियर की इसी परम्परा के शिष्य थे। राजा मानसिंह ने शास्त्रीय संगीत के ग्रन्थ 'राग दर्पण' का फारसी में अनुवाद कराया। इससे भारतीय संगीत का शास्त्रीय ज्ञान विद्वान मुसलमानों को भी उपलब्ध हुआ। मानसिंह के दरबार में बड़े-बड़े गवैये रहते थे जैसे बैजू, पाण्डवी, लोहांग और नायक भिक्षु। मध्यकालीन संगीत को ग्वालियर ने एक नया जीवन, नई चेतना और एक नया कलेवर दिया। राजा मानसिंह का इस दिशा में योगदान अभिनन्दनीय है।

विजयनगर के कृष्णदेवराय और संरक्षक राम राय कुशल गायक थे और बड़े-बड़े संगीतज्ञ उनके दरबार में संरक्षण पाते थे। संगीत पर बड़े-बड़े ग्रन्थ उनके समय में लिखे गए। अन्य राजदरबारों में भी संगीतज्ञ मुक्तहस्त आश्रय पाते थे।

सिकन्दर लोदी (1487-1517) को संगीत से बड़ा प्रेम था। कहते हैं मुल्लाओं के डर से वह प्रत्यक्ष रूप से संगीतज्ञों को नहीं बुलाता था किंतु अपने किसी मित्र या सरदार के यहाँ संगीत सभाओं का आयोजन करके समीप के खेमे में बैठकर संगीत का रसास्वादन करता था। उसी के राज्यकाल में फारसी में संगीत का पहला ग्रन्थ 'लहजत-ए सिकन्दर शाही' लिखा गया। इसकी रचना उमर याहिया ने की जो अरबी, फारसी और संस्कृत का विद्वान था। 'लहजत' संस्कृत में लिखे संगीत के ग्रन्थों जैसे 'संगीत रत्नाकर' और 'संगीत कल्पतरु' पर आधारित है। लेखक ने इसे सिकन्दर लोदी को समर्पित किया है जो इस बात का द्योतक है कि सिकन्दर लोदी जैसा कट्टर धर्मान्ध सुल्तान भी भारतीय संगीत का लोहा मानता था।

संगीत साहित्य में भी इस काल में बहुमूल्य वृद्धि हुई। 15वीं शताब्दी में ही पंडित दामोदर मिश्र ने 'संगीत दर्पण' नामक संगीत के एक महान ग्रन्थ की रचना की। इससे संगीतशास्त्र में शिवमत की स्थापना हुई। इन्होंने मूल 6 राग और 36 रागिनियाँ मानीं और उनके गाए जाने के समय निश्चित किए। इसी काल में 'संगीत रत्नावली' नामक एक अन्य ग्रंथ लिखा गया। पण्डित लोचन ने 'राग तरंगिणी' नामक एक ग्रन्थ लिखा। इसमें 'यमन और फरदोस्त' रागों का वर्णन है जो मुस्लिम पद्धति के सुन्दर तत्त्वों की स्वीकारोक्ति का परिचायक है। वास्तव में राग-रागिनियों की जो नई पद्धति इस ग्रन्थ में स्थापित की गई, उसी पर परवर्ती संगीत की नींव रखी गई है। शास्त्रीय क्षेत्र में विकास की यह एक महत्त्वपूर्ण अवस्था थी।

मुगल काल : संगीत का स्वर्ण युग

15वीं शताब्दी में सांस्कृतिक पुनरुत्थान का जो युग भारत में प्रारंभ हुआ वह मुगलों के राज्यकाल में, विशेषकर अकबर से शाहजहाँ तक के काल (1556-1658 ई.) में अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँच गया। भारतीय इतिहास में गुप्तकाल के पश्चात् यह सौ वर्ष का युग दूसरा स्वर्णयुग था जिसमें भारतीय संस्कृति को अधिकाधिक प्रोत्साहन मिला और उसकी अभूतपूर्व प्रगति हुई। अकबर के उदार दृष्टिकोण ने भारतीय कलाओं के लिए राजकीय आश्रय के द्वार मुक्तहस्त खोल दिए और देशी कलावन्त मुगल दरबार से सम्बद्ध होकर विभिन्न कलाओं के

विकास में लग गए।

16वीं शताब्दी के बड़े-बड़े दरबारी संगीतज्ञ या तो ग्वालियर के होते थे या वे मश्शाद, तबरेज आदि ईरानी नगरों से आते थे। कश्मीर के गवैये भी मशहूर थे। संगीत की कश्मीरी परंपरा की स्थापना 15वीं शताब्दी में जैनुल आबदीन के संरक्षण में ईरान और तूरानी संगीतज्ञों ने की थी। नायक भिक्षु 16वीं सदी के एक महान कलावंत थे। वे ग्वालियर के राजा मानसिंह तोमर के दरबार में रहते थे और ग्वालियर की संगीत परंपरा की स्थापना में उनका ठोस सहयोग था। मानसिंह की मृत्यु के पश्चात् उनके पुत्र राजा विक्रमाजीत ने उन्हें वही सम्मान दिया। 1526 में पानीपत में विक्रमाजीत की मृत्यु के पश्चात् भिक्षु कालिंजर के राजा कीरत सिंह के यहाँ चले गए। वहाँ से वे गुजरात गए जहाँ सुलतान बहादुर ने उन्हें अपने दरबार में बड़े प्रेम से रखा। शेरशाह के पुत्र इस्लाम शाह (1545-1553) को भी संगीत का बड़ा शौक था और उसके दरबार में दो बड़े गवैये रामदास और महापत्तर आश्रित थे। बाद में ये दोनों अक़बर के दरबार में चले गए।

अकबर के राज्यकाल में एक नए युग का आरंभ हुआ। वह धार्मिक कट्टरता से मुक्त, उदार शासक था। मुल्ला मौलवियों को मुँह लगाना तो दूर की बात है वह उन्हें समुचित नियंत्रण में रखता था जिससे वे राजकीय मामलों में अनुचित हस्तक्षेप न कर सकें। अब तक उन्होंने राज्य को धर्मप्रधान राज्य बना रखा था, अकबर ने सही अर्थों में उसे धर्मनिरपेक्ष बना दिया। उसने धार्मिक भेदभावों की सभी श्रृंखलाएं, जजिया आदि काट कर फेंक दीं और हिंदू मुसलमान दोनों को धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक सभी क्षेत्रों में समान स्तर दिया। उसने भारतीय दर्शन और विभिन्न धर्मों का अध्ययन किया और भारतीय जीवन को सूक्ष्म ढंग से समझा। भारतीय कलाओं से वह बड़ा प्रभावित हुआ और संस्कृति के इन कोमल तंतुओं को उसने उदार हृदय से संरक्षण और प्रोत्साहन दिया। बड़े-बड़े संगीतज्ञों को अपने दरबार में आश्रय देकर उसने भारतीय संगीत के विकास में महत्त्वपूर्ण कड़ियाँ जोड़ दीं।

दरबारी इतिहासकार अबुल फजल शाही संगीतज्ञों के विषय में 'आइन-ए-अकबरी' में लिखता है - ''संगीत के जादू की आश्चर्यजनक शक्ति का वर्णन नहीं किया जा सकता। संगीत हृदय के कोमलतम भावों को उद्वेलित करता है और श्रोताओं को मंत्रमुग्ध कर देता है। यह गृहस्थ और वैरागी दोनों के लिए लाभकारी है।

सम्राट (अकबर) संगीत से बड़ा प्रेम करते हैं और संगीत साधना करने वाले सभी लोगों को आश्रय देते हैं। दरबार में बहुत से संगीतज्ञ हैं जिनमें हिन्दू स्त्रियाँ भी हैं और पुरुष भी। दरबारी संगीतकारों को सात भागों में बाँट दिया गया है, सप्ताह के एक-एक दिन प्रत्येक अपनी-अपनी कला का प्रदर्शन करते हैं।''

अबुल फजल दरबार के मुख्य-मुख्य संगीतज्ञों की एक सूची देते हैं जिनमें सर्वप्रथम ग्वालियर के तानसेन हैं। अधिकांश संगीतज्ञ ग्वालियर के ही हैं। अन्य मशशद हिरात, किपचाक और खुरासान के हैं। रामदास कलावन्त, सुभान खां, मियां लाल खां कलावन्त भी बड़े संगीतज्ञ

माने जाते थे। मालवा के बाजबहादुर भी इस सूची में है। अबुल फजल मुख्य-मुख्य कुछ वाद्य भी गिनाते हैं जैसे–

सरमण्डल	बीन
नाय	करणा
धीचक	तम्बूरा
कुबूज	रूवाब
सुर्णा	कानून

कासिम 'कोहबार' ने कुबूज और रूवाब के सम्मिश्रण से एक नया वाद्य निकाला था।

अकबर के दरबार के नवरत्न तानसेन भारतीय संगीत के महान संगीतज्ञ माने जाते हैं। अबुल फजल उनकी कला की भूरि-भूरि प्रशंसा करते हैं और लिखते हैं कि वैसा गवैया भारत में पिछले एक हजार वर्ष में भी नहीं हुआ था। तानसेन ग्वालियर के समीप बेहट नामक ग्राम के रहने वाले थे। शायद उन्होंने संगीत की प्रारम्भिक शिक्षा मुहम्मद गौस और हरिदास से पाई। इतना निश्चित है कि वे ग्वालियर की शास्त्रीय परम्परा के अन्तर्गत प्रशिक्षित थे। स्वरों पर उनका अद्भुत अधिकार था। वे आरम्भ में बाँधवगढ़ (रीवां) के राजा रामचन्द्र बघेल के यहाँ संगीतज्ञ थे। उनकी ख्याति अकबर के दरबार में पहुँची और अकबर ने उन्हें अपने यहाँ बुला लिया। पहली बार ही उनका संगीत सुनकर अकबर मन्त्रमुग्ध हो गया और उसने दो लाख रुपयों का पुरस्कार दिया। वे फिर निरन्तर अकबर के दरबार में ही रहे।

उनके विषय में बहुत-सी किंवदन्तियाँ प्रचलित हैं। उनकी बैजू बावरा से कोई संगीत प्रतियोगिता हुई थी यह सही प्रतीत नहीं होता है क्योंकि दोनों के काल क्रमों में बड़ा अन्तर है। सूरदास से उनकी मित्रता अवश्य कही जाती है। भक्तकवि और संगीतज्ञ गोविन्दस्वामी से भी वे परिचित थे। यह भी कहा जाता है कि प्रसिद्ध संगीतज्ञ पुण्डरीक विट्ठल भी इनसे कछवाहा नरेश मानसिंह के संगीत प्रेमी भाई माधव सिंह के यहाँ मिले थे।

तानसेन ने कई नए राग और रागनियाँ निकालीं जैसे मियाँ की मल्हार, दरबारी कानड़ा, मियां की सांरग और मियां की टोड़ी। गुजरी टोड़ी के आविष्कार का श्रेय भी कभी-कभी तानसेन को दिया जाता है किन्तु लगता है कि यह ग्वालियर के राजा मानसिंह के युग में आरम्भ हुई और उनकी गूजरी रानी 'मृगनयनी' की स्मृति में इसका नामकरण किया गया। कहते हैं तानसेन ने रुद्र वीणा का भी आविष्कार किया। निश्चय ही हिन्दू-मुस्लिम संगीत पद्धतियों का जो सुन्दर समन्वय 15वीं शताब्दी में आरम्भ हुआ था उसे अकबर के संरक्षण में तानसेन जैसे कलाकोविदों ने चरमोत्कर्ष पर पहुँचा दिया।

तानसेन के गायन में हृदय को मन्त्रमुग्ध कर देने वाली अद्भुत मिठास थी। जहाँगीर ने अपनी आत्मकथा में उल्लेख किया है कि मृत्यु के समय शेख सलीम चिश्ती ने अकबर से तानसेन का संगीत सुनने की प्रार्थना की। तानसेन बुलाए गए और उन्होंने अवसर के अनुकूल एक करुणामय राग गाकर सुनाया। उनका संगीत समाप्त होते ही सन्त ने शान्तिपूर्वक अपने प्राण

त्याग दिए।

यहाँ यह स्मरणीय है कि इस युग में गायन की जितनी प्रगति हुई उतनी संगीत के शास्त्रीय पक्ष की नहीं। 'राग दर्पण' के रचयिता फकीरुल्लाह लिखते हैं कि मानसिंह तोमर के समय में संगीत के जैसे बड़े-बडे आचार्य थे वैसे अकबर के समय में नहीं हुए। अकबर के समय में बड़े-बड़े गवैये थे जो गायनकला में अत्यन्त निपुण थे किन्तु संगीत के सिद्धान्तों का ज्ञान उन्हें उतना नहीं था।

जहाँगीर के दरबार में भी कलावन्तों का वही सम्मान होता रहा जैसा अकबर के दरबार में होता था। अलबता जहाँगीर को संगीत से उतना लगाव नहीं था जितना चित्रकला से और उसका राज्यकाल चित्रकला के विकास का काल कहा जाता है। वह निरन्तर आगरे से बाहर लाहौर या कश्मीर में रहता था और इस कारण भी संगीत को अपने पिता जैसे प्रेरणा नहीं दे पाता था। शाहजहाँ के दरबार में बड़े-बड़े संगीतज्ञों के आश्रय का उल्लेख मिलता है। तानसेन द्वारा स्थापित की हुई परम्परा पर ही ध्रुपद का गायन होता था। तानसेन के दामाद लाल खां गुण समुद्र शाहजहाँ के दरबार के महान संगीतज्ञ थे। दरबार के हिन्दू कलावन्तों में जगन्नाथ महाकविराय चोटी के गायनाचार्य थे। वाद्य संगीत का भी प्रचलन बना रहा। दो वाद्य संगीतज्ञ बड़े विख्यात थे--रूवाब के कलाकार सुखसैन और बीन के कलाकार सूरसैन।

भक्ति सन्तों ने भी संगीत के प्रसार में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। वैष्णव सन्त गीतों को बड़ा महत्त्व देते थे और सुन्दर भजनों को गायन द्वारा प्रस्तुत करते थे। वल्लभाचार्य स्वयं एक संगीतज्ञ थे। उनके शिष्य सूरदास सुन्दर गीत काव्य की ही रचना नहीं करते थे, उन गीतों को सुन्दर स्वरों में गाते भी थे। वास्तव में मध्यकालीन गीत का अर्थ उस कविता से ही है जो संगीत पद्धति के अनुसार गेय हो। तुलसी की 'विनयपत्रिका' और 'गीतावली' भी ऐसे ही गेय काव्य हैं। मेवाड़ के महाराणा सांगा के पुत्र भोजराज की पत्नी मीराबाई निपुण संगीतज्ञ थीं। उनका बनाया 'मीराबाई का मलार' नामक राग प्रसिद्ध है।

बंगाल में संगीत की बड़ी प्रगति हुई। यह प्रदेश प्राचीन काल से ही संगीत का घर रहा है। 10वीं-11वीं शताब्दी में राग संगीत का वहाँ बड़ा प्रचार था। 12वीं शताब्दी में हुए सेन वंश के प्रतापी राजा लक्ष्मण सेन संगीत से बड़ा प्रेम करते थे। जयदेव उनके ही दरबार में रहते थे। जयदेव ने 'गीत गोविन्द' में प्रबन्ध गीतों की रचना की जिनमें तत्कालीन राग और तालों का समन्वय किग्रा गया। उनकी भारतीय संगीत को यह बहुमूल्य देन थी। कहा जाता है कि उनके गीत पुरी के जगन्नाथ मन्दिर में प्रतिदिन देवदासियों द्वारा गाए जाते थे। कीर्तन के रूप में दक्षिण में भी उनका प्रचार हुआ।

बंगाल के वैष्णव सन्तों के हाथों गायन की अन्य सुन्दर परम्पराएँ पल्लवित हुईं। चण्डीदास और विद्यापति ने 14वीं-15वीं शताब्दी में कृष्ण कीर्तन की पद्धति चलाई। मंगल गीतों और पद गीतों की भी रचना हुई। ये विभिन्न रागों और तालों में विभिन्न रस और भावों के साथ गाये जाते थे। श्री चैतन्य (1485-1533 ई.) के साथ बंगाल में नए युग का प्रवर्तन हुआ। यह संगीत
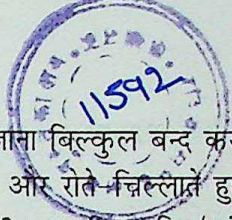
के नवजागरण का युग था। उन्होंने नाम कीर्तन की परम्परा चलाई। कीर्तन प्रबन्ध गीति के अन्तर्गत एक निबद्ध गायनविधि है और इसमें ताल, राग, लय आदि संगीत के सभी तत्त्व होते हैं। चैतन्य कीर्तन पर बहुत अधिक जोर देते थे और राधा और कृष्ण की प्रेममय भक्ति के लिए संकीर्तन को ही सर्वोत्तम साधन मानते थे। उनके शिष्यों में उस समय के बड़े-बड़े संगीतज्ञ थे जैसे स्वरूपदामोदर, राग रामानन्द, मुरारी गुप्त आदि। इन वैष्णव भक्ति सन्तों ने संगीत को अनन्य प्रोत्साहन दिया।

श्री चैतन्य के पश्चात् नरोत्तमदास, आचार्य श्री निवास आदि वैष्णव सन्तों ने बंगाल में पदकीर्तन को पुनर्जीवित किया। 16वीं-17वीं शताब्दी में वृन्दावन और मथुरा भारतीय संगीत के प्रमुख केन्द्र थे। गोस्वामी कृष्णदास कविराज, स्वामी हरिदास आदि आचार्यों ने एक नयी पद्धति का प्रारंभ किया और प्रबन्ध ध्रुपद गायन चलाया। इधर भक्ति सम्बन्धी मीरा और सूर के भजनों ने संगीत को बड़ा प्रोत्साहन दिया। वृन्दावन के होली त्यौहार से सम्बन्धित होरी धामार नामक एक प्रबन्ध संगीत का भी प्रारंभ हुआ। परवर्ती संगीत की लगभग सभी परिपाटियों की स्थापना इस प्रकार इस युग में हुई।

15वीं-16वीं शताब्दी से संगीत सम्बन्धी चित्र बनाए जाने लगे थे। इन्हें रागमाला चित्र कहते हैं। 17वीं-18वीं शताब्दी में राजस्थानी (राजपूत) शैली के अन्तर्गत इन चित्रों का बड़ा प्रचार हुआ। इनमें रागमूर्तियों के साथ काव्यात्मक वर्णन और ध्यान मन्त्र भी होते थे। इससे प्रत्येक राग की विशेष ऋतु और वातावरण का परिचय होता था। संगीत के शास्त्रीयकरण की दिशा में यह एक ठोस प्रयत्न था। रागमाला चित्र संगीत और चित्रकला के पारस्परिक सम्बन्ध पर तो प्रकाश डालते ही हैं, मध्यकाल में व्याप्त उस लोकभावना का भी प्रतिनिधित्व करते हैं जो भक्ति पर आधारित तत्कालीन धर्म, साहित्य, चित्रकला और संगीत - जनजीवन के चारों सांस्कृतिक पक्षों–को प्रेरित करती थी। चित्रकला और संगीत भारतीय जीवन के अभिन्न अंग थे और जब उस जीवन का दृष्टिकोण भक्तिमय हो गया तो कलाओं के क्षेत्र में भी वही विषय स्वीकार कर लिए गए। यही तथ्य भारतीय कला की आत्मा है। लोकजीवन से पृथक् इन कलाओं की कल्पना नहीं की जा सकती।

मुगल काल में संगीत साहित्य में भी बहुमूल्य वृद्धि की गई। 1570 ई. में क्षेमकरण ने 'राग माला' नामक ग्रन्थ लिखा। 1610 ई. में सोमनाथ ने 'राग विमोध' लिखा। इसके बाद श्रीनिवास पण्डित ने 'राग तत्त्व विमोध' की रचना की। 1660 में हृदय नारायणदेव ने 'हृदय कौतुक' नामक एक अन्य ग्रन्थ लिखा। इसमें स्वरप्रकरण, रागों की परिभाषा और वर्गीकरण आदि विषयों का विस्तृत विवेचन किया गया। 17वीं शताब्दी का सब से अधिक महत्त्वपूर्ण संगीत ग्रन्थ पण्डित अहोबल का 'संगीत पारिजात' था। इस प्रकार लिपिबद्ध शास्त्रीय पक्ष के दृढ़ आधार पर संगीत की प्रगति होती रही।

औरंगजेब 1658 में मुगल साम्राज्य के सिंहासन पर बैठा। वह धर्मान्ध मुसलमान था और कट्टर मुल्ला दृष्टिकोण का पालन करता था। उसने अकबर द्वारा स्थापित सभी रीति-रिवाजों (जैसे झरोखा दर्शन) को समाप्त कर दिया। उसने दरबार के ज्योतिषियों को भगा दिया और चित्रकारों को निकाल बाहर किया। उसका विचार था कि ये सब बातें उसके धर्म में वर्जित हैं।

उसने दरबारी संगीतज्ञों की नौकरियाँ समाप्त कर दीं और गाना बजाना बिल्कुल बन्द करा दिया। कहते हैं दरबार के गवैयों ने एक बड़े जुलूस का आयोजन किया और रोते चिल्लाते हुए महल के नीचे से निकले। सम्राट ने शोरगुल सुनकर पूछा 'यह क्या है'? उत्तर मिला कि 'संगीत मर गया है उसे दफनाने ले जाया जा रहा है'। 'उसे अच्छी तरह गहरा दफनाया जाय जिससे फिर न निकले' औरंगजेब ने निर्दयतापूर्वक मुस्करा कर कहलवाया। मुगल दरबार के संगीतज्ञ देशी राजाओं के यहाँ जाकर आश्रय ढूँढने के लिए बाध्य हो गए। प्राचीन परम्पराओं की दृढ़ नीवों पर आधारित भारतीय कलाएँ तो निरन्तर पलती रहीं किन्तु मुगल दरबार की शान शौकत उजड़ गई। जिस मुगल दरबार में तानसेन दीपक राग गाते थे वहाँ अब दक्षिण के युद्धों से हार कर लौटे हुए सेनापतियों की कर्कश ध्वनि सुनाई पड़ने लगी। औरगंजेब ने मृत्योपरान्त पाए जाने वाले एक स्वप्निल ''बहिश्त'' की खातिर अपने जीवन की प्रत्यक्ष सत्ता को ही नहीं, सम्पूर्ण मुगल साम्राज्य को विनाश की अग्नि में झोंक दिया। अकबर से साम्राज्य का निर्माण हुआ था, औरगंजेब की व्यक्तिगत घृणा के कारण यह साम्राज्य धूल में मिल गया।

श्रीनिवास कृत 'राग-तत्त्व विवोध'

इसी समय में श्री निवास पंडित ने 'राग तत्त्व विवोध' नामक प्रसिद्ध पुस्तक लिखी। इन्होंने भी इसमें पारिजातकार की भाँति बारह स्वर स्थान बनाकर अपना शुद्ध ठाठ आधुनिक काफी ठाठ के समान निश्चित किया। यह एक छोटा सा ग्रन्थ है। इसमें वीणा के तार पर स्वरों की स्थापना की गई है, इसलिए इसका बहुत महत्व है। मेल, औडुब, षाडव सम्पूर्ण की परिभाषा देकर मूर्च्छना के विषय में कुछ कम समझाते हैं। उनका कहना है कि राग में चार भाग होते हैं। इन्हें क्रम में उद्ग्राह (वह भाग, जिससे राग का आलाप प्रारंभ होता था) स्थायी, संचारी और मुक्तयी कहते हैं। आलाप का तृतीय भाग संचारी और अन्तिम भाग मुक्तयी होता था। उन्होंने अपने मेलों के वर्णन में केवल बारह श्रुतियों का ही प्रयोग किया है। रागाध्याय का समस्त विवरण 'संगीत पारिजात' से लिया गया है। मध्यकालीन ग्रन्थकारों में श्रीनिवास पंडित ही अन्तिम ग्रन्थकार हैं।

'संगीत सारामृत' और 'राग लक्षणम्'

इसी काल में (1763-1768 ई.) तंजोर के मराठा महाराजा तुलाजी राव भोंसले द्वारा 'संगीत सारामृत' नामक पुस्तक लिखी गई। 'संगीत सारामृत' में दक्षिणी संगीत पद्धति का वर्णन किया गया है और 72 ठाठ स्वीकार करते हुए 21 मेलों (ठाठों) द्वारा 110 जन्य रागों का वर्णन किया गया है।

''राग लक्षणम्''. में रागोत्पादक 72 ठाठ मानकर उनके द्वारा अनेक रागों का विवरण स्वरों सहित दिया गया है। यह ग्रन्थ भी दक्षिण की प्रचलित संगीत पद्धति का आधार ग्रन्थ माना गया है। इस पर मूल लेखक का नाम तो नहीं दिया गया है, किन्तु इस ग्रन्थ की प्रस्तावना से पता चलता है कि तंजोर के ही एक गृहस्थ के यहाँ से यह प्राप्त हुआ था।

4. आधुनिक काल (1800 ई. के पश्चात्)

अंग्रेज भारतीय संगीत को अच्छी दृष्टि से नहीं देखते थे, साथ ही साथ अंग्रेजी सभ्यता का प्रभाव रियासतों पर भी पड़ने लगा, जिसके फलस्वरूप राजा लोग भी संगीत के प्रति उदासीनता का भाव प्रकट करने लगे और इस प्रकार रियासतों से संगीतज्ञों को जो आश्रय प्राप्त हो रहा था, उसमें बाधा पड़ने लगी। फिर भी कुछ खास-खास रिसायतों में विभिन्न घरानों के संगीतज्ञ संगीत साधना में तल्लीन रहे। साथ ही उन दिनों संगीत का प्रवेश भले घरों में निषिद्ध माना जाने लगा। इसका भी एक विशेष कारण यह था कि इस समय में शासक वर्ग की उदासीनता के कारण संगीत कला निकृष्ट श्रेणी के व्यवसायी स्त्री-पुरुषों में पहुँच चुकी थी, अतः नवीन शिक्षा प्राप्त सभ्य समाज का इसके प्रति उपेक्षा रखना स्वाभाविक ही था किन्तु संगीत के भाग्य ने फिर पलटा खाया और कुछ प्रसिद्ध अंग्रेजों (सर विलियम जोन्स, कैप्टेन डे, कैप्टेन विलर्ड आदि) ने भारतीय संगीत का अध्ययन करके इस पर कुछ पुस्तकें लिखीं, जिनका प्रभाव शिक्षित वर्ग पर अच्छा पड़ा और संगीत के प्रति अनादर का भाव धीरे-धीरे कम होने लगा।

मुहम्मद रजा कृत 'नगमाते आसफी'

आधुनिक काल में सर्वप्रथम विलावल को शुद्ध ठाठ मानकर 1813 ई. में पटना के रईस मुहम्मद रजा ने 'नगमाते आसफी' नामक पुस्तक लिखी। इन्होंने पूर्व प्रचलित राग रागिनी पद्धति का संशोधन करके अपना एक नवीन मत चलाया, जिसमें छह राग और छत्तीस रागिनियाँ मानकर उनका नए ढंग से विभाजन किया।

सवाई प्रतापसिंह कृत 'संगीत-सार'

1779-1804 ई. में जयपुर के महाराजा सवाई प्रतापसिंह ने एक विशाल संगीत सम्मेलन का आयोजन करके बड़े-बड़े संगीत कलाविदों को इकट्ठा किया और उनसे विचार-विनिमय करने के पश्चात् 'संगीत सार' नामक पुस्तक लिखी, जिसमें विलावल ठाठ को ही शुद्ध ठाठ स्वीकार किया है।

कृष्णानन्द व्यास कृत 'संगीत राग कल्पद्रुम'

इसके पश्चात् 1842 ई. में कृष्णानन्द व्यास ने 'संगीत राग कल्पद्रुम' नामक एक बड़ी पुस्तक लिखी, जिसमें उस समय तक के हजारों ध्रुवपद, खयाल तथा अन्य गीत (स्वरलिपि सहित) दिए गए हैं।

उत्तर भारत में इस समय राग वर्गीकरण की नई पद्धति बनाने की योजना चल रही थी और उधर तंजोर दक्षिणी संगीत का विशाल केन्द्र बन गया था, जहाँ अनेक प्रसिद्ध संगीत के विद्वान त्यागराज श्यामा शास्त्री, सुब्बराव दीक्षित आदि संगीत कला का प्रचार कर रहे थे।

इस परिवर्तन काल में भी बंगाल के राजा सुरेन्द्र मोहन टैगोर तथा अन्य कुछ विद्वानों ने राग रागिनी पद्धति का ही समर्थन करते हुए कुछ पुस्तकें लिखीं, जिनमें 'यूनिवर्सल हिस्ट्री आफ म्यूजिक' का नाम उल्लेखनीय है।

संगीत-प्रचार का आधुनिक काल (1900-1950 ई.)

इस आधुनिक काल में संगीत के उद्धार और प्रचार का श्रेय भारत की दो विभूतियों को है, जिनके नाम है – पं. विष्णुनारायण भातखंड़े और पं. विष्णु दिगंबर पलुस्कर। दोनों ही महानुभावों ने देश में जगह–जगह पर्यटन करके संगीत कला का उद्धार किया, जगह–जगह अनेक संगीत विद्यालयों की स्थापना की। संगीत सम्मेलनों द्वारा संगीत पर विचार विनिमय भी हुआ, जिसके फलस्वरूप जनसाधारण में संगीत के प्रति रुचि विशेष रूप से उत्पन्न हुई है। इस काल में शास्त्रीय साधना के साथ–साथ संगीत में नवीन प्रयोग द्वारा एक विशेषता पैदा करने का श्रेय विश्व कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर को है। इन्होंने प्राचीन राग रागिनियों को आकर्षक स्वर समुदाय देकर तथा अन्य कलात्मक प्रयोगों द्वारा 'रवीन्द्र संगीत' के रूप में एक नई चीज संगीत प्रेमियों को दी।

पं. विष्णुनारायण भातखंडे और उसके ग्रन्थ

पं. विष्णुनारायण भातखंडे का जन्म बम्बई (मुम्बई) प्रान्त के 'बालकेश्वर' नामक स्थान पर 10 अगस्त 1860 ई. को हुआ। इन्होंने 1883 ई. में बी. ए. और 1890 ई. में एल. एल. बी. की परीक्षा पास की। इनकी लगन आरंभ से ही संगीत की ओर थी। 1904 ई. में आपकी ऐतिहसिक संगीत गाथा आरंभ हुई, जिसमें आपने भारत के सैकड़ों स्थानों का भ्रमण करके संगीत साहित्य की खोज की। आपने बड़े-बड़े गायकों का संगीत सुना और उसकी स्वरलिपि तैयार करके 'हिन्दुस्तानी संगीत पद्धति क्रमिक पुस्तक मालिका' के नाम से एक ग्रन्थमाला प्रकाशित कराई, जिसके छह भाग हैं। शास्त्रीय ज्ञान के लिए आपने 'हिन्दुस्तानी संगीत पद्धति' के चार भाग मराठी भाषा में लिखे। संस्कृत भाषा में भी आपने 'लक्ष्य संगीत' और 'अभिनव राग मंजरी' नामक पुस्तकें लिखकर प्राचीन संगीत की विशेषताओं तथा उसमें फैली हुई भ्रांतियों पर प्रकाश डाला। श्री भातखंडे ने अपना शुद्ध ठाठ विलावल मान कर ठाठ पद्धति स्वीकार करते हुए 10 ठाठों में बहुत से रागों का वर्गीकरण किया।

1916 ई. में आपने बड़ौदा में एक विशाल संगीत सम्मेलन किया, जिसका उद्घाटन महाराजा बड़ौदा द्वारा हुआ। इसमें संगीत के विद्वानों द्वारा संगीत के अनेक तथ्यों पर गंभीरतापूर्वक विचार हुआ और एक 'आल इंडिया म्यूजिक एकेडमी' की स्थापना का प्रस्ताव भी स्वीकार हुआ। इस संगीत सम्मेलन में भातखंडे जी के संगीत सम्बन्धी जो महत्त्वपूर्ण भाषण हुए, वे अंग्रेजी में ''ए शार्ट हिस्टोरिकल सर्वे आफ दी म्यूज़िक ऑफ अपर इंडिया'' नामक पुस्तक के रूप में प्रकाशित हो चुके हैं।

बाद में आपके प्रयत्नों से अन्य कई स्थानों पर भी संगीत सम्मेलन हुए तथा संगीत विद्यालयों की स्थापना हुई, जिनमें लखनऊ का 'मैरिस म्यूजिक कालेज' (अब भातखंडे संगीत विद्यापीठ), ग्वालियर का 'माधव संगीत महाविद्यालय' तथा बड़ौदा का 'म्यूजिक कालेज' विशेष उल्लेखनीय हैं।

इस प्रकार इन्होंने अपने अथक परिश्रम द्वारा संगीत की महान सेवा की और संगीत जगत में एक नवीन युग स्थापित करके, अन्त में 19 सितम्बर, 1936 को आप परलोकवासी हुए।

राजा नवाबअली कृत 'मुआरिफुन्नगमात'

1911 ई. के लगभग लाहौर के रहने वाले एक संगीत विद्वान राजा नवाब अली खां भातखंडे जी के सम्पर्क में आए। राजा साहब ने अपने एक प्रसिद्ध गायक नजीर खां को आचार्य भातखंडे के पास संगीत के शास्त्रीय ज्ञान तथा लक्ष्य गीतों को सीखने के लिए भेजा और फिर उर्दू में संगीत की एक सुन्दर पुस्तक 'मुआरिफुन्नगमात' लिखी। इस पुस्तक का यथेष्ट आदर हुआ।

पं. विष्णुदिगंवर पलुस्कर

पं. विष्णुदिगंवर पलुस्कर का जन्म 1872 ई. में श्रावणी पूर्णिमा के दिन कुरू दवाड (बेलगांव) में हुआ। आपको संगीत शिक्षा गायनाचार्य पं० बालकृष्ण बुधा से प्राप्त हुई। 1896 ई० में अपने संगीत प्रचार के हेतु भ्रमण आरंभ किया। पलुस्कर जी ने अपने सुमधुर आकर्षक संगीत के द्वारा संगीत प्रेमी जनता को आत्मविभोर कर दिया। पंडित जी के व्यक्तित्त्व के प्रभाव से सभ्य समाज में संगीत की लालसा जाग उठी, जिसके फलस्वरूप संगीत के कई विद्यालय स्थापित हुए, जिनमें लाहौर का 'गांधर्व महाविद्यालय' सर्वप्रथम 5 मई 1901 ई. को स्थापित हुआ। बाद में बम्बई का गांधर्व महाविद्यालय स्थापित हुआ और यही मुख्य केन्द्र बन गया। पंडितजी का कार्य आगे बढ़ाने के लिए उनके शिष्यों के सामूहिक प्रयत्न से गांधर्व महाविद्यालय की स्थापना हुई, जिसके अन्तर्गत बहुत से केन्द्र विभिन्न नगरों में स्थापित हो चुके हैं।

1920 ई. से पलुस्कर जी कुछ विरक्त से रहने लगे थे, अतः 1922 ई. में आपने नासिक में 'रामनाथ आधार आश्रम' खोला। तब से आपका संगीत भी रामनाममय हो गया। इस प्रकार संगीत को पवित्र वातावरण में स्थापित करके अंत में यह संगीत का पुजारी 21 अगस्त 1931 ई. को मिरज में प्रभु धाम को प्रस्थान कर गया।

पंडित जी द्वारा संगीत की कई पुस्तकें भी प्रकाशित हुई थीं, जिनमें से कुछ के नाम इस प्रकार हैं—संगीत बालबोध, स्वल्पालाप गायन, संगीत तत्त्व दर्शक, राग प्रवेश, भजनामृत लहरी इत्यादि।

आपकी स्वरलिपि पद्धति भातखंडे स्वरलिपि पद्धति से भिन्न है। प्रोफेसर डी.वी. पलुस्कर, जो अपने समय के गायकों में एक अच्छे गायक माने जांते थे, आपके ही सुपुत्र थे।

स्वतंत्र भारत में संगीत

भारत स्वतंत्र होकर जब से अपनी राष्ट्रीय सरकार स्थापित हुई है, तब से संगीत का प्रचार द्रूत गति से देश में बढ़ रहा है। जगह-जगह स्कूल और कालेजों में वह पाठ्यक्रम में सम्मिलित हो गया है तथा कुछ विश्वविद्यालयों की एम. ए. परीक्षाओं में भी एक विषय के रूप में रख दिया गया है। इधर आकाशवाणी द्वारा भी संगीत का प्रचार दिनोंदिन बढ़ रहा है। कुछ चलचित्रों से भी हमें अच्छा संगीत मिल सका है। संगीत की अनेक शिक्षण संस्थाएँ भी विभिन्न नगरों में सुचारू रूप से चल रही हैं। देश का शिक्षित वर्ग संगीत की ओर विशेष रूप से आकृष्ट होकर अब संगीत का महत्त्व समझने लगा है। कुलीन घराने के युवक-युवतियाँ और कन्याएँ तो संगीत शिक्षा ग्रहण कर ही रहे हैं, जनसाधारण में भी संगीत के प्रति आशातीत अभिरुचि उत्पन्न हो रही है। इधर संगीत सम्बन्धी पुस्तकें भी अच्छी-अच्छी प्रकाशित होने लगी हैं। संगीत कला के विकास के लिए ये सब शुभ लक्षण हैं। आशा है, निकट भविष्य में ही भारतीय संगीत उच्चतम शिखर पर आसीन होकर अपनी विशेषताओं से संसार का मार्गदर्शन करेगा।

2

भारतीय संस्कृति में नृत्य का स्थान

भारतीय संगीत गीत, वाद्य और नृत्य तीनों को मिलाकर ही पूर्ण माना जाता रहा है। आगे चलकर जब इनका व्यापक विस्तार हुआ तब इनके शास्त्रीय पक्ष का स्वतंत्र रूप से प्रायः समस्त भारतवर्ष में विकास हुआ। गीत और वाद्य की अपेक्षा नृत्य का सम्बन्ध मनुष्य के समस्त संवेगात्मक आंगिक व्यापारों से है। मनुष्य का जो प्रवेश भगवान की उपासना में जिस आर्त्तभाव को लेकर होता रहा है, वस्तुतः उन्हीं के द्वारा नाना प्रकार की कलाओं का जन्म हुआ है। यों तो मनुष्य की भाव प्रकाशन क्षमता जन्मजात है, जिसे वह हाव-भाव के द्वारा प्रकाशित करता है। नृत्य भी इसी का परिणाम है। अन्य शास्त्रों और कलाओं की तरह भारतीय नृत्य भी देवताओं के नृत्य रहे हैं। स्वभावतः इनका सम्बन्ध दिव्य देव चरित्रों से रहा है। यही नहीं नृत्य के समस्त रूपों की अवधारणा ही शिव और विष्णु जैसे देवों द्वारा मानी जाती रही है। इसी से शिव यदि 'नटराज' हैं तो विष्णु 'नटनारायण'।

शिव परम्परा में शिव स्रष्टा, पालक और संहारक हैं, अतः उनके नृत्य में ये तीन भाव विशेष महत्व रखते हैं। अनेक शिव मंदिरों में वे किसी न किसी भाव मुद्रा में ही स्थापित किये जाते रहे हैं। शिव का 'नट राज' रूप नृत्यशास्त्र में प्रबन्धात्मक महत्त्व रखता है। ऐसे तो उनकी एक ही मुद्रा में अनेक पौराणिक कथाएँ अभिनीत हो जाती हैं, फिर भी शिव का स्रष्टा और पालक रूप विशेष मुद्राओं में अंकित रहता है। सती की मृत्यु के बाद उनकी शोक मुद्रा अत्यन्त दयनीय हो जाती है। जबतक पार्वती का अवतार नहीं होता उनकी अत्यन्त अद्भुत मुद्रा में कोई परिवर्तन नहीं होता। 'प्रदोष स्तोत्र' के अनुसार जब भगवान शिव नृत्य के लिए तैयार होते हैं, तब सरस्वती अपनी वीणा बजाती हैं, इन्द्र बांसुरी बजाते हैं, ब्रह्मा ताल देते हैं, लक्ष्मी गाती है, विष्णु मृदंग बजाते हैं और सभी देवता चारों ओर खड़े होकर देखते हैं? इन समस्त देवताओं के नृत्य में रत रहने का रहस्य क्या है? भारतीय जनजीवन अपनी महत्वाकाक्षाओं की पूर्ति जिन दिव्य कल्पनाओं के माध्यम से करता है, उनमें देवताओं का नृत्य भी सम्मिलित है। देवता हमारी कलात्मक अभिरुचि के दिवास्वप्न हैं, जिनके माध्यम से हमारी समस्त कल्पनाएँ अपनी समस्त दिव्यता के साथ मानवीकृत होकर साकार होती हैं।

यदि मानव जीवन को गहराई से देखा जाय तो समस्त जीवन ही एक कलात्मक अभिव्यक्ति है। किस दिन वह क्या करता है इसका तारतम्य और तारतम्यहीनता दोनों उसकी कलाभिव्यक्ति के ही अंग हैं। कभी वह स्वेच्छा से, कभी अवचेतन प्रभाव से, कभी नियमित अभ्यास द्वारा यांत्रिक और स्वच्छन्द दोनों प्रकार की क्रियाएँ करता है। इन सभी को कला की दृष्टि से कला व्यापार और कला की अभिव्यक्ति कहा जा सकता है। धार्मिक चेतना के अर्थ में मनुष्य अपनी सौन्दर्य भावना का साक्षात्कार जिस प्रकृति में करता है वह सत्ता असीम ईश्वर का ही व्यक्त या अवतरित रूप है। अतः स्थूलप्रकृति को जिस अदृश्य आध्यात्मिक चेतना का व्यक्त या मूर्त रूप कहा जा सकता है, उस प्रकृति का कार्य भी अमूर्त को कलात्मक ढंग से व्यक्त या अवतरित करना है। इस अमूर्त के मूर्त होने की क्रिया को हम अवतारवादी कलाभिव्यक्ति कह सकते हैं। भारतीय नृत्य भी आध्यात्मिक ''रसो वै सः'' की मूर्त अभिव्यक्ति देने का एक प्रयत्न है। प्रेमी के लिए प्रेम सत्य है, उसी प्रकार कलाकार के लिए सौन्दर्य ही सत्य है। परम सौन्दर्य की अभिव्यक्ति जिस रूप में, जिस देवता में मनुष्य करता है, वह परम सौन्दर्य उन्हीं देव-देवियों के रूप में प्रतिमूर्तित होता है। इस प्रकार सौन्दर्य चेतना मानव मन को सर्वथा एक नव्यतम कला बोध प्रदान करती है।

नृत्य कला की दृष्टि से सारी दृष्टि ही ब्रह्म की नृत्यावस्था है। उसकी समस्त क्रियाएँ दैवी नृत्य हैं। विश्व के इसी नृत्यावर्त में मानव भी एक नर्तक है। मनृष्य की प्रत्येक मुद्राएँ, दशाएँ और क्रियाएं, जो आत्मशक्ति से संचालित हुआ करती हैं उसके दैविक नृत्य हैं। इसे हम यों भी कह सकते हैं कि स्रष्टा ब्रह्म की ही प्रत्येक क्रिया मानव स्वभाव की गतिशील क्रियाओं में अभिव्यक्त होकर मनुष्य को नृत्य में रत कर देती है। अतः नृत्यस्रष्टा ब्रह्म की पाँच क्रियाओं का परिणाम है – सृष्टि, आविर्भाव स्थिति, संहार, तिरोभाव और अनुग्रह। इन्हीं अमूर्त कार्यों के मूर्त रूप हैं – क्रमशः ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, महेश्वर और सदाशिव। इस क्रम को निम्न प्रकार से भी व्यक्त किया जा सकता है :

ब्रह्मा	विष्णु	रुद्र	महेश्वर	सदाशिव
सृष्टि	आविर्भाव	संहार	तिरोभाव	अनुग्रह
	स्थिति			
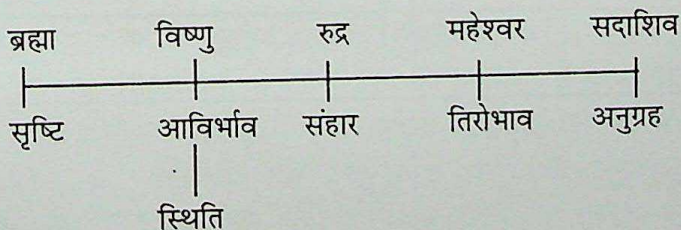
सृष्टि सम्बन्धी चार महत्त्वपूर्ण क्रियाएँ सृष्टि, पालन, मोक्ष और संहार प्रायः भगवान की इच्छा से ही होती हैं। अतः ताण्डव की मुद्रा में शिव का डमरू नाद सृष्टि या पुष्टि का, अग्नि संहार का, हाथ की मुद्राएँ रस का और उठे हुए हाथ मोक्ष का प्रतीकात्मक अभिव्यक्त करते हैं।[3] भारतीय धारणा में शिव प्रथम नटेश्वर माने जाते हैं। इनकी चार प्रकार की संहार मूर्ति, दक्षिण मूर्ति, अनुग्रह मूर्ति और नृत्य मूर्तियों में चौथी नृत्य मूर्ति के द्वारा भगवान शिव ने आंगिक, याचिक, आहार्य और सात्विक इन समस्त भावों के प्रदर्शन के लिए एक सौ आठ नृत्य भंगिमाओं

की सृष्टि की थी। भक्त नृत्य मूर्ति में ही इनके विराट रूप का दर्शन करते हैं। 'अभिनय दर्पण' के प्रारंभ में कहा गया है कि इनका आंगिक समस्त विश्व है–विश्व की समस्त भाषा वाचिक है, समस्त नक्षत्र और चन्द्रमा इनके आहार्य हैं। ऐसे सात्विक शिव को मैं नमस्कार करता हूँ।[4] तिरूमलुअर के अनुसार, शिव की यह नृत्य लीला भी अवतार लीला ही है, जो भक्तों पर अनुग्रह करने के लिए होती है।[5] शिव का प्रख्यात नृत्य ताण्डव कहा जाता है। ताण्डव के सात प्रकार माने जाते हैं[6] :

ताण्डव

- आनन्द ताण्डव
- संध्या ताण्डव
- कालिका ताण्डव
- त्रिपुर ताण्डव
- गौरी ताण्डव
- उमा ताण्डव
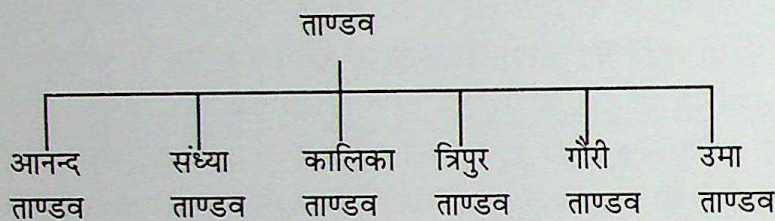
इन ताण्डवनृत्यों के लिए नटराज शिव भैरव या वीरभद्र के रूप में आविर्भूत होते हैं और पार्वती–कालिका, गौरी, उमा के रूप में। इस प्रकार ताण्डवनृत्य भी शैव अवतारवाद से सम्वलित नृत्य है, जो शिव की अवतार लीला को नृत्य कला की भंगिमाओं में अभिव्यंजित करता है। शिव सप्त ताण्डव की तरह विष्णु के दशावतार भी नृत्य से अधिक नाट्य में मान्य हैं। अत: दोनों में अन्तर यही जान पड़ता है कि ताण्डव में नर्तन अधिक है और दशावतार में नाट्य। भारतवर्ष के प्राय: सर्वाधिक नृत्य शिव नृत्य नाट्य हैं। अत: शिव और विष्णु दोनों के द्वारा इनमें इनकी कलात्मक पूर्णता द्योतित होती है। दशरूपककार धनंजय ने अपनी कृति के आरम्भ में सम्भवत: इसी पूर्णता को ध्यान में रखते हुए नटराज शिव और नटनारायण विष्णु दोनों की स्तुति की है।[7] शिव की सात्विक भाव मुद्रा की तरह विष्णु के नटवत अवतार भी सात्विक या सत्वोगुणी अवस्था में ही होते हैं। उनके अवताराभिनय को रसानुरूप भी प्रदर्शित किया जाता है। जिनमें दशावतार का प्रत्येक रूप विशिष्ट रस का द्योतक है–

अवतार	रस
1. कृष्ण	श्रृंगार
2. राम	वीर
3. वामन	हास्य
4. परशुराम	रौद्र
5. मत्स्य	करुणा
6. कूर्म	अद्‌भुत
7. वराह	वीभत्स
8. बुद्ध	शान्त
9. नृसिंह	भयानक

धर्म एवं सम्प्रदायों से सम्बद्ध होने के कारण प्रायः समस्त भारतीय कलाओं का मूलस्रोत भी अपने उपास्य देवों से सम्बद्ध किया जाता रहा है। यद्यपि नृत्य का प्राचीनतम सम्बन्ध शिव से माना जाता रहा है, फिर भी वैष्णव मत में उसके मूल उत्स की कथाएँ विष्णु से भी सम्बद्ध मानी जाती हैं। कहा जाता है कि विष्णु ने समुद्र मंथन के समय शंख बजाकर प्रथम नाद उत्पन्न किया था, जिससे सात स्वरों की उत्पत्ति हुई। वहीं अमृत पान कराते समय उन्होंने मोहिनी नृत्य किया जिससे समस्त दानव सम्मोहित हो गये। इस प्रकार नृत्य के प्रथम आविर्भाव का सम्बन्ध मोहिनी अवतार से सम्बद्ध किया जाता है।

विष्णु से नृत्य उत्पत्ति की एक अन्य कथा 'विष्णु धर्मोत्तर' में भी कही गयी है। उसके अनुसार प्राचीनकाल में समस्त विश्व के प्रलयालीन हो जाने पर जब शेषशायी भगवान मधुसूदन सोये हुए थे, मधुकैटभ के द्वारा वेदों के अपहरण हो जाने पर, ब्रह्मा ने भगवान विष्णु की स्तुति की और कहा कि वेद ही हमारे नेत्र हैं, वेद हमारे परम बल हैं, वेदों के न रहने से मैं अन्धा हो गया हूँ। इतना सुनते ही भगवान विष्णु उड़कर उस जल में अपने सुललित अंगहारों और पैरों से परिक्रमण करते हुए घूमने लगे। उनके इस ललित परिक्रमण को देखकर लक्ष्मी जी अनुराग से भर उठीं। उन्होंने पूछा कि यह ललित परिक्रमण करते हुए रमणीय अंग वाला कौन था? भगवान विष्णु ने कमलनैनी लक्ष्मी से कहा कि मैंने नृत्य उत्पन्न किया है। सकरण अंगहारों से युक्त परिक्रमण के द्वारा भक्त, नृत्य से मेरी आराधना करेंगे। तीनों लोकों की अनुकृति यह नृत्य सुप्रतिष्ठित है। ब्रह्मा से उन्होंने कहा कि लक्ष्य लक्षण के साथ तुम धारण करो। इस प्रकार ब्रह्मा ने विष्णु से और रुद्र ने ब्रह्मा से यह नृत्य ग्रहण किया तथा इसी नृत्य से उन्होंने भगवान विष्णु को संतुष्ट किया।[8]

इस प्रकार विष्णु से नृत्य की उत्पत्ति हुई। इस नृत्य से शंकर तथा देवता भी प्रसन्न होते हैं। पूजा से भी नृत्य श्रेष्ठ है। (वि॰ध॰पु॰ 34/25) स्वयं नृत्य के द्वारा जो भगवान विष्णु की उपासना करता है उस पर वे परम प्रसन्न होते हैं। उपर्युक्त प्रसंग से स्पष्ट है कि मध्यकालीन वैष्णव, नृत्य की लोकप्रियता के कारण इसका वैष्णवीकरण करने लगे थे। उन्होंने नृत्य की अनेक मुद्राओं और भावाभिव्यक्तियों में विष्णु और अवतारों का समावेश किया।

नृत्य के आंगिक अभिनय में हस्त मुद्राओं या हस्त अभिनय का विशिष्ट स्थान रहा है। अनेक प्रकार के भावों की अभिव्यक्ति नर्तक हाथों और अँगुलियों के माध्यम से निर्मित आकृतियों द्वारा करते हैं। यों तो कौशिकी आदि वृत्तियों का सम्बन्ध भरत मुनि के काल से ही विष्णु से स्थापित किया जाता रहा है।[9] बाद में चलकर पाँचवीं शताब्दी के नन्दिकेश्वर ने 'अभिनय दर्पण' में दशावतारों के नाम पर प्रचलित हस्त मुद्राओं का उल्लेख किया है। इनका नाम और क्रम नन्दिकेश्वर ने क्रमशः मत्स्य, कूर्म, वराह, नृसिंह, वामन, परशुराम, रामचन्द्र, बलराम, कृष्ण और कल्कि बताया है।[10] कालान्तर में अवतारवादी नाटकों की लोकप्रियता के साथ-साथ इन अवतारवादी हस्ताभिनयों की संख्या बढ़ती गयी, जिसके फलस्वरूप विष्णुधर्मोत्तर पुराण के काल तक अन्य देवताओं और अवतारों के साथ विष्णु के अन्य पार्षदों के नाम से भी

विभिन्न नृत्य अंगहारों का प्रचार हुआ। इनमें वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध, पुरुष, शंख, पद्म, लक्ष्मी, गरुड़, रखड़, धनुः, चक्र, गदा, हल, कौस्तुभ, वनमाला, नृसिंह, वराह, हयग्रीव, वामन, त्रिविक्रम, मत्स्य, कूर्म, हंस, दत्तात्रेय, परशुराम, दाशरथी, कृष्ण, बलदेव, विष्णु, पृथ्वी, नर-नारायण, कपिल जैसे नाम गृहीत हुए हैं।[11] नृत्य कला में इन आंगिक अभिनयों का उत्तरोत्तर विकास होता गया। पूर्व मध्ययुग तक विभिन्न अवतारों के नाम से स्वतंत्र नृत्य भी प्रचलित हो गए थे। शार्ङ्गदेव ने 'संगीत रत्नाकर' में इनमें से कुछ की चर्चा की है।

इन्होंने नृत्य की परम्परा में सौराष्ट्र, द्वारका में प्रचलित गोपियों का नृत्य भी ग्रहण किया है।[12] नृत्यों में नृसिंह द्वारा दैत्य दक्ष विदारण के अभिनय भी हुआ करते थे।[13] 'संगीत रत्नाकर' में कूर्मावतार की नृत्य पद्धति का विस्तारपूर्वक वर्णन हुआ है।[14] वक्र नृत्य में नृहरि रूप का उल्लेख किया गया है।[15] नृत्य की कतिपय प्रक्रियाओं में कूर्मासन[16], मत्स्यकरण[17] का तथा भ्रामरी नृत्य के प्रकारों में वामन[18] का उल्लेख हुआ है।

उपर्युक्त तथ्यों से स्पष्ट है कि इस युग में अवतारवाद केवल साम्प्रदायिक उपास्यवाद तक सीमित नहीं रहा अपितु ललित कलाओं के सूक्ष्मातिसूक्ष्म क्षेत्रों में उसकी व्याप्ति हो गयी थी। विष्णु एवं उनके अवतार भारतीय संस्कृति में केवल पौराणिक नहीं अपितु ललित कलाओं के उपजीव्य बन चुके थे। नृत्य कला में भी उत्पत्ति से लेकर विकास तक उन्हें अवतारवादी उपकरणों से इस प्रकार सम्पृक्त किया गया है कि नृत्यकला के क्षेत्र में भी अवतारवादी नृत्यकला का विशिष्ट स्थान बन गया। अब देखना यह है कि भारतवर्ष के शास्त्रीय और लोकनृत्यों में अवतारवाद का क्या स्थान रहा है।

शास्त्रीय नृत्य और अवतारवाद

भारतीय रंगमंचों पर नाट्य, नृत्य और नृत्त इन तीनों का प्रदर्शन होता रहा है, नाट्य में नृत्य और नृत्त दोनों समाहित हो सकते हैं। और नृत्य में रस और भाव दोनों की व्यंजना होती है और केवल आंगिक अभिनय मात्र को नृत्य समझा जाता रहा है। प्राचीन पौराणिक नृत्यों में शिव और पार्वती द्वारा नर्तित नृत्यों को ताण्डव और लास्य दो भागों में विभक्त किया जाता रहा है। ताण्डव पुरुष नृत्य है और लास्य स्त्री नृत्य जिनके समानान्तर 'नाद संहिता' के पुं नृत्य और स्त्री नृत्य विदित होते हैं।[19] ताण्डव पेवली और बहुरूपक दो प्रकार का होता है और लास्य भी घूरित और यौवत दो प्रकार का होता है। ताण्डव और लास्य के यदि पौराणिक मूल रूपों का अध्ययन किया जाय तो स्पष्ट पता चलता है कि दोनों की अवतारणा शिव अवतार वीरभद्र और पार्वती के विभिन्न अवतरित रूपों द्वारा होती रही है। सम्भव है इस भावना का कुछ सम्बन्ध रंगमंच पर इन दिव्य पात्रों के विभिन्न रूपों में प्राकट्य से भी रहा हो। क्योंकि कला की दृष्टि से अवतारवादी प्राकट्य 'नटवत' प्राकट्य ही रहा है। यही नहीं ताण्डव और लास्य दोनों का प्रयोजन भी लीला और उद्धार रहा है। अतः इन नृत्यों को हम अवतारवादी नृत्य कह सकते हैं।

उपर्युक्त नृत्यों के अतिरिक्त मध्यकाल में जिन शास्त्रीय नृत्यों का सर्वाधिक प्रचार रहा है वे हैं दक्षिण के भरत नाट्यम् और कत्थकली तथा उत्तर भारत के कत्थक और असम में मणिपुरी नृत्य।

भरत नाट्यम्

'भरतनाट्य शास्त्र' की रचना करने वाले भरत मुनि ''भरत नाट्यम'' के जन्मदाता हैं। तंजौर के प्रसिद्ध मंदिरों में प्रचलित होने के पूर्व इस नाट्य को ''देवदासी अट्टम'' कहते थे, किन्तु आज इसे 'भरत नाट्यम' कहते हैं। नृत्य एक आह्वान 'गति स्वरम' से आरंभ होता है, उसके पश्चात् 'जाति स्वरम' में मृदंग और ताल की ध्वनि पर नृत्य आरंभ किया जाता है। इसके बाद 'शब्दम्' में नर्तक शिव या कृष्ण की आराधना में मंत्रोचार करता है और साथ किसी-किसी विशेष रूप या भावभंगी का अभिनय करता है। इस प्रकार इसमें नृत्य कौशल और अभिनय दोनों सम्मिलित हैं, किन्तु अभिनय मुख्य है। इस नृत्य में गति की मुद्राओं और भावों को अर्थपूर्ण भाषा में व्यक्त किया जाता है। इसके बाद आने वाले 'वरणम' में नर्तक के नृत्य कौशल का प्रदर्शन मुख्य होता है। 'गवेली' और 'सिंगन' में तालबद्ध पैर चलाने की क्रिया होती है।[20] दक्षिण भारत में नर्तन शैली की दृष्टि से इसके पाँच रूप प्रचलित हैं, जिन्हें निम्न प्रकार से प्रस्तुत किया जा सकता है[21] :

भरतनाट्यम

सदिर | कुचिपुडी | भागवत | मेलानाटक | कुवभंजी | मोहनी अट्टम
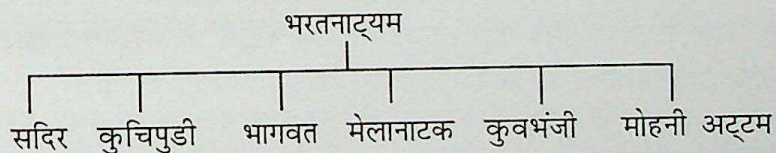
इनमें 'सदिर' वस्तुतः प्राचीन 'दासी अट्टम या छिन्न मेलम' है। मन्दिरों में देवदासियों द्वारा यह नृत्य, नृत्त और नृत्य दोनों प्रकार से किया जाता था। इसमें शब्दम, पदम, जवेली, कीर्तनम, श्लोकम, वरणम और स्वराजति समाहित रहते हैं।

भरत नाट्यम् के उपर्युक्त रूपों में से अधिकांश विष्णु, शिव, राधा कृष्ण और स्थानीय मंदिरों के प्रसिद्ध अर्चाविग्रहों (श्रृंग, वैंकटेश्वर) के प्रति बनाए गए पदों पर आधारित हैं। भक्ति रस ही इनका भी मूल स्वर रहा है। वैष्णव और शैव मंदिरों में प्रचलित ये नृत्य वस्तुतः नाट्य नृत्य हैं। नर्तक 'रामायण', 'महाभारत' 'श्रीभद्भागवत' के प्रसिद्ध चरित नायकों की अनुकृति विभिन्न नृत्य भावों में प्रदर्शित करता है।[22] भरत नाट्यम की प्रमुख विशेषता है संचारी भावों का प्रयोग। नाट्य शास्त्रों में रस का उद्दीपन करने वाले जितने संचारी भाव हैं उन सभी की आंशिक अभिव्यक्ति इन नृत्यों में मिलती है। इन भावाभिनयों में दशावतारधारी शेषशायी विष्णु श्रीरंगम् के प्रति स्तुति गान, नृत्य, ताल और भावाभिनय के माध्यम से व्यंजित किए जाते हैं।[23] 'भरत नाट्यम' के अनेक रूप राधा–कृष्ण की प्रेम लीलाओं पर आधारित हैं। विशेष कर आंध्र प्रदेश का प्रिय नाट्य कुचिपुडी, भागवत मेला या मेला नाटक, श्रीकृष्ण लीला प्रधान गीति नाट्य है।

कुचिपुड़ी को मूल रूप में 'भागवतलु' के ही अंतर्गत माना जाता है, जिसके माध्यम से भागवत की रोचक कथाएं प्रस्तुत की जाती हैं। शृंगार में वियोग की भावना जो वैष्णवी भक्ति का प्रमुख रूप रही है, इन नर्तकियों में विशेष लोकप्रिय है। कुचिपुड़ी में कृष्ण कथा के अनेक प्रसंग गृहीत होते हैं। इनमें सिद्धेन्द्र योगी द्वारा लिखा हुआ 'भामा कल्पम' या 'पारिजातम्' अधिक लोकप्रिय हैं। तीर्थ नारायण यति ने 'कृष्ण लीला तरंगिणी' नामक काव्य की रचना की। इस काव्य के बोल नृत्त का भी संकेत करते हैं। इस कृति के प्रभाव से कुचिपुड़ी का नृत्य अंश अधिक दृढ़तर हुआ। कुचिपुड़ी के नृत्याभिनय का विकास क्रमशः मध्ययुगीन वैष्णव गीति नाट्यों पर होता गया। 'गोप्लकल्पम्' नामक नृत्य संयोजन में एक ग्वालिन तथा ब्राह्मण का संलाप दिखाया गया है, जिसमें दर्शन तथा भक्ति के अनेक तत्त्वों का प्रतिपादन है। उत्तर भारत की कृष्ण लीला में अभिनीत होने वाले गोपिका उद्धव संवाद की तरह यह प्रतीत होता है। इसके अतिरिक्त कुचिपुड़ी तथा 'भरत नाट्यम' के अन्य रूपों में 'दशावतार नृत्य' भी एक लोकप्रिय वैष्णव नृत्य है, जिसमें विष्णु के दशों अवतारों की भक्तिमयी नृत्य नाट्य लीला प्रस्तुत की जाती है। जयदेव की 'अष्टपदी' ने भी इस नृत्य नाट्य को समृद्ध होने में विशेष योग दिया।

तमिलनाडु में 'कुचिपुड़ी' के समानान्तर 'भगवत मेला नाटक' जैसे नृत्य नाट्य का विशेष प्रचार रहा है। तंजौर के प्रसिद्ध मंदिरों से संबद्ध ब्राह्मण परिवारों द्वारा नृत्य नाट्य अपनाए गए हैं। वैंकटेश्वर शास्त्री द्वारा लिखे गए बारह गीतिनाट्य ही इनके एक मात्र उपजीव्य हैं। भरत नाट्य के रूपों का उत्तर मध्यकाल में भी विकास हुआ है। पर उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि 'भरत नाट्य' वैष्णव गीति नाट्यों या नृत्य नाट्यों से अनुप्राणित रहा है, जिनमें अवतारों की लीला का अभिनय भक्ति रस निष्पत्ति का प्रमुख लक्ष्य रहा है।

कथकली

कथकली दक्षिण भारत के अत्यंत लोकप्रिय शास्त्रीय नृत्यों में से रहा है। विशेषकर मालाबार, केरल का मुख्य नृत्य है। दक्षिण की मलयालम भाषा में 'कथा' का अर्थ है 'कहानी' और 'कली' का अर्थ है खेल (केलि का संभवतः अप्रभंश) अतः कथकलि का तात्पर्य होता है कहानी का वह रूप जो खेल या नृत्य द्वारा व्यक्त किया जाए। इस दृष्टि से यह एक कथात्मक नृत्य है। इसमें नर्तक भाव भंगिमा, वेशविन्यास, आकृति विन्यास तथा मुद्रा और नृत्यों के बल पर 'किसी' पौराणिक कथा का दिग्दर्शन कराता है। पहले इसे 'रमानाथम' अर्थात् श्री राम की कथा कहते थे। इससे लगता है कि यह मूल रूप में अवतार चरित्रात्मक नृत्य ही रहा है। 17वीं शताब्दी में दक्षिण के प्रसिद्ध नर्तक केरल ब्रह्मा ने इसे वर्तमान स्वरूप दिया और राम ब्रह्मा ने समस्त 'राम चरित' का अभिनय किया। जब एक धार्मिक नर्तक अपने इष्टदेव के सामने नृत्य करता है, वह उस अवस्था को तद्रूपता की अवस्था तक ले जाता है। कथकली नृत्य में भी मूक निवेदन की भावना निहित रहती है। यों यह नृत्य[24] केवल मूक अभिनय, आहार्य, हाव, भाव, हेला तथा विविध रसों और भावों से युक्त नृत्य नाट्य है। इस नृत्य की 24 मुद्राएँ ही उसकी अभिव्यक्ति की वर्णमालाएँ हैं और 500 आकृति विधान उनके सहायक माध्यम हैं।[25]

कथकली को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है—लोक नृत्य और लीला (नागरिक) नृत्य। लोक नृत्य फसल के महीनों में सामूहिक प्रार्थनाकाल में वर्षा के निमित्त होता है और लीला नृत्य नागरिकों में प्रचलित है, जिसका मुख्य कार्य है देवताओं को खुश करना। केरल के नम्बूद्री पंडित इस कथकली के मूल आधार हैं। 'रमानाथम्' की कथा के आधार पर श्री कोत्तरकर ने 'राम जन्म' से लेकर 'रावण वध' तक आठ घटनाओं का नृत्य नाट्य प्रस्तुत किया। इन नृत्यों की शैली 'भरत नाट्य शास्त्र' पर ही आधारित है। इस प्रकार कथकली में एक ओर तो मलावारी लोकगीतों के तत्त्व हैं और दूसरी ओर भरत की कलात्मक शैली से युक्त होकर उनका रूप शास्त्रीय हो उठा है।

सोलहवीं शताब्दी में 'रमानाथम' की ही अनुकृति पर 'कृष्णनाथम' का उद्‌भव हुआ। 'कृष्णनाथम' के रूप में विकसित नृत्य नाट्य 'गीत गोविन्द' बहुत मिलते-जुलते हैं। यों ट्रावनकोर की कला पर 'गीत गोविन्द' का प्रत्यक्ष प्रभाव पहले से भी था।[26] कथकली अभिनय और मुद्रा की दृष्टि से अपने पूर्ववर्ती नाट्य चकियर कथु तथा 'कुटिपट्म' से बहुत प्रभावित है। कथकली मध्यकाल का एक बहुरूपात्मक नृत्य नाट्य है। यह अपने आप में एक मूर्तिमान कला है, क्योंकि इसकी अभिनय कला में नृत्य, गीत, काव्य और चित्र सभी का अपूर्व मिश्रण रहता है। ऐसे तो अब इनके धर्मनिरपेक्ष रूप का भी विकास हुआ है, किंतु कथकली नृत्य मूल रूप में धार्मिक और अर्द्धधार्मिक रहा है। धार्मिक नाट्यों में भगवती पट्टु, तिथ्यपटटु, पन पटटु और अन्य नाट्य प्राय: देवस्थान या मंदिरों में अभिनीत होते हैं।[27] कुटटु, कृष्णनाथम संघकली भी धार्मिक साहित्यिक नृत्यों में माने जा सकते हैं। कथकली में प्रयुक्त होने वाली 'पटक मुद्रा' में अवतारवादी प्रतीक व्यंजना दीख पड़ती है। इसकी उत्पत्ति तो ब्रह्मा से मानी जाती है किंतु यह यथार्थ रूप में विजय का प्रतीक है। इस मुद्रा का विकास संभवत: ध्वज से हुआ है। प्राचीन दक्षिणी चित्रों में पाँच आकृति के ध्वज मिलते हैं। इनका ऊपरी खुला भाग ईश्वर को व्यक्त करता है और नीचे का भाग पृथ्वी को, जिसका तात्पर्य है – रक्षा। इस प्रकार इस प्रतीकार्य के अनुसार भगवान द्वारा पृथ्वी की रक्षा में अवतारवादी प्रयोजन की भावना स्पष्ट प्रतीत होती है। अन्य मुद्राओं में द्विरूपात्मक 'कटक' मुद्रा भी विष्णु, कृष्ण, बलभद्र, राम इत्यादि की मुद्रा मानी जाती है। इन तथ्यों के अध्ययन से स्पष्ट है कथकली के उद्‌भव, आधार और विकास तीनों में अवतार कथाओं का हाथ रहा है। इसमें रामलीला की नाट्यात्मक या अभिनयात्मक रूपरेखा नृत्यात्मक अभिनय के द्वारा प्रतीकात्मक व्यंजना से पूर्ण है।

रास और उससे प्रभावित नृत्य

शिव द्वारा उद्‌भावित नृत्यों के अनन्तर भारत के प्राचीन सांस्कृति नृत्यों में रास का भी प्रमुख स्थान है। नागर प्रभाव से दूर रहने के कारण यद्यपि इसका रूप अधिक शास्त्रीय नहीं हो सका, किंतु ग्रामीण वातावरण में विकसित लोक नृत्य होते हुए भी कतिपय शास्त्रीय नृत्यों का जनक रहा है। देवासुर संग्राम से संबद्ध दुष्ट दमन का अवतार कार्य प्राचीन काल से ही एक सामूहिक

जातीय या राष्ट्रीय उपलब्धि रहा है। अतः अवतारवादी विजयोपलब्धि एक सामूहिक या राष्ट्रीय संकट से मुक्ति की कथा रही है, जिससे विवृत होते ही किसी प्रकार का राग रंग होना स्वाभाविक रहता है। रास भी स्वच्छंद गोपी कृष्ण प्रेम के वातावरण में विकसित एक नाट्य नृत्य रहा है।

इसकी प्राचीन विस्तृत रूपरेखाओं में हम 'विष्णु पुराण' (तीसरी शताब्दी) की रास क्रीड़ा को ले सकते हैं। इसका विश्लेषण करने पर यह दो रूपों में मुख्य रूप से लक्षित होता है। प्रारंभिक अंश नीति नाट्य प्रतीत होता है, जो एक प्रकार की कृष्णलीला ही है और उत्तरवती अंश नृत्य के रूप में प्रतीत होता है। इस रास के नायक लीलापुरुषोत्तम कृष्ण 'वेणी गान में रस' नृत्य वाद्य विशारद माने जाते रहे हैं।[28] 'विष्णु पुराण' के अनुसार इन्द्र पर विजय पाने के उपरान्त श्रीकृष्ण की रभ्यगीत ध्वनि सुनकर गोपियाँ तत्काल उनके पास चली आयीं।[29] वे सब उनके ध्यान में लीन थीं। 'रासारम्भ' रस के लिए उत्कंठित समस्त गोपियों को श्रीकृष्ण ने शरत पूर्णिमा की रात्रि में सम्मानित किया।[30] थोड़ी देर के लिए श्रीकृष्ण के अन्यत्र जाने पर गोपियाँ कृष्णलीला की नाव्यानुकृति करती हैं। एक कहती है – ''मैं ही कृष्ण हूँ, देखो, कैसी सुन्दर चाल से चलता हूँ, तनिक मेरी गति तो देखो।'' दूसरी कहने लगी – ''कृष्ण तो मैं हूँ अहा! मेरा गाना तो सुनो।'' कोई अन्य भुजाएँ ठोक कर बोल उठी – ''अरे दुष्ट कालिय। मैं कृष्ण हूँ, ठहर तो'' ऐसा कह कर कृष्ण के सारे चरित्रों का लीलापूर्वक अनुकरण करने लगी। और किसी दूसरी ने कहा – ''अरे गोपगण! मैंने गोवर्धन धारण किया है, तुम वर्षा से मत डरो, निश्शंक होकर इसके नीचे आकर बैठ जाओ।'' कोई दूसरी इसी प्रकार कृष्णलीलाओं का अनुकरण करती हुई कहने लगी – ''मैंने धेनुकासुर को मार दिया है, अब यहाँ गौएँ स्वच्छन्द होकर विचरें।''[31] इसके अनन्तर गोपियाँ श्रीकृष्ण या किसी 'कृतपुण्या मदालसा' गोपी के साथ चलने वाली अभिसार क्रीड़ा का सूच्य दृश्य के रूप में वर्णन करती हैं।[32] जिसने सम्भवतः बाद में चलकर कृष्ण भक्ति सम्प्रदायों में रहस्य क्रीड़ा का रूप धारण कर लिया। इसी बीच पुनः श्रीकृष्ण प्रकट होकर गोपियों के साथ मिलकर रासोचित रासमण्डल की संयोजना करते हैं। परस्पर एक दूसरे का हाथ पकड़कर एक मंडलाकार वृत्त बन जाता हैं और गोपियाँ नूपूरों की झनकार के साथ केवल कृष्ण का टेक देकर गीत गाती हैं, जबकि कृष्ण शरद ऋतु सम्बन्धी गीत गाते हैं। कृष्ण के लिए प्रयुक्त ''रासगेयं जगौ कृष्णों यावत्ताश्वतरध्वनिः से लगता है कि इस गीत नाट्य प्रधान नृत्य में रास गीत उच्च स्वर से गाया जाता था।[33] कृष्ण के आगे जाने पर गोपियाँ उनके पीछे जातीं और लौटने पर सामने चलतीं, इस प्रकार अनुलोम और प्रतिलोम गति से श्री हरि का साथ देती थीं।''[34]

इस प्रसंग वृत्त का अध्ययन करने पर स्पष्ट पता चलता है कि रास अवतारोपलब्धि के उपरांत होने वाला नाट्य नृत्य था। प्रारंभ में अवतार श्रीकृष्ण की अवतार लीलाओं के अभिनय होते थे और बाद में उसी क्रम में रास नृत्य की संयोजना की जाती थी। आगे चलकर हम देखेंगे कि इस रास के आधार पर प्रायः समस्त भारतवर्ष में नाट्य नृत्यों का प्रचार हुआ तथा शास्त्रीय और लोकपरक दोनों प्रकार के नृत्य विभिन्न क्षेत्रों में प्रचलित हुए।

मणिपुरी नृत्य

भारतवर्ष में मणिपुर एक ऐसा क्षेत्र है, जिसका नाम ही मणिपुरी नृत्य से संबद्ध है। यद्यपि मणिपुर वृंदावन से बहुत दूर है तथापि रास लीला का शास्त्रीय रूप और चरमोत्कर्ष इसी प्रदेश में दृष्टिगत होता है। कहा जाता है कि एक बार महारास में गोपियाँ नृत्य कर रही थीं, नटराज शिव ने उस नृत्य को देखने की अनुमति कृष्ण से माँगी। श्रीकृष्ण ने उन्हें रास लीला की ओर पीठ कर सुनने की अनुमति दी। उस स्थिति में रहने पर भी महारास की नृत्यलीला, घुँघरुओं, मृदंगों और वंशियों की ध्वनि से शिव इतने सम्मोहित हो गए कि वे श्रीकृष्ण का वचन पालन करना भूल गए। शिव ने तत्काल ही पार्वती के साथ रास रचाने का निश्चय किया और मणिपुर ही उनके लिए उपयुक्त स्थान विदित हुआ। पेंगा और पेना का वादन आरंभ हुआ तथा शेषनाग की मणि से सारा प्रदेश आलोकित हो गया तभी से इस प्रदेश का नाम मणिपुर पड़ा।

यों तो मणिपुरी का प्राचीन नृत्य 'लाइहरोवा' रहा है। यह एक फसल नृत्य है, जिसे हम सामूहिक ग्राम नृत्य भी कह सकते हैं, जिसमें सारा गाँव धरती की उपजाऊ शक्ति के लिए मंगल कामना करता है। पंद्रहवीं शताब्दी के लगभग, महाप्रभु चैतन्य द्वारा जब मणिपुर क्षेत्र में वैष्णव धर्म का प्रचार हुआ, उस समय एक बार फिर समस्त मणिपुर नामकीर्तन, लीला, रास से अनुरंजित होकर राधा कृष्णमय हो उठा। मंजीरा, करताल, खोल (मणिपुरी मृदंग) के वादन से संचरित होने वाला यह नृत्य अभिनव रस सृष्टि की क्षमता से संपन्न है। ''लाइहरोवा'' के सदृश रास लीला भी जनता में अत्यंत प्रचलित एवं लोकप्रिय रहा है।

परंतु इसमें भाग लेने वाले नर्तकों के लिए नृत्य, संगीत तथा अभिनय में पारंगत होना आवश्यक है। रास लीला में गाने के लिए विशिष्ट गायक निमंत्रित किए जाते हैं। रास नृत्य सीखने के लिए मणिपुर की अनेक युवतियाँ शिक्षित व्यक्तियों से शिक्षा ग्रहण करती हैं। इसलिए रास लीला में भाग लेने वाले कुछ विशेष नर्तक ही हुआ करते हैं। रास नृत्य के लिए 'रास मंडल' का निर्माण किया जाता है, जिसमें विभिन्न स्थानों से एकत्रित रास मंडलियाँ भाग लेती हैं। इसका कार्यक्रम छः सात घंटे तक चलता है तथा बीच-बीच में अभिनय और संवाद भी चलते रहते हैं। कृष्ण का अभिनय कोई किशोर बालक तथा राधा और उनकी सखियों का अभिनय कुशल नर्तकियाँ किया करती हैं। यहाँ रास लीला के चार प्रकार विशेष उल्लेखनीय हैं - वसंत रास, कुंज रास, महा रास, नित्य रास :

रास
- वसंत रास (वैशाख मास)
- कुंज रास (अश्विन मास)
- महारास (कार्तिक मास)
- नित्य रास (सभी समय)
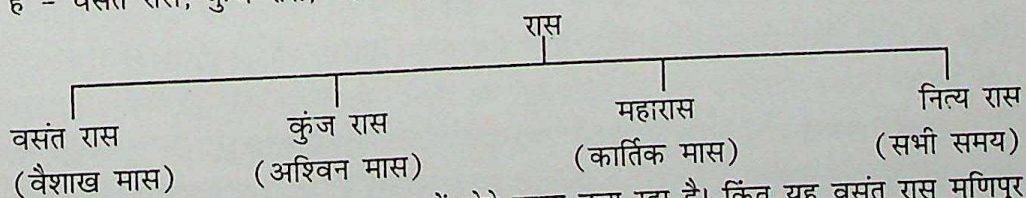
वृंदावन का रास नृत्य शरद् ऋतु में होने वाला नृत्य रहा है। किंतु यह वसंत रास मणिपुर क्षेत्र में वसंत ऋतु या वैशाख में हुआ करता है। इसी प्रकार कुंज रास आश्विन में, महा रास कार्तिक में तथा नित्य रास सभी अवसरों पर हुआ करता है। वसंत रास में मानवती राधा को

कृष्ण मनाने का प्रयास करते हैं। वे राधा के समक्ष आत्मसमर्पण करते हैं और राधा उन्हें पुनः क्षमा कर स्वीकार कर लेती हैं। कुंज रास राधा और कृष्ण का संयोग प्रधान नृत्य है, इसमें विप्रलंभ शृंगार का बृहत प्रदर्शन नहीं होता। महारास में राधा और कृष्ण का रूप विरह प्रधान रहता है। राधा बिछड़े कृष्ण के वियोग में प्राण त्यागने का निश्चय करती है और अंत में उन्हें पुनः कृष्ण की प्राप्ति होती है। नित्य रास में राधा और कृष्ण की विरह और मिलन लीला को प्रदर्शित किया जाता है। दार्शनिक दृष्टि से यह समस्त लीलाएँ आत्मा और परमात्मा के मिलन और विरह की प्रेरणा से उत्प्रेरित रही हैं। ये रास लीलाएँ वर्ष में तीन या चार बार आयोजित हुआ करती हैं।

रास के अतिरिक्त अन्य अवतारवादी नृत्यों में कृष्ण बलराम नृत्य, गीत गोविन्द नृत्य, अबीर नृत्य, अभिसारिका नृत्य, बांसुरी नृत्य भी विशेष लोकप्रिय रहे हैं। आसाम के लीला प्रधान नृत्यों में 'भावना' नृत्य भी विशिष्ट स्थान रखता है। यह मूलतः शास्त्रीय 'दशावतार नृत्य' से अनुप्राणित जान पड़ता है। नृत्यारंभ में सूत्रधार विष्णु आराधना करते समय दशावतारों का भी स्तुतिगान करता है।

उपर्युक्त नृत्यों की रूपरेखा से ऐसा प्रतीत होता है कि मणिपुरी को शास्त्रीय रूप देने तथा लोकप्रिय बनाने में कृष्णावतार और कृष्ण लीला का विशिष्ट योगदान रहा है।

कत्थक नृत्य

हिंदी साहित्य का रीतिकाल केवल कविता की दृष्टि से ही रीतिवादी या अलंकार प्रधान नहीं था अपितु उस काल की समस्त कलाओं में अलंकृति व्याप्त रही है। उस युग की नृत्य, चित्र, मूर्ति, वास्तु समस्त कलाओं में हम अलंकरण या साज सज्जा की मनोवृत्ति पाते हैं। विशुद्ध शास्त्रीय नृत्यों में, मुगलराज दरबारों में विकसित कत्थक नृत्य भी कलाभिव्यक्ति की समस्त रीतियुगीन विशेषताओं से समाविष्ट है। उस युग की नृत्यरचना आवेष्टन में निबद्ध होकर जिस प्रकार उन्मुक्त थी, वैसे ही ''ख्याल'' के रूप में संगीत भी रागबद्ध तानों या आलापों के रूप में विकसित हुआ। युग की बदली हुई परिस्थितियों में ये वक्र और कूट तानें तथा विलम्बित या द्रुत यमक तानों की आवश्यक भरमार आधुनिक जन-मन को आलोड़ित नहीं कर सकी। कत्थक नृत्य भी एक सामान्य 'गत' पर उपनिषद् तालप्रधान नृत्य है। नृत्य के ही माध्यम से रागों के 'ख्याल' या कल्पना का अपेक्षित विस्तार किया जाता है। तांडव और लास्य का और राधाकृष्ण नृत्य का एक अपूर्व मिश्रण दीख पड़ता है।[35] केवल राज-दरबारों और नगरों से ही संबद्ध रहने के कारण इसका शास्त्रीय रूप सुरक्षित रहा, यह कभी लोकपरक नहीं हो सका। रीतिकाल ''राधा और कन्हाई के सुमिरन के बहाने'' का युग रहा है। शास्त्रीय संगीत और नृत्य और चित्र इन सभी में राधा कृष्ण की लीलाएँ उनका प्रधान आधार रही हैं। कत्थक नृत्य में भी राधा कृष्ण के अनेकविध जटिल नृत्य हुआ करते हैं, जिनमें पटविन्यास तथा अन्य तीव्र शारीरिक भंगिमाएँ और मुद्राएँ भिन्न-भिन्न भावनाओं का प्रदर्शन करती हैं।[36] कृष्ण, उद्धव आदि के गोपियों के प्रति

आचरण आदि के भी चित्र इस नृत्य में अनेक प्रकार से व्यक्त किए जाते हैं। इसके अतिरिक्त राधा और कृष्ण की अनेक रूपक कथाएँ घटनात्मक दृश्यों के साथ कत्थक नृत्यों में प्रचलित हैं।[37] नलिनकुमार गांगुली के अनुसार कत्थक नृत्य भी भारतीय वेदांत दर्शन के प्रत्यय पर आधारित है। कहा जाता है कि अद्वैतवाद के 'सौह' की मधुरता कत्थक नृत्य में व्यंजित होती है। लगभग 12वीं शती के बाद अन्य कलाओं के साथ इस नृत्य पर भी वैष्णव धर्म का प्रभाव पड़ने लगा था जिसके फलस्वरूप कत्थक नृत्य में भी राधा नृत्य की शैली तथा उसकी अनुकृतियों और भंगिमाओं का पर्याप्त संमिश्रण हुआ। यदि यह कहा जाए कि कृष्ण नृत्य ही मध्ययुगीन कत्थक नृत्य में दरबारी नृत्य हो गया तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी।[38]

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि प्राय: सभी शास्त्रीय नृत्यों के विकास और विस्तार में अवतारवादी उपादानों का विशिष्ट अवदान रहा है। प्राचीन एवं मध्ययुगीन प्रेक्षक, ग्राहक या सहृदय ऐहिक आनंद की पूर्ति के साथ पारमार्थिक आनंद का भी लक्ष्य रखते रहे हैं और यह कार्य अवतारवादी तथ्यों के उपकरण का योग मिलने पर अधिक सहजसाध्य हो गया। इसमें संदेह नहीं कि शैव, वैष्णव आदि धर्मों एवं संप्रदायों ने अपनी लोकप्रियता और व्याप्ति की भी वृद्धि की। किंतु यह उनका एकमात्र लक्ष्य नहीं था। उनकी दृष्टि में भक्ति भाव और रस को अधिक उद्दीप्त और संवेगात्मक बनाने के लिए दिव्य भावों का मानवीकरण और मानवी भावों का दैवीकरण एकमात्र मार्ग था। अत: कला के क्षेत्र में अवतारीकरण को हम निम्न प्रकार से भी देख सकते हैं --

दिव्य भावों का मानवीकरण – अवतारीकरण – मानवी भावों का दैवीकरण। अत: विभिन्न कलाओं की अभिव्यक्ति के क्षेत्र में नागर और ग्राम्य अथवा शास्त्रीय और लोक दोनों स्तर पर मान्य हुई।

लोक नृत्य

नागर एवं शास्त्रीय नृत्यों के अतिरिक्त ग्रामीण भारतवर्ष का सच्चा स्वरूप उन स्थानीय वैशिष्ट्यों से अनुप्रमाणित मध्ययुगीन लोक नृत्यों में प्रतिबिम्बित होता है, जो उसकी दैन्यजड़ित मुखाकृति में हास, अट्टहास, उन्माद और तन्मयता की रेखाएँ उभार देते हैं। नगाड़े या ढोलक पर ताल पर पड़ते ही उनकी समस्त मुद्राएँ रससिक्त हो जाती हैं। उन नृत्यों में हास, उल्लास, क्रोध, आवेश, शौर्य प्रदर्शन, वीरता इन सभी का मूर्तरूप दृष्टिगोचर होता है। ये भारतीय जन मानस की आमोद कृति या लीला वृत्ति का ही प्रतिनिधित्व नहीं करते, अपितु इनमें धार्मिक आस्था और विश्वास का भी पूर्ण दिग्दर्शन हुआ है।

यद्यपि स्थानीय लोक नृत्यों में जातिगत अथवा परंपरागत विशेषताएँ अधिक मूर्त हैं, साथ ही शैव, शाक्त और वैष्णव धर्म की अवतारवादी कथाओं पर आधारित अनेक ऐसे नृत्य हैं, जिनका प्रसार भारतवर्ष के कोने-कोने में राष्ट्रीय स्तर पर रहा है। इस दृष्टि से यदि हम रामलीला और कृष्णलीला को ही लें, तो पंजाब से आसाम तक हिमालय से कन्याकुमारी तक वे अपने स्थानीय

रंगों में अनुरंजित होकर व्याप्त हैं। दक्षिण भारतवर्ष में देवदासी और ब्राह्मणों द्वारा किए जाने वाले शास्त्रीय नृत्यों के अतिरिक्त उनके अनेक लोकपरक रूप भी दक्षिण में प्रचलित हैं। हम देश भर में फैले हुए इन नृत्यों को निम्न रूपों में विभाजित कर सकते हैं :

भारतीय अवतारवादी लोक नृत्य

- दशावतार नृत्य
- रामलीला नृत्य
- कृष्णलीला नृत्य
  - राम नृत्य
  - राधा नृत्य
  - कलिय दमन, कंस वध, दानलीला आदि
- अन्य अवतार नृत्य
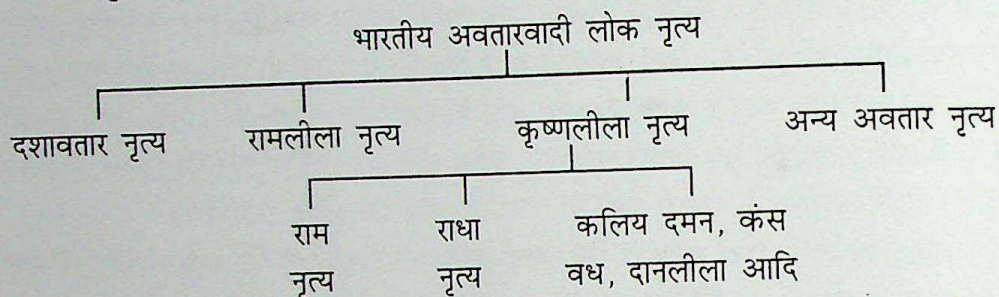
दशावतार नृत्य

अवतारवादी नृत्यों में दशावतार नृत्य विशेषकर देश के अनेक राज्यों में प्रचलित रहा है। यह महाराष्ट्र का अत्यन्त लोकप्रिय नृत्य है। महाराष्ट्र में इसे ''दशावतार'' या बोहद नृत्य कहते हैं।[39] महाराष्ट्रीय पद्धति के अनुसार इस नृत्य नाट्य में भी सूत्रधार सर्वप्रथम रंगमंच पर गणेश और सरस्वती की वन्दना करता है। महाराष्ट्र के विभिन्न स्थानों में इस नृत्य नाट्य पर स्थानीय रंग भी पूर्ण रूप से चढ़ चुका है, फिर भी समस्त दशावतार नृत्यों के प्रकार महाराष्ट्रीय जनता को उद्धार और लीलापरक तुष्टि प्रदान करते हैं। इन नृत्य नाट्यों में विभिन्न अवतारों का अभिनय करने वाले पात्र बड़े उत्साहपूर्वक नृत्य करते हैं। दशावतार नृत्यों में प्रायः रौद्र, वीर, भयानक, अद्‌भुत सभी का प्रदर्शन होता है। विशेषकर नृसिंह बने हुए पात्र रंगमंच पर बड़े रौद्र अभिनय के साथ प्रवेश करते हैं। इसी प्रकार इस नृत्य में राम-रावण का युद्ध भी बड़े भयानक ढंग से प्रस्तुत किया जाता है। कभी-कभी तो उनका यह युद्ध घण्टों चलता रहता है। यह धार्मिक आस्था और विश्वास संपृक्त नृत्य नाट्य हैं क्योंकि इस नृत्य के दर्शक अवतारों का अभिनय करने वाले पात्रों में भी अवतारों के अवतारत्व की भावना करते हैं। इस नृत्य का आयोजन प्रायः महामारी, आपत्तिकाल या कीड़ों से फसलों की रक्षा के लिये किया जाता है। महाराष्ट्र के अतिरिक्त दक्षिण भारत के कुचिपुड़ी नृत्य में दशावतारों का भी प्रसंग उपस्थित होता है।[40] 'अभिनय दर्पण' और 'विष्णु धर्मोत्तर पुराण'[41] में वर्णित दशावतार की हस्तमुद्राओं का अध्ययन करने पर ऐसा लगता है कि लगभग पाँचवीं शताब्दी से ही 'दशावतार नृत्य' का कोई शास्त्रीय रूप भी अवश्य प्रचलित रहा होगा। क्योंकि दक्षिण भारतीय नृत्य 'भरत नाट्यम' में 'पल्लवी' या स्थाई की अभिव्यक्ति होती है उसमें शेषशायी विष्णु को दशावतारधारी भी कहा गया है।[42] सम्भव है इसके मूल में जयदेव की 'अष्टपदी' का योग रहा हो। यों बंगाल के भक्त कवि जयदेव ने 'गीतगोविन्द' के प्रारंभ में जिस 'दशावतार गीत' की रचना की है वह नृत्य, राग और ताल सम्मत रहा है। वंगीय नृत्यों के आरम्भ में कहीं-कहीं दशावतारों का स्तुति गान होता ही है। आसाम और मणिपुर के भावना नृत्य के आंरभ में भी दशावतार नृत्य और गान की प्रथा रही

है। सूत्रधार प्राय: नृत्यारम्भ में ही विष्णु के अन्तर्धान के साथ-साथ दशावतारों की स्तुति के साथ नृत्य भी करता है।[43]

इन तथ्यों के अध्ययन से यह प्रमाणित होता है कि मध्य युग में प्राय: कतिपय प्रदेशों में दशावतार नृत्य के शास्त्रीय और लौकिक रूप दोनों प्रचलित रहे हैं। महाराष्ट्र जैसे प्रदेशों में तो यह स्वतंत्र नृत्य नाट्य के रूप में लोकप्रिय रहा है। किन्तु मणिपुर, बंगाल और दक्षिण में नृत्यारम्भ दशावतार नृत्य से होते रहे हैं।

रामलीला नृत्य

दशावतार नृत्य की तरह 'रामलीला नृत्य' के भी शास्त्रीय और लोकपरक दो रूप देखने में आते हैं। शास्त्रीय रूप तो 'कथकली नृत्य' में विदित होता है जिसका विकास 'रामनाथन्' से माना जाता है और यों भी उसमें 'रामलीला नृत्य नाट्य' की प्रधानता है। रामलीलापरक लोक नृत्यों में कुछ का सम्बन्ध तो 'रामायण' से है और कुछ का अर्चा विग्रहों से। उदाहरण के लिए राजस्थान के अत्यन्त लोकप्रिय 'ख्याल नृत्य' में महाभारत के अतिरिक्त 'रामायण' की कथाएं भी अभिनीत होती हैं।[44] इसी प्रकार कुलूघाटी 'पंजाब' के प्रसिद्ध 'रघुनाथ नृत्य' में भी यों राम कथा पर ही आधारित नृत्य रूपक प्रस्तुत किए जाते हैं, किंतु उनके प्रमुख प्रेरकों में हम स्थानीय अर्चा विग्रह 'रघुनाथ' को मान सकते हैं।[45] क्योंकि अर्चा विग्रह रघुनाथ के प्राकट्य को वहाँ के जन वासियों में आवेशावतार समझा जाता है।[46] बिहार और उड़ीसा में रामलीला नृत्य के नाट्य नृत्य मध्ययुग से ही प्रचलित रहे हैं। महाराष्ट्र का शिमगा नृत्य एक प्रकार का रामलीला नृत्य ही है। उसमें वनवासी राम, लक्ष्मण और जानकी की दशाओं के वर्णन से सम्बद्ध पद गाए जाते हैं। इसमें अंगद, रावण इत्यादि के प्रसंग रामलीला की तरह ही समाविष्ट रहते हैं।

कृष्ण लीला नृत्य

लीलापुरुषोत्तम श्रीकृष्ण भारतीय संस्कृति और कला में कलाभिव्यक्ति के महान स्रोत रहे हैं। अवतारवादी कला वस्तुत: 'कला के लिए कला' के रूप में केवल राधा कृष्ण की कलात्मक अभिव्यक्ति (लीला के लिए लीला) में निहित है। प्राय: समस्त भारतवर्ष की शास्त्रीय नृत्य कला में शिव-पार्वती और राधा-कृष्ण की युगल मूर्ति का प्राधान्य रहा है। भरतनाट्यम 'मणिपुरी' कथकली, और कत्थक इन सभी में वे मूल प्रेरक दीख पड़ते हैं। कृष्ण एवं गोपियों का रास आरम्भिक रूप में लोकनृत्य ही रहा है। मध्ययुग में वैष्णव भक्त संगीतज्ञों ने इसे शास्त्रीय रूप प्रदान किया, यों फिर भी उसका एक लोकपरक रूप प्राय: भारतवर्ष के अधिकांश प्रदेशों में प्रचलित रहा है।

मध्ययुगीन दक्षिण भारत में अर्चा विग्रहों की उपासना संगीत और नृत्य दोनों के साथ प्रचलित थी। कुमारी आईप्पा ने अपने सुन्दर राधा कृष्ण नृत्यों में प्राचीन सौन्दर्य को व्यक्त करने की चेष्टा की थी। इस युग में राधा कृष्ण की रास लीला से संपुष्टित ''कल्पकोवा'' नृत्य नाट्य

का बहुत अधिक प्रचार हुआ। कल्पकोवा में श्रीकृष्ण के प्राय: अनेक नाटकीय कथात्मक प्रसंग वर्णित होते हैं।

कृष्ण लीला के प्रधान नृत्यों में रास नृत्य है। यद्यपि वृंदावन से इसका पौराणिक या ऐतिहासिक सम्बन्ध है, फिर भी इसका पूर्ण विकास मणिपुर और बंगाल के रास नृत्यों में हुआ। संभवत: मणिपुरी नृत्य शैली में ही इसको शास्त्रीय रूप प्रदान किया गया। मणिपुर में रास नृत्य को इतनी प्रधानता मिली कि ताण्डव और लास्य शैली के अधिष्ठाता शिव और पार्वती भी यहाँ 'रास नृत्य' के नर्तक रूप में लोकप्रिय रहे।[47] मणिपुरी महाराष्ट्र में मणिपुर नरेश 'महाराज भाग्यचंद्र' की पुत्री बिम्बावती स्वयं राधिका का अभिनय करती थी, जो 'रासेश्वरी' के नाम से विख्यात रही है।[48] बंगाल के कृष्ण लीला नृत्यों में जहाँ राधा और गोपियों के साथ नृत्य होते हैं उनमें रास लीला आस्वादन की भी प्रवृत्ति रही है।[49] उत्तरप्रदेश में यों तो राम लीला और कृष्ण लीला सर्वत्र होती है, किंतु रास लीला के मुख्य केंद्र वृन्दावन और मथुरा ही रहे हैं। उड़ीसा में उदयगिरि और खण्डगिरि की गुफाओं में महावीर बुद्ध, हनुमान, गणेश आदि के भित्ति चित्रों के साथ मूर्तिपूजा के भित्ति नृत्य चित्र भी मिलते हैं। इससे कला के साथ भक्ति के सुंदर सुनियोजन का पता चलता है। यों भी मध्यकाल में चण्डीदास और विद्यापति के साथ-साथ अनेक उड़िया कवियों के गीत और संगीत तत्कालीन लोक नृत्यों को वैष्णवत. से ओत-प्रोत करते रहे हैं।

मध्ययुगीन बिहार में पटना संगीत, नृत्य का मुख्य केंद्र था। उस युग की विख्यात संगीतज्ञ एवं नर्तकी 'चिन्तामणि' 'संगीत ज्योति' मानी जाती थी। प्राय: लोग उसे बिहारी 'बुलबुल' भी कहा करते थे। कहा जाता है कि सुप्रसिद्ध कवि विश्वमंगल चिन्तामणि के ही प्रेमी थे। चिन्तामणि ने ही उन्हें संगीतज्ञ बनाया था। चिन्तामणि और विश्वमंगल दोनों के दिव्य प्रेम, संगीत और नृत्य ने बिहार के संगीत की अन्तर्धारा को प्राणवान बनाया था। प्राय: पूर्वी भारत में प्रचलित प्रणय नृत्य, भावना नृत्य और चन्द्र नृत्य को इसके गीत और संगीत ने ही पीठिका प्रदान की थी। बिहार के मैथिक कोकिल विद्यापति केवल भक्तकवि ही नहीं थे, बल्कि उनके लोकगीतों में भक्ति रसात्मक लोक नृत्यों की चेतना निहित थी। उनके लोक गीतों से अनुप्राणित होली नृत्य, भक्ति नृत्य, सुषमा नृत्य और सामूहिक कीर्तन नृत्य मध्यकाल के अत्यन्त जनप्रिय नृत्यों में से थे।

यथार्थत: लोक कला एक ऐसी अक्षय स्रोतस्विनी है जिसकी अप्रतिहत गति को किसी भी शास्त्रीय बाँध से अवरुद्ध नहीं किया जा सकता। परम्पराभिभूत होते हुए सहज रूपान्तर इसका एक विशिष्ट स्वभाव है। कालक्रम से देश के अन्य भागों में रास लीला से प्रभावित रूप भी देश के कतिपय नृत्यों में प्रतिबिम्बित होते हैं। महाराष्ट्र का 'जिम्मा' नृत्य रास का ही रूपान्तरित रूप विदित होता है।[50] इसी प्रकार गुजरात के 'गरवा नृत्य' पर भी रास का प्रभाव देखा जा सकता है। यों गरवा नृत्य गोपी कृष्णलीला का एक स्थानीय रूप है। इसकी पृष्ठभूमि में गाए जाने वाले पदों में कृष्णलीला की ही घटनाओं के चित्र उपस्थित किए जाते हैं। काठियावाड़ के रास नृत्य भी कृष्ण लीला के मूर्त्त रूप प्रतीत होते हैं। कुछ स्थानों में प्रचलित गोप गोपी नृत्य भी रास का ही एक रूप जान पड़ता है। जैसे महाराष्ट्र के टिपरिया गोप नृत्य में तथा वार्करी

सम्प्रदाय के प्रसिद्ध नृत्य 'टिण्डी रास' नृत्य में रास की रूपान्तरित प्रकृति विद्यमान है।[51] इसी प्रकार गोकुलाष्टमी के दिन आयोजित होने वाला 'कला नृत्य' गोकुल बृन्दावन से सम्बद्ध गोप-गोपी और गोपालों के अभिनय को लेकर चलने वाला नृत्य है।[52] रास नृत्य या राधा कृष्ण से सम्बद्ध इन सभी नृत्यों में शृंगार की ही प्रधानता किसी न किसी रूप में रही है। परन्तु इनके अपवादस्वरूप उत्तर प्रदेश के अहीरों का एक 'विरहा नृत्य' ही ऐसा है जिसमें वीरता, शौर्य और ओज का प्रदर्शन हुआ है।[53]

कृष्ण लीला के कुछ नृत्यों का सम्बन्ध विशेषकर बंगाल में चैतन्य देव से भी रहा है। ऐसे नृत्यों में खमेटा नृत्य, कृष्ण लीला नृत्य, कीर्तन नृत्य विशेष लोकप्रिय रहे हैं। ये यभी नृत्य कृष्ण लीला से संचालित नृत्य नाट्य हैं। कृष्ण लीला के अन्य नृत्यों में महाराष्ट्र के महालक्ष्मी नृत्य, गोविन्द नृत्य, दहीहांडी नृत्य और उड़िया माया शवरी नृत्य तथा आसाम और मणिपुर के कालियदमन वकासुरवध नृत्य, दक्षिण भारत के वाणासुरवध का प्रतीक 'कुद्दकुट्टु' कामरूप के फाल्गुनी, गीता और कर्णार्जुन नृत्य अधिक लोकप्रिय रहे हैं। इन नृत्यों को कृष्ण के विशुद्ध लीलात्मक नृत्यों की अपेक्षा उद्धारपरक नृत्य अधिक कहा जा सकता है।

अन्य अवतार नृत्य

विष्णु के अन्य अवतार नृत्यों में दक्षिण भारत का नृत्य 'कूर्मावतारम' प्राचीनकाल से प्रचलित विदित होता है। 'विष्णु धर्मोत्तर पुराण' में भी कूर्मावतार का नृत्य से सम्बन्ध स्थापित किया गया है। दक्षिण भारत में 'समुद्रमंथनम' पौराणिक अवतार कथाओं पर लिखा हुआ एक गीति नाट्य है, जिसमें विष्णु कूर्म अवतार धारण कर पर्वत धारण करते हैं और अन्त में 'जगमोहिनी' का रूप धारण कर असुरों को विमोहित कर लेते हैं।[54] इसी कथा पीठिका पर आधारित यह एक नृत्य नाट्य है। उड़िया 'माया शवरी' नृत्य में भी समुद्रमन्थन की कथा प्रासंगिक रूप से गृहीत हुई है।[55] अन्य अवतारवादी नृत्यों में महाराष्ट्र के शंखासुर नृत्य का नाम लिया जा सकता है। शंखासुर नृत्य प्रायः केवल एक ही व्यक्ति द्वारा किया जाता है और कहीं-कहीं राधा के साथ इसका युगल रूप भी प्रचलित है।[56]

उपर्युक्त अध्ययन से यह स्पष्ट है कि भारतीय अवतारों का घनिष्ठ सम्बन्ध नृत्य कला से रहा है। शिव की तरह विष्णु भी नृत्य कला के अवतारक तो रहे ही हैं, शिव के भैरव अवतार की तरह श्रीकृष्ण ने भी विशिष्ट 'रास' नृत्य की अवतारणा की। धनंजयभट्ट ने 'दशरूपक' के आरम्भ में 'नटवर विष्णु' की स्तुति की है तथा 'पंतजलि महाभाष्य' में जिन 'बलि बन्ध' और 'कंसबंध' नाटकों की चर्चा हुई है, वे नृत्य नाट्य प्रतीत होते हैं। क्योंकि प्राचीनकाल से ही नाट्य और नृत्य में अन्योन्याश्रित सम्बन्ध रहा है। विष्णु से सम्बद्ध बहुत से ऐसे नृत्य नाट्य रहे हैं, जिनका शास्त्रीय और लोक दोनों रूपों में विकास हुआ।

सन्दर्भ

1. इस ग्रन्थ के आवरण पृष्ठ के चित्र में नटवर विष्णु की त्रिभंगी मुद्रा व्यंजित हुई है। यह मूर्ति चन्डेल मूर्तिकला की देन है।
2. इन डांस., पृ. 1।
3. डांस शिव, पृ. 87 (1956 सं.)।
4. अभि. द. को,।
5. डांस शिव, पृ. 88, 9।
6. डास. इन, पृ. 8, भा. सं. इति, पृ. 280।
7. दशरूपक (चौखम्भा सं., पृ. 1, 2)।

   नमस्तस्मै गशेशाय यत्कण्ठः पुष्टरायते। महाभागधनध्यामी भीलण्डस्व ताण्डवे।

8. विष्णु धर्मोत्तर पत्र 330, अ 34।
9. अभि. भा. पृ. 122 में नृत्य अंगहार से युक्त, रस एवं भावयुक्त क्रियामवी, सुन्दर वेष से युक्त एवं श्रृंगार रस से उत्पन्न होने वाली 'कैशिकी' वृत्ति मानी गई है और श्रृंगार का देवता भरत मुनि ने 'विष्णु' को माना है, जिन्होंने कैशिकी वृति को उत्पन्न किया था। अभि. भा. पृ. 126, अ.1, कारिका 44 कारिका 44-45 के पूर्व ना. शा. 20-13 का श्लोक उद्धत किया है जिसमें बताया गया है कि सुकुमारता से भरे हुए सुंदर अंगों का संचालन करते हुए विष्णु भगवान ने जब अपने सुंदर केशों को बाँधा उससे कैशिकी वृत्ति की उत्पत्ति हुई –

   विचित्रैरंगहारस्तु देवी लीला समन्वितैः।
   बबन्ध यत् शिखापाश कैशिकी तत्र निर्मिता॥

   इन तथ्यों से विष्णु के नर्तक रूप की भी सम्भावना उपस्थित हो जाती है।

10. अभि. द., पृ. 111. श्लोक 216-225।
11. विष्णु ध. तृतीय खण्ड अ. 32, पृ. 327।
12. सं. र., पृ. 634-7,7।
13. सं. र., पृ. 656-7, 237 के "प्रयोज्यौ तौ नृसिंहस्य दैत्यवक्षो विदारणे", से आभासित होता है।
14. स. र., पृ. 683

   वाम दक्षिणकावर्ती 'मूर्ध्नी' वा युगपत्कमात्।
   उर्ध्वाथोगण्डलाकार भ्रान्ती स्वस्तिक गौ पुनः॥
   वर्तनास्वस्तिकौ पार्श्वद्धेय मण्डल घूर्णितौ
   अभिमण्डल सम्पूर्णो यदा तु लुण्ठतः करौ॥
   आदि कूर्मावतारं तद्रे चकज्ञाः प्रचक्षते॥

15. सं. र., पृ. 708-7, 509, व्यत्तास्य स्योन्नताग्रा च वका नृहरि रूपणे।

16. सं. र., पृ. 738-7, 760 । कूर्मासन यद्यलगे भवेकूर्मालंग तदा।

17. सं. र., पृ. 740-7, 775।

उत्पलुस्य मध्यमावर्त्य वामाषांशेन मत्स्यवत्।

परिवर्तत चेन्मत्स्यकरणं वर्णितं तदा ॥

18. सं. र., पृ. 740-7, 782।

त्रिविक्रमाकारधारी स्थानमास्याय यत्र तु ।

वामावर्तभ्रमा दाहुस्तं छन्न भ्रमरी बुधाः ॥

19. डांस. इन, पृ. 30।

20. भा. नृ. क., पृ. 125।

21. डांस इन., पृ. 134।

22. विद्याभवन ज., पृ. 153, में 'मोहन खोकर' का निबन्ध द्रष्टव्य।

23. डांस इन., पृ. 136।

24. भा. नृ. क., पृ. 126।

25. वही, पृ. 28।

26. वही, पृ. 34-35।

27. वही, पृ. 54।

28. स्वरमेल कलानिधि पृ. 17-2, 4-5।

भगवानथ गोविन्दो गोपिका वृन्दवन्दिताः। वेणुगानरतो नित्यं नृस्यवाद्यविशारदः।

गोपिकामण्डले कृष्णो रासकीड़ा विलासकृत। गोपी गोपाल गोप्रीत्यै वेणुवादनमातनोत।

29. वि.पु., 5-13, 17।

30. वि.पु., 5-13, 23 में सर्वप्रथम यही "रासरम्भरसोत्सुक" का प्रयोग हुआ है।

31. वि.पु., 5-13-22-29।

32. वि.पु., 5, 13, 30-41।

33. वि.पु., 5-13, 56।

34. वि.पु., 5-13, 57।

गतेष्नुगमनं चक्रुवैलने सम्मुखं ययुः। प्रतिलोकानुलोमाभ्यां भेजुर्गोपांगना हरिम्।

35. डा. इन., पृ. 113।

36. भा. नृ. क., पृ. 127।
37. क्ला. डाँ. क. इन., पृ. 76।
38. भा. सं. इति., पृ. 280।
39. फ. डा. महारा., पृ. 54।
40. फ. डा. इन., पृ. 22।
41. अभि. द., पृ. 22।
42. डा. इन., पृ. 136।
43. फ. डा., इन. पृ. 69।
44. वही, पृ. 180।
45. वही, पृ. 137।
46. फ. डा. महा., पृ. 147।
47. फ. डा. इन., पृ. 38।
48. सम्भवतः हिन्दुस्तानी संगीत में प्रचलित 'रासेश्वरी' का इस रास से भी संबंध हो सकता है।
49. फ. डा. इन., पृ. 123।
50. फ. डा. महा., पृ. 109।
51. वही, पृ. 48, 108।
52. वही, पृ. 109।
53. फ. डा. इन., पृ. 161।
54. वही, पृ. 27-28।
55. वही, पृ. 116।
56. फ. डा. महा., पृ. 60।

3

भारतीय संस्कृति में भारतीय वेशभूषा एवं उनका विकास

भूमिका

कुछ वर्षों से भारतीय संस्कृति का नाम देश विदेशों में फैल रहा है और लोग उस संस्कृति के सब अंगों को जानने के लिए उत्सुक हैं। पर अभाग्यवश भारतीय संस्कृति का अर्थ अभी तक इस देश की गूढ़ विचारधाराओं और नाना मत-मतांतरों तक ही सीमित है। कला के लिए कला के सिद्धांत को लेकर हम भारतीय कला की समीक्षा करने में डरते हैं। कला की दार्शनिक पृष्ठिका भारतीय कला के उस महत उद्देश्य की अवहेलना करती है, जिसके अनुसार लोक जनित कला सब के जीवन और भावनाओं का प्रतिबिंब है और जिसके द्वारा रसानुभूति करने का सबको अधिकार है।

भारतीय जीवन और उसके अधिभौतिक साधनों से भी प्रेम करते थे। सुसज्जित महल, करीनेदार नगर, अनेक जातियों और वर्णों वाले दास-दासियों से युक्त राज सभाएँ, वादक और नर्तक, चमचमाते हुए गहने और अनेक तरह की वेशभूषाएँ और कपड़े, प्रसाधन के लिए अनेक प्रकार के गंध द्रव्य, ये सब भी तो भारतीय संस्कृति और जीवन के प्रतीक थे। दार्शनिकों को सभ्यता के इन बाह्य प्रतीकों में अस्थिरता भले ही दीख पड़ती हो, लेकिन सांसारिकता में पड़े हुए एक साधारण जन के लिए तो सभ्यता के ये प्रतीक सत्य और सुंदर दीख पड़ते हैं। सभ्यता के इन बाह्य प्रतीकों से हम इतिहास की सूखी हडिड्यों में जान डाल सकते हैं। इनसे मिले विवरणों की सत्यता हम पुरातत्व मूर्तियों और चित्रों से जाँच सकते हैं। भारतीय इतिहास के प्रत्येक युग में कपड़े पहनने का ढंग बदल जाता है। सिले कपड़ों का भी यही हाल है। कम से कम वैदिक युग से लेकर 7वीं सदी तक सिले कपड़ों के उल्लेख साहित्य में मिलते हैं और उनका अंकन भी बहुधा अर्ध-चित्रों और चित्रों में हुआ है। बात यह है कि उष्णता प्रधान देश में धोती चादर ही आरामदेह और स्वास्थ्यवर्धक पहरावा था और उसे लोग चाव से पहनते थे, पर इसके यह माने नहीं कि सिले वस्त्र कभी पहने ही नहीं जाते थे। स्त्रियाँ तो अकसर कंचुक

या चोली पहनती थीं। विदेशी सम्पर्क से सिले कपड़ों का इस देश में और अधिक प्रचार बढ़ा, पर जन-साधारण अपनी धोती चादर को कभी न छोड़ सका। इस बात को मानने का भी पर्याप्त कारण है कि बहुत प्राचीन काल के गंधार और पंजाब में लोग ठंड की वजह से सिले वस्त्र पहनते थे और इन सिले वस्त्रों में हम यूनानी, ईरानी और मध्य एशिया का काफी प्रभाव देखते हैं क्योंकि इन प्रांतों का उपरोक्त जातियों से बहुत प्राचीन काल से घनिष्ठ संबंध रहा और ऐसी अवस्था में दोनों में सांस्कृतिक आदान-प्रदान का होना स्वाभाविक था।

वेशभूषा के इतिहास में वस्त्रों का भी इतिहास आ जाता है, क्योंकि प्राचीन पहरावों में हमारी दिलचस्पी और बढ़ जाती है जब हम ठीक-ठीक जान लेते हैं कि वे किन कपड़ों से बनते थे और बड़े सादे होते थे अथवा नक्काशीदार। भारत के प्राचीन वस्त्र व्यवसाय के इतिहास के लिए भी ऐसी जाँच पड़ताल बहुत जरूरी है। उदाहरणार्थ अभी तक हम प्राचीन भारतीय वस्त्रों के इतिहास के लिए यूनानी लेखकों के ही आश्रित थे और उनसे भी हमें उन कपड़ों के भारतीय नाम नहीं मिलते। हमारा साहित्य इस कमी को बहुत हद तक दूर कर देता है। वैदिक, बौद्ध और जैन साहित्यों तथा आख्यायिकाओं और कोशों में वस्त्रों के ऐसे सैकड़ों नाम सुरक्षित हैं। इस वृहद साहित्य में आयी तालिकाओं और उनकी टीकाओं से उन वस्त्रों के केवल नाम ही नहीं, उनके विवरण भी मिलते हैं। साहित्य से यह भी पता चलता है कि देश के किन भागों और नगरों में अच्छे कपड़े बनते थे। इन तालिकाओं में सन और वल्कल के बने वस्त्रों के नाम आये और जिन्हें बहुधा साधु अथवा बहुत ही साधारण लोग पहनते थे। इनमें बहुत से चमड़ों और समूरों के नाम भी आये हैं। कृष्णाजिन ऐसे चमड़े तो ऋषि-मुनि पवित्रता के ख्याल से पहनते थे, पर दूसरे चमड़े तो लगता है इस देश के बाहर भेजे जाते थे, क्योंकि इस गरम देश में समूर अथवा चमड़ों के बने वस्त्र पहनना असंभव था।

प्रागैतिहासिक गुफा चित्रों से तो यही पता चलता है कि उस युग के लोग प्रायः नग्न रहते थे और नग्नत्व कोई बुरी बात नहीं मानी जाती थी। इस सम्बन्ध में हम कुछ प्राचीन सम्प्रदायों में नग्नत्व का उल्लेख कर देना चाहते हैं। बौद्ध साहित्य में तो ऐसे अनेक नंगे साधुओं के सम्प्रदायों का उल्लेख आया है जिनमें मुख्य जैन थे। लगता है उनका नग्नत्व उस प्राचीन समाज के नग्नत्व की ओर इशारा करता है जब शरीर ढँकने की भावना का उदय नहीं हुआ था। धीरे-धीरे जब सभ्यता ने आगे कदम बढ़ाया, तब समाज तो वस्त्रों का आदी हो गया, पर उसके धार्मिक गुरु नग्नत्व की प्राचीनतम प्रथा अपनाये रहे जो एक समय सर्वसाधारण का नियम था। वैदिक और बाद के साहित्यों में आये चमड़े, वल्कल और तृणों के वस्त्र भी उसी आदि सभ्यता की ओर संकेत करते हैं। बात यह है कि पूरा समाज एक साथ ही उन्नति के पथ पर अग्रसर नहीं होता। उसका कुछ भाग हमेशा पीछे रह जाता है और प्राचीनता को निभाये चलता है। इन्हीं पिछड़े लोगों के विश्वासों और आदतों से हम बहुत प्राचीन काल की सभ्यता का चित्र खींच सकते हैं।

सबसे पहले हमें भारतीय वेशभूषा का पता सिन्धु घाटी से मिली प्रागैतिहासिक सभ्यता से मिलता है। मोहनजोदड़ो और हड़प्पा की यह सभ्यता 3500 ई. पू. से लेकर 1500 ई. पू. तक

फली-फूली और इसका संबंध मध्य-पूर्व की सभ्यताओं से था। भौतिक सभ्यता के काफी आगे बढ़ने पर भी लोग बहुत ही खफीक कपड़े पहनते थे। बहुधा लोग नंगे रहते थे और अगर कपड़े पहनते भी थे तो वह लंगोटी या धोती छोटी तहमत होती थी। कभी-कभी लोग चादर ओढ़ लेते थे और अपने बाल फीते से बाँधते थे। स्त्रियाँ कभी-कभी पंखे के आकार का शिरोवस्त्र पहनती थीं।

स्त्रियाँ करधनी से बँधी लंगोटियां पहनती थीं। एक स्त्री एक धोती पहने दिखलाई गयी है। शिरोवस्त्र पंखाकार होते थे और लगता है फ्रेम पर चढ़े माड़ीदार कपड़े से बनते थे। इन शिरोवस्त्रों पर कभी-कभी अंलकार भी बने होते थे। कभी-कभी शिरोवस्त्र तिपाईनुमा होते थे। स्त्रियाँ कभी-कभी पगड़ी भी पहनती थीं।

तकुओं की फिरकियों के मिलने से पता चलता है कि लोग सूत कातते थे। एक वस्त्र के टुकड़े के वैज्ञानिक अध्ययन से पता चलता है कि लोग कपास से अवगत थे। इससे इस बात की भी पुष्टि हो जाती है कि काबुली भाषा का सिंधु और यूनानी भाषा का सिडोन शब्द सिन्धु देश के बने कपास के कपड़े के लिए ही थे। इस तरह कपास के कपड़े बनाने का श्रेय सबसे पहले इसी देश को मिलता है।

मोहनजोदड़ो के नष्ट होने (2500 ई. पू.) और आर्यों के भारत आने (1500 ई. पू.) के अन्तर में भारतीय सभ्यता की क्या अवस्था थी, इसका हमें पता नहीं है। जब इस अन्धकार युग का परदा उठता है तब हमें वैदिक सभ्यता का दर्शन होता है। वैदिक युग की सभ्यता एक युग की न होकर करीब हजार बरस में फैली है और उसमें भिन्न भिन्न स्तर मिलते हैं। लेकिन जहाँ तक वस्त्र भूषा का सम्बन्ध है, उसमें 800 बरस तक कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ। इस युग में विजेता आर्यों ने विजितों से बहुत से वस्त्र ग्रहण कर लिये फिर भी अपने निजी वस्त्रों के प्रति उनका मोह बना रहा। कातना और बुनना आर्य सभ्यता के मुख्य अंग थे।

बहुत प्राचीन युग में आर्य गोचर्म पहनते थे, पर बाद में गायों की आर्थिक उपयोगिता देखते हुए यह प्रथा छोड़ दी गयी। कृष्णाजिन बहुत पवित्र माना जाता था और यज्ञादि के अवसरों पर पहना जाता था। बकरों की खालें भी ओढ़ी जाती थीं। इस देश की जंगली जातियाँ और वात्य भी चमड़े के कपड़े पहनते थे। कपास का सबसे पहला उल्लेख 'आश्वलायन श्रौतसूत्र' में आया है। इसके कई कारण हो सकते हैं : (1) सिन्धु सभ्यता का आर्यों को ज्ञान नहीं था। पूर्वी भारत में आने पर उन्होंने कपास के कातने, बुनने से परिचय प्राप्त किया। (2) शायद अनार्य वस्त्र होने से आर्य इसके व्यवहार करने में हिचकिचाते हों, पर इसकी संभावना कम है।

महाजनपद युग, शिशुनागों और नंदों (642-320 ई. पू.) के समय में भारतीय सभ्यता और आगे बढ़ी। इस युग के इतिहास की सामग्री हमें जैन सूत्रों, बौद्ध पिटकों और ब्राह्मण सूत्र ग्रन्थों में मिलती है। इस युग की आर्य सभ्यता ग्रामों से निकलकर नगरों में पहुँच चुकी थी और देश का कला कौशल काफी आगे बढ़ चुका था। कपास, क्षोम, रेशम और ऊनी कपड़ों का काफी चलन था। जातकों में सुईकार (पेसकार), बेंत बिनने वालों (नलकार) और बुनकर (तंतुवाय)

के व्यवसायों को नीच कर्म कहा गया है। उपरोक्त भाव बौद्धों के नहीं हो सकते, क्योंकि बुद्ध तो जात-पात मानते ही नहीं थे, लगता है कहानियों में जाति-पाति की भावना वैदिक समाज की वर्ण व्यवस्था की द्योतक है। जैन सूत्र तो दरजियों, बुनकरों इत्यादि को शिल्पियों की श्रेणी में रखते हैं। इस युग में कपास की खूब खेती होती थी और बनारस की कपास मशहूर थी।

काशी में बहुत अच्छे कपड़े बनते थे। कहा जाता है कि बनारस के बने कपड़ों में बुद्ध का मृत शरीर लपेटा गया था। ये कपड़े नीले, पीले, लाल और सफेद होते थे तथा इनका पीस मुलायम होता था। ये कपड़े सूती होते थे। बनारस अपनी अच्छी रुई और धोने के पानी के कारण सूती कपड़ों के लिए मशहूर था। बनारस में रेशमी और ऊनी वस्त्र भी बनते थे। बनारस की अर्द्धी की एक जगह बड़ी प्रशंसा की गयी है। बहुत मामूली दरजे के कपड़े सन, भंगेला, फल के रेशे, कुश, बल्कल तथा एरगु, गोरगु और मज्जा नाम के तृणों से भी बनते थे। तरह तरह के चमड़ों का प्रयोग वस्त्र और बिछावन के लिए किया जाता था। मालूम तो यह पड़ता है, उस समय चमड़े बहुत उपलब्ध थे और दक्षिण पथ में तो चमड़े पहनने का काफी रिवाज था। जूते पहनने का भी काफी रिवाज था। इस युग में सिलाई की कला बहुत उन्नत हो चुकी थी और सिलाई सम्बन्धी बहुत से शब्द बौद्ध साहित्य में मिलते हैं।

मौर्य युग में भारतीय संस्कृति ने खूब उन्नति की। इस युग की वेषभूषा के इतिहास के लिए हमें साहित्य का सहारा लेना पड़ता है। क्योंकि इस युग की मिली मनुष्य मूर्तियाँ संख्या में बहुत ही कम हैं। इस युग की वेशभूषा और कपड़ों के इतिहास के लिए 'महाभारत' (सभापर्व) और कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' में काफी सामग्री है। इन ग्रन्थों से यह भी पता चलता है कि भारत और मध्य एशिया से काफी व्यापारिक सम्बन्ध था और अफगानिस्तान, बलख और ताजिकिस्तान से यहाँ रेशमी और ऊनी कपड़े, खालें तथा समूर आते थे। कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' में चमड़ों और समूरों की विशद व्याख्या है।

'महाभारत' में राजसूय यज्ञ के अवसर पर भारत के सीमा प्रान्त और बाहर से अनेक तरह के वस्त्रों के युधिष्ठिर के पास उपहार में आने का उल्लेख है। कम्बोज (आधुनिक ताजिकिस्तान) से ऊनी कपड़े, समूर और सुनहरे कपड़े, ऊनी चादरें, बेशकीमती दुशाले और कदली मृग की खालें आयीं। बलूचिस्तान के पारेसिंधु प्रदेश से बकरे और भेड़ों की खालें आयीं। चीन, हूण, शक, वाह्लीक और ओड देशों से ठीक नाप के खुशरंगीन और मुलायम वस्त्र, भेड़ के ऊनी कपड़े, पश्मीने, रेशमी कपड़े, नमद्रे तथा समूर आये। कंग, कलिंग, ताम्रलिप्ति से पुंड दुकूल और पत्रोर्ण के बने कपड़े और चादरें आयीं। ऐसा लगता है कि उपरोक्त प्रदेशों से भारत का इस काल में घनिष्ठ व्यापारिक सम्बन्ध था।

इस काल की भारतीय वेशभूषा का उल्लेख यूनानी इतिहासकारों ने भी किया है। उनके अनुसार भारत के लोग आधे पैर तक की धोती और चादर पहनते थे। ये वस्त्र कभी-कभी सुवर्ण और रत्न जड़ित भी होते थे।

मौर्य युग के अंतिम चरण और शुंगयुग की वेशभूषा का पता हमें यक्ष-यक्षिणियों की मूर्तियों और भरहुत के अर्ध-चित्रों से मिलता है। परखम का यक्ष आधे पैर की धोती छाती पर

सकरमृद्धी बड़ा दुपट्टा पहने है। धोती पैर तक भी पहुँचती थी और कमरबन्द और वैकक्ष्य पहनने की प्रथा थी। एक जगह अटपटी पगड़ी भी आयी है। स्त्रियाँ ऐड़ी तक पहुँचती साड़ी, कई लड़ों की करधनी, पटका और दुपट्टे पहनती थीं।

भरहुत के अर्ध-चित्रों में पुरुष सकच्छ धोती पहने हुए हैं, जो कभी आधे पैरों तक और कभी पूरे पैरों तक पहुँचती थी। धोती के साथ-साथ कमरबन्द, पटके, दुपट्टे और पगड़ियां पहनने की भी प्रथा थी। इस युग में दक्षिण भारत के पहरावे में कुछ अंतर था। शुंगयुग में पगड़ियाँ अनेक तरह से बाँधी जाती थीं। साधारण रीति से तो सिर पर बाल के जूट के चारों ओर पगड़ी के फेंटे बाँध लिये जाते थे। लट्टूदार साफा, कामदार साफा, झालरदार साफा पहने जाते थे।

भरहुत के अर्ध-चित्रों में सिले वस्त्र केवल दो जगह आये हैं। एक जगह एक राजा का अनुचर कोटनुमा वस्त्र पहने दिखलाया गया है और दूसरी जगह एक उत्तरापथ का आदमी बंददार कोट पहने है। इसके बाल एक फीते से बँधे हैं, कमर में धोती और पटका है। कभी-कभी शुंगकालीन मिट्टी की मूर्तियाँ भी कोट पहने दिखायी गयी हैं। सांची के स्तूप के अर्ध-चित्रों में जो शुंगकालीन हैं आधे और पूरे बाँह के कंचुक आये हैं।

भरहुत के अर्ध-चित्रों में स्त्रियाँ घुटने तक की साड़ियाँ पहने दिखलायी गयी हैं। साड़ियों पर कमरबंद, करधने और पटके होते थे। स्त्रियाँ कभी-कभी चादर और पगड़ी भी पहनती थीं। यक्षिणी चन्दा की वेशभूषा से एक शुंगकालीन संभ्रान्त नारी के पहरावे का पता चलता है। उसकी कमर में घुटने तक की धोती, सतलड़ी, करधनी और कामदार कमरबन्द है। सिर एक कामदार ओढ़नी से ढंका है। एक दूसरी यक्षी पतली साड़ी, सकरमुद्दीदार कामदार कमरबन्द, करधनी और योगपट्ट पहने है। यक्षी चूलकोका का पटका मार्के का है।

साधु कोपीन पहनते थे और उनकी स्त्रियाँ साड़ी और चादर। स्त्रियाँ रुमाल से सिर ढाँक लेती थीं अथवा कभी-कभी पगड़ी भी पहनती थीं। दक्षिण भारत की स्त्रियों की पोशाक भी प्रायः ऐसी ही होती थी, घुटनों तक की साड़ी, बक्सुएदार कमरबंद और चारखाने की ओढ़नी पहनने की प्रथा थी।

सांची के अर्ध-चित्रों में धोती सकच्छ और कभी-कभी विकच्छ होती है। दुपट्टे कई तरह से ओढ़े जाते थे। लोग प्रायः साफे बाँधते थे। साफे के फेंटे जूड़े के चारों ओर होते थे। साफे अलग-अलग ढंग के होते थे यथा नीची फेंट वाला साफा कुछ चूनन लिये, दाहिनी फेंट वाला साफा, मोती की लड़की से सजा साफा, लंबोतरे लट्टू वाला साफा, गद्दीदार साफा, तिरछा गोलुवेंदार साफा, ढोल के आकार कर लट्टू वाला साफा, शंखाकार साफा, चक्करदार पगड़ी, फिरहरीदार पगड़ी, लंबोतरी लट्टू वाली पगड़ी, पंखाकार पगड़ी, बेलन के आकार की पगड़ी, तीन लट्टुओं वाली पगड़ी।

टोपियाँ बहुधा विदेशी पहनते थे। स्त्रियाँ सकच्छ साड़ी और कमरबन्द पहनती थीं। मथुरा और कोसम से मिली मिट्टी की स्त्री मूर्तियाँ कंचुक पहने हुए हैं। इंडियन इंस्टिट्यूट म्यूजियम,

आक्सफोर्ड में एक ऐसी मूर्ति गहनों के सिवाय बिना बाँह का कंचुक जो केवल बायाँ कंधा ढकता है और कमरपेटी पहनती है। दुपट्टे एक या उससे अधिक हैं।

अजन्ता के 9-10 नं. की लेनों के भित्ति चित्रों में हलकी पगड़ी, अधबहियां कंचुक और अंग आते हैं। ईस्वी सन के प्रथम तीन सौ वर्षों में भारतीय जीवन और संस्कृति में काफी उन्नति हुई। इस युग में बृहत्तर भारत और मध्य एशिया में भारतीय उपनिवेश बने और भारत और रोम में रत्नों, गंध, द्रव्यों, स्फटिक के बरतनों और कपड़ों का कीमती व्यापार बढ़ा।

इस युग में भारतीय वेशभूषा के इतिहास की प्रचुर साम्रगी हमें गंधार की मूर्तियों और अर्ध-चित्रों से मथुरा की मूर्तियों से और अमरावती और गोत्ली के अर्ध-चित्रों से मिलती है। इस काल में उत्तर-पश्चिमी भारत में धोती, चादर, पगड़ी, साड़ी और ओढ़नी के सिवाय कंचुक, शलवार, टोपियाँ, जिरह बख्तर और पूरे बूट प्रचलित थे, जैसे ईरानी और मध्य एशिया के पहरावे में मिलते हैं। यहाँ हमें यूनानी वेशभूषा के भी दर्शन मिलते हैं। शक राजाओं की पोशाकों का पता सिक्कों से चलता है। इस युग में दक्षिण भारत में स्त्रियों और पुरुषों की वेशभूषा काफी सादी होती थी। दोनों ही मलमली कमरबन्द और धोतियाँ पहनते थे। पुरुष पगड़ी भी पहनते थे। सिपाही और द्वारपाल इत्यादि कंचुक पहनते थे और कभी-कभी उनके सिर पर कुलाहनुमा टोपी भी होती थी।

कुषाणयुग के साहित्य से कपड़ों और वेशभूषा पर विशेष प्रकाश नहीं पड़ता। वस्त्रों के वर्णन छिटपुट से हैं और उनके माने समझने में भी कठिनाई पड़ती है। इस युग के कपड़ों का अच्छा वर्णन 'पेरिप्लस आफ दि एरीर्थियनसी' नामक ग्रन्थ में आया है।

प्राक् गुप्तयुग में हमें भारतीय वेशभूषा का कम मसाला मिलता है। मथुरा से मिली इस युग की कुछ मूर्तियाँ तथा पवाय के अर्ध-चित्रों के बल पर हम उत्तर भारत की वेशभूषा का पता पाते हैं। दक्षिण भारत की वेशभूषा का गोत्ली के अर्ध-चित्रों में अच्छा प्रदर्शन है। खास गुप्त युग की वेश भूषा के इतिहास की साम्रगी हमें सारनाथ, देवगढ़, मंडारे इत्यादि से मिली मूर्तियों और अजन्ता के 17 नं. की लेन के भित्ति चित्रों में मिलती है। अजन्ता की लेन गुप्त साम्राज्य में नहीं थी, पर गुप्तयुग की कला स्थानिक न होकर देश के कोने-कोने में फैल चुकी थी और इस दृष्टि से अजन्ता की कला को गुप्त कला के अंतर्गत मानना ठीक ही है। गुप्तकालीन सिक्कों पर अंकित प्रतिकृतियों से भी तत्कालीन वेशभूषा पर काफी प्रकाश पड़ता है। इनसे पता लगता है कि गुप्तयुग के आरंभ में राजाओं की वेशभूषा शकों जैसी थी, वे कभी-कभी भारतीय वस्त्र भी पहनते थे, लेकिन इस युग के अंत में उनका पहरावा पूर्ण भारतीय बन गया। रानियाँ कंचुक और साड़ियाँ पहनती थीं। सिक्कों पर आये वस्त्रों के सूक्ष्म अध्ययन से यह भी पता लगता है कि गुप्त युग में भद्दे वस्त्रों में आकर्षण लाकर उन्हें भारतीय बाना दे दिया गया।

गुप्तयुग की मूर्ति कला में रस और आध्यात्मिकता को प्रोत्साहन देने से उसमें यथार्थवादिता की कमी आ गयी है। उसमें वेशभूषा का चित्रण रूढ़िगत आधारों पर हुआ है, इसलिए इस युग की मूर्तियों का महत्त्व वेशभूषा के इतिहास के लिए कम है, पर इस कमी को अजंता के भित्ति

चित्र पूरा करते हैं। अजन्ता के भित्ति चित्रों में तो बोधिसत्व धोती, दुपट्टा, कंचुक, पाजामा, पगड़ी, टोपी और जूते पहने दिखाये गये हैं। अजन्ता के भित्ति चित्रों में राजे और सामंत प्रायः धोती और वैकक्ष्य पहनते हैं, पर उनके मुकुट रत्न जटित और भारी भरकम होते थे।

अजन्ता के भित्ति चित्रों में हम मध्य एशिया, ईरान और सीरिया के लोगों की वेशभूषा के चित्रण भी पाते हैं। इन देशों से इस युग में भारत का व्यापारिक और सांस्कृतिक सम्बन्ध था। इनकी वेशभूषा का भारतीय वेशभूषा पर भी प्रभाव पड़ा और विशेषकर दास-दासियाँ सिले कपड़े पहनने लगे।

अजन्ता के चित्रों में हम दास-दासियों की वेशभूषा में काफी चटक-मटक पाते हैं। मामूली तौर से दासियाँ साड़ी, ढीला कमरबन्द और कमरपेटी पहनती थीं, लेकिन बहुत सी दासियाँ घघरिया और कंचुक भी पहनती थीं। इनके सिले वस्त्रों में कंचुक, कंचुक के उपर जाकेट, बदावदार आगे वाला कंचुक, फ्राकनुमा चोली, हंसदुकूल का बना पूरे बाँह का कंचुक, विचित्र तरह की टोपी के साथ कंचुक, कामदार टोपी, और कुलाहदार टोपी मुख्य हैं।

अजन्ता के भित्ति चित्रों में रानियाँ मुकुट पहने दिखलाई गयी हैं। जंगली स्त्रियाँ पत्तियों की बनी घघरी पहनती थीं। ग्रामीण स्त्रियाँ साड़ी पहने दिखलायी गयी हैं। नाचने बजाने वाली स्त्रियाँ धोती, वैकश्य और चोली, लंबा कंचुक जिसके ऊपर एप्रन जैसा वस्त्र होता था, घाघरा अथवा घघरी पहनती थीं। बाग के चित्रों में नर्तकी चाकदार कंचुक या जामा और रुमाल पहने हैं। एक बजाने वाली के कंधे पर रुमाल है। वे घाघरा और अधबहियाँ कंचुक भी पहनती थीं। अजन्ता से आये कपड़ों पर निम्नलिखित नक्काशियां मिलती हैं–पट्टियाँ और फूल पत्तियाँ और फूल की पंखड़ियाँ, फुल्ले, खिले फूल, पेचक, धारियों और तीर के फल पत्तियाँ, छोटे फूल इत्यादि।

प्रागैतिहासिक काल से सातवीं सदी तक की वेशभूषाओं और कपड़ों के वर्णन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि भारतीय वेशभूषा के इतिहास में भी एक विकास क्रम है, जिसके अनुसार समय-समय पर इसमें लोगों की रुचि के अनुसार और विदेशियों के संसर्ग से परिवर्तन होते आये। हमारा देश उष्ण प्रधान है और इसीलिए यहाँ सिले वस्त्रों को उतनी प्रधानता नहीं मिली जितनी कि ठंडे देशों में। कपड़े सिले न होने से उनमें एक सादगी है, पर मनुष्य की रुचि सर्वदा से बनाव-चुनाव की ओर अधिक रही है और इसीलिए हम इन सादे वस्त्रों में भी बनाव-चुनाव अधिक पाते हैं। शिरोवस्त्र और पगड़ियों के इतने प्रकार तो शायद ही और किसी देश में और किसी काल में मिलते हों। सारांश यह है कि अगर वेशभूषा के पैमाने से भी हम भारतीय सभ्यता को जाँचें तो भी वह किसी प्राचीन सभ्यता से कम नहीं रहेगी।

(क) सिंधु सभ्यता

सूती वस्त्र खण्ड के मिलने से यह विचार स्वाभाविक ही है कि मोहनजोदड़ो में भाँति-भाँति के वस्त्र पहने जाते रहे होंगे। लेकिन वस्त्रों के इतिहास के सम्बन्ध में जो कुछ भी सामग्री हमें मोहनजोदड़ो और हड़प्पा से मिली है उससे हमारी यह धारणा गलत सिद्ध होती है। एक मनुष्य

मूर्ति एक लंबी चादर पहने हुए है।[1] यह चादर छाती ढँकती हुई बाएँ कंधे पर डाल दी गई है, बायाँ हाथ खाली है। यह चादर काफी लंबी होती थी और बैठने पर पैरों तक पहुँच जाती थी। पत्थर की एक दूसरी मूर्ति एक तहमतनुमा कपड़ा पहने हुए है। बाएँ कंधे के नीचे एक अनिर्धारित रेखा से शायद चादर का तात्पर्य हो। अगर हमारा अनुमान ठीक है तो चादर दाहिने कंधे को ढँकतीं थी। लेकिन चादर पहिनने का यह ढंग अनियमित सा है क्योंकि अब तक मिली हुई मूर्तियों में चादर बाएँ कंधे को ही ढाँकती हुई दिखलायी गयी है, उनका दाहिना कंधा हमेशा खुला हुआ होता है।

यह कहना तो कठिन है कि आदमी चादर के नीचे धोती, लंगोटी या तहमत ऐसा कोई वस्त्र बराबर पहिना करते थे क्योंकि मनुष्य मूर्तियां प्रायः नंगी बतलायी गयी हैं लेकिन मुद्राओं पर चित्रित देवता और वीर पुरुष एक बहुत संकरा कोपीन पहने हुए दिखलाये गये हैं। हड़प्पा से मिले हुए एक ठीकरे पर बनी हुई मनुष्य मूर्ति[2] एक तंग मोहरी वाला पाजामा या धोती पहने हुए दिखलायी गयी है।

हड़प्पा और मोहनजोदड़ो से अभी तक जो सामग्री हमें मिली है उसके आधार पर यह कहना मुश्किल है कि सिंधु सभ्यता के लोग सिले हुए कपड़ों से अवगत थे अथवा नहीं। केवल एक मूर्ति कमीज जैसा वस्त्र पहिने हुए है जो कमर पर एक डोर से बँधी हुई है।[3]

बाल बहुधा फीते से बँधे होते थे। लगता है मनुष्य कभी-कभी नोकदार चपकी हुई टोपी भी पहनते थे। इस टोपी की नोक या तो फीते से बँधी हुई एक तरफ झुकती हुई दिखलाई गई है[4] या वह पेंचदार है।[5]

कभी कभी दुपट्टे की तरह का वस्त्र मनुष्य गले में पहने दिखलाये गये हैं। यह एक तरफ झुकता हुआ होता है।[6] बटन या ब्रूच से बँधा हुआ एक दुपट्टा प्रायः दोहरा होता था।[7] डा. मेके का यह अनुमान है कि यह दुपट्टा शायद किसी पद के अधिकार का अथवा किसी धर्म विशेष का द्योतक है।

स्त्रियों की वेशभूषा

मिट्टी की मूर्तियों में स्त्रियों के जो भी वस्त्र आते हैं वे काफी साधारण हैं। अगर गहने अलग कर दिये जाएं तो स्त्रियों के धड़ नंगे दीखते हैं। संकरी साड़ी घुटने के ऊपर पहुँचती है, इसे साड़ी न कह कर लंगोटी कहना बेहतर होगा। जंतरों पर बनी स्त्री मूर्तियाँ भी ऐसी ही लंगोटी पहने हैं। लेकिन इस लंगोटी का अगला भाग पिछले भाग की बनिस्बत काफी छोटा होता था। लंगोटी को कमर से बाँधने के लिए मेखला पहनी जाती थी। यह मेखला कई लड़, मनकों या सादे कपड़े की, जिसके छोर मिलाने के लिए एक चपकन होती थी, बनी होती थी। एक जगह मेखला किसी बुने कपड़े के फूंदने से बंधी दिखलायी देती है। कहीं-कहीं लंगोटी किसी गुलिका जैसे आभरण से भूषित दिखलायी गयी है। एक मिट्टी की मूर्ति में एक स्त्री धोती पहने

दिखलायी गयी है। इस धोती ने स्त्री के हाथ छिपा रखे हैं और वह लंगोटी के छोर के नीचे नहीं पहुँचती। डा. मेके का अनुमान है कि शरीर रक्षा के अतिरिक्त साधन के रूप में इसका व्यवहार हुआ है।[8]

स्त्रियाँ और पुरुष दोनों पंखे के आकार का एक शिरोवस्त्र पहनते थे। अभी तक इस बात का पता नहीं चल सका है कि उसके बनाने में कौन सा कपड़ा लगता था। डा. मेके का अंदाजा है कि शायद यह फ्रेम पर चढ़े मांडीदार कड़े कपड़े से बना हो। यह भी हो सकता है सिर पर की चादर का एक कोना बाँध कर इस शिरोवस्त्र का रूप खड़ा किया गया हो क्योंकि सांची में इन शिरोवस्त्र का रूप ऐसा ही बनाया गया है। जब यह शिरोवस्त्र दोनों तरफ दिवलीदार न होकर सादा होता था तो इस पर कुछ अलंकार होते थे। कभी-कभी इसके दोनों ओर वृत्ताकार अलंकार होते थे और कभी मनके की लड़ों और एक चोंगानुमा जलकर से इसकी सजावट होती थी।[9] कहीं-कहीं शिरोवस्त्र सीधा सिर पर रखा हुआ दीख पड़ता है और कहीं-कहीं वह पीठ पर गिरती चोटी से लगा हुआ और सिर से एक फीते से बँधा मालूम पड़ता है। दिवलीदार शिरोवस्त्र तो शायद देवी माता ही पहिनती थी। पशानी पर बँधे एक फीते के सहारे ये शिरोवस्त्र टिके रहते थे। शिरोवस्त्र में लगी दिवलियों में काजल ऐसे कुछ धब्बे मिले हैं जिनसे पता चलता है कि शायद इनमें किसी समय दीपक जलाये जाते थे। इससे यह भी सिद्ध होता है कि हाथ में या सिर पर दीप धारण किये हुए मध्यकालीन और आधुनिक दीपलक्ष्मी की मूर्तियों का स्रोत प्रागैतिहासिक काल में है।

कहीं-कहीं कुछ अजीब ढंग के शिरोवस्त्र भी मिले हैं। पंखे के आकार वाले इन शिरोवस्त्रों पर एक तिपाई सी दीख पड़ती है, यह तिपाई शायद किसी अलंकार की द्योतक हो। यह भी हो सकता है कि इस तिपाई का तात्पर्य किसी देवपीठ से हो। आजकल भी देवयात्राओं में स्त्रियाँ अपने सिरों पर देवपीठ लेकर चलती हैं। पगड़ी पहले हुए स्त्री मूर्तियाँ कम मिली हैं। लगता है स्त्रियाँ कभी-कभी ढीली टोपी भी पहिनती थीं।[10]

(ख) वैदिक युग

वैदिक साहित्य भारतीय सभ्यता के 1000 वर्षों से अधिक विकास के इतिहास का भण्डार है। लेकिन उसमें जो कुछ आया है उसे हम एक ही काल में नहीं ढूंढ सकते, उसमें ऐतिहासिक विकास की परम्परा दिखलाने के लिए हमें काल विभाजन का सहारा तो लेना ही होगा। जहाँ तक वस्त्र भूषा का सम्बन्ध है हमारी कठिनाई कुछ इसलिए सरल हो जाती है कि संहिताओं, ब्राह्मणों और उपनिषदों में आनुषंगिक रूप से वस्त्रों की जो भी चर्चा आई है उसमें एकता है जिससे यह पता चलता है कि जहाँ तक वस्त्रों का सम्बन्ध है वैदिक काल में करीब 800 वर्षों तक विशेष परिवर्तन नहीं हुआ। इसके दो कारण हो सकते हैं: (1) अपनी प्रारंभिक वेशभूषा के प्रति आर्यों का मोह क्योंकि वैदिक साहित्य के अध्ययन से यह पता चलता है कि आर्यों ने भारत में अपने पूर्व के निवासी द्रविड़ों और निषाद जातियों से कुछ वस्त्र ग्रहण किये थे। (2) इतिहास

में बहुधा यह देखा गया है कि किसी नवीन सभ्यता के सम्पर्क में आने से अथवा उससे विजित होने पर विजित सभ्यता विजेताओं के वस्त्र ग्रहण कर लेती थी। लेकिन वैदिक साहित्य के अध्ययन से पता चलता है कि न तो वे किसी बाहरी शक्ति से विजित हुए, न उनके विशेष सम्पर्क में आये। इसीलिए उनके अपने वस्त्र जिनमें उन्होंने देश काल के अनुसार सुधार भी कर लिये होंगे, ज्यों के त्यों बने रहे। वस्त्रभूषा की इस एकता को देखते हुए हमने सम्पूर्ण वैदिक युग को एक ही माना है और इसके काल विभाजन नहीं किये हैं।

ऊनी वस्त्र

आर्य कातने और बुनने के लिए भेड़ों का ऊन व्यवहार में लाते थे और इसीलिए भेड़ को वे ऊर्णावती[11] कहते थे और ऊन को आविक।[12] सिंधु की घाटी को सुवासा ऊर्णावती इसलिए कहा गया है कि वहाँ ऊन और ऊनी कपड़े बहुतायत से मिलते थे।[13] गंधार की भेड़ें प्रसिद्ध थीं[14] और जिस प्रदेश से रणवी (परूष्णी) बहती थी वहाँ का रंगीन अथवा धुला हुआ (सुन्ध्यवः) ऊनी कपड़ा प्रसिद्ध था। पूषण द्वारा ऊनी कपड़े बिनने का भी उल्लेख है।[15]

कम्बल और शामुल्य

कंबल[16] और शामुल्य[17] स्त्रियों और पुरुषों के नित्य के पहिनने के वस्त्र थे। कंबल से शायद खुरदरे ऊनी कपड़े का तात्पर्य रहा हो। प्रो. प्रिजलुस्की के मतानुसार[18] कंबल मुण्डा खमेर भाषा का शब्द है और वैदिक संस्कृत ने इस शब्द को उस भाषा से उधार लिया है। 'अर्थववेद' में सबसे पहले यह शब्द आने से यह धारणा होती है कि इस शब्द को आर्यों ने आदिवासियों से अधिक घनिष्ठता बढ़ने पर अपना लिया। शामुल्य समूर का बना कपड़ा होता था। पर शामुल्य के सम्बन्ध में डा. सुविमलचन्द्र सरकार[19] का और ही मत है। उनका विचार है कि शामुल्य रुई भरा कोई हल्का कपड़ा था। वे हमारा ध्यान इस ओर भी दिलाते हैं कि आधुनिक शमला जो एक संकरा शाल है, और जिसका व्यवहार पगड़ी पर के बन्द के लिए होता है और जिसकी व्युत्पत्ति अरबी शमिलात से जिसके अर्थ होते हैं जोड़ना, वास्तव में शामुल्य से निकला है। इस धारणा को सत्य मानने में कई कठिनाइयाँ हैं। शामुल्य को रुई से भरा वस्त्र मानने में संदेह होता है क्योंकि रुई का ज्ञान जैसा कि हम आगे चलकर देखेंगे, आर्यों को सूत्र काल में हुआ। शामुल्य तो समूर शब्द का प्राचीन रूप मात्र है जिसका अर्थ आजकल भी रोएँदार चमड़ा होता है। इसी अर्थ में इस शब्द का व्यवहार कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' में भी हुआ है।

खालों के वस्त्र

जानवरों की खालों का भी वस्त्ररूप में व्यवहार होता था। देवता, मुनि, व्रात्य और देश के आदि निवासी खालों से बने कपड़े पहनते थे। इस सम्बन्ध में 'शतपथ ब्राह्मण'[20] में एक कहानी

दी हुई है जिससे पता चता है कि वैदिक सभ्यता के आरंभिक युग में आर्य गोचर्म पहना करते थे। जब आर्यों की सभ्यता उन्नति के मार्ग पर आगे बढ़ी तो उन्हें गाय की आर्थिक उपयोगिता का ज्ञान हुआ और चमड़े के लिए व्यर्थ गो हत्या का निषेध करके वे और तरह-तरह के वस्त्र पहनने लगे।

कृष्णाजिन

'शतपथ ब्राह्मण'[21] की एक दूसरी कहानी से पता चलता है कि कृष्णाजिन बहुत ही पवित्र माना जाता था। कहानी यह है कि यज्ञ की आहुति एक समय मृग का रूप धारण करके देवताओं से बचने के लिए भाग गयी। देवताओं को जब इसका पता लगा तो उन्होंने उसे पकड़ कर उसकी खाल उतार ली। उसी दिन से कृष्णाजिन पर दीक्षा दी जाने लगी और यज्ञ की आहुति के लिए धान्य भी उस पर घोटा जाने लगा। यज्ञादिक कार्यों में मृगचर्म का व्यवहार विदित है। इसी बात को साबित करने के लिए ऊपर की कहानी गढ़ी गयी है। यह कहानी हमारी उस पूर्वकालीन संस्कृति की ओर भी इशारा करती है जब धार्मिक कार्यों में मृगचर्मों का प्रयोग बेधड़क होता था। आजकल भी धार्मिक कार्यों में मृगचर्म पवित्र माना जाता है।

बरासी

बरासी का उल्लेख सबसे पहले 'काठक संहिता'[22] में आया है। 'आश्वलायन श्रोत सूत्र'[23] और 'लाण्यायन श्रौत सूत्र'[24] के अनुसार बरासी वस्त्र सोमयाग में भाग लेने वाले नेष्ट्रिकों को दक्षिणा के रूप में दिया जाता था। 'आश्वलायन श्रौत सूत्र' के टीकाकार ने बरासी का अर्थ मोटे सूत का कपड़ा किया है।

इस कपड़े का उल्लेख 'अर्थववेद' भी में आया है।[25] पालि साहित्य में भी दुस्स नाम के कपड़े का उल्लेख आया है। आजकल धुस्सा जो दूर्श से निकला है एक तरह की खुरदरी ऊनी चादर का नाम है जो पंजाब और कश्मीर में बनती है।

क्षौम

क्षूमा अथवा अतसी की छाल के रेशे से बने हुए वस्त्र का सर्वप्रथम उल्लेख 'मैत्रायणी संहिता' और 'तैत्तिरीय संहिता' में आया है।[26] कुसुमी रंग के क्षौम परिधान का उल्लेख 'शांखायन आरण्यक'[27] में आया है। 'आश्वलायन श्रौत सूत्र'[28] के अनुसार क्षोम वस्त्र सोमयाग में नेष्ट्रि को दक्षिणा के रूप में दिया जाता था।

पांडव

'शतपथ ब्राह्मण' और 'मैत्रायणी संहिता'[29] के अनुसार पांडव वस्त्र यज्ञ के समय राजाओं

द्वारा पहना जाता था। 'बृहदारण्यक उपनिषद्'[30] में पांडवाविक वस्त्र का उल्लेख है। यह भेड़ के ऊन का बना हुआ सफेद वस्त्र होता था।

तार्प्य

तार्प्य का उल्लेख 'अथर्ववेद' तथा और कई जगह आया है।[31] 'कृष्ण यजुर्वेद' के अनुसार यज्ञ के अवसर पर यजमान को स्वयं तार्प्य पहनना पड़ता था। राजसूय यज्ञ के अवसर पर राजा तार्प्य वस्त्र, जिस पर यज्ञ के उपादानों के रूप कढ़े या टंके होते थे, पहनता था। सायण और कात्यायन ने तार्प्य के बहुत से अर्थ दिये हैं। यथा क्षौम, घी में डूबा वस्त्र, तृप नाम की घास से बना हुआ, अथवा तीन बार घृत में डुबोया हुआ वस्त्र इत्यादि। सत्य तो यह है कि तार्प्य का ठीक-ठीक अर्थ अभी हमें विदित नहीं है।

कार्पास

वैदिक संहिताओं और 'तैत्तिरीय ब्राह्मण'[32] में कार्पास का कहीं भी उल्लेख नहीं है। सबसे पहले कपास का उल्लेख 'आश्वलायन श्रौत सूत्र'[33] में आया है। इन उल्लेखों के अनुसार सोमयज्ञ के पोतृ को कपास का कपड़ा (कार्पास संवासः) दक्षिणा के रूप में दिया जाता था।

कताई बुनाई

कातने और बुनने का काम प्रायः स्त्रियों के जिम्मे था।[34] वैदिक साहित्य में बुनने की कारीगरी के बहुत से पारिभाषिक शब्द आये हैं। ओतु (बाना)[35], तंतु (सूत)[36], तंत्र (ताना)[37], बेवमन (करघा)[38], (प्राचीनतान आगे खिंचा हुआ ताना)[39], वाय (बुनकर)[40], मयूख (ढरकी या शीशे का वजन)[41] बुनाई सम्बन्धी शब्द हैं।

वैदिक वस्त्रों पर अलंकार

वैदिक युग में कपड़ों पर बहुधा कसीदे का काम बना होता थ। मरूत कारचोबी के काम वाले कपड़े पहनते थे।[42] हिरण्यान प्रति अत्कान कपड़ों में किनारे और झालरें भी होती थीं। सिच[43] शब्द से कसीदा किये हुए किनारे या झालर का बोध होता है। दो ऊपर नीचे के और दो बगल के किनारों का उल्लेख आया है।[44] वैदिक आरोका[45] से शायद कपड़े पर बने अलंकारों से मतलब है। डा. सरकार[46] का विचार है कि आरोकाः की व्युत्पत्ति तामिल अरूकणि से है जिसका अर्थ होता है कपड़ों के अलंकृत किनारे। यज्ञ के अवसर पर कोरे कपड़े[47] पहने जाते थे पर अन्य अवसरों पर धुले कपड़े (स्वित्यंच)।[48] सुनहले काम वाले रंगीन कपड़े ऊषा की श्रेणी वाली रंगीली स्त्रियाँ पहनती थीं।[49] व्रात्य गृहस्थ किनारेदार नीले कपड़े पहनने के शौकीन थे।[50]

कसीदे का काम

'यजुर्वेद' में पुरुषमेध में बलि देने जाने वालों में पेशकारी का नाम आया है।[51] 'ऐतरेय ब्राह्मण'[52] में निविदों को ऋचाओं का कसीदा अथवा पेशस कहा गया है। यहाँ जो उपमा दी गई है उससे कसीदे के बारे में कुछ प्रकाश पड़ता है। इस तरह का काम (पेशस) ताने के उपरी भाग (प्रवयण) तथा मध्य और निचले भाग (अवप्रज्जन) में किया जाता था। पेशस के इस विवरण से पता चलता है कि अलंकार कुछ बुने भी जाते थे और कुछ काढ़े भी।

वैदिक आर्यों का पहरावा

ऐसा मालूम पड़ता है कि वैदिक आर्य तीन कपड़े पहिनते थे यथा नीवि[53] (लंगोटी), वासस और अधवास[54] जो शायद आधुनिक दुपट्टे या चादर का प्रारंभिक रूप रहा हो। 'शतपथ'[55] में दिये हुए यज्ञ काल के पहरावे से उपरोक्त पहरावों का मेल खाता है।

शरीर के ऊपर पहनने के वस्त्र

पुरुष और स्त्रियाँ अपने शरीर के ऊपरी हिस्से को ढाँकने के लिए उपवसन, पर्याणहन, प्रतिधि, द्रापि और अत्क पहनते थे। उपवसन[56] जैसा कि वधू के वस्त्रों के सम्बन्ध में इसके उल्लेख से पता लगता है, दुपट्टे की तरह का कोई वस्त्र था। मुदगलानी के उपवसन[57] के हवा में पकड़ने के उल्लेख से यह बोध होता है कि यह उत्तरीय जैसा कोई वस्त्र था। डा. सरकार का अनुमान है पर्याणहन शायद लंबी-चौड़ी हल्की चादर की तरह कोई वस्त्र था।[58] अधिवास राजाओं का ऊपरी वस्त्र था।[59] प्रतिधि[60] एक या दो कपड़े की छीरों से बना स्तनपट्ट था जिसे विवाह के समय कन्या पहनती थी। शायद यह सीधे अथवा तिरछे ढंग से स्तनों को ढाँकने के लिए पहना जाता था।

वैदिक साहित्य में सिले कपड़े

इन बेसिले कपड़ों के अतिरिक्त वैदिक साहित्य में सिले कपड़ों के भी उल्लेख हैं। अत्क[61] शब्द का व्यवहार पहनने के कपड़े के अर्थ में 'ऋग्वेद' में आया है। अत्क केवल पुरुष पहनते थे और यह लंबा, पूरा शरीर ढँकने वाला, चमक कर बैठने वाला, चमकीला सुन्दर कारचोबी किया हुआ अथवा सोने के तार से बुना हुआ एक वस्त्र था। उपरोक्त विवरण से अनुमान किया जा सकता है कि यह अचकन या कुरते के आकार का कोई वस्त्र था।

उष्णीष या पगड़ी

उष्णीष शब्द का पगड़ी के अर्थ में प्रयोग सबसे पहले 'अथर्ववेद'[62] और 'पंचविंश ब्राह्मण' के व्रात्य प्रकरण में आया है। 'ऐतरेय' और 'शतपथ' में इस शब्द का प्रयोग राजाओं और व्रात्यों के पहरावों के सम्बन्ध में आया है।

यज्ञ के अवसर पर नये कपड़े पहनने की प्रथा

यज्ञ के अवसर पर नये वस्त्र धारण करने की प्रथा थी। 'शतपथ' के अनुसार यह वस्त्र शुद्ध माना जाता था। यज्ञ का वस्त्र बिना कुंदी किया हुआ (आहत) होता था। प्रति प्रस्थातृ इसलिए इसे अच्छी तरह पीटता था कि स्त्रियों द्वारा कातने (आकृणति) और बुनने (वयति) में जो दोष वस्त्र में आ गये हों वे इस क्रिया से निकल जाएँ और वस्त्र यज्ञ के लिए शुद्ध हो जाएँ।

भारतीय राजाओं की वेशभूषा

यज्ञ विधि में जो सोम के कपड़ों का वर्णन 'शतपथ' में आया है वही पहरावा तत्कालीन भारतीय राजाओं का था। पूरी पोशाक में उपनहन (शायद धोती की तरह कोई कपड़ा) अथवा, पर्याणहन (चादर) और पगड़ी (उष्णीष) होते थे। पगड़ी न होने पर दो तीन अंगुल चौड़ी पट्टी से भी काम चल सकता था। राजसूय यज्ञ के समय तार्प्य पहनने के बाद राजा एक सफेद ऊनी कपड़ा (पाण्डव) पहनता था। इसको वह एक चादर (अधिधारा) से अपने को ढँकता था और इसके बाद उष्णीष के छोर सामने की तह में खोंस लेता था। उष्णीष ठीक-ठाक कैसे बाधा जाता था इसके सम्बन्ध में टीकाकारों का एक मत नहीं है।

यज्ञ के अवसर पर स्त्रियों की वेशभूषा

यज्ञ के अवसर पर अध्वर्यु यजमान की पत्नी की कमर में एक रस्सी बाँधता था (योक्त्रेण सन्नहयति)।[63] 'शतपथ' के अनुसार इस क्रिया का लाक्षणिक अर्थ यह था कि स्त्री के नाभि से नीचे शरीर का भाग अपवित्र माना जाता था। यह रसना अधिवास के उपर बाँधी जाती थी। ऐसा करने से स्त्री में पवित्रता कैसे आ जाती थी इसे 'शतपथ' में बहुत घुमा फिरा कर समझाया गया है। 'शतपथ' के अनुसार वस्त्र वनस्पति के प्रतीक हैं और रस्सी वरुणपाश की प्रतीक है और इसीलिए स्त्री की रक्षा के लिए उसके शरीर और वरुणपाश के बीच में औषधि यानी वस्त्र रखे गये हैं। संभवतः इस मंत्र में रसना के जादू भरे गुण और वस्त्रों के रक्षक शक्ति की ओर इशारा किया गया है।

व्रात्यों की वेशभूषा

व्रात्य आर्यों के समाज से बहिष्कृत जन थे या इस देश के आदिवासी जिनके धार्मिक और सामाजिक विचार आर्यों से भिन्न थे। 'पंचविंश ब्राह्मण' में प्रायश्चित के बाद इनके पुनः आर्य संस्कृति में लाये जाने का उल्लेख है। इसी प्रकरण में व्रात्यों के वस्त्रों पर भी कुछ प्रकाश डाला गया है। व्रात्यों के गृहपति उष्णीष, काली गोट वाला कपड़ा (कृष्णसंवासः), बकरे की एक सफेद और दूसरी काली खाल (कृष्णावलक्षे अजिने) पहनते थे। इनके पास चाबुक (प्रतोद), बिना बाण वाले धनुष (शायद नावक के तीर या ब्लो पाइप से मतलब हो) और तख्तों के बने रथ (विपथश्च

फलकास्तीर्ण:) होते थे। इनके गले में निष्क नाम की मालाएँ होती थीं।[64] इन गृहपतियों के अनुयायी व्रात्यों के वस्त्रों के किनारे (वलूकान्तानि) लाल होते थे और उनसे निकली छीरें बटी हुई होती थीं (दामतुषाणि)। वे जूते पहनते थे और बकरे की दो जुड़ी हुई खालें ओढ़ते थे।

(ग) बौद्ध युग

बौद्ध भिक्षु और भिक्षुणियों के वस्त्र

बौद्ध भिक्षु और भिक्षुणियों के वस्त्र प्राय: एक से होते थे। पीले रंग में रंगे इनके वस्त्रों की संख्या तीन होती थी यथा संघाटी अर्थात् कमर में लपेटने की दोहरी तहमत, अंतरवासक अर्थात् शरीर के ऊपरी भाग ढँकने का वस्त्र और उत्तरासंग अर्थात् चादर।[65] इनके सिवाय बैठने के लिए आसन (प्रत्यस्तरण), खुजली होने पर पहनने के लिए चार बित्ता लंबा और दो बित्ता चौड़ा कोपीन (कंडूक प्रतिच्छादन)[66], वर्षा काल में पहनने के लिए एक वस्त्र (वार्षिक साटिक) जो छ: बित्ता लंबा और ढ़ाई बित्ता चौड़ा होता था, उनके लिए विदित थे। भिक्षु आयोगपट्ट[67] (बैठने पर दोनों घुटनों और पीठ के जोड़ने के लिए एक पट्टी) भी व्यवहार में लाते थे। इनके कमरबन्द (कायबंध) सादी और फेदार बुनावट की पट्टियों से बुनते थे। इन कायबंधों के किनारे फटने के डर से उलट कर सीं दिये जाते थे। इसके किनारों पर लगी पट्टियों को शोभक कहते थे, और इन पर की हुई बरफीदार तगनी को गुणक। कायबंधों में हुक (वीठ) भी लगते थे और ये वीठ सदा हड्डी, शंख और डोरे के बने होते थे, भिक्षुओं के लिए सोने चाँदी के वीठ वर्जित थे। भिक्षु अपने वस्त्रों में तुफ (पासक) और मेख (घुंडी) लगा सकते थे। मेख हड्डी, सूत और शंख के बने होते थे सोने चाँदी के नहीं। भिक्षु कंचुक नहीं पहन सकते थे।[68] वे लहरियादार लंबे, कसीदेदार, सर्प फनाकार, तथा पंजक युक्त किनारों का वस्त्र नहीं पहन सकते थे क्योंकि ऐसे वस्त्र केवल सर्वसाधारण ही पहन सकते थे।

करघे और उनके भाग

ऐसा मालूम पड़ता है कि बौद्ध युग के आरंभिक युग में बौद्ध भिक्षुओं को कपड़े बिनने की स्वतंत्रता थी। इसी प्रकरण में करघा (तंतक), ढरकी (बेमक), टट्टी (शलाका) और डोर (वट्ट) के नाम आये हैं।[69] जहाँ तक मुझे पता है कम से कम किसी भारतीय धर्म ने साधुओं और भिक्षुओं को कपड़े बुनने की स्वतंत्रता नहीं दी है। बुनाई की आज्ञा देकर बौद्ध धर्म अपनी प्रगतिशीलता का परिचय देता है।

बौद्ध भिक्षुणियों के वस्त्र

बौद्ध भिक्षुणियाँ संघाटी, अंतरवासक और उत्तरासंग के अतिरिक्त कंचुक भी पहन सकती थीं। एक जगह इस बात का उल्लेख है कि बिना कंचुक पहने गाँव में जाने वाली भिक्षुणियों

के लिए प्रायश्चित का विधान था।[70] यह कहना कठिन है कि इस युग में कंचुक का आकार चोली जैसा होता था या कुरते जैसा, पर शुंग काल की मिट्टी की मूर्तियों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि शायद कंचुक कुरते जैसा था। भिक्षुणियाँ एकांत में कटिसूत्र से बँधा लंगोट जैसा एक वस्त्र पहनती थीं। यह लंगोट डेढ़ फुट लंबे और छः इंच चौड़े एक तिकोने कपड़े से बना होता था और कमर से बाँधने के लिए एक डोरी लगती थी।[71]

जैन साधुओं के वस्त्र

'आचारांग सूत्र'[72] के अनुसार जैन साधु केवल तीन वस्त्र ग्रहण कर करते थे, इनमें दो तो क्षोम की धोतियाँ (क्षोम कल्प) होती थीं और एक ऊनी चादर (औणिक कल्प)। खीलांक अपनी टीका[73] में कहते हैं कि जाड़ों में जैन साधु ढाई हाथ वर्ग गज की दो कोपीनें और एक ऊनी वस्त्र ग्रहण कर सकते थे। जिस अवस्था में कपड़े साधुओं को मिलते थे उसी अवस्था में वे उन्हें पहन सकते थे। जैन साधु अपने कपड़े धो, रंग नहीं सकते थे। जाड़ा बीत जाने पर साधु शोमसाटी भी पहन सकते थे।[74] जिन कल्पधारी साधु हमेशा नंगे रहते थे।

साधारण लोगों की वेशभूषा

गृहस्थों के पहरावे में तीन कपड़े होते थे यथा धोती (अंतरवासक), दुपट्टा (उत्तरासंग) और पगड़ी (उष्णीष) और पुरुष कंचुक पहनते थे। शायद यह कुरता जैसा कोई वस्त्र रहा हो, लेकिन यह कहना मुश्किल है कि यह वस्त्र आगे से खुला रहता था अथवा बन्द।

स्त्रियां साड़ी भी पहनती थीं जो काफी मजबूत होती थीं। रानियाँ अमूनन साड़ियाँ पहना करती थीं और इसे सट्ट साट्टक कहते थे। बौद्ध साहित्य से यह पता नहीं चलता कि उस समय साड़ी पहनने का क्या तरीका था।

आकर्षक ढंग से कपड़े पहनने की प्रथा

बौद्ध साहित्य से पता चलता है कि लोग अपने कपड़े बड़े शौक से सँवार बना कर पहनते थे। वैशाली के नागरिक कपड़ों के बड़े शौकीन थे। 'महापरिनिब्बाण सुत्त'[75] में कहा गया है कि यह समाचार पाकर कि बुद्ध अंगपालिका के यहाँ पधारने वाले हैं वैशाली के नागरिक आतुरतापूर्वक उनसे मिलने चले। उन्होंने अपने शरीर के रंगों से मेल खाते हुए वस्त्र और आभूषण धारण कर रखे थे। सांवले रंग के आदमी गहरे रंग का वस्त्राभूषण पहिने थे, साफ रंग के लोग हल्के कपड़े और गहने पहने थे। स्त्रियाँ भी अपने बनाव श्रृंगार में रंगों के मिलान पर बड़ा ध्यान देती थीं। जातकों में एक जगह कहा गया है[76] कि विरुपाक्ष की पुत्री कालकण्णी ने सुचिपरिवार नामक सेट्ठी से मिलते समय नीले रंग का वस्त्र, नील विलेपन और नील मणियों से अपना श्रृंगार कर रखा था। लेकिन श्रेष्ठी को यह रंग विन्यास पसंद नहीं आया और उसने अपनी राय कालकण्णी से साफ-साफ कह दी।

मनुष्य के पहिरावे में जूतों और पादुकाओं का एक विशेष स्थान होता था। एक जातक में कहा गया है कि शरीर की रक्षा और आराम के लिए जूतों का खरीदना आवश्यक था।[77] जूते आकार और रंग में भिन्न-भिन्न प्रकार के होते थे। जूते एकतल्ले (एक चलांसिक), दोतल्ले (द्विपटल), तिनतल्ले (तिपटल) और चौतल्ले होते थे। जूते नील, लोहित, मंजीठ, कृष्ण, नारंगी (महारंग) और पीले (कुरुदिय) चकड़ों से बनाये जाते थे। जूतों में रंग-बिरंगे किनारे भी लगाये जाते थे। ऐसे रंग--बिरंगे तथा अनेक तल्ले वाले जूते केवल गृहस्थ पहन सकते थे। भिक्षु केवल एक तल्लेवाले जूते पहन सकते थे। लेकिन अनेक तल्ले वाले पुराने जूते पहने जा सकते थे।[7८]

(घ) मौर्य, शुंग और शक, सातवाहन काल

इस काल की वेशभूषा के अध्ययन के लिए जो सामग्री उपलब्ध है उसमें अधिकतर शुंगकाल और बाद के अर्धचित्र हैं। इसीलिए मौर्यकाल की वेशभूषा के इतिहास के लिए हमें साहित्य का ही सहारा लेना पड़ता है। इस युग के वस्त्रों के इतिहास के लिए हमें 'अर्थशास्त्र', मेगस्थनीज की 'इंडिका' और 'महाभारत' के सभापर्व के कुछ अंशों से काफी सहायता मिलती है। उपरोक्त ग्रंथों के अध्ययन से पता चलता है कि जातक कथाओं और 'विनय पिटक' में वर्णित भारतीयों वेशभूषा इस युग में भी चालू रही। लेकिन इस युग की वेशभूषा में हम कुछ बाहरी पहरावों को भी देखते हैं जिनसे पता चलता है कि भारतीयों का इस युग में विदेशियों से काफी संपर्क रहा। इस युग में ऐसे वस्त्रों के भी उल्लेख आए हैं जो बलख, ताजिकिस्तान और चीन से आते थे। इन सब से यह पता चलता है कि भारतीयों का विदेशियों से राजनैतिक और व्यापारिक संबंध था और इस युग में भारतीय अपने देश की चहारदीवारी से बाहर निकल कर अपनी सभ्यता और व्यापार का प्रसार कर रहे थे।

विदेशों से आने वाले कपड़े

हम उधर कह आए हैं कि मौर्य काल में भारतवर्ष में वस्त्रों के नाम उनके प्राप्ति स्थान पर भी पड़ जाते थे। पर कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' में इस बात का कम उल्लेख है कि भारतवर्ष की आधुनिक सीमा के बाहर से यहाँ कौन से कपड़े आते थे। 'महाभारत' के सभा पर्व से इस प्रश्न पर काफी प्रकाश पड़ता है। युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ के अवसर पर भारतवर्ष के अनेक गणतंत्र और राजे तथा उसके सीमा पर बसने वाली जातियाँ उपहार लेकर आईं। इन उपायनों में उन प्रदेशों के बने वस्त्र भी थे जिनसे पता चलता है कि ई.पू. भारत में विदेशों से अच्छे से अच्छे कपड़े आते थे और भारत, चीन, और अफगानिस्तान का व्यापारिक संबंध बहुत प्राचीन काल से चला जा रहा है। अब हमें देखना चाहिए कि किन-किन देशों से यहाँ वस्त्र आते थे।

कम्बोज देश के कपड़े

प्राचीन कम्बोज की पहचान सोवियत रूस में स्थित ताजिकिस्तान से की जाती है। यहाँ से भेड़ के उपर और लोमड़ी के रोएँ से बने और सुनहले काम किए हुए वस्त्र (ऐडश्चिैलान वार्षदेशान जातारूपपरिष्कृतान)[79], ऊनी चादरें और चमड़े (प्रावारा-जिन मुख्यांश्च), बेशकीमती दुशाले (पराध्यान पिकवलान) और कदलीमृग की खाल (कदली मृगमोकानि), राजसूय यज्ञ में आईं। कदलीमृग का उल्लेख कौटिल्य ने किया है।

परिसिंधु देश के कपड़े – बलूचिस्तान के वाशिंदे राजसूय में अपने देश से कंबल और बकरे और भेड़ों की खालें लाए।

वाहणीक और चीन के बने वस्त्र[80]

ये वस्त्र ठीक नाप के, खुशनुमा रंग वाले और स्पर्श करने में मुलायम होते थे (प्रमाण रागस्पशीढयं)। उपरोक्त देशों से भेड़ के ऊन, पशम (रांकव), रेशम (कीटज) और पट्ट (पट्टज) के बने कपड़े भी आए। इस काल में भारतीय चीनी रेशम के वस्त्र से भी अवगत हो चुके थे। इतने प्राचीन काल में चीन के रेशमी कपड़े भारत में आने से हमें आश्चर्य न होना चाहिए। मध्य एशिया के प्राचीन पथ पर बने हुए एक चीनी रक्षागृह से मिला हुआ एक रेशमी थान जिस पर ई.पू. पहली शताब्दी की ब्राह्मी में एक पुरजा लगा हुआ था इस बात का द्योतक है कि चीनी रेशम कपड़े की खोज में भारतीय व्यापारी चीन की सीमा तक इतने प्राचीन काल में पहुँच चुके थे।[81]

मध्य एशिया और अफगानिस्तान के दूसरे कपड़े

उपरोक्त देशों से उपायनरूप में नमदे (कुट्टीकृत)[82] कमल के रंग के हजारों ऊनी कपड़े, मुलायम रेशमी कपड़े तथा मेमनों की खालें भी आईं। आजकल भी पूर्वी अफगानिस्तान की मेमनों की खालें मशहूर हैं। चीनी कपड़े और समूरों की ख्याति ईसा की पहली शताब्दी तक थी।

यूनानी लेखकों के अनुसार भारतीय वेशभूषा

हम अनेक प्रकार के वस्त्रों का वर्णन 'अर्थशास्त्र' के आधार पर कह आए हैं, पर उस समय की वेशभूषा क्या थी इसका उल्लेख हमें यूनानी ऐतिहासिकों से मिलता है। एरियन[83] का कहना है कि भारतवासी सूती कपड़े पहनते थे और उनकी धोती आधे पैर तक पहुँचती थी। उनके सिर पर पड़ी चादर उनके कंधों को ढँकती थी। स्त्राबों[84] के अनुसार भारतीय क्षोम और कपास के बने सफेद कपड़े पहनते थे। भारतीयों के वस्त्र हमेशा सादे नहीं होते थे, इसका पता

स्त्राबों के एक दूसरे उल्लेख से, जिसमें कहा गया है कि भारतीयों के वस्त्र सुनहरे काम वाले और रत्नजटित भी होते थे, लगता है।

शुंग युग की वेशभूषा (ई.पू. दूसरी सदी)

मौर्ययुग के अंत और शुंगयुग के आरंभिक वेश-विन्यास पर परखम और बरोदा (मथुरा म्यूजियम) से मिली यक्षमूर्तियों और दीदारगंज की यक्षिणी मूर्ति से काफी प्रकाश पड़ता है। इन मूर्तियों का समय विवादास्पद है पर ऐसा माना जाता है कि शायद ये मूर्तियाँ मौर्य युग के अंतिम चरण अथवा शुंगयुग के आरंभ में बनी हों। ई.पू. पहली, दूसरी शताब्दियों की वेशभूषा पर पूरा प्रकाश भरहुत और सांची के अर्धचित्रों से पड़ता है।

परखम की यक्षमूर्ति (आ. 13)[85] एक धोती पहने है जो आगे चुन्नटदार है। धोती कमरबंद से बँधी है जिसके दोनों छोर घुटनों पर लटकते दिखलाए गए हैं। एक दुपट्टा छाती पर बँधा है जिसका फंदेदार छोर पेट पर लटक रहा है। बड़ोदे की यक्ष मूर्ति भी ऐसा ही दुपट्टा पहने दिखलाए गई है।

इंडियन म्यूजियम की यक्षमूर्तियाँ जिन्हें भी मजूमदार ने[86] मौर्यकाल की ठहराया है परखम यक्ष जैसा ही कपड़ा पहने हैं। धोती फंदेदार कमरबंद से बँधी है जिसके दो फंदेदार छोर सामने लटक रहे हैं। पिछली ओर धोती जमीन तक पहुँचती है लेकिन अगली ओर नंगे पैर दिखलाने के लिए वह जरा उठी हुई दिखलाई गई है। एक चौड़ा दुपट्टा (वैकक्ष्य) बाएँ कंधे से होकर दाहिने नितम्ब तक पहुँचता है। कंकण के पास यह फंदेदार है और पीछे लहराता हुआ है।

उपरोक्त यक्ष मूर्तियाँ पगड़ी नहीं पहने हैं लेकिन इसी काल का सारनाथ से मिला एक सिर मुगलों जैसी अटपटी पगड़ी पहने है। (आ. 15)[87]

मौर्य युग के अंतिम युग में स्त्रियों की वेशभूषा का पता बेसनगर और दीदारगंज से मिली यक्षिणियों की मूर्तियों से लगता है। दीदारगंज की यक्षी एड़ियों तक पहुँचती एक साड़ी, जिस पर एक पंचलड़ी करधनी पहने है। साड़ी से खोंसे हुए पटके का जिसे बौद्ध साहित्य में पत्रसुका कहा गया है, एक छोर फंदेदार है। एक बटा हुआ दुपट्टा लटक रहा है। (आ. 16) बेसनगर[88] की यक्षिणी मूर्ति घुटने के जरा नीचे पहुँचती हुई साड़ी और उसके ऊपर एक पंचलड़ी करधनी और फंदेदार कमरबंद जिसका एक फंदा नीचे लटक रहा है, पहने हुए है। साड़ी में खुसे हुए पटके में चूंदन हुई है।[89] (आ. 17)

शुंग युग में पुरुषों की वेशभूषा

भरहुत (ई.पू. 135-150) के अर्धचित्रों में हमें तत्कालीन भारतीय वेशभूषा का एक अच्छा चित्र मिलता है। आदमी धोती पहनते थे जिसका एक छोर कमर में लपेट लिया जाता था और लांग पीछे खोंस ली जाती थी। भरहुत के अर्धचित्रों में धोती, घुटनों के जरा नीचे और पैरों के मध्य भाग तक पहुँचती दिखलाई गई है। धोती बिना किसी अलंकार के सादी होती थी।

शुंग युग की पगड़ियाँ

शुंग युग में पगड़ी दो तरह से बाँधी जाती थी। एक में (आ. 23) बालों का सिर पर जूड़ा बाँध दिया जाता था और पगड़ी के दो फंदे मस्तक के ठीक बीच से ले जा कर जूड़ा ढँक दिया जाता था और उसके दोनों छोर खोंस दिए जाते थे। भारी पगड़ी में पूरा सिर ढँक दिया जाता था।

स्त्रियों की वेशभूषा

भरहुत के अर्धचित्रों में स्त्रियाँ पुरुषों की तरह धोती अथवा साड़ी पहने दिखलाई गई हैं। आधुनिक साड़ी तो ऐड़ी तक पहुँचती है पर भरहुत के अर्धचित्रों में शायद ही कभी यह घुटनों के नीचे पहुँचती है, इसमें चूनन भी होती है। साड़ी भारी भरकम करधनी और कमरबंद से बँधी होती है। इस कमरबंद के फुदनेदार किनारे एक ओर लटकते हैं। कमरबंद से खुंसे दोनों पैरों के बीच में लटकते पहनने की भी प्रथा थी। स्त्रियों के शरीर का ऊपरी भाग पटका मनके पिरोकर भी बनता था। स्त्रियों के शरीर का ऊपरी भाग खुला हुआ दिखलाया गया है पर यक्षिणी चंदा के दाहिने स्तन के नीचे एक मलमली चद्दर की तह के निशान हैं। उनके सिर एक ओढ़नी से ढँके होते थे जो कामदार होती थी। स्त्रियां कभी-कभी लीलावश पगड़ी भी पहन लेती थीं।

साधुओं की वेशभूषा

साधु चादर और कोपीन पहनते थे। (आ. 58)[90] उनकी स्त्रियाँ चादर, साड़ी और एक शिरोवस्त्र पहनती थीं। (आ. 59)[91]

स्त्रियों के शिरोवस्त्र

भरहुत के एक अर्धचित्र में दो स्त्रियाँ रुमालों से अपने सिर ढँके हुए हैं। (आ. 60-61) एक तीसरी स्त्री पगड़ी पहने है। (आ. 62)[92]

शुंग युग में दक्षिणी स्त्रियों की वेशभूषा

दक्षिण भारत में एक उच्चकुलीन नारी की ई.पू. दूसरी सदी की वेशभूषा का पता हमें अगय्यपेट (गुंटुर जिला) से मिली एक यक्षी की मूर्ति से मिलता है।[93] साड़ी केवल घुटने तक पहुँचती है। पैरों में भारी पाजेब है। करधनी लंबोतरे और चिपटे मनकों की दो लड़ी से बनी है। कमरबंद दो बक्सुओं के बीच से ऐसे निकाला गया है जिससे एक ओर तो फंदेदार छोर लटक रहा है और दूसरी ओर कमरबंद के दोनों छुट्टे सिरे जिनमें लंबी छीर पड़ी हुई है। गले में केवल तौक है और कानों में कुंडल। चारखानेदार ओढ़नी से सिर ढँका है। इसके किनारे पर खानों में फुल्ले बने हैं जो एक-दूसरे से जुड़ी धारियों से अलग होते हैं। (आ. 63)

सातवाहन युग की वेशभूषा (ई. पू. प्रथम शताब्दी)

सातवाहन युग (करीब ई. पू. पहली शताब्दी) की वेशभूषा शुंग युग की वेशभूषा से बहुत कुछ मिलती है, लेकिन उसमें अंतर भी आ जाता है। उदाहरणार्थ पुरुषों की वेशभूषा ही ले लीजिए। ये घुटने तक की धोती तो पहनते हैं पर उनके पहरावे में भारी भरकम और पर्यस्तकों का अभाव सा है। सातवाहन युग में पगड़ियाँ भी सादे कपड़े की होती थीं और उन्हें लोग अनेक तरह से बाँधते थे। दुपट्टे ओढ़ने की भी प्रथा थी। सैनिक, अनुचर और विदेशी सिले कपड़े भी कभी-कभी पहनते थे। स्त्रियाँ साड़ी ओढ़नी पहनती थीं। ओढ़नी सजाने के बहुत से तरीके थे। सांची के अर्धचित्रों में भारतीय वेशभूषा के अध्ययन से यह पता लगता है कि भारी-भरकम कपड़ों की ओर लोगों का रुझान कम हो गया था पर साथ ही लोग सादे कपड़े बड़े चाव से और अनेक ढंगों से सजा कर पहनते थे। इस युग में दक्षिणी वेशभूषा कुछ टीमटामदार होती थी। साफे भारी भरकम और आभूषणों से सजे होते थे और धोतियाँ भी भारी फेंटे वाली होती थीं। सातवाहन युग की वेशभूषा के इतिहास के लिए हमें प्रचुर सामग्री सांची भाजा के अर्धचित्रों और अजन्ता के 9-10 नंबर की गुफाओं के भित्ति चित्रों से मिलती है। मथुरा और कौशांबी से मिली मिट्टी की मूर्तियों से भी तत्कालीन वेशभूषा पर प्रकाश पड़ता है। मथुरा, कौशांबी, बसाद और भीटा में इस युग की मिट्टी की स्त्री मूर्तियाँ लंबे कंचुक और गहने पहने हुए मिलती हैं। इनकी वेशभूषा में एक विदेशीपन झलकता है और यह संभव है कि उस पर शकों का प्रभाव पड़ा हो।

सांची के अर्धचित्रों में पुरुषों की वेशभूषा

सांची के अर्धचित्रों में आदमी धोती पहने दिखाए गए हैं जो घुटनों के कुछ नीचे पहुँचती है और जिसमें लांग और पटका होते हैं। (आ. 64)[94] कभी-कभी धोती का एक हिस्सा कमर से लपेट लिया जाता था और दूसरा हिस्सा बायीं कुहनी पर होता हुआ नीचे लटका रहता था। (आ. 65)[95] धोती कमरबंद से बंधी रहती थी। शरीर का ऊपरी भाग दुपट्टे के सिवा अनावृत होता था। दुपट्टा निम्नलिखित तरीकों से पहना जाता था: (1) कंधों से होता हुआ यह कांखों के तले से निकाल दिया जाता था। (आ.64)[96] (2) दुपट्टा पीछे ओढ़कर उसके सिरे बगल से निकालकर पीछे फेंक दिये जाते थे।[97] बदन को ढँकता हुआ दुपट्टा बाएँ कन्धे पर रख लिया जाता था।

साफे और पगड़ियां

प्राय: सभी पुरुष पगड़ी पहनते थे। ऐसा लगता है कि पगड़ी के फेंटे लम्बे केशों से लपेटे जाते थे। पगड़ी बाँधने की अनेक विधियाँ थीं जिनसे पगड़ियों की अनेक आकृतियाँ बन जाती

थीं। साधारणत: भरहुत की तरह पगड़ी के आगे एक लट्टू होता था। पगड़ी के एक छोर से वह ढँक जाता था और तीन चार लपेटों के बाद पगड़ी बंध कर तैयार होती थी।[98] (आ. 66)

एक दूसरी तरह की पगड़ी में कपड़े की तह गोल लपेट कर लट्टू के सीध में रख दी जाती थी। इसके बाद कई फेंटे बाँध कर पगड़ी का छोर फेंटों के नीचे से निकाल कर दूसरी तरफ खोंस दिया जाता था। (आ. 71)[99] इसी पगड़ी के एक भेद में पगड़ी का कुछ गोलुवां हिस्सा सिर पर तिरछा पड़ता था और उसी के चारों ओर पगड़ी लपेटी जाती थी। (आ. 72)[100] इसी पगड़ी से एक दूसरे भेद में आगे का लट्टू ढोल के आकार का होता था। (आ. 7)[101]

सांची के अर्धचित्रों में हमें एक तरह की पगड़ी मिलती है जिसे हम शंखाकार कह सकते हैं।

स्त्रियों की वेशभूषा

सांची के अर्धचित्रों में स्त्रियाँ दो तरह की साड़ियाँ पहने दिखलायी गयी हैं। एक में साड़ी घुटनों तक पहुँचती थी और चूनन की लांग पीछे खोंस ली जाती थी, फीतेदार पर्यस्तक दोलड़ी करधनी में खोंस दिया जाता था। (आ. 90)[102] दूसरी तरह की साड़ी में एक भाग तो कमर में लपेट लिया गया था और चूनन की लांग पीछे खोंस ली जाती थी। (आ. 91)[103] साड़ी पहनने की यह रीति आधुनिक सकच्छ साड़ी पहनने की रीति से मिलती है और इसका चलन मध्यप्रदेश और महाराष्ट्र में है। एक तीसरी जगह चूनन बगल में खोंसी दिखलायी गयी है। (आ. 92)[104]

इस युग में कला और साहित्य समुन्नत थे। भारत और रोम के साथ हमारा गहरा व्यापारिक सम्बन्ध था और हम अपनी ब्रह्म विजय से मध्य एशिया से लेकर हिन्दचीन तक अपनी सांस्कृतिक धाक जमा चुके थे। ई. सन् की पहली शताब्दी में हिन्द चीन, अनाम कम्बुज तथा यवद्वीप इत्यादि में भारतीय राज्य बन चुके थे। भारतीयों का पूर्व की ओर प्रसार उन्हें चीनियों के संयोग में लाया और इन दोनों देशों में व्यापारिक सम्बन्ध बढ़ा। इसी युग में रोम साम्राज्य की उत्कर्षावस्था में भूमध्य सागर और भारत का मूल्यवान व्यापारिक सम्बन्ध और दृढ़ हुआ। भारतीय रत्न, मसाले, गंधद्रव्य और कीमती 'मिरहिना' की धरियाँ, जिनकी कीमत से घबरा कर प्लिनी को रोमनों के भाग्य पर रोना पड़ा, तथा बढ़िया मलमल इस देश से रोम को जाते थे। सज्जा की इन वस्तुओं के व्यापार से देश की आमदनी इतनी बढ़ी की व्यापार का पलड़ा हमारी ओर झुक गया और इसके फलस्वरूप बहुत बड़े पैमाने में रोमन दीनारें इस देश में आने लगीं।

भारतीय वेशभूषा की प्रचुर सामग्री हमें इस युग की मूर्तियों और अर्धचित्रों में मिलती है। उत्तर-पश्चिमी सीमाप्रान्त की गंधार मूर्तियाँ, मथुरा की कुषाण मूर्तियां तथा अमरावती, नागार्जुनीकोंडा और गोल्ली से मिले अर्धचित्र हमें यह बतलाते हैं कि धोती, साड़ी तथा पगड़ी पहनने में कौन-कौन सी स्थानिक विशेषताएँ थीं। उत्तर-पश्चिमी भारत में शुद्ध भारतीय वेशभूषा के सिवाय कंचुक, शलवार, टोपियाँ इत्यादि विदेशी वस्त्र भी काम में लाये जाते थे। ये वस्त्र प्राचीन भारत और मध्य एशिया तथा ईरान के सांस्कृतिक और व्यापारिक सम्बन्ध के प्रतीक हैं। गंधार की कला यूनानी कला से प्रभावित थी जिसके फलस्वरूप हम गंधार की कला में स्त्री-पुरुषों

को कभी-कभी यूनानी कपड़े पहने देखते हैं। कुषाण सिक्कों पर अंकित कुषाण राजाओं की आकृतियों से हमें शकों की वेशभूषा का अच्छा पता लगता है। दक्षिण भारत में स्त्रियों और पुरुषों की वेशभूषा बहुत सादी होती थी। वे केवल मलमली धोती और कमरबन्द पहनते थे। कंचुक तो केवल योद्धागण, शिकारी और द्वारपाल ही पहनते थे। इस युग के अर्धचित्रों में पंजाबियों की प्रिय कुलाह भी कभी-कभी दिखलायी पड़ती है।

कुषाण युग के साहित्य से उस युग की वेशभूषा पर विशेष प्रकाश नहीं पड़ता। महावग्ग और चुल्लवग्ग ऐसे ग्रन्थों का जिनमें ईसा के पूर्व चौथी या पांचवीं शताब्दी के नर-नारियों की वेशभूषा पहनने के ढंग और कपड़ों का विशद वर्णन है, इस युग में अभाव ही सा है। इस युग के साहित्य में वेशभूषा का छिटपुट वर्णन है, और वस्त्रों और कपड़ों के नाम बिना किसी भाष्य के आते हैं। इन शब्दों के अर्थ आधुनिक कोशों में भी नहीं मिलते और अगर मिलते भी हैं तो यह पता नहीं चलता है कि वे वस्त्र सूती, रेशमी अथवा और किसी दूसरे रेशों से बनते थे। इस युग के कपड़ों का ज्ञान हमें 'पेरिप्लस आफ दि एरिथ्रियन सी' नामक एक पुस्तक से, जिसे एक यूनानी नाविक ने ईसा की पहली शताब्दी में भूमध्य और हिन्द सागर के व्यापारिक सम्बन्ध पर लिखा था, मिलता है।

साहित्य में भारतीय वेशभूषा के उल्लेख

उत्तर भारत की वेशभूषा

इस युग के साहित्य में भारतीय पहरावे का कम उल्लेख हुआ है। साधारणतः लोग धोती और दुपट्टा पहनते थे। काशी के बने धोती दुपट्टे सारे भारत में प्रसिद्ध थे।[105] धोती दुपट्टे की जोड़ी (यमली) की कीमत कभी-कभी एक लाख कार्षापण तक पहुँच जाती थी। राजे-महाराजे फुंदी किए हुए चौड़े किनारे वाले नये वस्त्र पहनते थे। (आहतालि वासंसि नवानि दीर्घ दशादि) ये वस्त्र उनके शरीर को पूर्णरूप से ढँक लेते थे। यहाँ चौड़े किनारे वाले कपड़ों से शायद धोती और दुपट्टे से मतलब हो। पूरे शरीर ढँकने वाले वस्त्रों से शायद कंचुक से मतलब हो। बुनकर और किसान सन्नी धोती (शण शाटी) पहनते थे। छोटी धोती को प्रावरण पौत्री (गुजराती, पोत्यु) कहते थे। राजे पगड़ी (प्रवर मौलि पट्ट) भी पहनते थे। राजा के सिवाय मंत्री, सेठ और पुरोहित भी पगड़ियाँ पहनते थे।[106]

राजे कभी-कभी सिले कपड़े जो शायद कंचुक रहे हों (चोडक संवात प्रत्यवरेण वासस) पहनते थे। राजमहल के अंगरक्षक और पहरुवे काषाय कंचुक पहनते थे। योद्धा भी कंचुक पहनते थे और उनकी छाती और बाँह जिरह बख्तर से ढँके रहते थे। (मणिवर्ग पंचागोपे) सुन्दर रंगों से कपड़े रंगने की कला (वस्त्रराग) और सिलाई कला सीखना इस युग में शिक्षा का एक आवश्यक अंग माना जाता था।

दक्षिण भारत की वेशभूषा

प्राचीन तमिल साहित्य में ऐसे बहुत से उल्लेख हैं जिनसे इस युग में दक्षिण भारत की वेश-भूषा का पता चलता है। दक्षिणी राजे धोती और जड़ाऊदार टोपी पहनते थे।[107] तमिल लोगों की वेशभूषा उनके सामाजिक स्थान और जातियों को लेकर भिन्न-भिन्न तरह की होती थी। शुद्ध तमिल समाज में मध्यवर्ग के लोगों की पोशाक दो टुकड़े कपड़ों की होती थी। एक टुकड़ा वे धोती की तरह पहनते थे और दूसरा सिर पर बाँधते थे। अपने सिर के लंबे बालों के वे सिर के ऊपर अथवा बगल में जूड़े बाँधते थे। बाल बाँधने के फीते चमकीली फूंदनेदार डोरियों और मनकों के बने होते थे। नाग जाति का एक सरदार धोती पहने दिखलाया गया है। अंगरक्षक सिपाही कोट पहनते थे। यवन सिपाही, जो राजमहल अथवा राजशिविर पर पहरा देते थे, कंचुक पहनते थे।

तमिल स्त्रियाँ एड़ी तक पहुँचती साड़ी पहनती थीं। कमर के उपर शरीर का नंगा भाग चंदन और सुगन्धित चूर्णों से सज्जित होता था। वार वनिताएं केवल जांघों के मध्य तक पहुँचती साड़ी पहनती थीं जिसका पोत इतना महीन होता था कि शरीर नंगा दीख पड़ता था। जंगली स्त्रियाँ हरी पत्तियों से बनी घघरियाँ पहनती थीं।

गंधार, मथुरा और दक्षिण की कला में भारतीय वेशभूषा

गंधार कला में आयी उत्तर-पश्चिम भारत की वेशभूषा मिश्रित है। धोती, दुपट्टा, चादर और पगड़ी जैसे शुद्ध भारतीय पहरावे के साथ-साथ हम गंधार कला में पायजामा, अंगरखा, कंचुक और कुलाह भी देखते हैं जो उत्तरापथ के निवासियों के पहरावे के खास अंग हैं। गंधार के पहरावे में यूनानी पहरावे का भी स्पष्ट प्रभाव है जो यूनानियों के साथ-साथ इस देश में पश्चिमी एशिया से आया मालूम पड़ता है।

राज पुरुषों का पहनावा

गंधार की मूर्तिकला में राजे और सामंत एड़ियों तक लटकती सिलवटदार धोती तथा कंधों को ढँकती तथा बायीं बाहु पर होती पीछे फिकी हुई चादर पहनते थे। चादर की सिलवटों को कड़ा बनाये रखने के लिए एक भारी वजन चादर में पीछे बँधा रहता था। (आ. 125)[108] चादर पहनने के इस तरीके में कलात्मक रेखाएँ और सिलवटें पड़ती थीं। (आ. 126) कभी-कभी चादर छाती नहीं ढँकती थी। (आ. 127-128) और कभी-कभी यह पूरी छाती ढँकती हुई केवल दाहिना कंधा खुला छोड़ देती थी। (आ. 129) बैठने में चादर दाहिने कंधे और छाती को नहीं ढँकती पर गोद में उसकी सुंदर सिलवटें दीख पड़ती हैं। (आ. 130)[109] डोरी या गोट के बने कमरबन्द के दोनों सिरे कमर से धोती को खिसकने से रोकने के लिए आगे लटकते

रहते थे। गंधार में उच्च वर्ग के लोग चट्टियाँ अथवा खड़ाऊ पहनते थे। राजाओं के जूते रत्नजटित होते थे। कर्टियस के अनुसार राजा सुभूति ऐसे ही जूते पहनते थे।

गंधार की कला में स्त्रियों की वेशभूषा के तीन कपड़े स्पष्ट हैं – यथा आस्तीन वाले क़ंचुक, साड़ी जो सारे शरीर को ढंक लेती थी, और एक चादर अथवा दुपट्टा जो कंधों को ढाँकता हुआ बाहुओं पर गिरता था। (आ. 160-161 ए. बी.)[110] कभी-कभी चादर का एक छोर कमर में खोंस लिया जाता था। (आ. 162-163) झुल्ला प्रायः घुटनों तक पहुँचता था (आ. 164-165) और अपवादस्वरूप कभी-कभी वह आगे खुला भी रहता था। (आ. 166) इस पूरी बाँहों वाले और कमर के जरा नीचे पहुँचते हुए खुले कोट की काट ऐसी होती थी जिससे नाभि खुली रह जाय। ऐसा लगता है कि यह कोट बीच में लगे एक बटन से बन्द होता था। कभी-कभी यह कोट एक चौथाई बाँहों वाला होता था और नाभि तक पहुँचता था।[111] एक दूसरी तरह का पूरी बाँहों वाला कोट नाभि को ढँक लेता था। (आ. 166) कंचुक साड़ी के ऊपर या नीचे पहना जाता था। कभी-कभी पहनने के दोनों तरीके साथ-साथ दीख पड़ते हैं। (आ. 167-168) स्त्रियों के कंचुक लम्बे और कसे होते थे और उन पर सिलवटें पड़ती थीं। कभी-कभी स्त्रियाँ स्तन पट्ट भी पहनती थीं।

मथुरा की मूर्तिकला में स्त्रियाँ प्रायः एड़ी तक पहुँचती साड़ियाँ जिनके ऊपर स्थान च्युत होने से बचाने के लिए अनेक लड़ों वाली करधनियाँ होती हैं और तहदार दोनों कंधों को ढंकते हुए नीचे लटकने वाले दुपट्टे पहिनती थीं। (आ. 201-04)[112] लेकिन अक्सर दुपट्टा नहीं भी पहना जाता था। उसे उमेठे हुए कमरबन्द से कमर के दोनों ओर फंदे पड़ते हुए बाँधा जाता था। साड़ी की खूबसूरती इससे बढ़ जाती थी। (आ. 205) कभी-कभी कमरबन्द का लंबा सिरा कमर से बाँध लिया जाता था और झब्बेदार छोटा सिरा सामने लटकता हुआ छोड़ दिया जाता था। (आ. 206) दूसरी जगहों में कमरबन्द के झब्बेदार सिरे मोड़ कर दायीं ओर खोंस लिए जाते थे और तब कमरबन्द के कुछ भाग को मोड़कर नाभि के पास साड़ी में खोंस लिया जाता था। कमरबन्द का छुट्टा सिरा बायें हाथ में जान-बूझकर पकड़ लिया जाता था। (आ. 208) पटका पहनने की भी बहुत सी रीतियाँ थीं। (आ. 209-212)

मध्यकालीन उत्तर और पश्चिम भारत में स्त्रियाँ प्रायः लहंगा पहनती थीं और आज के दिन भी पश्चिमी युक्त प्रान्त, राजपूताना, मालवा तथा गुजरात में यह प्रथा जारी है। जहाँ तक हमें पता चलता है कि सबसे पहले लहंगा कुषाणयुग की मूर्तिकला में दीख पड़ता है।

मथुरा की स्त्रियाँ, कम से कम जैसा उनका मथुरा की मूर्तिकला में प्रदर्शन हुआ है, कंचुक या चोली नहीं पहनती थीं। लेकिन इसके अपवादस्वरूप आपानक दृश्यों में स्त्रियाँ सिले कपड़े पहने दिखलायी गयी हैं। ये स्त्रियाँ कमर तक कसा कंचुक जिनका छोर चूननदार होता है। (आ. 214-215) पहनती थीं। मथुरा से मिली एक मूर्ति के पादपीठ पर जिस पर कुषाण संवत का उन्यासीवाँ वर्ष है, अंकित कुछ स्त्री मूर्तियां कंचुक पहने हैं। कंचुक के ऊपर वे साड़ी भी पहने हैं। इस साड़ी का एक भाग तो वह कमर में लपेट लेती थीं और उसका दूसरा भाग बायें स्तन

को ढांकते हुए बाएं कंधे पर डाल लेती थीं। (आ. 216) साड़ी पहनने का यह ढंग गंधार में साड़ी पहनने के ढंग से मिलता-जुलता है। हो सकता है ये स्त्रियाँ गंधार की ही हों।

दक्षिण भारत की वेशभूषा

अमरावती, नागार्जुनीकोंडा और गोल्ली से मिले हुए अर्धचित्र तत्कालीन आचार-विचार और वेशभूषा को अक्षुण्ण बनाये रखते हैं। इन अर्धचित्रों से हम तत्कालीन वेशभूषा का जीता-जागता चित्र खींच सकते हैं। अर्धचित्रों में अंकित दक्षिण भारत के लोग उत्तर भारत के लोगों की तरह एड़ी के जरा ऊपर तक पहुँचती धोती पहनते थे। एक चुना हुआ अंश नाभि के पास कमर में खोंस लिया जाता है और लांग पीछे खोंस ली जाती है।

दक्षिणी स्त्रियों की वेशभूषा

इस युग में दक्षिणी स्त्रियाँ बहुत हल्के कपड़े पहिनती थीं। कमर के ऊपर शरीर का भाग खुला रहता था, साड़ी एड़ी के ऊपर तक पहुँचती थी, इस पर करधनी और कमरबन्द, जिसका एक छुट्टा हिस्सा आगे लटका रहता था और दूसरा मुड़ा हुआ हिस्सा आगे लहराया करता था, होते थे। (आ. 257) एक दूसरी जगह सकरमुद्धीदार कमरबन्द करधनी का स्थान ग्रहण कर लेता है। (आ. 258) कभी-कभी स्त्रियाँ साड़ी के ऊपर करधनी, पटके और कमरबन्द तीनों पहनती थीं। फेंटे के दोनों सिरे मुड़े होते थे और कमरबन्द की फेरेदार गाँठ कमर के बाईं ओर लगी रहती थी। सिर पर पगड़ी के आकार का कोई वस्त्र होता था।[113] कभी-कभी स्त्रियाँ लीलावश दुपट्टा हाथ में लेती थीं।

(च) गुप्त युग

गोली के अर्धचित्रों में दक्षिण भारतीयों की चौथी शताब्दी की वेशभूषा का सुन्दर चित्रण हुआ है। इस वेशभूषा का वर्णन करने के पहले यह जान लेना आवश्यक है कि दक्षिण भारत के लोगों की चौथी शताब्दी की वेशभूषा में और नागार्जुनीकोंडा और अमरावती के अर्धचित्रों में चित्रित दक्षिण भारत की वेशभूषा में बहुत अंतर नहीं है।

उच्च पदस्य लोगों की वेशभूषा

धोती

राजकुमार और उच्चवर्ग के लोग कमरबन्द से बँधी धोती और पगड़ी पहनते थे। नागराज की मूर्ति में[114] तत्कालीन धोती पहनने का सुन्दर चित्रण है। (आ.271) जरा घुटनों के ऊपर तक पहुँचती धोती कमर के साथ फंदेदार कमरबन्द से बँधी है। धोती के फंदेदार और छुट्टे सिरे एक चूड़ी से निकाल दिये गये हैं कमर के साथ धोती फुदनेदार उमेठी पेटी से बँधी है। पेटी के अंदर

से कमरबन्द निकाल कर पहना गया है। पगड़ी में पान के आकार का एक शीर्षपट्ट, जिस पर एक पक्षी बना है, लगा है।[115] (आ. 272) अपने घर के एकान्त में दोनों सिरे आगे लटकते हुए कमरबन्द के साथ लोग धोती पहनते थे।[116] (आ. 273)

सिपाहियों की वेशभूषा

युद्ध यात्रा पर निकले सिपाही अपनी धोती का अगला हिस्सा मोड़ कर कमर में खोंस लेते थे, जिससे चलने में धोती लपटे नहीं। धोती के बंधन में मजबूती लाने के लिए कमरबन्द भी पहनते थे। (आ. 274) इस कमरबन्द के सिरे नाभि के नीचे लगी दो चूड़ियों के बीच से निकाल दिये जाते थे। अक्सर उनकी धोती घुटनों तक ही पहुँचती थी। (आ. 275) सिपाही पगड़ी भरी बाँह के कंचुक और धोती भी पहनते थे। (आ. 276)

एक जगह भगवान बुद्ध की पूजा करते हुए एक भक्त की पीठ दिखलाई गयी है जिससे पता लगता है कि लोग लांग खोसते थे। शीर्षपट्ट को यथास्थान स्थिर रखने के लिए पगड़ी के पीछे एक चौतलिया कोढ़ा भी लगा दिखलाया गया है।[117] (आ. 277)

ब्राह्मणों की वेशभूषा

अधिकतर ब्राह्मण धोती जिसका एक सिरा कमर के बगल में खुसा होता था और वैकक्ष्य पहनते थे।[118] (आ. 278)

प्रतिहारी की वेशभूषा

प्रतिहारी भरी बाँह का कंचुक, ऊँची टोपी और वैकक्ष्य पहने दिखलाया गया है। (आ. 279)

स्त्रियों की वेशभूषा

स्त्रियाँ पतली साड़ी पहने दिखलायी गयी हैं। एक जगह एक विदेशी स्त्री टोपी पहने दिखलायी गयी है। (आ. 280)

गुप्त युग की वेशभूषा के जिन अंगों पर साहित्य से कम प्रकाश पड़ता है, उनका पुरातत्त्व में समाधान हो जाता है। इस युग की मूर्ति कला अमरावती के अर्धचित्रों की तरह हमें तात्कालिक सामाजिक जीवन के चित्र नहीं देती और इसका कारण इस युग की कला के उद्देश्य में परिवर्तन है, जिससे अनुप्राणित होकर वह अध्यात्मचिंतन की ओर उन्मुख हो जाती है। इससे उसमें वर्णनात्मकता की तो कमी हो जाती है, पर रसभावना कहीं अधिक बढ़ जाती है। पर भाग्यवश यह चिंतनशीलता मूर्तियों तक ही सीमित रही। इस युग के भारतीय चित्रकार पुराने चित्रों की तरह इन चित्रों को तत्कालीन समाज और संस्कृति के प्रतिबिम्ब मानते रहे।

अजंता के भित्ति चित्र गुप्त युग के वस्त्रों के लिए कोश के समान हैं। नक्काशियाँ इन वस्त्रों पर कम मिलती हैं। चित्रों में सादे और सिले वस्त्र दोनों आते हैं।

गुप्त युग के सिक्के भी हमें तत्कालीन राजकीय वेशभूषा के बारे में काफी मसाला देते हैं। इनमें अंकित राजाओं की छोटी शबीहों में भी वेशभूषा का आकर्षक चित्रण हुआ है।

वेशभूषा पर विदेशी प्रभाव

गुप्त साम्राज्य के स्थापित होने से सैकड़ों वर्ष पहले तक उत्तर-पश्चिमी भारत हिन्द यूनानियों, शकों और कुषाणों के अधीन रहा। देशी और विदेशी संस्कृतियों के पारस्परिक सम्बन्ध और आदान-प्रदान से दोनों संस्कृतियाँ एक दूसरे का दृष्टिकोण समझ गयीं। मध्य एशिया का विशाल सांस्कृतिक क्षेत्र शकों और कुषाणों ने खोल कर भारतीय और चीनी संस्कृतियों का सम्पर्क स्थापित किया। गुप्त युग में भारतीय संस्कृति का बृहत्तर भारत में प्रसार होने से यह देश एशिया की बहुत सी जातियों का तीर्थ क्षेत्र बन गया। अजंता के भित्ति चित्रों में अपने जातीय पहरावों से अलंकृत, भारतीय अफगान, तथा मध्य एशिया वासी बुद्ध की पूजा करते दिखलाये गये हैं। यात्रियों की इस रंग-बिरंगी भीड़ से और अपने जातीय पहरावे पहने हुए व्यापारियों के वस्त्रों से इस देश की वेशभूषा पर प्रभाव पड़ना कुछ असंभव न था। बाणभट्ट की आख्यायिकाओं से भी इस बात का पता चलता है कि सातवीं शताब्दी में वहाँ कुछ सिले विदेशी वस्त्रों का व्यवहार होता था। इसका कारण भारतीय संस्कृति का ईरानी, अफगानी और चीनी संस्कृतियों से व्यापारिक और धार्मिक सम्बन्ध था। इसी सम्बन्ध की वजह से हम अजंता के भित्ति चित्रों में भारतीय पहरावों के सिवाय पड़ोसी देशों के पहरावों का भी अध्ययन कर सकते हैं।

अजंता के भित्ति चित्रों में बोधिसत्वों की रूढ़िगत वेशभूषा

गुप्त युग के सिक्के और अजंता के भित्ति चित्र ही हमारे गुप्तकालीन वेशभूषा की जानकारी के प्रधान साधन हैं। अजंता के भित्ति चित्रों में राजे और राज पुरुष धोती और गहरे काम वाले मुकुट पहने दिखलाये गये हैं। पगड़ी तो शायद कहीं आती है। लेकिन सिक्कों में दो गुप्त राजे धोती, दुपट्टा, कंचुक और पायजामें पहने दिखलाये गये हैं। वे पगड़ी और कभी-कभी टोपी भी पहनते थे, पर प्रायः वे अपने सिर नंगे रखते थे। अजंता के भित्ति चित्रों में और सिक्कों पर आये राजाओं की वेशभूषाओं में जो फर्क आ जाता है, उसका कारण शायद भित्ति चित्रों में बोधिसत्वों के देवत्व की कल्पना है। इन बोधिसत्वों की वेशभूषा में हम मूर्ति रचना के मध्यकालीन नियमों का आरम्भ देखते हैं। अजंता के भड़कीले मुकुट उन्हीं मध्यकालीन नियमों की देन मालूम पड़ते हैं, क्योंकि तत्कालीन साहित्य में तो ऐसे मुकुटों के वर्णन नहीं से हैं। भड़कीले मुकुट और गहने पहने हुए अजंता के बोधिसत्वों को हम तत्कालीन ऐसी ही विष्णु की मूर्तियों की श्रेणी में रख सकते हैं और इसीलिए हम उनके वस्त्राभूषणों से उस युग के राजाओं के वस्त्राभूषणों की तुलना

नहीं कर सकते। जैसा हम पहले देख चुके हैं, हर्ष चरित के राजाओं का पहरावा कीमती कपड़ों का तो अवश्य होता था, पर वह तड़क-भड़क से बहुत दूर रहता था। अजंता के भित्ति चित्रों और गुप्त सिक्कों पर राजाओं की वेशभूषा में अंतर के कारण सिक्कों पर आई वेशभूषा का ऐतिहासिक दृष्टि से महत्व बढ़ जाता है। नीचे के पृष्ठों में सिक्कों और चित्रों में आई राजाओं की वेशभूषा का वर्णन दिया जाता है।

सिक्कों पर अंकित गुप्त राजाओं की वेशभूषा

समुद्रगुप्त

साधारण भांति के सिक्कों पर समुद्रगुप्त अधबंहिया कंचुक अथवा कोट जिसके चाकदार नुकीले कोने नीचे लटक रहे हैं तथा जिसके आगे पर दोनों घुण्डीदार कसीदे का काम है पहिने है।[119] (आ. 281) अधिकतर सिक्कों में तो कंचुक के दो ही नुकीले कोने होते हैं लेकिन एक सिक्के में[120] चारों कोने दिखलाये गये हैं। इस कंचुक की तुलना मथुरा से मिली हुई एक योद्धा की मूर्ति के कंचुक से की जा सकती है।[121] समुद्रगुप्त का पाजामा ढीला शलवार न होकर चूड़ीदार है और इनके सिर पर सटकर बैठने वाली टोपी है। जूते अर्धजंधा किस्म के हैं।

साधारण भांति के कुछ दूसरे सिक्कों में कंचुक पूरी बाँह का है बाँहें चिपकी न हो कर ढीली हैं और कलाइयों पर मोड़ी हुई हैं।[122] (आ. 282) बूट जंधा किस्म का है और उसमें बटन लगे हैं।

साधारण भाँति के तीसरी किस्म के सिक्कों में अधबहियाँ कंचुक का संयोग जाँघिये के साथ है। घुटनों के नीचे तक पहुँचते जूतों के मोड़ पर फुल्ले लगे हैं। (आ. 283) ये बूट साहित्य में आये खपुसा की तरह हैं।

व्याघ्र पराक्रम भांति के सिक्कों में राजा मुड़ी आस्तीन वाला कसा हुआ कंचुक, बटा हुआ कमरबन्द, घुटनों के ऊपर तक पहुँचती जांघिया और कुषाणकालीन पगड़ी, जिस पर शीर्षपट्ट लगा हुआ है, पहने है। (आ. 284)

चन्द्रगुप्त कुमार देवी भांति के सिक्कों में चन्द्रगुप्त चाकदार जामा, जिसके गले पर घुण्डीदार काम है और फुदने लटक रहे हैं, पहनता है। जामा के मध्य में तुर्क मेक की पंक्ति है। (आ. 285 ए.बी.सी.) ब्रीचेस ऐसे पाजामें पर गरारीदार खपुसा किस्म के जूते हैं।

समुद्रगुप्त के वीणावादक भांति के सिक्कों से पता चलता है कि राज के थकाने वाले कामों से छुट्टी पाकर आराम के समय अथवा संगीत का आनन्द लेते हुए गुप्त राजे सादी धोती और टोपी पहनते थे। (आ. 286) अपने घरेलू जीवन में गुप्त राजे ऐसी सादी वेशभूषा पसंद करते थे इसका पता हमें चन्द्रगुप्त द्वितीय के आसंदिक सिक्कों से लगता है। यहाँ आसंदी पर बैठे राजा एक धोती पहने हैं।

चन्द्रगुप्त द्वितीय की वेशभूषा

चन्द्रगुप्त द्वितीय के धनुर्धारी भांति के सिक्कों में राजा एक सटा कंचुक पहने है जो कभी-कभी कमरबन्द से बँधा होता है। इसका फंदा बाईं ओर होता था और उसी ओर इसके सिरे जमीन पर लहराते थे। (आ. 287) धनुर्धारी भांति के दूसरे सिक्कों में राजा जाँघिया और दांहिनी ओर फंदेदार कमरबन्द पहने है।

अश्वारोही भांति के सिक्कों में चन्द्रगुप्त द्वितीय के पहरावे में धोती और कमरबन्द, जिसके छोर पीछे फड़फड़ा रहे हैं, मुख्य है (आ. 290 ए. बी.) पर कभी घोड़े पर सवार राजा कमरबन्द से कसा कंचुक और धोती भी पहने है। (आ. 291)

एक तांबे के सिक्के में बरामदे में आराम से खड़े चन्द्रगुप्त द्वितीय को दोनों कंधों पर पड़ा दुपट्टा, जिसका एक छोर उनके बाएँ हाथ में है, पहने दिखलाया गया है। (आ. 292)

कुमार गुप्त प्रथम

कुमार गुप्त प्रथम के राज्यकाल में जब गुप्त साम्राज्य अपनी चोटी पर पहुँच चुका था, हम उस जातीय पहरावे का चलन देखते हैं जिसमें से कुषाण युग के पाजामें और पूरे बूट निकाल दिये गये थे। साधारणतः कुमार गुप्त प्रथम चाकदार कंचुक और घुटनों तक की धोती पहने दिखलाये गये हैं। (आ. 293) कभी-कभी यह धोती एड़ी तक पहुँचती थी। पगड़ी की जगह चूर्ण कुंतल दीख पड़ते हैं। कमरबन्द का फंदा बायीं ओर होता था और उसके सिरे उसी ओर लटका करते थे।

कुमारगुप्त के चांदी के सिक्कों में वेशभूषा की दृष्टि से आकर्षक वस्तु चपकी टोपी अथवा सजी पगड़ी है जिसका छज्जा ऊपर मुड़ा है। (आ. 294)

अजंता के भित्ति चित्रों में राजाओं और उच्चपदस्थ राजकर्मचारियों की वेशभूषा

अजंता के भित्ति चित्रों में राजाओं का पहरावा बड़ा सादा यानी केवल धोती दुपट्टे का होता था, लेकिन वस्त्रों के इस सादेपन को वे अपने रत्न जटित मुकुटों की कारीगरी से पीछे डाल देते थे। इस बात में संदेह है कि पेचीदी कारीगरी वाले मुकुट यथार्थ में व्यवहार में लाये जाते थे अथवा नहीं, क्योंकि तत्कालीन साहित्य इनकी ओर संकेत नहीं करता, तथा तत्कालीन गुप्त सिक्कों की राजमूर्तियों की वेशभूषा में भी इनका पता नहीं चलता। संभव है सादी कारीगरी वाले मुकुट तो देवताओं और बोधिसत्वों के लिए ही थे।

अजंता के एक भित्ति चित्र में राजा बिंबिसार एक लाल और नीली धारियों वाली धोती और झब्बेदार कमरबन्द पहने हैं। इनकी पगड़ी अथवा टोपी एक सरपेंच से, जिसके दोनों ओर टिकरे लगे हैं, सुसज्जित है।[123] (आ. 295)

अजंता में चित्रित काशिराज बारीक धोती जो कमर पर पेटी से बंधी है, पहने हैं। पटके का छोर जमीन पर लहरा रहा है। उनके बायें कंधे पर एक संकरा धारीदार दुपट्टा है। उनकी ऊँची टोपी फूलों और सितारों से सज्जित है। (आ. 296)

एक दूसरी जगह राजा धारीदार धोती जिसका एक खाना मोटी धारियों से सज्जित है, पहने हैं। उनकी धातु निर्मित टोपी के चोटी और बगलों पर फुल्ले हैं। (आ. 297)

विश्वंतर जातक के चित्रण में राजकुमार विश्वंतर राजमहल के बाहर निकलते समय आधे बाँह का फँसा हुआ कंचुक (कूर्पासक), कमरबन्द सहित धोती और कुलाहनुमा टोपी पहने दिखलाये गये हैं। (आ. 298) उसी चित्र में राजमहल के अन्दर ब्राह्मणों को दक्षिणा बाँटते हुए विश्वंतर खूब कामदार मुकुट, छाती को ढंकता हुआ आधे बाँह का कसा कंचुक (कूर्पासक) जो मोरियों पर गोटे से सजा है, उमठे दुपट्टे से बना वैकक्ष्य, छोटी धोती तथा करधनी, जिसके फूंदने नीचे लटक रहे हैं, पहने हैं। (आ. 299)

एक दूसरे चित्र में घोड़े पर सवार एक राजकुमार एक पूरे बाँहों वाला कंचुक तथा चक्करदार टोपी पहने दिखलाया गया है। लड़के धारीदार बूट अथवा मोजा भी पहनते थे।[124]

गुप्त युग में रानियों और दूसरी स्त्रियों की वेशभूषा

समुद्रगुप्त के साधारण भांति के सिक्कों के पट पर लक्ष्मी देवी एड़ी तक पहुँचती साड़ी और घुटने तक पहुँचता पूरे बाँह का कंचुक पहने हैं, स्तनों के नीचे एक पट्ट बँधा है जिसकी मुड़ी बाईं ओर दिखलाई गयी है। उनके कंधे चादर से ढँके हैं। (आ. 381)[125] धनुर्धारी भांति के सिक्कों में लक्ष्मी धोती और अधबंहिया कूर्पासक पहने दिखलायी गयी हैं। (आ. 382) कोसम से मिली एक गुप्तकालीन शिवपार्वती की मूर्ति एक जालीदार टोपी, जिनके दोनों ओर फुल्ले हैं, पहने दिखलायी गयी है। (आ. 383)[126]

देवगढ़ से मिली नंद यशोदा की मूर्ति में यशोदा का पहरावा आजकल के बंजारों की पोशाक जैसा है। वह सिर को ढँकती हुई एक चादर, भरी बाँह का कुरता जिसके बायीं ओर धड़ी है और लंहगा पहने दिखलायी गयी है। (आ. 384)[127] यह वेशभूषा भारतीय कला में सर्वप्रथम प्रदर्शित की गयी है और बहुत संभव है कि जाट इस पहिरावे को पाँचवीं या छठी शताब्दी में मध्य एशिया से यहाँ लाये। इतने दिन बीत जाने पर भी जाट, बंजारे, लंवाडी इत्यादि इस पहिरावे को अपनाये हुए हैं।

अजंता के भित्ति चित्रों में रानियाँ ऐड़ी तक पहुँचती साड़ी या धारीदार घघरी पहनती हैं (आ. 385)।[128] दर्पण में अपना मुख देखती हुई एक राजकुमारी तीनलड़ी की करधनी और सुनहरे किनारों वाले कमरबन्द से बंधी साड़ी पहने है। (आ. 386) उनकी एक सेविका पेटी में बँधी साड़ी पहने हुए है और उसके कमरबन्द के छोर पीछे लटक रहे हैं। इसी चित्र में एक चामरग्राहिणी की साड़ी की सिलवटें बड़ी सुन्दरता से बतायी गयी हैं। उसमें कमरबन्द की मुडी पीछे बँधी है। एक दूसरी जगह एक रानी धारीदार घघरी और टोपी अथवा पगड़ी पहने है। (आ. 387)

(छ) सल्तनत काल

उत्तरी भारत में साधारणतया पुरुष धोती और पगड़ी और स्त्रियाँ साड़ी पहनती थीं। धनाढ्य लोग एक प्रकार का जैकेट पहनते थे। दक्षिण भारत में स्त्री और पुरुष लुंगी पहनते थे और साधारणतः नंगे पैर रहते थे। ऊनी, सूती और रेशमी वस्त्रों का प्रचलन था। देश भर के स्त्री और पुरुष आभूषणों का प्रयोग करते थे। उच्च वर्ग के लोग महलों में रहते थे और सोने और चांदी के बरतनों में भोजन करते थे। सभी जाति के लोगों में सुगंधित तेलों और स्नानादि का प्रयोग किया जाता था। लोग लम्बे केश धारण करते थे। आभूषण के लिए नाक, कान में छेद किये जाते थे।

मुस्लिम समाज में उच्च वर्ग के लोग रंगीन और बहुमूल्य वस्त्रों का प्रयोग करते थे। वे वस्त्रों को सुनहरे और रुपहले बेल-बूटों से अलंकृत करते थे। सामान्य लोग सादे कपड़े विशेषकर कमीज पायजामा और अचकन पहनते थे। कुछ लोग लुंगी पहनते थे। उलेमा लोग साफा और लंबे कुर्ते पहनते थे। स्त्रियाँ तंग मोहरी, पायजामे और कमीज (जंकफा) पहनती थीं। कुछ स्त्रियाँ टोपी भी पहनती थीं।

(ज) मुगल काल

उच्च श्रेणी के लोग अपने सिर पर कुलाह (लंबी टोपी) धारण करते थे और कामदार सोने चांदी से जुड़े हुए बहुमूल्य वस्त्र पहनते थे। कमर से ऊपर कबा (एक लम्बा वस्त्र) धारण करते थे। वे सलवार और चूड़ीदार पायजामा पहनते थे। सामान्यतः सभी लोग साफा बाँधते थे। साधारणतः हिन्दू धोती और मुसलमान पायजामा पहनते थे। निम्न वर्ग के मुसलमान लुंगी बाँधते थे। उच्च वर्ग के हिन्दू और मुसलमान एक से वस्त्र पहनते थे। हिन्दू अपने अंगरखे के बंद बायीं ओर तथा मुसलमान दाईं ओर लगाते थे। हिन्दू स्त्रियाँ साड़ी और अंगिया पहनती थीं तथा मुसलमान स्त्रियाँ पायजामा, घाघरा, जाकेट और दुपट्टा पहनती थीं। स्त्रियाँ हाथों, पैरों और नखों को रंगने के लिए मेंहदी का प्रयोग करती थीं। गरीब सादे वस्त्रों से किसी प्रकार तन ढँकते थे।

मुगल बादशाह सजधज की वेशभूषा धारण करते थे। हुमायूँ वेशभूषा में विशेष रुचि रखता था और विभिन्न प्रकार की पोशाकें पहनता था, जिसमें उलबग्चा (वास्कट) उल्लेखनीय है।[129] इतिहासकार बदायुनी के अनुसार हुमायूँ और अकबर नक्षत्र के अनुसार वस्त्र धारण करते थे।[130] मांसरेट के अनुसार बादशाह रेशम के कपड़ों पर सोने के सुन्दर काम किये हुए वस्त्रों को धारण करता था।[131] कभी-कभी बादशाह धोती भी पहनता था। जहाँगीर और शाहजहाँ भी सुसज्जित वस्त्रों का प्रयोग करते थे किंतु औरगंजेब सादी वेशभूषा में रहता था।

सन्दर्भ ग्रन्थ

1. मेके, फरदर एक्सकेवेशंस एट मोहनजोदड़ो, भा. 1, पृ. 257, भा. 2, प्ले. 105, सं. 60-61।

2. मेके, इंडस वैली सिविलाइजेशन, पृ. 103।
3. मेके, उपरोक्त।
4. मार्शल, वही, प्ले. 94.11।
5. मार्शल, वही, प्ले. 94.4।
6. मेके, फर्दर एक्सकेवेशंस... भा. 2, प्ले. 76, 22।
7. वही, प्ले. 76, 15।
8. वही, भा. 2, प्ले. 75, 9, इंडस वैली... पृ. 101।
9. वही, भा. 2, प्ले. 75, 3, 8, 76, 17।
10. मार्शल, वही, भा. 1, पृ. 340, प्ले 153, 25।
11. ऋ. वे., 8/67/3।
12. वृहदारण्यक उ. 2/3/6।
13. ऋ. वे., 10/75/8।
14. ऋ. वे., 1/126/7।
15. ऋ. वे., 10/26/6।
16. अथर्ववेद, 14/2/66, 67।
17. ऋ. वे., 10/85/29, अ. वे. 14/1/25।
18. प्री आर्यन एण्ड प्री द्रवीडियन पृ. 6-8, श्री बागची द्वारा सम्पादित।
19. सरकार, सम आस्पेक्टस आफ दी अर्लियस्ट सोवियत हिस्ट्री ऑफ इंडिया, पृ. 59, फु. नो. 6।
20. शतपथ ब्रा., 3/1/13-16।
21. वही, 1/1/4/1।
22. काठक सं. 15/4, पंचविश ब्रा. 9, 18/9/6।
23. आ. श्रो. सू. 2/3/4/17।
24. ला. श्रो. सू., 9/2/15।
25. अ. वे., 4/7/6, 8/6/11।
26. मे. सं., 3/6/7, त. सं., 6/1/1/3।
27. शा. आ. 11/4।
28. आ. श्रो., सू., 2/3/4/17।
29. श. ब्रा., 5/3/5/21, मै. सं., 4/4/3।
30. बृ. उ., 2/3/6।
31. अ. वे., 18/4/31, तै. सं., 2/4/11/6, मै. सं., 4/4/3।
32. तै. ब्रा., 1/3/7/1।
33. आ. श्रो., सू., 2/3/4/17, ला. श्रो. सू. 2/6/1, 9/2/14।

34. अ. वे., 10/7/42, 14/2/51।
35. ऋ. वे., 6/9/2-3, तै. सं., 6/1/14।
36. अ. वे., 14/2/51, श. ब्रा., 3/1/2/18।
37. ऋ. वे., 10/71/9।
38. वाजसनेयी सं., 19/83।
39. तै. उ सं., 6/1/1/4।
40. ऋ. वे., 10/26/6।
41. वा. सं., 19/80-83।
42. ऋ. वे., 5/55/6।
43. ऐत. ब्रा. 7/32, श. ब्रा. 4/2/2/1।
44. सरकार, वही, पृ. 63।
45. श. ब्रा., 7/33/1।
46. वही, 3/1/2/13।
47. वही, 3/1/2/13।
48. ऋ. वे., 7/33/1।
49. ऋ. वे., 1/82/4, अधिपेशांसि वपते नृतू इव, 10/1/6।
50. पंचविंश ब्रा., 17/14/6।
51. वाजसनेयी सं., 30/9।
52. ऐतरेय ब्रा., 3/10।
53. अ. वे. 8/2/16, 12/2/50।
54. अ. वे., 1/140/9, 10/5/4।
55. शतपथ ब्रा. 5/3/5/20।
56. अ. वे., 14/2/4/19।
57. ऋ. वे., 10/102/2।
58. सरकार, वही, पृ. 66।
59. शतपथ ब्रा 9, 5/4/4/3।
60. अ. वे., 14/1/7।
61. ऋ. वे., 1/85/7, 4/18/5।
62. अ. वे., 15/2/1।
63. शत. ब्रा., 1/3/1/13।
64. पंचविश ब्रा., 17/1/14।
65. महावग्ग, 8/13/4-5।

66. भिक्खु पातिमोक्स, 5/39/90, महावग्ग, 8/18/1।
67. चुल्लवग्ग, 5/20/2।
68. महावग्ग, 8/29/1।
69. चुल्लवग्ग, 5/20/2।
70. भिक्खुनी पातिमोक्ख, 4/40/96।
71. चुल्लवग्ग, 10/6/2।
72. आ. सू., 1/7/4/1।
73. टीका, पृ. 251।
74. आचारांग सूत्र, 1/7/5/1।
75. महापरिनिब्बान सुत्त, 2, 18।
76. जातक (382), 3, पृ. 55।
77. जातक (227), 2, पृ. 155।
78. महावग्ग, 5/3/2।
79. सभापर्व, 47, 3।
80. सभापर्व, 47, 222, 45, 19, 47, 11।
81. हर आरल स्टाइन एशिया, मेजर, हर्ष एनिवर्सरी वॉल्यूम, 1923, पृ. 367-372।
82. सभापर्व, 47, 23।
83. इंडिका, 16।
84. ज्योग्राफी, 15/1/71।
85. कुमारस्वामी, हिस्ट्री आफ इंडियन एंड इंडोनेशियन आर्ट, प्ले. 5, 15।
86. मजूमदार, ए गाइड टु दि स्कल्पचर्स इन इंडियन म्यूजियम, पृ. 6।
87. कुमारस्वामी, वही, प्ले, 6, चि. 18।
88. वही, प्ले., 5, 17।
89. वही, प्ले. 3, 2।
90. कनिंघम, भरहुत, प्लेट 51, 1।
91. वही, प्ले., 51, 5।
92. वही, प्ले. 15।
93. बर्गेस, दि बुद्धिस्ट स्तूप्स आफ अमरावती एंड जगय्येपेट, प्ले. 5।
94. फर्गुसन, ट्री एंड सर्पेंट वर्शिप, प्ले. 253।
95. मोतीचंद्र, भारतीय विद्या, नवम्बर, 1939, आ. 13।
96. फर्गुसन, वही, 25, 2।
97. फर्गुसन, ट्री एंड सर्पेंट वर्शिप, प्ले. 27।

98. मोतीचंद्र, वही, प्ले, 4, 14।
99. वही, प्ले, 5, 19।
100. वही, प्ले, 5, 20।
101. वही, प्ले. 5, 21।
102. वही, प्ले., 8, 40।
103. वही, प्ले. 8, 42।
104. वही, प्ले 9, 42।
105. दिव्यावदान, पृ. 29, पंक्ति 6।
106. भारतीय नाट्यशास्त्र, 23/129।
107. कनक सभाई, तमिल एट्टीन हण्ड्रेड इयर्स एगो, पृ. 11[illegible]।
108. फू ल आतं ग्रेकोबुधीक टु गंधार, भा. 2, आ., 393, 417।
109. ए. एस. आई. एन. रि., 1911-1912, प्ले. 40, 11।
110. फुशे, भा. 2, आ. 335, 378।
111. ए. एस. आई. एन. रि. 1919-20, प्ले. 9।
112. फोमेल, वही, प्ले. 7 ए. और बी.।
113. शिवराममूर्ति, वही, प्ले, 8, 33।
114. रामचंद्रन, बुधिस्ट स्कल्पचर्स फ्राम ए स्तूप नियर गोली विलेज, गुंटूर, डिस्ट्रिक्ट प्ले. 4 जे. मद्रास, 1929।
115. वही, प्ले. 9, 6।
116. वही, प्ले. 5, बी.।
117. वही, प्ले. 9, 5।
118. वही, प्ले. 4, एफ।
119. एलन, केटलाग आफ दि कॉमन्स आफ दि गुप्त डाइनेस्टी एंड शशांक किंग आफ गौड, प्ले. 1, 11, लंदन 1914।
120. वही, प्ले. 1, 5।
121. अग्रवाल, हेंडबुक आफ दि कर्जन म्यूजियम आफ आर्कियोलोजी, प्ले. 21 तथा जे. आई. एस. ओ. ए, 1940, पृ. 209।
122. एलन, वही, प्ले 1, 11-13।
123. हेरिगम, अजंता प्रेस्कोज, प्ले. 1, 1, केव 17।
124. याजदानी, वही, भा. 1, प्ले. 24 बी, पृ. 41।
125. एलेन, वही, प्ले. 1, 1-9।
126. ए. एस. आई. एन. रि., 1931-14, प्ले. 70, 6।

127. डा. वासुदेवशरण अग्रवाल, गुप्ता आर्ट, प्ले. 1, 2, लखनऊ 1947।
128. हेरिगम, वही, प्ले. 3, 4।
129. डा. बेनी प्रसाद द्वारा अनूदित तथा ख्वादमीर कृत कानून ए हुमायूंनी, पृ. 60।
130. लोबी द्वारा अनूदित तथा बदायूनी कृत मुंतशबा-उत-तवारीख, जिल्द 2, पृ. 168।
131. होम बैण्ड द्वारा अनूदित तथा मांस रेट द्वारा लिखित दि कमेंटेरियस, पृ. 198।

4

भारतीय संस्कृति में चित्रकला का विकास

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

भारतीय चित्रकला की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है। चित्रकला सम्बन्धी उल्लेख उपनिषदों में मिलते हैं। बौद्ध ग्रन्थ विनयपिटक में जो तीसरी-चौथी शताब्दी ईसा पूर्व पाली में लिखा गया, राजा प्रसेनजित के चित्रागार का वर्णन है। महाउम्मग जातक में गंगा पर बने महाउम्मग महल के चित्रों का उल्लेख है। महाभारत और रामायण काल में भी महलों और मन्दिरों में चित्र बनाए जाते थे। कौटिल्य भी चित्रकला से भली-भांति परिचित थे और उन्होंने अपने अर्थशास्त्र में विभिन्न चित्रविधियों का उल्लेख किया है। पुराणों में ऐसी चित्र विधाओं का विस्तृत वर्णन है। विशेषकर विष्णु धर्मोत्तर पुराण के चित्र सूत्र में चित्रकला का विशद विवेचन किया गया है। शिल्पशास्त्रों में वास्तुकला और प्रतिमाविज्ञान के साथ-साथ ही चित्रकला का वर्णन किया जाता था।

संस्कृत साहित्य में चित्रकला सम्बन्धी बड़े रोचक उद्धरण मिलते हैं। कालिदास ने अभिज्ञान शाकुन्तल, विक्रमोर्वशीयम, कुमारसम्भव, मेघदूत आदि लगभग अपने सभी ग्रन्थों में चित्रशालाओं का वर्णन किया है। बाण की कादम्बनी और हर्षचरित के प्रत्येक महल में भित्ति-चित्रों से अलंकरण का वर्णन मिलता है :-

आलेख्य गृहैरिव बहुवर्णा चित्रपत्र शकुनिशत संशोभितैः

श्रीहर्ष के नैषध चरित में चित्रकला को यही महत्व दिया गया है। भवभूति तीनों प्रकार के चित्रों का वर्णन करते हैं–पट्ट, पट और कुड्य (भित्ति)। वास्तव में सौन्दर्यानुभूति के क्षेत्र में चित्रकला को अन्य शिल्पों से उत्तम समझा जाता था–

चित्रं हि सर्व शिल्पानां मुखं लोकस्य च प्रियम्

वात्स्यायन ने अपने कामसूत्र में चित्रकला के छः अंगों का वर्णन किया है :

1. रूपभेद
2. प्रमाणम्

3. भाव
4. लावण्य योजनम्
5. सादृश्यम्
6. वर्णिका भंग

चित्र सिद्धान्तों के इस सूक्ष्म विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीन भारत में चित्रकला की अत्यधिक प्रगति हो गई थी और इस कला का विधिवत शास्त्रीयकरण हो गया था। भारतीय चित्रकार वर्तना अर्थात् प्रकाश और छाया के सिद्धान्त से भी भली-भांति परिचित था। इसका वर्णन 11वीं शताब्दी में राजा भोज ने अपने समरांगण सूत्रधार में किया है। भारतीय चित्रकार रूपरेखाएँ खींचने और आकृति बनाने में सिद्धहस्त था और प्रमाण क्षय और वृद्धि के अन्य सिद्धान्तों की बारीकियां भी वह खूब समझता था।

भारतीय चित्रकला का सर्वोन्मुख विकास अजन्ता के भित्ति-चित्रों में परिलक्षित हुआ है। अजन्ता में कुल 29 गुफाएँ हैं जिनमें मूल रूप से 16 में चित्र बनाए गए थे। अब केवल 6 गुफाओं में चित्र शेष रह गए हैं। ईसा की प्रथम शताब्दी से 7वीं शताब्दी तक अजन्ता में चित्र बनाए गए। पहली और दूसरी गुफाओं में 627-58 ई. के आसपास चित्र बने। ये चित्र अत्यन्त दक्ष आचार्यों द्वारा बनाए गए हैं। इनमें अंग विन्यास, मुख मुद्रा, भावभंगी और अंग-प्रत्यंगों की सुन्दरता, नाना प्रकार के केशपाश, वस्त्राभरण आदि तत्त्वों को बड़ी सुन्दरता से चित्रित किया गया है और वे दर्शक की सौन्दर्यानुभूति पर स्थायी प्रभाव अंकित करते हैं। पशु, पक्षी, वृक्ष, तड़ाग और कमल आदि के चित्र भी बड़ी निपुणता से बनाए गए हैं। सुन्दर रंगों का प्रयोग किया गया है और चित्र में उनका मिश्रण बड़ा सुरुचिपूर्ण है। चित्रण इतना प्रशस्त और नियमित है कि प्रकृति और सौन्दर्य की आत्मा से साक्षात्कार कर लेने वाले कलाकार के अतिरिक्त कोई दूसरा उन्हें अंकित नहीं कर सकता।

भारतीय चित्रकला पाश्चात्य चित्रकला की तरह रूप प्रधान न होकर भाव प्रधान है। आन्तरिक और मानसिक भावों को प्रदर्शित करने में भारतीय कलाकार प्रवीण था। अजन्ता के कुछ चित्र इतने भावपूर्ण हैं कि उनमें चित्रित स्त्री-पुरुषों की मानसिक दशा का प्रत्यक्ष दिग्दर्शन होता है। वे कैमरे से खिंची हुई फोटो के समान सही अनुकृति हैं, किन्तु निर्जीव नहीं हैं, उनमें रक्त प्रवाहित होता है और वे जीवित सी लगती हैं उनकी मुद्राओं में गति है और चेहरों पर भाव अंकित है।

अजन्ता में भारतीय चित्रकला का चरमोत्कर्ष अंकित है। इसके पश्चात् बदली हुई परिस्थितियों के कारण कला का पतन होना आरंभ हो गया। एलोरा में इस क्रमिक ह्रास के समुचित प्रमाण मिलते हैं। वहाँ चित्रों में न तो वह कमनीयता है और न भाव व्यंजना की वह अद्भुत क्षमता ही। आकृतियों की नाक आवश्यकता से कुछ अधिक लम्बी होती जाती है और परली निकली हुई आँख का मूलरूपेण आरंभ हो जाता है। इनकी रेखाओं में कोणात्मक प्रवृतियाँ भी विद्यमान हैं। पुरुषों के परले वक्ष को आवश्यकता से अधिक गोल करके आगे बढ़ा दिया

जाता है। ये सभी तत्त्व उस मध्यकालीन भारतीय चित्रकला शैली के सूचक हैं जिसे भूल से जैन या गुजरात शैली कहा जाता है, लेकिन वास्तव में इसे 'अप्रभ्रंश शैली' के नाम से अभिहित करना अधिक उपयुक्त होगा।

(क) गुप्तकालीन शैली

गुप्तकाल में वास्तुकला और शिल्पकला की भांति ही चित्रकला भी अपने वैभव, गौरव तथा तकनीक की चरम सीमा पर पहुँच गयी। गुप्तकालीन चित्रकला के विश्वविकास उदाहरण अजंता और बाघ की गुफाओं में उपलब्ध हैं।

साहित्यिक साक्ष्य

कालिदास के ग्रन्थों से भी पता चलता है कि उस समय चित्रकला का खूब प्रचार था। कालिदास कृत मेघदूत में यक्ष पत्नी के द्वारा यक्ष के भावगम्य चित्र निर्माण का उल्लेख है। वात्स्यायन कृत कामसूत्र से पता चलता है कि चित्रकला का अध्ययन वैज्ञानिक सिद्धान्तों के आधार पर होता था। विष्णुपुराण में चित्रकला के अंगों का विशद वर्णन है। विशाखदत्त कृत मुद्राराक्षस में चाणक्य द्वारा नियुक्त जिस गुप्तचर को अमात्य राक्षस की मुद्रा उपलब्ध हुई थी, वह पट फैलाकर भिक्षा माँग रहा था। इस पट पर यमराज का चित्र अंकित था।

शैली एवं तकनीक

गुप्तकाल में दीवारों, छतों और वस्त्रों पर चित्रकला का अलंकरण होता था। अर्तिका से रेखा खींचने के पूर्व दीवार तथा छत को समतल कर उस पर बज्रलेप (पालिश) लगाते थे। यह गोबर, मिट्टी, भूसी, चूने, जूट और सन के कणों द्वारा तैयार किया जाता था। उसे चिकना करने के लिए अंडे के छिल्के का प्रयोग होता था। समतल भूमि को चिकना कर उस पर चित्रण कार्य प्रारंभ होता था। तत्कालीन ग्रन्थों में लेप लगाने का विवरण मिलता है। सबसे पहले रूपरेखा बनायी जाती थी। इसके बाद विविध रंग भरे जाते थे। कालिदास के ग्रन्थों में चित्रकला की सामग्री का उल्लेख हुआ है।

गुप्तकालीन चित्रकारों ने मानव जीवन के अतिरिक्त पशु-पक्षियों के जीवन तथा प्रकृति के विभिन्न अंगों का चित्रण किया है। प्रायः चित्र दो प्रकार के हैं—धार्मिक और लौकिक। भगवान बुद्ध तथा बोधिसत्वों के जीवन की प्रमुख घटनाओं तथा जातक कथाओं का सुन्दर निरूपण हुआ है। इन चित्रों में पुरुषों तथा स्त्रियों के शारीरिक गठन, उभार, केश विन्यास, मुखमुद्रा, भावभंगिमा, अंग-प्रत्यंग की सुन्दरता एवं वस्त्राभूषणों का सफल अंकन हुआ है।

स्त्रियों का चित्रण

अजंता के भित्ति-चित्रों में स्त्री का चित्रण सुन्दर, संयत एवं सम्मानपूर्ण रूप में हुआ है। खड़ी हुई, घुटनों के बल बैठी हुई, साधारण रूप में बैठी हुई और लेटी हुई मुद्राओं में स्त्रियों

का सफल चित्रण हुआ है। स्त्रियों की चित्रकारी का सर्वाधिक सुन्दर नमूना श्यामा राजकुमारी का है जिसकी भावभंगिमा व बनावट आदि सुसज्जापूर्ण एवं भावपूर्ण है। अन्य चित्रों में 'प्रसाधन' और 'मता पुत्र' चित्र भी विशेष उल्लेखनीय हैं।

अजंता के कुछ महत्वपूर्ण चित्र

गुफा संख्या एक में बुद्ध की दो प्रमुख जीवन घटनाएँ अंकित हैं। प्रथम सम्बोधि प्राप्त करने का समय गौतम पर 'मार' का प्रलोभन और आक्रमण चित्रित है। यहाँ भगवान को वज्रासन और भूमिस्पर्श मुद्रा में दिखलाया गया है। एक अन्य चित्र में श्रावस्ती के चमत्कारों का चित्रण हुआ है। गुफा संख्या दो में बुद्ध के जन्म की घटना चित्रित है। माया का शयनागार है जिसने स्वप्न में एक श्वेत हाथी को अपने शरीर में प्रवेश करते देखा था। नीचे चित्र में मायादेवी एक वृक्ष की टहनी पकड़े और इन्द्र नवजात शिशु को अपनी भुजाओं में उठाये हुए हैं। दाएँ सात पदचिह्न हैं, जो बुद्ध पैदा होते ही चले थे। इसी गुफा में हंस जातक (संख्या 502), विधुर पंडित जातक संख्या 545 और रुद्र जातक (संख्या 502) का विवरणात्मक चित्रण हुआ है।

गुफा संख्या 16 में सोती हुई पत्नी यशोधरा और पुत्र राहुल पर गृहत्याग के पूर्व सिद्धार्थ अन्तिम दृष्टि डालते हुए चित्रित हैं। सिद्धार्थ के उस समय की स्थिति को चित्रित करने में चित्रकार को सफलता मिली है। इसी गुफा में एक अन्य चित्र है, जिसमें मृत्यु शैय्या पर राजकुमारी और उसके समीप बैठे हुए व्यक्तियों की विफलता चित्रित है। करुणा और भावनाओं की दृष्टि से यह चित्र श्रेष्ठतम माना जाता है।

गुफा संख्या 17 में एक चित्र में बुद्ध को यशोधरा से भिक्षा माँगते हुए और यशोधरा के द्वारा राहुल को बुद्ध को सौंपते हुए प्रदर्शित किया गया है। यशोधरा के मुख पर आग्रह और विवशता तथा राहुल के मुख पर आत्मसमर्पण और बुद्ध के मुख पर शांति एवं निवृत्ति के भावों का प्रभावोत्पादक रूप में अंकन हुआ है। इसके अतिरिक्त बिहार के मंडल की दीवारों पर अनेक जातक कथाओं का चित्रण हुआ है, जिसमें महाकपि जातक, हस्ति जातक, बेस्सन्तर जातक, सुतसोम जातक, सरभभिग जातक, महर्षि जातक, वलाहस्य जातक, रुद्रजातक और निग्रोधमिग जातक की कथाओं का विस्तृत चित्रण हुआ है। इसके अतिरिक्त इस गुफा में सिंहल के राजदरबार का चित्र है।

चित्रकला की विशेषता

अजंता की चित्रकला में स्वाभाविकता, सादगी, सौम्य, औचित्य एवं सौन्दर्य की भावना है। अजंता के भित्ति-चित्रों में मैत्री, करुणा, प्रेम, क्रोध, लज्जा, हर्ष, उल्लास, उत्साह, चिंता और घृणा आदि विविध प्रकार के भाव, शांत, तपस्वियाँ और राजाओं से लेकर खूँखार बाघ निर्दग अधिक, साधुवेशधारी धूर्त, शिकारी, नर्तक, नायक, सुन्दर वस्त्राभूषणों से अलंकृत रमणियाँ और सभी प्रकार के मनुष्य, ध्यानावस्थित बुद्ध से लेकर प्रणय क्रीड़ा में रत दम्पति तथा श्रृंगार में

संलग्न स्त्रियाँ तक समस्त मानव जीवन के कार्यकलाप अंकित हैं। अजंता की कलाकृति इतनी पूर्ण, इतनी निर्दोष, सजीव तथा मुखरित है कि इसे संसार की सर्वश्रेष्ठ कला माना गया।

बाघ की चित्रकारी

इन्दौर से सौ मील दूर मालवा गुजरात सीमा पर बाघ गाँव के निकट बाघ नदी के तट पर स्थित अजंता के समान ही गिरि गुफाएँ हैं, जिनमें बिहार और चैत्य हैं। इन गुफाओं की संख्या नौ है और ये लगभग 700 मीटर की दूरी तक विस्तृत हैं। गुफा संख्या दो में चित्रकला के कुछ चिह्न पाये गये। गुफा संख्या 4, जो रंगमहल के नाम से विख्यात है, में मनोहारी और भावप्रद चित्रकला के दर्शन होते हैं। गुफा संख्या चार और पाँच में चित्रकारी अपेक्षाकृत अधिक सुरक्षित मिलती है। सुरक्षित चित्रों की संख्या छः है। पहले दृश्य में दो स्त्रियाँ बैठी हुई हैं। इनमें एक स्त्री दु:खी है और दूसरी उसकी करुण कहानी सुनकर उसके साथ सहानुभूति प्रकट करती हुई दिखायी गयी है। दूसरे दृश्य में चार पुरुष बैठे शास्त्रार्थ कर रहे हैं। तीसरे पुरुष के ऊपरी भाग में छः पुरुष उड़ते हुए प्रदर्शित किये गये हैं। संभवत: ये ऋषि और अर्हत हैं। निचले भाग में पाँच नर्तकियों के सिर दिखलायी पड़ रहे हैं। चौथे दृश्य में गणिका स्त्रियों के दो समूह दिखाई पड़ रहे हैं। साथ में एक नर्तक है। इस दृश्य का अंकन अत्यंत मनमोहक है। पाँचवें दृश्य में अश्वारोहियों के जुलूस का दृश्य है। इनका शिरस्त्राण विशिष्ट प्रकार का है। छठे दृश्य में हाथियों का जुलूस चित्रित है। कुछ सवार ध्वज धारण किये हैं। सभी चित्र हृदयग्राही और जीवंत हैं।

बाघ के चित्र भाव प्रधान हैं। लगता है चित्रकार ने आह्लादित एवं भाव विभोर होकर उनका निर्माण किया था। सर जान मार्शल के अनुसार बाघ की चित्रकारी की कलात्मकता अजंता की चित्रकारी से किसी प्रकार भी कम नहीं है। इन चित्रों का रचना प्रकार विशेष महत्व रखता है। मार्शल के अनुसार बाघ की चित्रकारी जीवन की विभिन्न दशाओं का चित्रण करती है। साथ ही वे उन अव्यक्त भावों को स्पष्ट करते हैं जिनको प्रकट करना उच्च कला का ध्येय है। अजंता के विपरीत बाघ के चित्रों को चित्रित करने की कल्पना एवं निर्माण एक ही समय किया गया। उनको देखने से एक समष्टि का भाव उत्पन्न होता है। हैवेल के अनुसार बाघ के चित्रों में अनुपात एवं औचित्य का बड़ा ध्यान रखा गया है। अजंता के चित्रों का विषय प्रमुखत: धार्मिक है, मनुष्य के लौकिक जीवन का चित्रण गौण है। इसके विपरीत बाघ के चित्रों के विषय मुख्यत: मानव के दैनिक जीवन से संबंधित हैं, उसमें धार्मिकता गौण है। बाघ के चित्रों में अद्भत सौन्दर्य, कलाकार की अलौकिक शक्ति, हृदय के स्वर्गीय आनन्द की दिव्य ज्योति प्रस्फुटित होती है।

(ख) अपभ्रंश शैली

यह शैली भारत में 11वीं से 16वीं शताब्दी तक अर्थात् लगभग सम्पूर्ण सल्तनत काल में

प्रचलित रही। इस शैली के कुछ मिश्रित चित्र भी मिले हैं किन्तु वे अधिक महत्वपूर्ण नहीं हैं। मुख्यत: ये चित्र जैन धर्म सम्बन्धी पोथियों, पाण्डुलिपियों में बीच-बीच में छोड़े हुए चौकोर स्थानों में बने हुए मिलते हैं। इनमें कपड़े के गुड्डे जैसी आकृतियाँ हैं जो प्राय: सवाचश्म है। परली आँख बाहर निकली हुई अधर में लटकी रहती है। नाक नुकीली और आवश्यकता से अधिक लम्बी होती है। ये आकृतियां निर्जीव और बेडौल होती हैं। जैसे श्वेताम्बर जैन मूर्तियों में शीशे की आँखें लगा दी जाती हैं वैसा ही आलेखन इन चित्रों में किया गया है और ऐसा प्रतीत होता है कि इन आकृतियों की आँखें शीशे की हैं और उन्हें चिपका दिया गया है। अंग-प्रत्यंगों का आलेखन भी स्वाभाविक नहीं है। पुरुषों का परला वक्ष गोल और ऐसा उठा हुआ बनाया जाता है जैसे स्त्रियों के स्तन हों, पेट कृश और पिचका हुआ, हाथों की ऊँगलियाँ ऐसी जड़ जैसे मानो कपड़े की बत्तियाँ हों। ये आकृतियाँ प्रसंगानुसार तो अवश्य बनाई जाती थीं किन्तु इनमें भावों का सर्वथा अभाव रहता था।

इन चित्रों में पीले और लाल रंगों का प्रयोग अधिक हुआ है। रंगों को गहरा लगाया गया है। पृष्ठभूमि आकृतियों के ऊपर चढ़ जाती है और बर्तना, क्षय, वृद्धि आदि का कोई ध्यान नहीं रखा गया है। पेड़ों का अंकन गुलदस्ते जैसा किया गया है। पशु-पक्षी कागज के खिलौने या कपड़े के गुड्डे जैसे प्रतीत होते हैं। एक ही चित्र में कई-कई दृश्य अलग-अलग दिखाए गए हैं जो बड़े बेमेल और असंगत लगते हैं। ये प्राचीन नागर शैली का अपभ्रंश स्वरूप हैं और इसलिए इसे जैन या गुजरात जैसे किसी धर्म विशेष या किसी प्रान्तीय परिभाषा में न बाँधकर, 'अप्रभ्रंश शैली' का नाम दिया गया है।

गुजरात के पाटन नगर से 'भगवती' सूत्र की एक प्रति 1062 ई. की प्राप्त हुई है। इसमें केवल अलंकरण किया गया है, चित्र नहीं है। अनुमान है कि पोथियों को चित्रित करने की परम्परा इसके पश्चात् आरंभ हुई। सबसे पहली चित्रित कृति ताड़पत्र पर लिखित 'निशीथ चूर्णि' नामक पाण्डुलिपि है जो सिद्धराज जयसिंह के राज्यकाल में 1100 ई. में लिखी गई थी और अब पाटन के जैन भण्डार में सुरक्षित है। इसमें बेलबूटे और कुछ पशु आकृतियाँ हैं। 13वीं शताब्दी में देवी-देवताओं के चित्रण का बाहुल्य हो गया। अब तक ये पोथियाँ ताड़पत्र की होती थीं। 14वीं शताब्दी से कागज का प्रयोग होने लगा। अपभ्रंश के सबसे सप्राण उदाहरण कागज की पोथियों से मिलते हैं। गुजरात के अतिरिक्त माण्डू और जौनपुर इस शैली के अन्य प्रमुख केन्द्र थे। इस शैली में धीरे-धीरे आँखों को बुरी लगने वाली जड़ता कम हो जाती है और आकृतियाँ कुछ गतिमान प्रतीत होने लगती हैं। उदाहरण के लिए हाथी का पाँव उठा कर चलना इस शैली के विकास को सूचित करता है। फिर भी अजन्ता का लालित्य और सौन्दर्य इन चित्रों में नहीं है।

1100 से 1400 ई. के मध्य जो चित्रित ताड़पत्र तथा पाण्डुलिपियाँ मिलती हैं, उनमें अंगसूत्र 'कथासरित्सागर', 'त्रिषष्ठिश्लाका पुरुष-चरित' श्री नेमीनाथ चरित, श्रावक प्रतिक्रमण चूर्णि आदि मुख्य हैं। 1400 से 1500 ई० के काल में जो पाण्डुलिपियाँ चित्रित की गई हैं उनमें 'कल्पसूत्र' 'कालकाचार्य कथा' और 'सिद्धहैम' आदि विशेष उल्लेखनीय हैं।

गुजरात में प्राप्त सभी चित्रित कृतियाँ जैन धर्म से सम्बन्धित हैं। कल्पसूत्र महावीर और अन्य जैन तीर्थंकरों की जीवन कथा से सम्बन्धित है और प्रसंगानुसार ऐसे ही इसमें चित्र हैं। कल्पसूत्र की एक चित्रित प्रति 1237 ई. की ताड़पत्र पर भी प्राप्त हुई है। यह पाटन के भण्डार में है। इन सबमें ध्यान देने की बात यह है कि पृष्ठ के कथानक से चित्र का अधिक सम्बन्ध नहीं होता है। लिपिक खाली स्थान (आलेख्य स्थान) छोड़कर आगे बढ़ जाता है और उसमें बाद में चित्रकार चित्र बनाता है।

यह स्मरणीय है कि कल्पसूत्र की प्रतियाँ विशुद्ध धार्मिक भावना से प्रेरित होकर बनाई जाती थीं। धनवान लोग इन्हें बनवाकर जैन साधुओं को समर्पित कर देते हैं। इस कार्य को बड़ा पुण्यमय समझा जाता था। वे लोग इन्हें सुरक्षित रखते थे। वर्ष में एक बार पर्यूषण के अवसर पर इन प्रतियों को निकालकर श्रोताओं को सुनाया जाता था और इनके चित्र दिखाए जाते थे। यही कारण है कि इनकी रचना परम्परागत ढंग से स्थापित रूढ़ियों के आधार पर होती रही। कालकाचार्य कथा जैसे ग्रन्थों के चित्रों में यद्यपि तैमूरी वेशभूषा का प्रयोग 14वीं शताब्दी में होने लगा तथापि जैन विषयों में वही नुकीली नाक, अधर में झूलती परली आँख और नुकीली दुहरी ठुड्डी काफी देर तक दिखाई जाती रही।

लिखने और चित्र बनाने के लिए कागज का प्रयोग आरंभ होने पर चित्रित पाण्डुलिपियों की शैली में एक नए युग का सूत्रपात हुआ। कल्पसूत्र और कालकाचार्य कथा की 15वीं और 16वीं शताब्दी में अनेकों प्रतियाँ बनाई गईं। हिन्दी में भी कामशास्त्र पर अनेक चित्रित पाण्डुलिपियाँ बनीं जैसे 'रति रहस्य'।

इस शैली के ही अन्तर्गत चित्रित 'बसन्त विलास' नामक एक कृति मिली है। इसमें कालिदास के ऋतु संहार की शैली पर बसन्त के सौन्दर्य का कविता में वर्णन है और तदनुरूप चित्र बनाए गए हैं। कुल 79 चित्र हैं। ये अन्य धार्मिक कृतियों जैसे ही हैं। बसन्त विलास की रचना 1451 ई. में हुई। एक अन्य पटचित्र 1433 ई. का पाटन से प्राप्त हुआ है। यह तीस फीट लम्बा और 32 इंच चौड़ा है। इसमें जैन तीर्थों के चित्र हैं। यात्रियों के चढ़ने-उतरने, मुनियों के दृश्य आदि इसके सभी विषय धार्मिक हैं।

ईरानी प्रेरणा

इस काल में एक बड़ा महत्वपूर्ण परिवर्तन और हुआ। 1192 में तराइन के द्वितीय युद्ध के परिणामस्वरूप दिल्ली सल्तनत की स्थापना हुई। मुसलमान अपने साथ कुछ नए-नए तत्त्व लाए और धीरे-धीरे देशी कलाकारों ने उन प्रेरणाओं को स्वीकार करना आरंभ किया। 14वीं शताब्दी के प्रारंभ में ही गुजरात का प्रदेश दिल्ली के अधीन हो गया। इससे सांस्कृतिक आदान-प्रदान का मार्ग खुल गया। 14वीं और 15वीं शताब्दी की अपभ्रंश शैली के चित्रों में ईरानी प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। उदाहरण के लिए अहमदाबाद से प्राप्त कल्पसूत्र की एक प्रति में आकृतियाँ ईरानी शैली से प्रभावित हैं। वस्त्रविन्यास और साजसज्जा भी ईरानी है। ईरानी बेल-बूटों का प्रयोग

किया गया है। अहमदाबाद से प्राप्त 15वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में रचित 'कल्पसूत्र' की यह प्रति अपभ्रंश शैली की सबसे उत्कृष्ट कृति मानी जाती है। इसके हाशियों में सुन्दर ढंग से अंकित राग-रागिनियाँ, भिन्न-भिन्न नृत्यों और भाव भंगिमाओं के चित्र बड़े प्रभावशाली हैं। इनका आलेखन सजीव और भावपूर्ण है। चुने हुए अलंकारों का प्रयोग सुरुचिपूर्ण ढंग से किया गया है। नई संस्कृति के संसर्ग का काफी प्रभाव इन चित्रों पर परिलक्षित होता है। कालकाचार्य कथा के चित्रणों में भी यही प्रभाव देखने को मिलता है। मध्यकाल के इस चरण में कला विकास की एक नई दिशा की ओर उन्मुख हो गई। नए युग ने कलाकारों को नई प्रेरणा और कला को नया जीवन प्रदान किया।

16वीं शताब्दी में इस शैली में सौन्दर्य और सजीवता आ जाती है। लगभग 1525 ई. में कृत अवधी 'लौर चन्दा' काव्य के उपलब्ध कुछ चित्रित पृष्ठों में इस शैली का क्रमिक विकास स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। 'लौर चन्दा' हिन्दी अवधी प्रेम कथाओं में सबसे अधिक पुराना ग्रन्थ है। इसकी रचना 1370 में मुल्ला दाउद ने 'चन्दायन' नाम से की थी। बदायूँनी के समय में यह काव्य अधिक प्रचलित था। अपने इतिहास ग्रन्थ 'मुन्ताखाबू तवारीख' में बदायूँनी लिखता है कि चन्दायन को मुल्ला दाउद ने खान-ए-जहान मकबूल (द्वितीय) के समय में बनाया। इसमें लौरिक (प्रेमी) और चांद (प्रेमिका) के प्रेम की कथा है जो बड़ी रसभीनी है और गाकर सुनाई जाती है। इसकी प्रतियाँ बाद में चित्रित की गईं। अवधी को फारसी लिपि में लिखा गया है। एक प्रति के कुछ चित्रित पृष्ठ बनारस के भारत कला भवन में हैं। अन्य प्रतियाँ लाहौर, चण्डीगढ़ आदि के संग्रहालयों में हैं। जबकि लाहौर संग्रहालय की प्रति के चित्र राजस्थानी शैली के हैं और भारत कला भवन के चित्र अपभ्रंश शैली के हैं। इनमें आकृतियाँ गतिमान हैं। आँखें शीशे के मूर्तिमान नेत्रों जैसी नहीं वरन् सजीव हैं। अतिशय अलंकरण का भी इन चित्रों में अभाव है। विषय को भावपूर्ण ढंग से चित्र द्वारा प्रस्तुत करने का चित्रकार ने प्रयत्न किया है। अवधी के इन चित्रित पृष्ठों से भी यह सिद्ध हो जाता है कि अप्रभंश शैली का प्रचलन केवल गुजरात, राजस्थान और मालवा तक ही सीमित नहीं था। सम्भवत: इसकी रचना जौनपुर में हुई जो मध्यकालीन संस्कृति का एक प्रमुख केन्द्र था और जहाँ देशी कलाकारों को संरक्षण और प्रोत्साहन मिलता था।

जौनपुर में 1465 ई. में चित्रित कल्पसूत्र की एक प्रति मिली है। 1439 में सुलतान महमूदशाह खिलजी के राज्यकाल में रचित कल्पसूत्र की ही एक चित्रित प्रति माण्डू से प्राप्त हुई है। इन जैन कृतियों में ईरानी प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। कलाकार निश्चय ही भारतीय थे किन्तु वे ईरानी कला और उसके नक्काशीदार डिजाइनों से परिचित अवश्य रहे होंगे। माण्डू के 'कल्पसूत्र' की चित्र शैली का ही विकसित रूप हमें माण्डू में ही रचित 'न्यामतनामा' में मिलता है।

मालवा के सुल्तान सांस्कृतिक कार्यों में बड़ी रुचि लेते थे और ऐसा प्रतीत होता है कि उनकी राजधानी माण्डू पूर्व मुगल काल में एक उत्कृष्ट सांस्कृतिक केन्द्र था। उनका विदेशी

राजदरबारों से सम्पर्क था। 1467 में महमूद खिलजी के यहाँ बाबर के पितामह मिर्जा अबू सईद का राजदूत जमालुद्दीन अस्तराबादी आया। इन सम्पर्कों के माध्यम से ईरान और माण्डू के मध्य चित्रकला का आदान-प्रदान होता था। माण्डू में चित्रित ग्रन्थों में ईरानी कला का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है। उदाहरण के लिए 'न्यामतनामा' नामक ग्रन्थ का उल्लेख किया जा सकता है। पाक शास्त्र का यह ग्रन्थ गयासुद्दीन खिलजी (1469-1500) के राज्यकाल में लिखा गया। यह फारसी की नस्ख लिपि में है और इसकी लिखावट माण्डू से ही प्राप्त सादी के बोस्तां नामक ग्रन्थ से काफी मिलती जुलती है। इसमें ईरानी चित्रों जैसे प्राकृतिक और उद्यानों के दृश्य बनाए गए हैं। नक्काशी का महीन काम किया गया है। ईंटों के डिजाइन बनाए गए हैं। नस्खी लिपि का अलंकरण के दृष्टिकोण से प्रयोग हुआ है।

राष्ट्रीय संग्रहालय, नई दिल्ली में शेख सादी के 'बोस्ता' की एक सुन्दर चित्रित प्रति सुरक्षित है। यह माण्डू के सुल्तान नासिर शाह खिलजी (1501-12 ई.) के समय की है। इसमें 43 चित्र हैं जिनमें विभिन्न कलाकारों ने काम किया है। इन सभी चित्रों पर ईरान के विख्यात चित्रकार और हिरात शैली के जन्मदाता बिहजाद की कला की छाप है। इमारतों और प्राकृतिक दृश्यों के चित्रण और नक्काशी जैसा अलंकरण में यह प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। ईरानी चित्रकला में, जैसी चीनी बादल दिखाए जाते थे, वैसे इनमें हैं। यह कुछ आश्चर्य की बात है कि इन चित्रों में भारतीय प्रभाव बहुत कम है। चेहरों पर अभिव्यक्ति का भी अभाव है। ऐसा प्रतीत होता है कि बहुत से चित्रकार ईरान से भागकर भारत आए और उन्हें माण्डू के दरबार में शरण मिली जहाँ उन्होंने इन चित्रित ग्रन्थों की रचना की। यह सम्भव हो सकता है क्योंकि 1507 ई. में शैबानी खां उजबेक ने हिरात पर अधिकार कर लिया था और आसपास के प्रदेश में मारकाट मचा दी थी। यह शैबानी खां वही है जिससे बाबर जैसा शेर दिल भी डरता था और जिसने बाबर जैसे दृढ़प्रतिज्ञ और साहसी व्यक्ति को भी मध्य एशिया से बाहर खदेड़ दिया था।

इन सब उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि मध्यकालीन भारतीय चित्रकला में ईरानी प्रभाव मुगलों से पहले आ चुका था। विशेष रूप से गुजरात, राजस्थान और मालवा आदि प्रदेशों में चित्रित ग्रन्थों में यह प्रभाव धीरे-धीरे 15वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से जमता जा रहा था। इन प्रान्तीय कलाकारों और उनकी शैलियों का नवोदित मुगल चित्रकला पर प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था।

(ग) पाल शैली

वैसे कश्मीर में भी एक चित्र शैली प्रचलित थी जिसके महत्वपूर्ण उल्लेख मध्यकालीन साहित्य में मिलते हैं। किन्तु इस शैली के अन्तर्गत रचित चित्र अभी उपलब्ध नहीं हुए हैं। कश्मीर निःसन्देह चित्रकला का एक अत्यन्त प्राचीन केन्द्र था। अतः इस प्रदेश में धीरे-धीरे अपनी एक विशिष्ट शैली का विकसित हो जाना स्वाभाविक था जो मूल से भिन्न तो नहीं रही होगी किन्तु जिसमें प्रादेशिक विशेषताएँ अवश्य होंगी। अकबर के चित्रकारों में अनेकों कश्मीरी चित्रकारों का उल्लेख मिलता है और ऐसा लगता है कि यहाँ निरन्तर चित्रकला का विकास होता

रहा और चित्रकार आश्रय पाते रहे। किन्तु चित्रों के अभाव में शैली के विशिष्ट तत्त्वों का विवेचन संभव नहीं हुआ है।

चित्रकला की एक अन्य शैली बिहार, बंगाल और नेपाल में मध्यकाल में प्रचलित थी। पाल राजाओं के संरक्षण में पलने के कारण इसे पालशैली का नाम दिया गया है। यह शैली अजन्ता की परम्परा से ही निकली और अपभ्रंश के विपरीत इसमें थोड़ा बहुत मूल लालित्य बना ही रहा। इस शैली के अन्तर्गत चित्रित पोथियाँ 11वीं शताब्दी के आरंभ से मिलती हैं। अधिकांशतः ये बुद्धधर्म सम्बन्धी "अष्ट साहस्रिक प्रज्ञापारमिता" की पोथियाँ हैं। महायान के अनुसार यह आठ हजार पंक्तियों का ग्रन्थ था जिसमें बुद्धत्व प्राप्त करने के लिए ज्ञान की बातें कही गई थीं। स्पष्टतः ही इन दार्शनिक विषयों के चित्र नहीं बनाए जा सकते थे और इन पोथियों में बने चित्रों का ग्रन्थ के विषयों से कोई सम्बन्ध नहीं था। थोड़ा बहुत साम्य बनाए रखने के लिए इनमें महायान बौद्ध देवी-देवताओं के बुद्ध के जीवन सम्बन्धी और बौद्ध तीर्थ स्थलों के चित्र बनाए गए हैं। कालान्तर में प्रज्ञापारमिता और तारातान्त्रिक आदि देवियों और मंजुश्री आदि देवताओं के चित्र बनने लगे।

इस शैली की सबसे प्राचीन प्रति 980 ई. की है। कुछ नेपाल में बनी प्रतियाँ मिली हैं। 1015 ई. की एक प्रति विशेष रूप से उल्लेखनीय है। ऐसी कृतियाँ बिहार और बंगाल में 13वीं शताब्दी के बाद नहीं मिलतीं और परवर्ती चित्रित ग्रन्थों में अपभ्रंश का प्रभाव अधिक हो जाता है। किन्तु नेपाल में यह शैली इसके बाद भी जीवित रहती है। वहाँ पोथियाँ ही नहीं पट चित्र भी इस शैली में बनते थे। 15वीं शताब्दी के बाद वहाँ भी इनका प्रचलन घट गया। तिब्बत में इसके बाद भी इस शैली का काफी प्रभाव रहा।

पाल शैली के अन्तर्गत चित्रित पोथियाँ तालपत्रों में हैं। लम्बे-लम्बे तालपत्र के एक से टुकड़े काटकर उनके बीच में चित्र के लिए स्थान छोड़कर दोनों ओर ग्रन्थ लिख दिया जाता था। नागरी लिपि में बड़े सुन्दर अक्षरों में यह लिखाई की जाती थी। बीच के खाली स्थान में सुरुचिपूर्ण रंगों में चित्र बनाए जाते थे। सुन्दर और सुडौल आकृतियाँ बनाई जाती थीं। जिनमें बड़े आकर्षक ढंग से आँखों और अन्य अंग-प्रत्यंगों का आलेखन होता था। ये चित्र बड़े सजीव हैं और अजन्ता की कला का स्मरण कराते हैं। तत्कालीन अपभ्रंश के चित्रों से ये कहीं उत्कृष्ट हैं। एक ही परम्परा की दो विकास धाराओं के इस स्पष्ट अन्तर पर कुछ आश्चर्य होता है। आगे चलकर पाल शैली का पतन हो जाता है, किन्तु अपभ्रंश शैली, ईरानी शैली से प्रेरणा लेकर अपना कलेवर बदल लेती है और परिणामस्वरूप राजस्थानी शैली का जन्म होता है।

कामशास्त्र सम्बन्धी कुछ कृतियों को छोड़कर लगभग ये सभी चित्रित ग्रन्थ धार्मिक होते थे। इनमें या तो जैन विषय होते थे, जैसे अपभ्रंश शैली में या बौद्ध विषय जैसे पाल शैली में। अभी लौकिक कला का विकास नहीं हुआ था। पाल राजाओं ने चित्रकला को कुछ संरक्षण दिया किन्तु अधिकांशतः यह सेठ लोगों की धार्मिक भावना से प्रेरणा लेती रही। गुजरात में तो चित्रित ग्रन्थों की अपभ्रंश परम्परा को लगभग सम्पूर्ण संरक्षण धनाढ्य जैन लोगों ने ही दिया। वैसे प्रान्तीय राजाओं के चित्रकला को प्रोत्साहन देने के उल्लेख मिलते हैं। जौनपुर और मालवा के

शासक चित्रकारों को अपने यहाँ नियुक्त करते थे, किन्तु दिल्ली के सुल्तानों ने इस दिशा में शायद कभी कोई रचनात्मक कार्य नहीं किया। हसन, निजामी, मीन्हाज या जियाउद्दीन बर्नी इस सम्बन्ध में मौन हैं। फिरोज तुगलक का इतिहासकार अफीफ कुछ और ही लिखता है। वह कहता है कि सुल्तान ने आवास के महलों में जीवधारियों के चित्र बनाने पर प्रतिबन्ध लगा दिया और पहले बने हुए ऐसे चित्रों पर सफेदी पुतवा दी। उसकी धारणा थी कि यह धर्मविरुद्ध है। उसने आदेश दिया कि केवल उद्यानों के दृश्य ही बनाए जाने चाहिए। इस प्रकार दिल्ली सल्तनत के अन्तर्गत चित्रकला को संरक्षण देने का कोई उल्लेख नहीं मिलता है। मध्यकाल में सबसे पहले अकबर ने ही चित्रकला के क्षेत्र में नए युग का सूत्रपात किया।

पन्द्रहवीं शती के बाद जिस प्रकार साहित्य में निर्गुण और सगुण भक्ति की व्यापकता लक्षित होती है, उसी प्रकार अवतार लीलाओं के चित्र भी प्रायः प्रचलित रहे हैं। मुगलकाल में अवतारवादी सगुण साहित्य के समानान्तर राजदरबारी चित्र शैली का प्रचार था, जिसे प्रायः मुगल शैली के नाम से अभिहित किया जाता है। इसमें संदेह नहीं कि मुगलों ने भारतीय चित्रकला को एक नयी दिशा प्रदान की थी। मुगल दरबारों में फारसी और भारतीय दोनों कोटि के चित्रकारों को समान रूप से प्रश्रय और प्रोत्साहन मिले थे। जिसके फलस्वरूप ईरानी शैली भारतीय शैली के साथ मिश्रित होकर एक नयी शैली में परिवर्तित हो गयी थी। मुगल राजाओं में चित्रप्रेमी हुमायूं ने स्वयं 'शीरी कलम' के मुगल चित्रकार अब्दुस्समद शीराजी और मीरसैयदअली को अपने दरबार में निमंत्रित किया था, जो अकबर के शासन काल में भी विख्यात चित्रकारों में से थे। इस चित्र शैली में ईरानी और भारतीय रंगों का मिश्रण तो हुआ ही, साथ ही फारसी ग्रन्थ के चित्रों के साथ 'महाभारत' और 'रामायण' की घटनाओं पर आधारित चित्र भी तैयार किए गये। अकबरी दरबार के अधिकांश चित्रकार राजकीय घटनावृत्तों के साथ पौराणिक प्रसंगों के भी चित्र बनाते थे।[1] जबकि इस्लामी चित्रकार फकीरों के विचारानुरूप कार्य किया करते थे। उनके चित्रों में शेखों के विषय समाविष्ट रहते थे। वे खुदा के स्रष्टा रूप का चित्र अधिक चित्रित किया करते थे। इन रूपों में भी खुदा का 'अलरहमान' रूप सर्वाधिक व्यक्त हुआ है।[2] मुगल कला में प्रायः अकबर शैली के चित्रों को विचारकों ने भारतीय और अभारतीय दो भागों में विभक्त किया है जिनमें अधिकांश भारतीय चित्र दरबारी शैली में चित्रित 'रामायण' और 'महाभारत' तथा 'श्रीमद्भागवत' की घटनाओं से सम्बद्ध रहे हैं।[3] अकबर शैली ने अपने युग की अनेक शैलियों को प्रभावित किया था। क्योंकि इस शैली से मिलते हुए सोलहवीं और सत्रहवीं शती के अनेक ऐसे चित्र मिलते हैं जिनके मुख्य विषय रामलीला, कृष्णलीला और दशावतार चरित रहे हैं। इस शैली के एक विस्तृत चित्र में कला अवतार पृथु और पृथ्वी की कथा इस प्रकार रूपांकित है। आदि राजा पृथु ने पृथ्वी से कहा कि मैं तुझे दुहूँगा, जिसे अस्वीकार कर पृथ्वी गाय का रूप धारण कर भागी और राजा ने उसका पीछा किया। गोरूपा पृथ्वी आकाश में भागी चली जा रही है। धनुषधारी पृथु उसका पीछा कर रहे हैं। नीचे खड़े लोग चिंता और आश्चर्यपूर्वक यह दृश्य देख रहे हैं।[4]

लगभग दसवीं से पन्द्रहवीं शताब्दी तक चित्रकला की अनेक धार्मिक और साम्प्रदायिक वैष्णव, बौद्ध, सिद्ध, जैन आदि शैलियाँ विशेषकर बिहार, बंगाल, नेपाल और गुजरात में प्रचलित थीं। इनमें से वैष्णवों में 'गीत गोविन्द' के चित्र चित्रित होते थे और बौद्धों में बोधिसत्वों और वज्रयानी बौद्ध सिद्धों के। बोधिसत्वों और बौद्ध सिद्धों का उन दिनों तक तिब्बत में सर्वाधिक प्रचार था। दक्षिण भारत में द्रविड़, वेसर और नागर तीन प्रकार की शैलियों का प्रचार था। इनमें नागर शैली सम्भवत: उत्तर भारत से ही दक्षिण में गयी थी। इन समस्त शैलियों पर द्रविड़ अलवारों तथा दक्षिण आचार्यों द्वारा प्रचारित विष्णु भक्ति एवं उनके अवतारों का प्रभाव पड़ा था। वस्तुत: अवतारवादी चित्रकला वैष्णव भक्ति की प्रबल धारा से अनुप्राणित हो उठी थी। विष्णु कांची या दक्षिण भारत के तिरुपति आदि अन्य मंदिरों में चित्रित पट एवं भित्तिचित्रों में इन शैलियों की विवृति हुई है। शैवों में 'नटराज शिव' की लोकप्रियता देखकर वैष्णवों में भी कृष्ण का कलिय दमन रूप विभिन्न कलाओं में प्रचलित हुआ।

(घ) राजपूत शैली

मध्ययुग में मुगल शैली के समानान्तर विशेषकर राजस्थान एवं बुदेलखण्ड के हिन्दू राजाओं में राजपूत शैली बहुत प्रचलित थी। मुगल शैली के दरबारी रूप की अपेक्षा इसमें लोक कथा के तत्त्व अधिक दीख पड़ते हैं।[5] सगुण भक्ति काव्य के साथ-साथ 'व्रज उद्गम' और 'गुजरात उद्गम' का संगम होकर चित्रकला का एक प्रवाह चलता रहा है, जिसका प्रभाव राजपूत शैली पर भी रहा है।

यद्यपि वैष्णव चित्रकला के स्वर्णयुग गुप्तकाल और मुगलकाल रहे हैं फिर भी भारतीय चित्रकला विशेषकर भितिचित्रों के द्वारा अपने प्राचीन समृद्ध रूपों को अक्षुण्ण बनाए हुए है। यों तो अन्य कलाओं के साथ चित्रकला का वाचक शब्द 'शिल्प' रहा है, जिसका उल्लेख प्राय: उपनिषदों और ब्राह्मणों में मिलता है।[6] परन्तु चित्र का प्रासंगिक उल्लेख 'शतपथ ब्राह्मण' में हुआ है।[7] फिर भी शैली की दृष्टि से चित्रकला की किसी विशिष्ट शैली का पता नहीं चलता। भारतीय चित्र शैली के मूल में मुख्यत: भित्तिचित्रों का प्रमुख योग माना जा सकता है। क्योंकि चित्रकला के प्राचीनतम रूप का अस्तित्व बताने वाले भित्तिचित्र ही रहे हैं। पटचित्र और फलकचित्र के उल्लेख तो हुए हैं किन्तु चरणशील होने के कारण उनके अस्तित्व का पता नहीं चलता। भित्तिचित्रों का अध्ययन भी हम दो प्रकार से कर सकते हैं – उल्लेख द्वारा और आलेख्य द्वारा। जहाँ तक उल्लेख का प्रश्न है महाकाव्य, नाटक और पुराणों में प्रसंगवश चित्रवीथी, चित्रशाला, चित्रवत् सद्म, चित्रशालिका, के साथ-साथ भित्तिचित्रों के भी उल्लेख होते रहे हैं।[8] प्राचीन महाकाव्य वाल्मीकि रामायण में जिन भित्तिचित्रों के उल्लेख हुए हैं, वे अपने आप में स्वतंत्र कृतियां नहीं थीं, बल्कि दीवारों, कक्षों, भवनों, रथों और विमान आदि को सजाने के लिए की गयी थीं। सभ्यता एवं संस्कृति के अनेक ऐसे उपादान दक्षिण भारत की देन रहे हैं। वाल्मीकि वर्णित लंकापुरी में चित्रकला की यत्र-तत्र चर्चा मिलती है। रावण के पुष्पक

विमान पर स्वर्ण- खचित चित्रकारी की गयी थी। उन चित्रों में भूमि पर पर्वत और पर्वत पर वृक्ष और वृक्षों पर पुष्प बनाये गये थे।[9] रावण के राजमहल में चित्रशालाओं के अस्तित्व मिलते हैं। कैकेयी के महल में चित्रगृह भी थे।[10] वैहारिकाना शिल्पानां ज्ञाता राम के प्रासाद में भित्तिचित्र उत्कीर्ण थे।[11] इसके अतिरिक्त बालि और रावण के शव को ले जाने वाली शिविकाओं पर अद्‌भुत चित्र शिल्पों की चर्चा मिलती है। धूम्राक्ष, इन्द्रजीत और रावण के रथों पर अनेक प्रकार के भयंकर पिशाचों के चित्र चित्रित थे।[12] वाल्मीकि रामायण के इन उल्लेखों से स्पष्ट है कि रामायण युग में चित्रशिल्प या भित्तिचित्रों का बहुत अधिक प्रचार था। उनमें भयंकर, सुन्दर, ललित, पर्वत, वृक्ष और लताओं से सज्जित प्राकृतिक दृश्य भी चित्रित होते थे। महाभारत में मयदानव की वास्तुकला में चित्रों का अवश्य विधान रहा होगा क्योंकि लंका और इन्द्रप्रस्थ दोनों के निर्माण में मयदानव का हाथ रहा है।[13] इसी क्रम में ग्रीक और गान्धार शैली का भारतीय शिल्प पर बहुत प्रभाव पड़ा। प्राचीन संस्कृत नाटकों में चित्रकला की यत्र-तत्र चर्चा हुई है। भास के नाटकों में 'अहो दर्शनीयोऽयं चित्रपट' के उल्लेख मिलते हैं।[14]

परन्तु चित्रकला का चरम उत्कर्ष गुप्त युग में ही हुआ है। इस युग के प्रसिद्ध नाटककार कालिदास की प्रायः समस्त कृतियों में चित्रकला के प्रासंगिक उल्लेख पुष्कल मात्रा में हुए हैं। 'अभिज्ञान शाकुन्तल' के नायक दुष्यन्त स्वयं एक अत्यन्त कुशल चित्रकार थे।[15] पुरुरवा विरहातुर होने के कारण उर्वशी का चित्र अंकित करने में सक्षम नहीं हो पाते। महाकवि भवभूति के 'उत्तररामचरितम्' तथा 'मालतीमाधवम्' का श्री गणेश भी 'मालविकाग्निमित्रम्' के सदृश चित्रकला की चर्चा से आरंभ होता है। 'उत्तररामचरितम्' में रामचन्द्र स्वयं सीता के मनोरंजन के लिए अपने जीवन की समस्त घटनाओं के चित्र अंकित करवाते हैं। इस प्रकार समस्त रामचरित बड़े नाटकीय ढंग से चित्रों के माध्यम द्वारा दिखलाया गया है। इससे लगता है कि गुप्तकालीन चित्रकला अत्यन्त उन्नत और समृद्ध थी। इन तथ्यों में चित्रों के माध्यम से अवतार लीला के आस्वादन की प्रवृत्ति के भी दर्शन होते हैं। नाटकीय प्रसंगों के अध्ययन से यह स्पष्ट पता चलता है कि यह चित्रावली वाल्मीकि रामायण की प्रमुख घटनाओं पर आधारित थी। गुप्त काल में चित्रित अजंता की गुफाओं में बौद्धावतार की झाँकियाँ मिलती हैं। उनमें केवल बुद्ध ही नहीं अपितु महायानी बोधिसत्वों में अत्यन्त लोकप्रिय पद्‌मपाणि या अवलोकितेश्वर की महाकारुणिक दशा का चित्र स्वयं अजन्ता की चित्रकला में सर्वश्रेष्ठ माना गया है।[16] यों तो बौद्ध अवतारवाद भी अवलोकितेश्वर के ही अवतारत्व में अपनी चरमावस्था पर पहुँच जाता है। क्योंकि महाकारुणिक महाबोधिसत्व अवलोकितेश्वर 'बहुजनहिताय' और 'बहुजनसुखाय' तक अवतरित होते रहते हैं जब तक एक भी प्राणी निर्वाण नहीं प्राप्त कर लेता। इस प्रकार गुप्तकालीन चित्रकला में वैष्णव अवतारवाद और बौद्ध अवतारवाद दोनों लोकप्रिय जान पड़ते हैं।

गुप्तकाल के बाद की चित्रकला में अवतार लीलाओं के प्रसंग और अधिक हैं। राजपूत शैली में अन्य विषयों के अतिरिक्त अधिकांश चित्रों के मुख्य विषय पौराणिक और महाकाव्यात्मक रहे हैं। खास कर कृष्ण लीला की इस शैली में बहुलता है। इसके अतिरिक्त 'देवी भागवत' और 'मार्कण्डेय पुराण' से भी कथाएं गृहीत हुई हैं।[17] मध्यकाल में सगुण मत के द्वारा विकसित राम

और कृष्ण की अवतार लीलाओं को केवल काव्य नृत्य नाट्य और राम लीलाओं में ही नहीं, अपितु मूर्तियों और चित्रों में भी व्यक्त किया गया। एक ओर तो इस शैली के चित्रों में महाकाव्यों के आधार पर चित्रित 'राम की वीर गाथा' और 'सीता की अग्नि परीक्षा' के चित्र बनाये गए और दूसरी ओर राधा-कृष्ण की माधुर्यपरक प्रेम गाथाओं की मूर्तियों और चित्रों का विशेष प्रचार हुआ।[18] कुछ लोग राधा-कृष्ण की प्रेमलीला के द्वारा काम प्रतीकों का विभिन्न भारतीय कलाओं में विस्तार मानते हैं।[19] राजपूत शैली काल्पनिक जगत का निर्माण नहीं करती अपितु संसार को ही एक ऐसे बाह्य प्रतीकात्मक विश्व में रूपान्तरित कर देती है, जहाँ स्त्रियों और पुरुषों की अरुणाभ आकृतियाँ और भाव-भंगिमाएँ तथा जंगली या पोषित पौधों और पशुओं की भावात्मक क्रीड़ाएँ अनन्त प्रेम भावना की ओर संकेत करती हैं।[20] कुछ चित्रों में नवअवतरित नायक और नायिकाओं के अधिदैविक प्रेम की झाँकियाँ मिलती हैं। राजपूत शैली में भी राधा और कृष्ण अपने साम्प्रदायिक रूप में ग्रहीत हुए हैं। मध्ययुगीन वैष्णव सम्प्रदायों में राधा और कृष्ण आत्मा और ईश्वर के प्रतीक थे। ये सक्रिय और निष्क्रिय सत्ता के भी द्योतक रहे हैं। राजपूत शैली के चित्रों में ऊपर चित्र और नीचे पद्य देने की प्रथा रही है। यों तो इस शैली में 'बारह मासा' और 'रागमाला' का चित्रीकरण एक विशेष महत्व रखता है[21] क्योंकि मध्ययुगीन काव्यधारा में एक ओर सूर, मीरा आदि के भक्तिपरक पदों में राग-रागिनियाँ मुखरित हो उठी थीं तो दूसरी ओर सूफियों एवं रीतिकालीन कवियों के विरह वर्णन में 'बारहमासा' का प्रचार था। मध्ययुग की संस्कृति ने वास्तु, मूर्ति, संगीत, चित्र, काव्य किसी को भी उपेक्षित नहीं किया। सूर, मीरा और तुलसी के पद केवल संगीत के कंठों में ही नहीं, बल्कि राजस्थानी शैली के चित्रों में भी साकार हुए। राधा-कृष्ण की लीला का चित्र बनाने वाले चित्रकारों में गीतगोविन्द तथा केशवदास, बिहारी, देव, मतिराम के काव्यों पर आधारित चित्र अधिक लोकप्रिय थे। इन चित्रों में ऊपर चित्र रहते थे और नीचे उनकी कविताएँ रहती थीं।

गुजरात शैली से प्रभावित इन चित्रों में लाल, नीला और सुनहरे रंगों की अलंकृति का अधिक प्रयोग रहा है। यों तो राजपूत चित्रों में रंग, शैली और कागज फारसी देन रहे हैं, किन्तु विषय वस्तुओं में भारतीयता अक्षुण्ण रही है। राजपूत चित्रकला के कुछ चित्रों का अध्ययन करने पर अवतार लीला के कुछ घटनात्मक दृश्यों के दर्शन होते हैं। एक चित्र[22] में अवतारी कृष्ण एक ग्वालिन प्रेमी के रूप में चित्रित किये गए हैं, जिसमें वृन्दावन और यमुना के तटवर्ती निकुंज भी चित्रित हुए हैं। इसके मृदंगों को देखने पर चैतन्य मत की छाप दृष्टिगत होती है। एक दूसरे चित्र में अवतार पूर्व बैकुंठ में विष्णु और लक्ष्मी का चित्र प्रस्तुत किया गया है। वहीं शिव, ब्रह्मा, गणेश आदि उपस्थित हैं। इसमें ब्रह्मा के संकेतों द्वारा विष्णु से अवतरित होने का अनुरोध किया जाना प्रतीत होता है।[23]

इस प्रकार राजपूत शैली में हिन्दू जीवन दर्शन की झलक के साथ-साथ अनेक ऐतिहासिक और पौराणिक चित्र अंकित किये गए। विशेष कर राधा-कृष्ण की अनेक चित्र प्रणय लीलाएँ—मान, प्रवास, संयोग, वियोग, ब्रजवनिताओं और गोपियों की प्रेमाभिव्यक्ति के अनेक

मनोरम एवं नयनाभिराम दृश्य प्रस्तुत किये गए। वास्तविकता यह जान पड़ती है कि रीतिकालीन साहित्य की भांति 'राधा और कृष्ण' तत्कालीन चित्रकला के भी 'सुमिरन के बहाने' बने रहे। एक ही राधा-कृष्ण अनेक नायक-नायिकाओं के रूप भेदों में चित्रित किये गए। राधा और गोपियों के चित्रों में अपने प्रियतम 'कान्हा' से कहीं मिलने की अधीरता और तड़प है, कहीं नित्य संयोग विहार। विशेष कर प्रोषितपतिका, अभिसंधिता, कलहंतरिता, खण्डिता, वासकसजा, विप्रलब्धा, गर्विता, अनुरागिनी और प्रेमासक्ता की दशाएँ अधिक चित्रित हुई हैं। रीतिकालीन काव्य की भाँति चित्रकला के लक्ष्य राधा और कृष्ण अब केवल अवतरित राधा और कृष्ण नहीं थे अपितु कलाकारों के मानस बिम्ब में निर्मित उनके मनोनुकूल रमणीय आलम्बन नायिका और नायक थे। इनके माध्यम से वे नायक-नायिका पक्ष के सहारे अनेक रस दशाओं के चित्र उपस्थित किया करते थे। अतः परवर्ती राजस्थानी चित्रकला में भी 'मानिये ताकविताई' नहीं तो 'राधा कृष्ण सुमिरन' की तरह श्रृंगार तो प्रत्यक्ष था, किन्तु भक्ति उसकी आड़ में झाँक क्या रही थी–प्रत्युत तिरोहित सी हो गयी थी।

(ङ) पहाड़ी शैली

पहाड़ी शैली या कांगड़ा शैली का परवर्ती रीतिकालीन कविता की तरह उत्तरकालीन मध्ययुगीन चित्रों में विशिष्ट स्थान रहा। कांगड़ा के राजा संसारचन्द्र का युग वस्तुतः पहाड़ी कला का स्वर्ण युग रहा है। इस शैली में अनेक प्रवन्धात्मक एवं उदात्त चित्रों के दर्शन होते हैं। 'कलियदमन' चित्र[24] में बालकृष्ण कलियनाग के शरीर को कमलनाल की तरह ताने हुए पटका ही चाहते हैं। साथ ही पैरों से दब कर उसके फण पिसे जा रहे हैं। नागबालाएँ उसके प्राणों की भिक्षा माँग रही हैं और नन्द, यशोदा तथा गोपी और गोप लाडले के लिए व्याकुल हो रहे हैं। इस प्रकार पहाड़ी चित्र शैली में वास्तविकता और भावना का अपूर्व मिश्रण रहा है। मिश्रित प्रक्रिया के द्वारा पहाड़ी चित्रकारों ने अवतार लीलाओं के चित्रों में अभिनय रमणीयता और सजीवता का संचार किया है। ऐसा कोई रस या भाव नहीं है, जिसका पूर्ण एवं सफल अंकन ये कलाकार न कर सके हों। विचारकों की दृष्टि में उनका आलेखन 'वज्रादपि कठोर' अथवा 'कुसुमादपि मृदु' होता है।[25] उनकी समानुभूति में व्यापकता और गम्भीरता है, जिसके फलस्वरूप उनके प्रत्येक रेखांकन में प्राणों के स्पन्दन और प्रवाह बने रहते हैं। उनकी लघुतम रेखाएँ भी अर्थवत्ता से पूर्ण रहती हैं। मध्ययुगीन भक्तों के लिए विष्णु के आठवें अवतार कृष्ण की लीलाएँ केवल ऐतिहासिक लीला मात्र नहीं हैं, अपितु भक्तों के हृदय में चलने वाली शाश्वत अवतार लीलाएँ हैं। वैष्णवों के लिए यह सृष्टि कोई भ्रामक या मायात्मक कल्पना नहीं है–अपितु उसकी आविर्भूत लीलास्थली है, जहाँ स्वयं ब्रह्म मनुष्य के समक्ष लीला करता है। इसी से भक्ति में अवतरित ब्रह्म केवल प्रतीकोपास्य न होकर समस्त कलाओं के माध्यम से अभिव्यक्त, भक्त के उन्नयनीकृत संवेगों का मूल आधार परम या अनन्य रमणीय उपास्य है। राधा-कृष्ण की लीला (17वीं से 19वीं शती तक) पहाड़ी शैली के कलाकारों के लिए मुख्य प्रेरणा स्रोत रही है। यदि

यह कहा जाय कि पहाड़ी शैली के भव्यतम नमूनों में वैष्णव अवतार लीलाओं की सर्वाधिक अभिव्यक्ति हुई तो कोई अधिक अनुचित नहीं होगा। यद्यपि पहाड़ी चित्रकारों ने वृन्दावन और गोकुल के जंगलों को अपने ढंग से सँवारा है। फलतः इनमें मथुरा प्रदेश से अधिक कांगड़ा उपत्यका की आत्मा अभिव्यंजित हुई है। यही नहीं यहाँ के पर्वत, नदियाँ, निर्झर, वृक्ष, लताएँ तथा राधा इत्यादि गोपियाँ कांगड़ा घाटी की अधिक प्रतीत होती हैं। इस प्रकार स्थानीय वातावरण की आत्मीयता में वृन्दावन और वहाँ की सारी लीलाओं का पहाड़ीकरण इस शैली की अपनी विशेषता है। पहाड़ी शैली में ही बसोली कलम भी बहुत प्रसिद्ध रही है। ललित कला एकेडमी द्वारा संकलित चित्रों में कृष्णलीला से सम्बद्ध शिशु की अदला-बदली, माखर चोर, वृन्दावन में कृष्ण की लीला, कलियदमन, गिरी गोवर्धन, चीरहरण, दावानल आचमन, यमुना किनारे राधा-कृष्ण मिलन, लीला हाव (राधा-कृष्ण द्वारा परस्पर वस्त्र परिवर्तन, रास मण्डल, कृष्ण और गोपियों की जलक्रीड़ा[26] जैसे लीलात्मक चित्र रूपांकित हुए हैं। इस प्रकार पहाड़ी चित्र शैली में भी राजपूत कलम की भांति राधा और कृष्ण ही नायिका और नायक के रूप में गृहीत हुए। रीतिकालीन कविता की तरह मध्यकालीन चित्रकला में भी कलाकार का ऐन्द्रिक प्रेम आध्यात्मिकता का बाना पहन कर चित्रकला में साकार हुआ। पौराणिक परम्परा से राधा और कृष्ण जीवात्मा और ब्रह्म के प्रतीक रूप में प्रचलित आ रहे थे, जिसके फलस्वरूप उनकी समस्त ऐन्द्रिक चेष्टाओं और क्रीड़ाओं पर आध्यात्मिक रंग चढ़ गया था। इसी से पहाड़ी चित्रकला में भी अवतारवादी दर्शन की समस्त प्रवृत्तियाँ, ब्रह्म और आत्मा की प्रेमोत्कंठा और प्रेम संयोग के रूप में चलती रही है।

मध्यकालीन भक्त सहृदय अवतारवादी नायक-नायिकाओं की मूर्तियों और कथाओं से ही अभिभूत नहीं होते थे, प्रत्युत वृन्दावन, अयोध्या, मथुरा, द्वारका जैसे तीर्थस्थलों और अपने इष्टदेव के मन्दिरों से भी प्रेम करते थे, जिसमें उनकी वास्तुकलाजनित के दर्शन होते हैं। ऐसा लगता है कि उपास्य से सम्बद्ध होना जितना उनके प्रियत्व का कारण था, उतना उन मन्दिरों की कलात्मक सृष्टि नहीं। वैसे ही राग-रागिनियों के सम्मूर्तित चित्रों में गीतगोविन्द, रसिकप्रिया, नायिक भेद तथा भक्त कवियों के भावाभिभूत पद्यों के उद्धरण काव्य, मूर्ति, चित्र, संगीत सभी को रसानुभूति की एक मनोभूमि प्रतिष्ठित करने में समर्थ थे। क्योंकि पद्य और उनके चित्र एक दूसरे के भावों को व्यंजित ही नहीं बिम्बित भी करते रहे हैं। दोहा, कवित्त, छप्पय, चौपाई और सवैया में इन चित्रों की अभिव्यक्ति की जाती थी। राधा और कृष्ण की इस चित्रात्मक प्रेमाभक्ति में अपूर्व नैसर्गिक एवं मानवोचित प्रेम की झलक मिलती है। राधा और कृष्ण मात्र गोपी और गोप रूप में सामान्य लोक समुदाय का प्रतिनिधित्व तो करते हैं, साथ ही उनकी प्रेम स्थली भी कोई राजभवन न होकर प्रकृति की समस्त छवि और विभूतियों से सम्पन्न वे वन और गाँव हैं, जो वर्षा, वसन्त, शरद, ग्रीष्म आदि ऋतुओं के अनुरूप इनकी प्रेमानुभूति को उद्दीप्त करते हैं। वृन्दावन कुंज, कदम्ब वृक्ष, तमाल वृक्ष, जमुनातट आदि राधा-कृष्ण एवं गोप-गोपियों के प्रेम को अधिक प्राकृतिक बनाकर एक अपूर्व भारतीय स्वाभाविकता प्रदान करते हैं। वस्तुतः भक्ति

से अनुप्राणित होते हुए भी राधा-कृष्ण का प्रेम भारतीय जीवन दर्शन के ऐहिक और आध्यात्मिक दोनों पक्षों की स्वाभाविकता का निर्वाह करते हुए उस मार्मिक रमणीय औदात्य का परिचय देती है, जो भारतीय जन-जीवन में घुल-मिल कर अभिन्न-सा हो गया है। इस प्रकार पहाड़ी शैली राजपूत शैली तथा रागमालाओं में चित्रित राधा-कृष्ण और शिव-पार्वती जन-जीवन के ही दो पक्षों का प्रतिनिधित्व करते हैं। इस दृष्टि से राधा-कृष्ण का सम्बन्ध ग्राम्यजीवन और प्रवृत्तिमूलक प्रेम से है, तो शिव-पार्वती का निवृत्तिमूलक एवं तपस्यात्मक पार्वतीय प्रेम से। अतः अवतारवादी चित्र-कला में यदि एक ओर परात्पर आदर्शवाद का दर्शन होता है तो दूसरी ओर भारतीय ग्रामीण संस्कृति में पल्लवित लोक जीवन का आदर्श प्रेम भी चरम सीमा पर पहुँच चुका है।

(च) राजस्थानी शैली

मध्यकालीन भारत में 15वीं शताब्दी सांस्कृतिक पुनरुत्थान का युग था। संगीत, वास्तु, धर्म, साहित्य आदि सभी क्षेत्रों में नवजीवन की लहर दौड़ गई थी और बहुमुखी उन्नति आरंभ हो गई थी। चित्रकला में भी नवजागरण का युग 15वीं शताब्दी से ही प्रारंभ हुआ। ईरानी प्रेरणा के संसर्ग से भारतीय कलाकारों को अपनी कला को परिमार्जित और परिष्कृत करने का अवसर मिला और घिसीपिटी लकीरों का पथ त्यागकर कला नए-नए प्रयोगों की दिशा में चल निकली। अपभ्रंश की परम्परा में समयानुकूल परिवर्तन हुए और उन परिवर्तनों के फलस्वरूप एक नयी शैली का विकास हुआ जिसे राजस्थानी या राजपूत शैली कहते हैं।

वैष्णववाद का उदय इस दिशा में क्रान्तिकारी चरण सिद्ध हुआ। इसने तान्त्रिकों की योग क्रियाओं और दार्शनिकों की रहस्यमय विधाओं के स्थान पर राधा और कृष्ण के भक्तिमय प्रेम की परम्परा स्थापित की और भक्ति को ही मोक्ष का साधन बताया। सहज सम्प्रदाय के चण्डीदास (14वीं शताब्दी) ने रसभीने प्रेम को अधिक महत्व दिया। 15वीं शताब्दी में मैथिल कवि विद्यापति ने भी यही रीति अपनाई। इनसे पहले भी 12वीं शताब्दी में बंगाल के लक्ष्मणसेन के दरबारी कवि जयदेव ने 'गीत गोविन्द' में और बिल्ब मंगल ने 'बालगोपाल स्तुति' में यही बात ली थी। 10वीं शताब्दी के भागवत पुराण में कृष्ण और ब्रज की गोपिकाओं के प्रेम की चर्चा है। यह कृष्ण प्रेम गाथा वैष्णववाद की आधारशिला बन गया। वल्लभाचार्य ने राधा और कृष्ण के पवित्र प्रेम को ही 16वीं शताब्दी में भक्ति के रूप में स्थापित किया।

इस नए दृष्टिकोण ने धार्मिक क्षेत्र में ही नहीं, कला के क्षेत्र में भी उथल-पुथल मचा दी। अब तक परम्परागत धार्मिक चित्र बनाए जाते थे जो रूढ़ियों से जकड़े हुए थे। कला इन कठिन बन्धनों से मुक्त होने के लिए कई शताब्दियों से तड़प रही थी। कलाकार जितनी स्वच्छन्दता से अपने हृदय की सुन्दर-सुन्दर, कोमल अनुभूतियों को व्यक्त करना चाहता है उसका कोई साधन उसे अपभ्रंश के युग में नहीं मिलता था। वैष्णववाद के प्रचार के साथ-साथ भक्ति और प्रेम की धाराएँ जनजीवन में प्रमुख हो गईं। वैष्णवों की भक्ति और प्रेम की इन भावनाओं को प्रदर्शित करने के लिए चित्रकला के सिद्धान्तों और विषयों में भी क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए। कृष्ण भक्ति

विषयक चित्र बनाने की एक नई परिपाटी चल पड़ी। प्रेम और भक्ति के माध्यम से अब चित्र-कला में लौकिक विषयों का भी चित्रण संभव हो गया और इससे चित्रकला की बहुमुखी प्रगति के द्वार खुल गए। 1451 ई. में अहमदाबाद में रचित 'बसन्त विलास' में सबसे पहली बार इस दिशा में एक ठोस प्रयत्न किया गया। यहाँ चित्रकला प्राचीन धार्मिक रूढ़ियाँ त्याग कर खुली हवा में आ जाती है और उसके लौकिक पक्ष के विकास का मार्ग खुल जाता है। बसन्त विलास में प्रेम और बसन्त के सौन्दर्य का मुक्त चित्रण किया गया है।

इस प्रकार एक नई धारा का जन्म हुआ जिसमें न केवल वैष्णव विषयों का ही चित्रण होता था वरन् सर्वथा लौकिक विषय भी बनाए जाते थे। 'बसन्त विलास' के अतिरिक्त विल्हण की 'चौर पंचाशिका' और अन्य ग्रन्थों में धार्मिक अंश बिल्कुल नहीं है। यह उल्लेखनीय है कि मुल्ला दाउद की 'लौर चन्दा' और 1506 में लिखी गई 'मृगावती' आदि ग्रन्थों में चित्रित प्रतियोग के विषय भी लौकिक हैं। यों इन चित्रों को दो भागों में बाँटा जा सकता है – भक्ति चित्र, जिनमें कृष्णभक्ति सबन्धी वैष्णव विषयों का चित्रण होता था और रीति चित्र जिनमें सर्वथा लौकिक विषय बनाए जाते थे। रीति चित्र वास्तव में हिन्दी के रीति काव्य वर्णनों की मनोरम अनुकृति हैं। इनमें नायक-नायिका भेद प्रमुख है। 16वीं शताब्दी के देशी चित्रकार इस प्रकार दो प्रकार के काव्यों के चित्र बनाते थे। एक भक्ति विषयों से सम्बन्धित और दूसरे नायक-नायिका भेद विषयों पर। इससे पूर्व के संस्कृत ग्रन्थ, जैसे 'अमरूशतक', 'गीत गोविन्द' और 'रसमंजरी' आदि का भी चित्रण अब नायक-नायिका भेद चित्रों के अन्तर्गत किया गया। तत्कालीन धार्मिक भावना ने काव्य को और काव्य ने चित्रकला को इस प्रकार मूल रूप से प्रभावित किया। काव्य और चित्रकला का यह पारस्परिक सम्बन्ध विशेष रूप से द्रष्टव्य है क्योंकि दोनों ही मनुष्य की सौन्दर्यानुभूति से प्रेरित होते हैं।

केशवदास ने 1591 में 'रसिक प्रिया' और 1601 में 'कवि प्रिया' की रचना की। 'रसिकप्रिया' में नायक-नायिका भेद वर्णन है। चित्रकारों ने 'रसिकप्रिया' के बड़े व्यापक पैमाने पर चित्र बनाए और चित्र क्षेत्र में, यह ग्रन्थ बड़ा प्रचलित हुआ। इसी प्रकार कविप्रिया जो रीतिकाव्य का एक महान ग्रन्थ है, चित्रकारों के लिए भी एक अदभुत प्रेरणा स्रोत बन गया। केशव की 'रसिकप्रिया' और 'कविप्रिया' की शैली पर ब्रजभाषा में काव्य रचना होने लगी और चित्रकारों ने उन विषयों पर चित्र बनाने की एक परम्परा ही चला दी।

केशव ने काव्य में दो परिपाटियों को जन्म दिया। उन्होंने सोलह श्रृंगार एवं स्त्री अलंकरण के सोलह प्रसाधनों का वर्णन किया। चित्रकार इन सोलह श्रृंगारों को ध्यान में रखता था जिससे वह अपने चित्रों में स्त्रियों का अंकन शास्त्रोक्त एवं श्रेष्ठतम विधि से कर सके। दूसरे, केशव ने बारह मासा ऋतुओं के गीतों का प्रारंभ किया। ये लौकिक गीत बड़े प्रचलित हुए। ब्रजभाषा काव्य के बारह मासा विषयों ने देशी चित्रकारों को अत्यधिक आकर्षित किया। उन्होंने प्रेम भावना को नवीन ढंग से व्यक्त करने का माध्यम पा लिया। संगीत की प्रगति के साथ-साथ रागमाला के चित्र बनाए जाने लगे। यह विलक्षण बात है कि कलाकारों ने संगीत जैसी अदृश्य कला के सिद्धान्तों को चित्रकला जैसी दृश्य कला द्वारा प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया।

16वीं शताब्दी में इस परिवर्तन ने चित्रकला का रूप ही बदल दिया। वैष्णव चित्रों में अब जीवन का उल्लास और स्फूर्ति मिलती थी। उनमें अब रंगों का बोध ही नहीं सौन्दर्यानुभूति भी होती थी। सूर तुलसी के वात्सल्य वर्णन में जो लालित्य है वही बालकृष्ण की लीलाओं में रंगों द्वारा अंकित किया गया है। धीरे-धीरे यह शैली अप्रभंश शैली को आत्मसात कर लेती है। भारतीय लोक चित्र शैली मूलतः राजस्थानी शैली रह जाती है और स्वतंत्र रूप से विकसित होती रहती है।

'बालगोपाल स्तुति' की प्रतियों में यह परिवर्तन स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। अंग विन्यास, वेशभूषा, प्रकृति चित्रण आदि सभी विधान और आलेखन अपभ्रंश शैली से भिन्न हैं और एक नवीन विकास की ओर इंगित करते हैं। जहाँ अपभ्रंश के चित्र इकहरे कागज पर बने ग्रन्थ चित्र हैं, राजस्थानी शैली के अन्तर्गत मोटी वसलियों का प्रयोग किया गया है। अपभ्रंश की अधर में लटकी हुई परली आँख अस्वाभाविक और बुरी लगती थी। राजस्थानी शैली में उसका प्रयोग नहीं हुआ है और चेहरा एक चश्म है। दोनों शैलियों में रंगों का भी अन्तर है। अपभ्रंश में लाल, पीले और लाजबर्दी रंगों का अत्यन्त बाहुल्य से उपयोग होता था, राजस्थानी में अन्य चटकीले रंगों का भी प्रयोग किया गया है और शैली के चित्रों में लाल, पीले रंग प्रभावशाली नहीं रह गए हैं। स्पष्टतः ये परिवर्तन शैली के विकास की दिशा में महत्वपूर्ण चरण थे।

यह क्रान्तिकारी परिवर्तन राजस्थान, गुजरात और उनके समीपवर्ती प्रदेशों में हुए, जो अपभ्रंश शैली के गढ़ थे और जहाँ बड़े-बड़े कलाकार चित्रित ग्रन्थों की रचना में संलग्न रहते थे। दिल्ली सल्तनत का प्रभाव भी इन्हीं प्रदेशों पर सबसे पहले और सबसे व्यापक हुआ। इस लाभकारी परिवर्तन का श्रेय भारतीय कलाकार के उदार दृष्टिकोण को है। बाहर से आने वाली प्रेरणाओं को वह विदेशी कहकर ठुकराता नहीं अपितु अपनी आवश्यकताओं के अनुसार उनमें सुधार करके मुस्कराहट के साथ उन्हें स्वीकार करता है। इस विषय में उस पर कोई धार्मिक अंकुश नहीं है और वह अपनी कला का अपनी और अपने संरक्षक की रुचियों के अनुकूल विकास करने के लिए स्वतंत्र है। शास्त्रीय मानदण्डों को अवश्य वह ध्यान में रखता है किन्तु शास्त्रीय विधि-विधान सूक्ष्म से सूक्ष्म बातों की विवेचना करके भी नई प्रेरणाओं को अंगीकार करने और कला का समयानुकूल विकास करने की उसकी स्वतंत्रता में हस्तक्षेप नहीं करते। भारतीय कला इसीलिए प्राचीन रूढ़ियों पर आधारित होते हुए भी निरन्तर चेतन और विकासशील है।

राजस्थानी चित्रकला में ईरानी प्रेरणा के समाविष्ट होने के अतिरिक्त नए-नए तत्त्व थे। यह कला रूढ़िगत धार्मिक परम्पराओं से मुक्त है और इसमें वैष्णव भक्ति विषयक चित्रों के अतिरिक्त लौकिक विषय स्वच्छन्द रूप से प्रदर्शित किए गए हैं। यह कला मध्यकालीन साहित्य का प्रतिबिम्ब है और तत्कालीन धर्म, समाज और कला क्षेत्र में व्याप्त प्रवृत्तियों का रंगों के माध्यम से परिचय कराती है। इसकी विचारधारा और दृष्टिकोण दोनों ही अपभ्रंश या उससे पहले की किसी भी चित्रकला से भिन्न हैं। मुगल चित्रकला जिसमें लगभग पूर्णतया लौकिक विषयों का चित्रण हुआ है, राजस्थानी शैली की इसी विचारधारा और दृष्टिकोण से प्रेरित है।

मध्यकालीन सांस्कृतिक पुनरुत्थान और सम्मिश्रित संस्कृति के विकास में भारतीय चित्रकला का यह परिवर्तन एक महत्वपूर्ण सहयोग देता है।

राजस्थानी शैली के चित्र 'महापुराण' नामक एक दिगम्बर जैन ग्रन्थ की 1547 ई. की प्रति में भी मिले हैं। इसमें लगभग 450 चित्र हैं। ऐसे ही चित्र कुतूबन की 'मृगावती' नामक अवधी काव्य की प्रति में हैं। तत्कालीन अन्य चित्रित ग्रन्थों में भी मुगल शैली के पूर्व लक्षण मिलते हैं और 'पंचाशिका' के चित्र उत्तम कोटि के हैं। मनोदशाओं को विभिन्न उपादानों द्वारा कलाकार ने प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। 'गीत गोविन्द' की एक प्रति में उत्कृष्ट प्रकृति चित्रण किया गया है। इस काल के चित्रों में अपभ्रंश की जड़ और बेडौल आकृतियाँ नहीं हैं अपितु वे गतिमय, रुचिपूर्ण और उल्लासमय हैं।

भारतीय कला के प्रख्यात विद्वान आनन्द कुमारस्वामी इस शैली को राजपूत शैली का नाम देते हैं। 16वीं शताब्दी के उत्तरार्ध से 19वीं शताब्दी के मध्य तक प्रचलित इस शैली के चित्रों को उन्होंने राजस्थानी और पहाड़ी दो वर्गों में बाँटा है। वह राजस्थानी का क्षेत्र राजपूताना और बुन्देलखण्ड मानते हैं। पहाड़ी क्षेत्र में जम्मू, कांगड़ा, गढ़वाल आदि पंजाब और हिमालय के प्रदेश हैं। प्रत्येक वर्ग की फिर विभिन्न शाखाएँ बन जाती हैं जो देशी राजाओं के संरक्षण में विकसित होती रहती हैं। राजस्थानी में मेवाड़, जोधपुर, बीकानेर और बून्दी राजस्थानी शैली की प्रमुख शाखाएँ हैं। बुन्देलखण्ड में ओरछा और दतिया दो बड़े केन्द्र स्थापित हो जाते हैं। इन कलमों में रीति चित्रों विशेषकर रागमाला चित्रों का बाहुल्य रहता है। पहाड़ी शैलियों का विकास कुछ बाद में अधिकांशत: मुगल परम्परा के चित्रकारों के हाथों हुआ।

(छ) मुगल शैली

तैमूरलंग ने, जो इतिहास में 'चंगेज खां' के नाम से विख्यात है, 1220 ई. में समरकन्द और राय पर अधिकार कर लिया। इससे ईरान और चीन के मध्य सम्पर्क स्थापित हो गया तथा संस्कृति और व्यापार के क्षेत्र में आदान-प्रदान होने लगा। चीन के सम्राट कुबला खां के छोटे भाई हलाकू ने 1258 में बगदाद में लूट-मार की और खलीफा की हत्या कर दी। ये सारे प्रदेश इलखानों के अधिकार में आ गए। 1295 में इलखान गजन ने इस्लाम धर्म स्वीकार कर लिया। यहाँ से ईरान में एक नए कलात्मक युग का सूत्रपात हुआ। इलखानों के यहाँ साम्राज्य के प्रत्येक भाग से कलाकार आकर रहते थे किन्तु चीनी कलाकारों को उनके यहाँ विशेष संरक्षण मिलता था। उनका ईरानी कलाओं पर व्यापक प्रभाव पड़ा। 14वीं शताब्दी के मध्य से ईरानी चित्रकला पर चीनी प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है।

तैमूरलंग के अभियानों के फलस्वरूप ईरान और चीन के मध्य सांस्कृतिक विनिमय की पुनरावृत्ति हुई। उसने राज्य विस्तार ही नहीं किया बल्कि ललित कलाओं को भी प्रोत्साहन दिया। उसके और उसके वंशजों के संरक्षण में समकरकन्द और हिरात में ग्रन्थ चित्रकला का विकास

हुआ। चीनी चित्रकला के तत्त्व धीरे-धीरे घुलमिल कर ईरानी कला के अंग बन गए। ईरानी चित्रकला ने इस प्रकार मूल प्रेरणा चीनी कला से ली।

तैमूर का पुत्र शाहरूख बड़ा कला प्रेमी था और उसके दरबार में बड़े-बड़े कलाविद संरक्षण पाते थे। धीरे-धीरे उसकी राजधानी हिरात में चित्रकला की एक नई शैली का जन्म हुआ जिसे हिरात शैली कहते हैं। 15वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में बिहजाद इस शैली का सबसे बड़ा चित्रकार हुआ। वह पहले हिरात में ही तैमूर के वंशज हुसैन मिर्जा के दरबार में रहता था। फिर वह सफावी वंश के प्रथम सम्राट शाह इस्माइल के यहाँ तब्रेज में रहने लगा। बिहजाद ने बड़ी ख्याति पाई और धीरे-धीरे वह ईरान का सर्वश्रेष्ठ चित्रकार माना जाने लगा।

रेखाओं में कोण, चित्रों में गति और आलंकारिकता ईरानी शैली की मुख्य विशेषताएँ हैं। उसमें अलंकरण पर बहुत अधिक ध्यान दिया जाता है और चित्र लगभग नक्काशी का एक उत्कृष्ट नमूना लगता है। इसमें सूक्ष्म चित्रण और कोमलता होती है। मुखाकृतियों और प्राकृतिक दृश्यों में चीनी प्रभाव रहता है।

भारत में मुगल वंश का संस्थापक बाबर मध्य एशिया का रहने वाला था। उसका ईरान से बराबर सम्पर्क रहता था और वह वहाँ की सांस्कृतिक गतिविधियों से परिचित था। यद्यपि वह स्वयं चित्रकार नहीं था और न ही उसके दरबार में चित्रकारों के रहने का उल्लेख मिलता है फिर भी चित्रकला से उसे बड़ा प्रेम था। उसने अपनी आत्मकथा में ईरान के विख्यात कलाविद बिहजाद के चित्रों की अत्यन्त मार्मिक समीक्षा की है जिससे यह अनुमान होता है कि वह तत्कालीन चित्र शैलियों और चित्रकला की प्रवृत्तियों से भलीभांति अवगत था।

उसके पुत्र हुमायूँ का जीवन भी उसकी तरह ही कठिन संघर्षों में बीता, किन्तु हुमायूँ युद्धों के बीच में कुछ न कुछ समय कला और संस्कृति के लिए अवश्य निकाल लेता था। ईरान में अपने प्रवासकाल में उसने वहाँ की चित्रकला और उसकी परम्पराओं का अध्ययन किया और वहाँ से वह दो निपुण कलाकार ख्वाजा अब्दुस्समद और मीर सैय्यद अली को अपने साथ भारत लेता आया, किन्तु लौटतें ही उसकी मृत्यु हो गई और किसी नवीन चित्र शैली को वह जन्म नहीं दे सका। इस कार्य का श्रेय उसके पुत्र अकबर को मिलता है।

1556 ई. में अकबर का गद्दी पर बैठना सर्वथा नवीन युग के समारम्भ का सूचक है। अकबर स्वभाव से अत्यन्त उदार और कला प्रेमी था। वह धार्मिक कट्टरता से मुक्त था। उसने हिन्दुओं पर जजिया आदि कर समाप्त कर दिए। उन्हें सम्पूर्ण धार्मिक और सामाजिक स्वतंत्रता दी और उनके लिए सरकारी नौकरियों के द्वार खोल दिए। देश की संस्कृति और कलाओं से अब तक अधिकांश सुल्तान विमुख रहते थे, अकबर ने इन कलाओं को अपनाकर एक नवीन युग का सूत्रपात किया। उसकी इस उदार नीति ने दोनों संस्कृतियों के समन्वय का मार्ग उन्मुख कर दिया।

स्थापत्य और संगीत के समान अकबर को चित्रकला में भी बड़ी रुचि थी। उसने गुजरात, राजस्थान, कश्मीर आदि प्रान्तों से देशी चित्रकार बुलाए और ईरान के इन दोनों उस्तादों ख्वाजा अब्दुस्समद और मीर सैय्यद अली के निर्देशन में उन्हें चित्र साधना में लगा दिया। अपभ्रंश या

राजस्थानी परंपरा में दीक्षित ये भारतीय कलाकार धीरे-धीरे ईरानी कलाधारा में प्रशिक्षित हुए। उन्होंने रेखा और रंग दोनों में कमाल प्राप्त कर लिया और ईरानी चित्र विधि में पारंगत हो गए। उनके हाथों एक नवीन शैली का जन्म हुआ जिसे मुगल चित्रकला कहते हैं। इसमें प्रारंभ में ईरानी प्रभाव व्याप्त था, धीरे-धीरे ईरानी अलंकरण का स्थान भारतीय यथार्थवाद ने ले लिया। रंगों के विधान में भी भारतीयकरण किया गया। भारतीय विषय, वेशभूषा, प्रकृति और वातावरण मुक्त हस्त से दिखाए जाने लगे। ईरानी कला से प्रेरित यह शैली धीरे-धीरे विशुद्ध भारतीय कला बन गई।

सम्राट के चित्रकला प्रेम के सम्बन्ध में दरबारी इतिहासकार अबुलफजल ने 'आईन-ए-अकबरी' में बड़े रोचक उद्धरण दिए हैं। वे लिखते हैं :–

"किसी वस्तु का सदृश्य अंकन करना तस्वीर कहलाता है। सम्राट को बचपन से ही चित्र कला में बड़ी रुचि है। वे इसे बड़ा प्रोत्साहन देते हैं क्योंकि यह अध्ययन और आमोद दोनों का ही उत्तम साधन है। उनकी छत्रछाया में चित्रकला ने बड़ी प्रगति की है और उनके बहुत से चित्रकार बड़े प्रसिद्ध हो गए हैं। सभी कलाकारों के चित्र हर सप्ताह दरोगाओं और लिपिकों के द्वारा सम्राट के सामने रखे जाते हैं। सम्राट चित्रों की कलात्मकता के अनुकूल इनाम देते हैं या मासिक वेतन बढ़ा देते हैं। कलाकारों के प्रयोग की सामग्री में बड़ी उन्नति हुई है और उनके दाम निश्चित कर दिए गए हैं। रंगों के मिश्रण में विशेष सुधार किया गया है। चित्रों का अभूत- पूर्व अंकन हुआ है। अत्यन्त निपुण चित्रकार अब मुगल दरबार में रहते हैं और अत्यन्त सुन्दर चित्रों की जो बिहजाद के चित्रों से कम नहीं हैं रचना होती है। इनकी तुलना विश्व प्रसिद्ध यूरोप के चित्रकारों के अद्‌भुत चित्रों से की जा सकती है। इन चित्रों की सूक्ष्मता, अंकन और सिद्धहस्त कलात्मकता का कोई मुकाबला नहीं है। निर्जीव विषय भी जीवित से प्रतीत होते हैं। सौ से अधिक चित्रकार इस कला के उस्ताद हो गए हैं। प्रगतिशील कलाकारों की संख्या भी बहुत काफी है। उनके चित्र इतने सुन्दर बनते हैं कि विश्वास नहीं होता। संसार में केवल कुछ व्यक्ति ही उनका मुकाबला कर सकते हैं। मैं चित्रकला के पथ पर अग्रसर चोटी के कुछ कलाकारों के नाम देता हूँ :-

(1) तबरेज के मीर सैय्यद अली – इन्होंने इस कला की शिक्षा अपने पिता से ली। जब से वे दरबार में आए सम्राट की उन पर कृपा बनी रही। उन्होंने इस क्षेत्र में बड़ी ख्याति प्राप्त की है और बड़े सफल हुए हैं।

(2) ख्वाजा अब्दुस्समद – जिन्हें शीरी कलम कहा जाता है। ये शीराज के रहने वाले हैं। यद्यपि ये दरबार में आने से पहले भी कलाकर थे तथापि इनकी कला में उत्कृष्टता दरबार में आने के बाद ही आई है। इसका कारण सम्राट की कृपादृष्टि है जिसके प्रभाव से कला बाह्याकार में केन्द्रित न रहकर अनुभूतिपूर्ण हो जाती है। ख्वाजा के शिष्य भी उनके संरक्षण में उस्ताद हो गए हैं।

(3) दसवन्त -- जाति के कहार हैं। इन्होंने अपना सम्पूर्ण जीवन इस कला को समर्पित कर दिया है। इन्हें चित्रकला से इतना प्रेम था कि ये दीवारों पर चित्र बनाया करते थे। एक दिन उन पर सम्राट की दृष्टि पड़ गई। उन्होंने उनकी प्रतिभा को पहचान लिया और उन्हें ख्वाजा अब्दुस्समद के सुपुर्द कर दिया। थोड़े समय में ही वे अन्य कलाकारों से आगे निकल गए और युग के प्रथम उस्ताद बन गए। दुर्भाग्य से वे पागल हो गए और उन्होंने आत्महत्या कर ली। उनकी बहुत सी उत्कृष्ट कृतियाँ शेष हैं।

(4) बसावन – पृष्ठभूमि बनाने में, अंगप्रत्यंगों के चित्रण में, रंग विधान में, व्यक्ति चित्र (शबीह) चित्रण में और इस कला के अन्य पक्षों में सबसे अधिक निपुण हैं। यहाँ तक कि कुछ लोग उन्हें दसवन्त से भी उत्तम समझते हैं।

निम्नलिखित चित्रकार भी प्रसिद्ध हैं – केसू, लाल, मुकुन्द, मुश्की, फारूख (कलमाक), मधु, जगन, महेश, खेमकरण, तारा, सांवला, हरवंस राम -- इनमें से प्रत्येक की कला की उपलब्धियों का वर्णन करना सम्भव नहीं है। मेरा ध्येय वाटिका में से एक फूल चुन लेना है, अनाज के गट्ठर में से एक बाल निकाल लेना है।

जीवधारियों के चित्र और अनुकृतियाँ बनाने को कुछ लोग बेकार का धन्धा समझते हैं। ऐसा नहीं है। सुलझे हुए व्यक्तियों के लिए यह वुद्धि प्राप्त करने और अज्ञान के विषय को दूर करने का साधन है। इस्लाम के कट्टर समर्थक चित्रकला के विरोधी हैं किन्तु वे अब सत्य का अनुभव करते हैं। एक दिन सम्राट मित्रों की एक निजी सभा में बैठे थे। तब उन्होंने कहा – 'बहुत से लोग चित्रकला से घृणा करते हैं। मुझे ऐसे लोग पसन्द नहीं हैं। मेरी राय में चित्रकार के पास ईश्वर से साक्षात्कार करने के विचित्र साधन हैं क्योंकि जब चित्रकार किसी जीव का चित्र बनाता है तब उसके बाद एक अंग को बनाते समय उसे यह अनुभव होता है कि वह अपनी कृति को वैसा व्यक्तित्त्व नहीं दे सकता और इस प्रकार वह ईश्वर के विषय में सोचने के लिए बाध्य हो जाता है क्योंकि ईश्वर ही जीवनदाता है और मनुष्य उसकी नकल नहीं कर सकता इस प्रकार चित्रकार का ज्ञान बढ़ता है।'

उत्कृष्ट कलाकृतियों की संख्या कला को प्रोत्साहन देने के साथ-साथ बढ़ती गई। फारसी के गद्य और पद्य दोनों प्रकार के ग्रन्थों को चित्रित किया गया और इस प्रकार बहुत से चित्र बने। हमजा की कथा को बारह जिल्दों में चित्रित किया गया और कुशल कलाकारों ने इस कहानी के 1400 सुन्दर चित्र बनाए। चंगेज नामा, जफर नामा, यह किताब (आइन-ए-अकबरी), रज्म नामा (महाभारत), रामायण, नलदमन (नल दमयन्ती), कलीया दमना (पंचतंत्र), अयारदानिश आदि ग्रन्थों को बड़े सुरुचिपूर्ण ढंग से चित्रित किया गया।

सम्राट स्वयं अपना व्यक्ति चित्र (शबीह) बनवाने के लिए बैठे और उन्होंने हुक्म दिया कि साम्राज्य के सभी सरदारों (उमरा, मनसबदार) की शबीहें बनाई जाएं। एक बड़ी विशाल एलबम (पोथी) इस प्रकार बन गई। जिनका देहान्त हो गया है वे इन चित्रों के माध्यम से पुनर्जीवित हो गए हैं और जो अभी जीवित हैं वे अमर हो गए हैं।"

जैसे चित्रकारों को संरक्षण मिलता है वैसे ही अलंकरण करने के लिए विशेष कलाकारों, प्रभावकारों, रेखाकारों और पृष्ठकारों की नियुक्ति की जाती है। इस विभाग में बहुत से मनसबदार, अहदी और सिपाही रहते हैं। पायकों का वेतन 600 दाम से 1200 दाम तक होता है।

इसमें स्मरण रखने की बात यही है कि ईरान के दो बड़े उस्तादों ख्वाजा अब्दुस्समद और मीर सैय्यद अली के अतिरिक्त अकबर के अधिकांश चित्रकार भारतीय हैं जो प्रारंभ में अपभ्रंश या राजस्थानी परम्परा में प्रशिक्षित हुए। ईरानी उस्तादों के निर्देशन में उनके हाथों ईरानी और भारतीय कला के सम्मिश्रण के फलस्वरूप एक नवीन शैली का समारंभ हुआ जिसे मुगल चित्रकला कहते हैं।

अकबरकालीन चित्रकला को चार भागों में बाँटा जा सकता है:

(क) चित्रपट

(ख) ग्रन्थचित्र

(ग) व्यक्तिचित्र

(घ) भित्तिचित्र

हमजानामा के चित्र चित्रपट की श्रेणी में आते हैं। ये सवा दो फुट लम्बे और लगभग 2 फुट चौड़े हैं और सूती कपड़े पर भारतीय चित्रपटों की परम्परा में ही बनाए गए हैं। हमजानामा अकबर के युग की सबसे पहली कृति है। इसका रचनाकाल 1567 से 1582 ई. के मध्य प्रतीत होता है। इसके चित्रों में ईरान की हिरात शैली का प्रभाव मिलता है फिर भी इनमें अपना एक निजत्व है जो निश्चय ही भारतीय कलाकारों के हाथों आया है। वेशभूषा और पहनावा भारतीय है। ये चित्र ईरानी कलाकृतियों की तरह आलंकारिक नहीं हैं वरन् घटना प्रधान हैं। आकृतियाँ गतिमान और भावपूर्ण हैं। प्रकृति चित्रण में भारतीय फलफूल जैसे – केले, वट, पीपल, आम और पशु–पक्षी जैसे हाथी, मोर आदि दिखाए गए हैं। भारतीय देवी–देवताओं की छवियाँ भी मिलती हैं।

ग्रन्थ चित्रों की श्रेणी में भारतीय कथाएँ और ऐतिहासिक ग्रन्थ दोनों ही आते हैं। अकबर ने 'महाभारत' का फारसी में अनुवाद कराया। इसकी एक प्रति को 1588 में तीन जिल्दों में चित्रित किया गया। 'रामायण' के अनुवाद को भी चित्रित किया गया। 'पंचतंत्र' के अनुवाद अनवार–ए–सुहैली की एक प्रति को भी 1604 में चित्रित करना प्रारंभ किया गया। अबुलफजल ने 'पंचतंत्र' का अनुवाद सीधे संस्कृत से फारसी में 1588 में किया। इसका नाम 'अयार दानिश' रखा गया। इसकी भी चित्रित प्रतियाँ बनाई गई।

ऐतिहासिक ग्रन्थों में तारीखे खानदाने तमूरिया की प्रति को सबसे पहले चित्रित किया गया। 'बाबरनामा' का तुर्की से फारसी में अब्दुररहीम खानखाना ने अनुवाद किया और 1589 में इसकी एक चित्रित प्रति अकबर को भेंट की गई। 'अकबरनामा' 1602 में अबुल फजल अधूरा छोड़

गए। इसकी पहली चित्रित प्रति पर 1606 का जहाँगीर का लेख है। इसके अतिरिक्त 'तारीख-ए-रशीदी', 'दाराबनामा,' 'खम्सा निजामी' आदि ग्रन्थों की भी चित्रित प्रतियाँ अकबर के काल की मिली हैं। अकबर के पुस्तकालय में लगभग तीस हजार पुस्तकें थीं जिनमें सैंकड़ों ग्रन्थ चित्रित थे। इससे उस महान सम्राट ने चित्रकला को कितना प्रोत्साहन दिया इसका अनुमान लगाया जा सकता है।

अकबर ने स्वयं अपनी अनुकृति बनवाई और यह आदेश दिया कि साम्राज्य के सभी उमराव अपने-अपने व्यक्ति चित्र बनवाएँ। अबुल फजल के कथनानुसार इन व्यक्ति चित्रों को एक बड़ी पोथी में संग्रहीत किया गया। यह व्यक्तिगत चित्रण मुगल कला का अपना निजी पक्ष है जिसका प्रारंभ और विकास मुगलों के उदार और चेतनाशील संरक्षण और उनके सम्पन्न और सांस्कृतिक युग में ही सम्भव हुआ। भारतीय कला में यह एक नवीन धारा का सूत्रपात करता है।

फतेहपुर सीकरी में अकबर ने आवास के बहुत से महलों में भित्तिचित्र बनवाए। ये चित्र ग्रन्थों के समान ही हैं केवल उनको दीवार के नाम के अनुकूल बढ़ाकर बनाया गया है। वही सुन्दर विषय और लगभग उन्हीं रंगों का प्रयोग हुआ है। अधिकांशतः वे खेल, शिकार, युद्ध और उत्सवों के दृश्य हैं। भारतीय देवी-देवताओं के चित्र भी इनमें सम्मिलित किए गए हैं। भारतीय प्रकृति और भारतीय वेषभूषा का चित्रण है। ख्वाबगाह और रंगीन महल में इन सुन्दर भित्तिचित्रों के अवशेष रह गए हैं।

अकबरकालीन चित्रशैली की अपनी कुछ विशेषताएँ हैं जो इसे अन्य चित्र शैलियों से पृथक् करती है। इन चित्रों की मूल प्रेरणा ईरानी होते हुए भी इनकी आत्मा भारतीय है। हमजानामा के पश्चात् यह कला ईरानी और भारतीय विशेषताओं को आत्मसात करके एक बड़े ही सुन्दर रूप में प्रकट होती है। इसके आलेखन में गति और अभिव्यंजना है। आकृतियाँ भावपूर्ण हैं। चित्रों में केवल रेखाओं की ही कला नहीं है अपितु उनमें सजीवता और उन्मुक्तता है। ईरानी आलंकारिकता को भारतीय विषयों, वेशभूषा, पशु-पक्षी, प्रकृति और वातावरण के चित्रण के साथ-साथ घोल मेल लिया गया है।

अकबर के चित्रकार अधिकांशतः विशुद्ध भारतीय रंगों का प्रयोग करते हैं, जैसे सिन्दूर, पेवड़ी, लाजवर्दी, हिंगुल, जंगाल, गेरू, हिरौंजी, रामरज, हरा ढाबा एवं नील आदि। इन रंगों के मिश्रण से बड़े सुन्दर चमकदार और मीने की तरह दमदमाते हुए चित्र बनाए जाते थे। उनके ऊपर प्रभा के लिए स्वर्णकारी की जाती थी। अबुल फजल का यह कथन सही प्रतीत होता है कि अकबर के राज्यकाल में रंगों के मिश्रण में विशेष प्रगति हुई।

एक-एक चित्र पर कई-कई कलाकार काम करते थे, कोई बसली बनाता था तो कोई उस पर रूपरेखाएँ। एक अन्य उस पर चित्रांकन करता था और कोई दूसरा अन्य रंग करता था। धीरे-धीरे अपने-अपने क्षेत्र में हर कलाकार विशेषज्ञ हो जाता था। इस प्रकार यह कला किसी एक कलाकार की व्यक्तिगत शैली नहीं है अपितु मुगल संरक्षण में पल्लवित एक सुन्दर कला प्रवृत्ति है जो उस सम्पूर्ण युग से सम्बन्धित है और कुछ अंशों में दृश्य कला द्वारा उसका प्रतिनिधित्व करती है। इस पर कलाकार से अधिक आश्रयदाता के व्यक्तित्व की छाप है, उस

भावना की छाप है जिसकी प्रेरणा से इन सब कलाकारों का साथ बैठकर कला साधना करना संभव हुआ।

मुगल और राजस्थानी (राजपूत) दोनों शैलियों का विकास यद्यपि साथ-साथ और लगभग आस-पास ही हुआ फिर भी दोनों दो भिन्न शैलियाँ हैं। मुगल शैली में व्यक्तियों और घटनाओं का चित्रण है और इस प्रकार इतिहासवृत्त कला की श्रेणी में आती है। उसमें मुगल सम्राट के दरबार, खेल, युद्ध और शिकार के दृश्य हैं या व्यक्ति चित्र हैं। राजपूत शैली व्यक्तिगत नहीं है वह लोकशैली है और तत्कालीन धर्म और साहित्य में व्याप्त प्रवृत्तियों और भावनाओं का चित्रण करती है। अर्थात् मुगल शैली राजकीय संरक्षण में पली दरबारी कला है, संरक्षण ही उसकी मूल प्रेरणा है। राजपूत शैली मूल रूप से सम्भ्रान्त लोक कला है। यह तत्कालीन धर्म और काव्य से प्रेरित है और श्रृंगार और सौन्दर्य इसकी आत्मा है। इसकी कल्पना उस जीवन से पृथक् नहीं की जा सकती जिसको यह चित्रित करती है। यह मध्यकालीन हिन्दी साहित्य के प्रत्येक चरण को प्रतिबिम्बित करती है। इस शैली की प्रमुख धाराओं को भारतीय कथानकों, कृष्ण लीला साहित्य, संगीत-सिद्धान्तों और श्रृंगार साहित्य के ज्ञान के बिना नहीं समझा जा सकता है। इसलिए इसे भारत के देशी साहित्य का प्रतिरूप कहना गलत नहीं होगा।

कार्यविधि और रचनाक्रम के दृष्टिकोण से भी दोनों में अन्तर है। राजपूत रूपरेखाएँ मुगल रूपरेखाओं की तरह स्थित और निश्चित नहीं हैं वरन् गतिमान और उड़ती-उड़ती सी हैं। मुगल कला में छाया द्वारा उठान दिखाया गया है राजपूत कला में सीधे रंगों का प्रयोग हुआ है तथा दिन और रात को एक समान चित्रित किया गया है। मुगल चित्रकला का दृष्टिकोण उदार है। यह विकास की ओर उन्मुख है और नए-नए प्रयोग करने में मुगल चित्रकार हिचकता नहीं। यूरोप से 16वीं और 17वीं शताब्दी में जो प्रेरणा आई उसे मुगल कला में स्वच्छन्द रूप से स्वीकार किया गया है। राजपूत कला में ये तत्त्व नहीं मिलते। राजस्थानी चित्रकार धीरे-धीरे फिर संकुचित रूढ़ियों में फँस जाता है। इस प्रकार विषय, वेशभूषा और कभी-कभी आकृतियाँ दोनों शैलियों में समान होते हुए भी मुगल और राजपूत शैलियों के प्राण अलग-अलग हैं।

चरमोत्कर्ष

अकबर के राज्यकाल में ही ईरानी प्रभाव के विरुद्ध मुगल चित्रकला में एक प्रतिक्रिया आरंभ हो गई थी और भारतीय तत्त्वों को अधिकाधिक अपनाया जाने लगा था। 17वीं शताब्दी के प्रारंभ में जहाँगीर के गद्दी पर बैठने के समय तक मुगल कला बिहजाद के प्रभाव से मुक्त हो गई। अकबर चित्रकला को आमोद और अध्ययन के ध्येय से प्रोत्साहन देता था। राष्ट्रीय सम्राट की अपनी कल्पना के अनुरूप भारतीय संस्कृति के सभी अंगों को संरक्षण देना वह अपना कर्तव्य भी समझता था। किन्तु चित्रकला में जहाँगीर की रुचि स्वाभाविक और आन्तरिक थी। वह चित्रकला को एक व्यक्तिगत शौक की तरह से प्रेरणा देता था। उसके संरक्षण में मुगल चित्रकला ईरानी बंधनों से मुक्त हो गई और नए-नए क्षेत्रों में उसके विकास का मार्ग खुल गया।

यद्यपि मुगल चित्रकला का जो अपना निजी व्यक्तित्व था वह इसमें बराबर बना रहा। किन्तु जहाँगीर के कलात्मक युग में चित्रकारों में एक नवीन जागृति पैदा हुई और नए-नए चित्रणों की दिशा में यह कलाधारा चल निकली। विषय और विधि दोनों दृष्टिकोण से ही मुगल चित्रकला का चरमोत्कर्ष जहाँगीर के राज्यकाल में हुआ।

अकबर के समय की चित्रकला में ईरानी आदर्शों पर आधारित अनुकृतियों का बाहुल्य है। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि कलाक्षेत्र में यह एक महान जागरण का आरंभ था, किन्तु कला का स्वाभाविक विकास और परिपक्व अवस्था जहाँगीर के राज्यकाल में ही प्राप्त होती है।

अकबर के युग में ऐतिहासिक और अन्य कथानकों का चित्रण हुआ। जहाँगीर के काल में इस चित्रण को उतना महत्त्व नहीं मिला। प्रकृति चित्रण चित्रकला की प्रमुख धारा बन गया। जहाँगीर के दरबारी जीवन की विविध घटनाओं का चित्रण भी बड़े व्यापक स्तर पर किया जाने लगा। विषय परिवर्तन से कला में वैसे ही नव स्फूर्ति आई जैसे अपभ्रंश के रूढ़िगत विषयों से मुक्त होने पर राजस्थानी शैली में सौन्दर्य निखर उठा था।

जहाँगीर के दरबार में बड़े-बड़े कुशल चित्रकार रहते थे। इनमें कुछ के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं :

अबुल हसन नादिर-उज्जमां
सालिवाहन
फरूखबेग
उस्ताद मन्सूर
बिशनदास
मनोहर
गोवर्धन
दौलत
मोहम्मद नादिर
उस्ताद मुराद

अबुल हसन जहाँगीर के राज्यकाल के श्रेष्ठतम कलाकार कहे जाते हैं। ये विख्यात ईरानी चित्रकार आका रजा के पुत्र थे। आका रजा जहाँगीर के दरबार में आकर रहने लगे थे। अबुलहसन की कला की प्रशंसा जहाँगीर ने भी अपनी आत्मकथा में की है। निस्सन्देह अकबर के दरबारी चित्रकार सुन्दर चित्र बनाते थे किन्तु अबुलहसन की कला में कुछ और ही बात है। उसके चित्रों में तूलिका का लावण्य और अंकन की कोमलता है। उसकी कला में भावना है और वह कल्पना के सहारे ऊपर उठकर काव्य के विराट लोक में छा जाती है। अबुल हसन ने साधारण विषयों को चित्रित किया है जैसे बैलगाड़ी। किन्तु इन दृश्यों को उसने सूक्ष्म निरीक्षण और भावनात्मक कला के साथ प्रस्तुत किया है। यद्यपि इस जगत प्रसिद्ध चित्र की विधि ईरानी

है किन्तु विषय, छाया, अलंकरण, दृश्य आदि अन्य तत्त्व भारतीय हैं। उस्ताद सालिवाहन जहाँगीर के दरबार के एक अन्य प्रमुख चित्रकार थे। इन्होंने बड़े-बड़े सुन्दर पट्ट चित्रित किए।

सम्राट जहाँगीर अनन्य प्रकृति प्रेमी था। उसने चित्रकला में प्रकृति के सुन्दर-सुन्दर अंगों की अनुकृतियाँ बनवाईं। मन्सूर, मुराद और मनोहर ने जीवधारियों—पशु और पक्षियों के जो चित्र बनाए वे भारतीय दृश्यकला के वाङ्मय में एक अद्‌भुत अध्याय जोड़ देते हैं। उस्ताद मन्सूर पेड़-पौधों और पक्षियों के चित्र बनाने में विशेष रूप से दक्ष थे। वे अत्यन्त सूक्ष्म से सूक्ष्म तत्त्व का भी निपुणता से चित्रण कर लेते थे। उनकी चित्रों में नक्काशी जैसा सूक्ष्म चित्रण किया गया है। शायद इसीलिए वे अपने आपको 'मन्सूर नक्काश' कहते थे। अगर कोई पक्षी बनाया गया है तो उसका बाल-बाल स्पष्ट रूप से दिखाया गया है। जहाँगीर ने अपनी आत्मकथा में उल्लेख किया है कि मन्सूर ने सौ से अधिक ऐसे प्राकृतिक विषयों के चित्र बनाए। इन सभी चित्रों के चारों ओर बेल बूटेदार सुन्दर हाशिए बनाए गए जो मुख्य चित्र के सौन्दर्य में चार चाँद लगा देते हैं।

जहाँगीर के संरक्षण में चित्रकला ने एक और महत्वपूर्ण मोड़ लिया। वैसे तो अकबर ने व्यक्ति चित्रों को बड़ा महत्व दिया किन्तु जहाँगीर के काल में व्यक्ति चित्रण चित्रकला की प्रमुख धारा बन गया। अब तक ग्रन्थ चित्रों में यह कला सीमित रह गई थी अब इसका अभूतपूर्व विकास व्यक्ति चित्रों के माध्यम से प्रारंभ हुआ। बिशनदास जहाँगीर का अत्यन्त निपुण व्यक्ति चित्रक था। स्त्री चित्रकारों द्वारा हरम की बेगमों के भी चित्र बनाए गए।

जहाँगीर की चित्रकला में स्वाभाविकता है जो, जैसा कि कुछ विद्वानों का मत है, किसी यूरोपीय चित्रकला के प्रभाव के कारण नहीं आई है। हमारे सांस्कृतिक इतिहास का सबसे बड़ा दुर्भाग्य यही रहा है कि उस पर अधिकांशतः यूरोपीय विद्वानों ने काम किया और अपने शोध वृत्तों में वे अपने विद्वेषों, रुचियों और व्यक्तिगत धारणाओं की छाप छोड़ना नहीं भूले हैं। हमने स्वयं परिश्रमपूर्वक अपनी संस्कृति का मूल्यांकन करने का उत्तरदायित्व अभी तक पूरा-पूरा नहीं निभाया है। इसलिए बहुत सी भ्रांतियाँ प्रचलित चली आ रही हैं। जहाँगीर की चित्रकला में स्वाभाविकता विकास की दिशा में स्वाभाविक रूप से उत्पन्न गुण है, किसी यूरोपीय प्रेरणा के कारण नहीं है। अभी भारतीय कलाकार की असीम क्षमता को विद्वानों ने नहीं पहचाना है।

चित्रकला को जहाँगीर के हाथों अनन्य प्रोत्साहन प्राप्त हुआ। वह चित्रकला से इतना प्रेम करता था कि उसका अधिकांश समय चित्रकारों या उनकी कृतियों के साथ बीतता था। 1609 में गिरीरां जहाँगीर के चित्रकला प्रेम की बड़ी प्रशंसा करता है। विलियम हाकिन्स भी चित्रकला का उल्लेख करता है। विशेष रूप से सर टामस रो ने सम्राट के चित्रकला सम्बन्धी बड़े रोचक उल्लेख किए हैं। जहाँगीर इस कला का एक उत्कृष्ट समालोचक था और चित्र देखकर बता देता था कि वह किस उस्ताद का बनाया हुआ है। अपनी आत्मकथा में तो वह यहाँ तक दावा करता है कि यदि एक ही चित्र में कई चेहरे अलग-अलग चित्रकारों के बनाए हुए हों तो वह यह बता सकता था कि कौन सा चेहरा किसका बनाया हुआ है। यह तभी संभव है जब वह

बारम्बार उन चित्रकारों की कृतियों का सूक्ष्म अध्ययन करे और उनकी तूलिका से परिचित हो जाए। इससे उसकी इस कला में स्वाभाविक रुचि का पता लगता है। स्पष्ट ही है कि जहाँ अकबर इमारतों, संगीत और चित्रकला में एक सी रुचि लेता था, जहाँगीर अधिकांशतः चित्रकला पर ही ध्यान देता था और इसी कला के उत्कर्ष का इतिहास हम उसके राज्यकाल में पढ़ते हैं। अन्य कलाओं में उसकी रुचि गौण थी। चित्रकला के लिए जहाँगीर का युग मध्यकाल में स्वर्णयुग था।

इसी काल में चित्रों को हाशियों से सजाने की कला प्रारंभ हुई जिसने चित्रों को अद्‌भुत सौन्दर्य प्रदान किया। चित्र के चारों ओर सुन्दर बेल बूटेदार डिजाइन में हाशिया बनाया जाता था। इसमें प्राकृतिक दृश्य, पेड़, चट्टानें आदि तो होते ही थे, कभी-कभी नन्हें-नन्हें पक्षियों से भी इसे सजा दिया जाता था। कभी किसी कथानक का कोई दृश्य भी दिखा दिया जाता था। इसमें लाल, नीले आदि चमकीले रंगों के साथ अधिकांशतः सोने का काम किया जाता था जो झिलमिलाता रहता था और चित्र को प्रभावशाली ढंग से एक सुन्दर पूर्वभूमि में प्रस्तुत करता था। हाशिए की कला के सर्वश्रेष्ठ उदाहरण बर्लिन के राजकीय पुस्तकालय में सुरक्षित जहाँगीर के युग की एक मुरक्का में हैं। कभी-कभी ये हाशिए इतने सुन्दर बन गए हैं कि मूल चित्र को उन्होंने पृष्ठभूमि में छोड़ दिया है और ऐसा लगता है कि चित्रकार का ध्येय हाशिया बनाना ही था। यहाँ यह स्मरणीय है कि ऐसे एक चित्र पर बहुत से कलाकार काम करते थे। सिर्फ हाशिए पर ही कई-कई चित्रकारों का काम होता था, कोई हाशिए का अंकन करता था और कोई दृश्य की रूपरेखाएँ बनाता था। एक अन्य उसमें सुन्दर रंग भरता था। स्पष्टतः ही यह एक मिलीजुली योजना थी और इस पर किसी एक कलाकार की व्यक्तिगत छाप नहीं होती थी। यह कला आश्रयदाता की कला रुचियों और उस युग की कलाधाराओं का प्रतिनिधित्व करती है।

शाहजहाँ के काल में मुगल चित्रकला का रूप बदल गया। उसकी व्यक्तिगत रुचि चित्रकला में नहीं बल्कि इमारतें बनवाने में थी। फिर भी उसने उन सांस्कृतिक परम्पराओं से छेड़छाड़ नहीं की जिनकी स्थापना उसके पितामह ने की थी। चित्रकार निरन्तर मुगल दरबार में आश्रय पाते रहे और चित्रकला पलती रही। सम्राट की व्यक्तिगत रुचि से वंचित रहने के कारण इसके विकास का मार्ग तो निश्चय ही रुक गया किन्तु चित्रकला सम्बन्धी मुगल दरबार की गतिविधियों में अन्तर नहीं आया। इस काल की चित्रकला साम्राज्य के वैभव के समरूप चमक-दमक का प्रदर्शन करती है। उसकी प्रवृत्ति सूक्ष्म से सूक्ष्म तत्त्वों को दिखाने की, अर्थात् वर्णनात्मक हो जाती है और भावना धीरे-धीरे लुप्त हो जाती है। यह नक्काशी सी लगती है। इसके विषय अब मुख्यतः शाही हैं और जीवन के साधारण पक्षों का चित्रण कम होता है। इसमें भड़कीले और सोने के रंगों का अधिक प्रयोग होता है! वास्तुकला में सम्राट की मूल रुचि के फलस्वरूप इस युग के चित्रों में वास्तुविषयों का बाहुल्य हो जाता है।

औरंगजेब के राज्यकाल से मुगल शैली का पतन आरम्भ हो गया। वह कट्टर मुसलमान था और चित्रकला को धार्मिक दृष्टिकोण से वर्जित समझता था। यद्यपि उसके बहुत से चित्र प्राप्त

हुए हैं जो यह संकेत करते हैं कि परम्परानुसार वह अपने चित्र बनवा लेता था, किन्तु उसने इस कला को कुछ प्रोत्साहन दिया हो ऐसा कोई उल्लेख प्राप्त नहीं हुआ है। उसकी धार्मिक अत्याचार की नीति राजनीति में ही नहीं कला के क्षेत्र में भी घातक सिद्ध हुई। चित्रकार प्रेरणा के स्थान पर ताड़ना और प्रोत्साहन के स्थान पर उपहास पाते थे। धीरे-धीरे वे मुगल दरबार छोड़कर हिन्दू राजाओं के आश्रय में चले गए। माली चले गए तो बाग उजड़ गया।

मुगल कला व्यक्तिगत प्रेरणा से पल्लवित हुई थी। जहाँगीर ने यदि उसमें गहरी रुचि ली तो कला ने चरमोत्कर्ष प्राप्त कर लिया। औरंगजेब ने यदि उसे व्यक्तिगत रूप से ठुकरा दिया तो वह कला समाप्त हो गई। यह बात राजस्थानी शैली में नहीं है क्योंकि वह लोकशैली है और राजकीय संरक्षण में पलते हुए भी वह संरक्षण पर आश्रित नहीं है। वह जीवन और विकास की प्रेरणा भारतीय जन-जीवन की उस सांस्कृतिक भावना से लेती है जिसे किसी एक संरक्षण में सीमित नहीं किया जा सकता। यह राजस्थानी शैली का गुण है। इसीलिए मुगल शैली 18वीं शताब्दी में जहाँ पतन की ओर गिर गयी, राजस्थानी कला में विभिन्न शाखाएँ फूटीं और विभिन्न केन्द्रों में उसका विकास हुआ।

देशी शैलियों का विकास

राजस्थानी और उसकी विभिन्न शाखाओं को देशी शैलियों का नाम देने का अर्थ यह नहीं है कि मुगल कला विदेशी शैली थी। इसे बहुत सीमित अर्थों में प्रयुक्त किया गया है और तात्पर्य केवल यही है कि इन शैलियों के कलाकार विशुद्ध देशीय चित्रकार थे और बाह्य प्रेरणाओं को स्वीकार करते हुए भी वे लोकभावना का चित्रण करते थे। मुगल कलाकार भारतीय तो थे किन्तु उनका कार्यक्षेत्र सीमित था और सम्राट की रुचियों के अनुकूल उनको अपनी तूलिका चलानी पड़ती थी। उसमें जन-जीवन को उतना स्थान प्राप्त नहीं होता था।

राजस्थानी में कृष्ण भक्ति विषयक और रीति काव्य सम्बन्धी चित्रों के साथ-साथ रागमाला चित्रों का प्रचार बढ़ गया। 17वीं शताब्दी में इसमें क्षेत्रीय शैलियों का विकास होने लगा। मेवाड़ में एक स्थानीय शाखा बन गई जो 17वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में अपनी परिपक्वावस्था को पहुँच गई। इसके अन्तर्गत बड़े सुन्दर प्राकृतिक दृश्य बनाए गए। इनमें मुगल आलंकारिकता के भी दर्शन होते हैं। आकृतियों में गति है। महाराणाओं के व्यक्ति चित्र भी बने। आमेर (जयपुर), बून्दी, जोधपुर आदि में भी चित्रकला की विभिन्न परिपाटियाँ चल निकलीं। प्रत्येक शाखा में अपनी कुछ न कुछ स्थानीय विशेषता अवश्य रही जिससे उसके चित्रों को अन्य शैली के चित्रों से पहचाना जाता है। किसी में मुगल प्रभाव अधिक रहा, किसी में कम, किन्तु थोड़ी बहुत प्रेरणा मुगल कला से सभी शैलियों ने ली। बुन्देलखण्ड में दतिया और ओरछा में बड़े सुन्दर चित्र बनाए गए। इनमें बड़ी सूक्ष्म आलंकारिकता है। भावनाओं को सुन्दर मुद्राओं द्वारा प्रस्तुत करने का भी कलाकारों ने प्रयत्न किया है। इस शैली के अन्तर्गत भी रागमाला चित्रों की बड़े व्यापक स्तर पर रचना हुई।

18वीं शताब्दी में राजस्थानी शैली का पूर्ण विकास हुआ। आलंकारिकता इसका एक विशेष गुण है। इसमें रागमाला, बारहमासा, नायिका भेद और कृष्णलीला मुख्य विषय थे। चित्रित ग्रन्थ भी बनाए जाते थे। मेवाड में नाथद्वारा में चित्रकला का बड़ा विकास हुआ। यहाँ चित्रों के अतिरिक्त पटचित्र भी बहुत बड़ी संख्या में बनाए गए। ये लगभग सभी कृष्णभक्ति विषयक हैं। इनकी भक्तों में बड़ी माँग रहती थी।

जम्मू और बसोहली की शैली ने जहाँगीरकालीन मुगल कला से प्रेरणा ली थी। यह प्रभाव इस शैली पर काफी दिन तक बना रहा। इसके अन्तर्गत रागमाला, नायिका भेद, रामायण और काव्य ग्रन्थों सम्बन्धी विषयों का चित्रण हुआ। लगभग इसके समकालीन ही पहाड़ी शैली का विकास हुआ। बहुत से मुगल चित्रकार 18वीं शताब्दी में चम्बा, नूरपुर, कांगड़ा, मण्डी, कुल्लु आदि पहाड़ी रियासतों के आश्रय में जाकर रहने लगे थे। मुगल दरबार की अभिरुचियों से मुक्त ये कलाकार स्वच्छन्द अपनी कला का प्रदर्शन कर सकते थे और इनके हाथों पहाड़ी शैली की स्थापना हुई। इनके चित्रों में यथार्थ और भावना है। चित्रण सजीव और रमणीक है। विषय तो वही परम्परागत राजस्थानी है अर्थात् रागमाला, नायिकाभेद, रीति काव्य सम्बन्धी आदि किन्तु उनके अंकन में अपनी विशेषता है जो उसे अन्य शैलियों से ऊपर उठा देती है। उनमें सौन्दर्य की जो अनुभूति होती है वह राजस्थानी की अन्य शाखाओं में कम देखने में आती है। 18वीं शताब्दी में इस प्रकार राजस्थानी शैली अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँच गई। बदली हुई राजनीतिक परिस्थितियों का धीरे-धीरे प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था और फिर पतन की प्रक्रिया प्रारंभ हो गई।

इस सन्दर्भ में दक्षिणी शैली का उल्लेख भी आवश्यक है। दक्षिण में चित्रकला की परम्पराएँ अक्षुण्ण जीवित रहीं। विजयनगर साम्राज्य के अन्तर्गत भित्तिचित्रों का चित्रण होता रहा। बहमनी साम्राज्य के विघटन के पश्चात् बीजापुर, गोलकुण्डा और अहमदनगर दक्षिण में महत्वपूर्ण सांस्कृतिक केन्द्र बन गए। ये राज्य शिया थे और इनका ईरान से सीधा सम्पर्क बना रहता था। ईरानी कला की प्रेरणा इस प्रकार दक्षिण में 15वीं और 16वीं शताब्दी में आई। इसने कलाकारों का दृष्टिकोण बदल देने का वही महत्वपूर्ण कार्य यहाँ किया जो अपभ्रंश के सम्बन्ध में उत्तर में किया था। प्राचीन परिपाटियों पर आधारित चित्रकला ने यहाँ भी इस नवीन कलाधारा से प्रेरित होकर अपना रूप और कुछ अंशों में अपना विधि-विधान बदल दिया। मुगलों से सम्पर्क के पश्चात् इस शैली में मुगल प्रभाव व्याप्त हो गया। मुगल पद्धति पर व्यापक पैमाने पर व्यक्ति चित्र बनाए गए। चित्रित ग्रन्थों की भी भरमार हुई। इनमें वर्णन का सूक्ष्म प्रदर्शन, सुन्दर रंगों का मिश्रण और अनुभूतियों का व्यक्तिकरण मुख्य विशेषताएँ हैं। देशीय पद्धति पर रागमाला चित्रों की बहुत बड़ी संख्या में रचना हुई। इनमें भारतीयता की वही छाप है जो राजस्थानी शैली की विभिन्न शाखाओं के अन्तर्गत देखने को मिलती है।

मध्यकालीन चित्रकला के इस पर्यवेक्षण से एक बात स्पष्ट हो जाती है। ईरान, ईराक, सीरिया और मिश्र आदि जिन-जिन देशों में इस्लाम फैला उसने वहाँ की प्राचीन संस्कृतियों को

समाप्त कर दिया या उन्हें पूर्णतया नवीन रंग में रंग दिया। प्राचीन परम्पराएँ इन देशों में धीरे-धीरे लुप्त हो गईं। किन्तु भारत में इस्लाम यह परिवर्तन लाने में सफल नहीं हुआ। यहाँ इस्लाम का आना राजनीतिक और सामान्य जीवन में चाहे विध्वंसकारी रहा हो, कला क्षेत्र में उसका कुछ और ही प्रभाव पड़ा। इस्लाम के संसर्ग से यहाँ की कलाओं में नवजीवन आया और प्राचीन रूढ़ियों को त्याग कर उन्हें विकास की नई-नई वीथिकाओं पर चलने की प्रेरणा मिली। स्वयं नष्ट होने की अपेक्षा उन्होंने बाहर से आने वाले प्रभाव को ऐसे आत्मसात कर लिया कि वह उनके स्वरूप में ही विलीन हो गया और समन्वय की इस क्रिया से उनका रूप निखर उठा। इसके लिए भारतीय दृष्टिकोण की उदारता और नई प्रेरणाओं को स्वीकारने की उसकी स्वच्छन्दता उत्तरदायी है। भारतीय कला चेतन और निरन्तर विकासशील है और कोई आश्चर्य नहीं है कि मध्यकाल की कठिन परिस्थितियाँ उसे नष्ट नहीं कर सकीं। इसके विपरीत इस काल में चित्रकला संकुचित बन्धनों से उन्मुक्त होकर नवीन-नवीन प्रयोगों और परिणामस्वरूप बहुमुखी प्रगति की दिशा में चल निकली। परिवर्तनशीलता भारतीय कला की आत्मा है और इसके लिए उस पर कोई अंकुश नहीं है। यही इसके विकास का रहस्य है।

सन्दर्भ ग्रन्थ

1. मुग. पे. भू., पृ. 4, विशेष द्रष्टव्य।
2. मुग. पे., पृ. 4।
3. भा. चि., पृ. 123।
4. भा. चि., पृ. 135 और फलक 14।
5. कल. आ. इन., पृ. 342-343।
6. भा. कला. प. में द्रष्टव्य 'वैदिक साहित्य में शिल्प का स्वरूप'।
7. श. ब्रा. 7, 4, 1, 24, सर्वापि हि चित्राण्यग्निः।
8. कला. अंक में द्रष्टव्य कतिपय निबन्ध।
9. वा. रा. 5, 7, 9।
10. बा. रा. 2, 10, 13।
11. कला, अंक, पृ. 82 और वा. रा. 2, 15, 35।
12. कला, अंक, पृ. 82।
13. भा. वा. शा., पृ. 18।
14. कला, अंक, पृ. 97।
15. कला, अंक, पृ. 100।
16. कला, अं. इन, पृ. 247।
17. इन्ट्रो. इन आ., पृ. 119।
18. आ. क्रि. इन सी., पृ. 76।

19. इन्ट्रो इन आ., पृ. 119।
20. कला आ. इन, पृ. 342।
21. भा. चि. (मेहता), पृ. 59।
22. राज. पे., पृ. 10 (फलक 4)।
23. राज. पे., फलक 5।
24. भा. चि., फलक 13।
25. भा. चि., पृ. 165।
26. कृ. लि. प. पे., फलक 1 से 12 तक।

5

मूर्तिकला

भारतीय संस्कृति की संजीवनी शक्ति धर्म है। वास्तव में, धर्म ने ही मनुष्य को पशुता से ऊपर उठाकर देवत्व प्रदान किया है। इस धर्म का अर्थ किसी उपासना पद्धति या पूजन विधि से नहीं है। स्मृतिकारों के अनुसार, 'षयतोऽभ्युदयनिः श्रेयस सिद्धिः स धर्मः' अर्थात् जिससे मानव का अभ्युदय और उसका निःश्रेयस दोनों सिद्ध हो सके, वही धर्म है। भारतीय धर्म इस कसौटी पर खरा उतरता है। यह उपर्युक्त दोनों लक्ष्यों की पूर्ति करता है। यहाँ धर्म को कर्म से पृथक् नहीं रखा गया है। यह अध्यात्मक की कर्मभूमि थी, जहाँ देवता भी शरीर धारण कर प्रकट होने के लिए लालायित रहते थे :

गायन्ति देवाः किल गीतकानि धन्यास्तु ते भारतभूमिभागे।
स्वर्गापवर्गास्पदमार्गभूते भवन्ति भूयः पुरुषाः सुरत्वात्॥

(विष्णु पुराण, 1/3/24)

इस धर्मप्रधान संस्कृति का निर्माण अनेक संस्कृतियों के योग से हुआ है, किन्तु सभी इसमें इस प्रकार घुलमिल गई हैं कि उनका पृथक् अस्तित्त्व नहीं है। विभिन्न जाति, धर्म और विचारों का समन्वित रूप है हमारी यह संस्कृति। हमारे मनीषियों ने अपनी संस्कृति की व्यवस्था इस प्रकार की कि जो भी यहाँ आए, इस महासमुद्र में विलीन होकर एकाकार हो गए। अतएव (अन्य को) आत्मसात करने की इसकी शक्ति असीम है और यही इस संस्कृति की महत्ता है। इतिहासकार डाँडवेल ने उचित ही कहा है, 'भारतीय संस्कृति उस महासमुद्र के समान है, जिसमें अनेक नदियाँ आकर विलीन हो जाती हैं।' इसकी पुष्टि इतिहासकार स्मिथ, तुर्क आगमन पर टिप्पणी करते हुए कहते हैं कि 'इन विदेशी लोगों ने भी अपने पहले आने वाले को और यूचियों के समान ही हिन्दू धर्म की पाचन शक्ति के सामने घुटने टेक दिये और बड़ी शीघ्रता से वे हिन्दुत्व में विलीन हो गये।' स्वर्गीय राष्ट्रकवि दिनकरजी का कथन है कि यद्यपि 'भारतीय मुसलमान धर्म के मामले में अपनी सत्ता स्वतंत्र रखने में बहुत दूर तक कामयाब हुए, लेकिन संस्कृति की दृष्टि से वे अब भी भारतीय हैं।' कवीन्द्र टैगोर भी भारतभूमि की वंदना करते हुए कहते हैं :

हेथाय आर्य, हेथाय अनार्य, हेथाय द्रविड़ चीन
शक, हूण, वल, पाठान, मोगल एक देहे होलो लीन

वास्तव में, आदिम काल से यही विदेशी जातियाँ आती रही हैं और जाति, धर्म का भेद त्याग भारत उन सबको उदारतापूर्वक आत्मसात करता रहा है। यही इसकी गुरुतर शालीनता है।

इस महान संस्कृति का अविच्छिन्न अंग है भारतीय कला। कला का अर्थ है मानवीय रचना। यह मानव जाति के विकास का प्रतीक है। मनुष्य जीवन की भाँति कला का इतिहास भी विराट् है। भारतीयों को कला की प्रेरणा प्रकृति से मिली है, जिसकी पृष्ठभूमि विशुद्ध आध्यात्मिक है। पुराणों में कहा गया है :

विश्रान्तिर्यस्य सम्भोगे सा कला न कला मता ।
लीयते परमानन्दे ययात्मा सा परा कला ॥

अर्थात् जो कला स्वार्थ संभोग में ही विश्रांत हो जाए, इससे आगे न बढ़ सके, उसे कला मानना ही नहीं चाहिए। कला वह है जो परमानन्द में मनुष्य को लीन कर दे।

धर्मप्रवण भारत में आध्यात्मिक उपादानों को लेकर कला के विराट् स्वरूप का निर्माण किया गया है। भारतीय कलाकारों ने बाह्य सौन्दर्य के वशीभूत हो कला की उद्‌भावना नहीं की, वरन् उनकी अन्तःप्रेरणा और उसके भीतर प्रसुप्त दैवी विश्वासों ने ही उनके विचारों को रंग, रूप और वाणी प्रदान की है। अध्यात्म से शून्य कला मानव का मनोरंजन भले कर सकती है, किन्तु लोकहितकारी तथा उपादेय नहीं हो सकती।

भारतीय दर्शन की एक मुख्य विशेषता यह है कि इसका लक्ष्य केवल तत्त्व का अन्वेषण नहीं था, अपितु उसके माध्यम से मोक्ष प्राप्त करना था। उसी प्रकार लक्ष्य की दृष्टि से भारतीय साहित्य एवं कला का उद्देश्य भी कला के लिए कला नहीं अपितु, मोक्ष, ब्रह्मानन्द या रसानन्द की उपलब्धि रहा है। अतएव भारतीय सौन्दर्य का बाह्य वस्तु से उतना सम्बन्ध नहीं है जितना उसके अन्तः पक्ष से है। प्रो. हिरियन्ना के शब्दों में सौन्दर्य का दर्शन अन्तचक्षु से ही हो सकता है। सच्चे सौन्दर्य की शब्दों में अभिव्यक्ति नहीं हो सकती और न तो किसी वस्तु के माध्यम से उसे जाना जा सकता है। 'मूकास्वादनवत्' उसका केवल आस्वादन सम्भव है। इसी से मध्यकालीन भक्तों ने अपने उपास्य देवों के सौन्दर्य का जहाँ वर्णन किया है, वह 'कोटि कोटि सतकाम' या 'कोटि मनोजलजावन हारे' जैसे प्रतिमानों में व्यक्त सर्वदा असीम, अनन्त, सर्वातीत एवं अगोचर सौन्दर्य का सूचक रहा है। 'कामदेव' जो भारतीय वाङ्मय में सौन्दर्य का प्रतिमान माना जाता रहा है, उसकी तुलना में उपास्य का सौन्दर्य अनिर्वचनीय, कल्पनातीत और शब्दातीत है – उसका केवल भावन हो सकता है वर्णन नहीं। इसके परिणामस्वरूप समस्त भारतीय साहित्य एवं कला, मोक्ष या आनन्द प्राप्ति के साधन मात्र रहे हैं, अपने आप में चरमसाध्य नहीं।

अवतारवादी कला का भी चरम उद्देश्य यही रहा है। वह प्रकृति की अनुकृति या प्राकृतिक सौन्दर्य की पक्षपातिनी नहीं है। बल्कि प्रकृतिवाद एक धारणा के अनुसार ईश्वर निमिति का ही

अनुकरण करता है। यदि कलात्मक भावुकता की दृष्टि से देखा जाय तो कलाकार मूर्तियों या चित्रों में अपने मानस पट पर सम्मूर्तित प्रभावों का अंकन करता है, उसी प्रकार यह विश्व भी ईश्वर के सम्मूर्तित प्रभावों का अंकन करता है। मनुष्य कभी-कभी अपनी प्रतिच्छाया का निर्माण करता है, उसी प्रकार वह ईश्वर भी विश्व की अन्य विभूतियों या कृतियों में अपने स्वरूप की प्रतिकृति का निर्माण करता है। अतएव जहाँ कला में उपासना का तत्त्व सन्निविष्ट है, उपास्य मूर्तियों के निर्माण में विशेषकर आध्यात्मिक मूल्यों की दृष्टि से यह आवश्यक हो जाता है कि उनका मूल लक्ष्य अध्यात्मोन्मुख करना हो और उनकी आकृतियों में समुचित औदार्य की सृष्टि हो। क्योंकि कला सबसे अधिक हृदय को प्रभावित करती है बुद्धि को नहीं। उदात्त पर विचार करते हुए जे.सी. शेयरप ने सौन्दर्य में औदात्य और गरिमा के साथ औदार्य और लालित्य को भी समाविष्ट किया है। उसकी दृष्टि में सौन्दर्य में न तो अन्धकार है न प्रकाश बल्कि वह गोधूलि की आभा है, जो तर्क और कल्पना के बीच में अवस्थित है और वे दोनों भी मन और आत्मा के बीच में निहित हैं। कला वस्तुत: सबसे अधिक बुद्धि को नहीं अपितु हृदय को प्रभावित करती है। प्रत्येक हिन्दू सर्वात्मवादी की यह धारणा है कि जो कुछ व्यक्त है वह कला है और वह ईश्वर की अभिव्यक्ति है। यह वह वास्तविक कला है जो यथार्थ प्रेम की तरह नि:स्वार्थ, उदार और त्यागपूर्ण होती है। बल्कि सत्य तो यह है कि प्रत्येक मनुष्य का अचेतन कोई न कोई आध्यात्मिक अनुभव प्रदान करता है। उस आत्मानुभव से बाध्य होकर वह विश्वास करने लगता है कि वह आध्यात्मिक और निगूढ़ सत्ता विश्व की नियन्ता है। धर्म वस्तुत: अचेतन का विषय होते हुए भी एक गतिशील शक्ति है, यह केवल सामाजिक तन्त्रों पर ही निर्भर नहीं रहता। आदिम युग से ही मनुष्य ने जिन उपास्य, सजीव या निर्जीव कृतियों की उपासना की है, उन समस्त प्रतीकों में एक सृजनात्मक शक्ति निहित है। गाय जैसे पूज्य पशु भी मनोविज्ञान की दृष्टि से मानव स्वभाव की आवश्यकताओं, आग्रहों और आन्तरिक स्फुरणाओं और उद्रेकों के प्रतीक हैं।

सगुणोपासना में भक्ति का महत्व निर्गुण परमात्मा की मूर्ति आदि किसी सगुण पदार्थ के माध्यम से आराधना सगुणोपासना है। निर्गुण की उपासना में जिस तरह ज्ञान का महत्व है उसी तरह सगुणोपासना में भक्ति का महत्व है। सेवा तथा पूजा अर्थ में मज प्रकृति धातु से क्तिन् प्रत्यय करके भक्ति शब्द निष्पन्न होता है। 'शाण्डिल्यसूत्र' के अनुसार 'सा परानुरक्तरीश्वरे' अर्थात् ईश्वर से अनन्य अनुरक्ति भक्ति कही गई है। महान के प्रति श्रद्धा ही भक्ति है। यह भक्ति मनुष्य के हृदय में बीजरूप से विद्यमान रहती है। भक्ति एक ऐसा पवित्र भाव है, जो हृदय के भीतर से निकलता है, महान (परमेश्वर) के अधिकाधिक स्मरण से पुष्ट होता है और अन्त में पूर्ण आत्मनिवेदन या आत्मसमर्पण (ईश्वर प्राणिधान) के रूप में समाप्त होता है।

साधना के मार्ग में जितने साधन हैं, उनमें भक्ति का स्थान सर्वोपरि है, अद्वितीय है। अनन्य भाव से उपास्य के चरणों में प्रपत्ति (अपने आपको सर्वतोभावेन समर्पण) पराभक्ति कही गई है। ईश्वर की आराधना में सभी प्रकार के साधनों के मूल में भक्ति की उपस्थिति स्वाभाविक

है। भगवान ने गीता (9/22) में 'अनन्याश्चिन्तयन्तो मा ये जना: पर्युपासते। तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेम वहाम्यहम्।।' कहा है कि आर्त (दुखी), जिज्ञासु (मुझे जानने के इच्छुक), अर्थार्थी (धन, स्त्री, पुत्रादि चाहने वाले) तथा ज्ञानी ये चार तरह के भक्त मुझे भजते हैं। इन भक्तों में मेरे निर्गुण स्वरूप की आराधना करने वाले ज्ञानी भक्त श्रेष्ठ हैं, पर ज्ञान का मार्ग कष्टकर है 'क्लेशोऽधिकतर: तेषाम्' क्लेश उस मार्ग से अधिक है, अत: ज्ञानी इस मार्ग से विचलित भी हो जाते हैं। सतर्क सचेष्ट रहने वाली ज्ञानी साधक 'बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते' अनेक जन्मों के सतत प्रयास से मुझे पाने में समर्थ होते हैं, पर मेरे सगुणरूप की भक्ति करने वाले ज्ञानी भक्त मुझे आत्मसमर्पण करने वाले, मुझे ही सब कुछ जानकर मुझे आत्मनिवेदन करने वाले भक्त मुझे आसानी से पा जाते हैं। ऐसे प्रपन्न भक्तों का योगक्षेम मैं स्वयं अपने ऊपर लेकर उनका उद्धार कर देता हूँ।

सगुणोपासना की प्रतीक देवमूर्तियों में गुण का अर्थ अंग भी होता है, लिंग या चिह्न भी होता है, अत: सगुण का अर्थ है, हाथ पैर आदि शारीरिक अंगों या अन्य चिह्नों से अंकित परमात्मा की, अन्य देवी देवताओं की धातुज या अधातुज (काष्ठ आदि से निर्मित) मूर्तियाँ। इन्हीं की सेवा, पूजा, आराधना भगवद् भक्ति कही जाती है।

देव मूर्तिनिर्माण – अचिन्त्य, अप्रमेय, निर्गुण परमात्मा को समझने तथा उससे सम्बन्ध जोड़ने के लिए भाध्यम स्वरूप में तत्त्ववेत्ता ऋषियों ने प्रतिमा या मूर्ति की कल्पना की। जिस प्रकार सर्वत्र व्याप्त वायु पंखा के माध्यम से प्रबुद्ध होकर स्वेदापनोद (पसीना सुखाना) करता है, अर्थात् सर्वव्यापी वायु को प्राप्त करने के लिए माध्यम रूप पंखा का संकेत है, उसी तरह ऋषियों ने अचिन्त्य निर्गुण ब्रह्म को प्राप्त करने के लिए माध्यम स्वरूप देवमूर्तियों या प्रतीकों (चिह्नों) की कल्पना की। ऋषियों ने अनन्त की विभिन्न शक्तियों और कार्यों को व्यवहार रूप देने, व्यवहार मार्ग से सरल रूप में समझाने के लिए तथा उपासना के लिए उनके अभिन्न सदृश शिल्पों (मूर्तियों या प्रतीकों या प्रतिमाओं या चिह्नों) का निर्माण किया। किसी भी वस्तु के सदृश शिल्पों को प्रतिमा या मूर्ति कहते हैं।

मूर्तियाँ देवताओं की सांकल्पिक (कल्पना की हुई अर्थात् काल्पनिक) रूप हैं। मूर्तियों का निर्माण निदान (संकेत) शास्त्र के आधार पर हुआ है। संकेत का ही नाम निदान है। निदान का अर्थ मूलकारण या आदि कारण भी होता है। 'निदानं मूलकारणम्' कोश कहता है। मूर्ति क्षेत्र में मूर्ति का अर्थ है देवताओं के रूप आदि की सांकेतिक कल्पना। तत्त्ववेत्ता ऋषियों ने परमात्मा की जिन-जिन नाम रूपों में कल्पना की वही नाम रूप में उस देव-विशेष की मूर्ति कही गई और उसी के अनुसार उस मूर्ति का उस देवता विशेष के रूप में प्रचलन हुआ। यह निदान या संकेत ही देव मूर्ति निर्माण का मूल है। ऋषियों की देवता मूलक सांकेतिक कल्पना ही मूर्ति रूप से प्रचलित हुई। जैसे शोक का निदान (संकेत) काला रंग और हर्ष का निदान लाल रंग काल्पनिक होता हुआ भी प्रचलित है। प्राचीन तत्त्ववेत्ता ऋषियों ने सगुणोपासना के लिए देवी-देवताओं के आकार-प्रकार, रंग-रूप, अस्त्र-शस्त्र, वेशभूषा आदि की कल्पना मानवीय

(स्त्री-पुरुष) रूप में की है। देव और मनुष्य में अन्तर यही बताया है कि मानव मरणशील है, देवता महाप्रलय पर्यन्त अमर है। अन्यथा राग द्वेष आदि जनित क्रियाकलाप समान रूप में दोनों के हैं।

एक अचिन्त्य, अनन्त, सतस्वरूप परमात्मा के अतिरिक्त अन्य देवताओं की कल्पना सगुणरूप में उपासना के लिए ही की गई है। वैदिक ऋषियों ने तैंतीस कोटि अर्थात् तैंतीस प्रमुख देवों की कल्पना की है, जिनमें 11 रुद्र, 8 वसु, 12 आदित्य तथा 2 अश्विनी कुमार कहे गये हैं। एक स्थान में अश्विनी कुमारों की जगह इन्द्र तथा प्रजापति के नामों का उल्लेख है। इन तैंतीस देवताओं की उपासना प्रकारान्तर से अद्वैत ब्रह्म की ही उपासना है। कोटि का अर्थ करोड़ तथा श्रेणी या प्रकार भी है।

आदित्य यों तो 'अदिते जातत: आदित्य:' निर्वचन से अदिति पुत्र आदित्य कहे जाते हैं। पर वेदान्त में आदित्य ब्रह्म को भी कहते हैं। 'श्रुति' असावादित्यो ब्रह्म कहकर आदित्य शब्द से ब्रह्म को भी अभिहित करती है। ब्रह्म प्राणवायु रूप में पिंड के भीतर और आदित्य या सूर्य रूप से बाहर ब्रह्माण्ड में स्थित होकर ब्रह्माण्ड का पालक, रक्षक है। सूर्य प्रतीक या मूर्ति रूप में सगुणोपासना में उपास्य है। इसे मार्तण्ड भी कहते हैं।

सूर्य भूमण्डल के मानसवर्ती 9 करोड़ 51 लाख योजन विस्तृत घेरे को एक क्षण में पार कर लेता है। सूर्य की स्थिति स्वर्ग तथा पृथिवी के बीच ब्रह्माण्ड के केन्द्र में है। सूर्य तथा ब्रह्माण्डगोलक के बीच सब ओर 25 करोड़ योजन का अन्तर है। सूर्य की उत्पत्ति मृत अर्थात् मरे हुए अण्ड से हुई है, अत: सूर्य 'मार्तण्ड' नाम से भी अभिहित है। जैसा कि 'अण्डमध्यगत: सूर्यो द्यावाभूम्योयक्तरम्। सूर्याण्ड गोलकयोमध्ये कोटद्य: स्यु: पंचविशति:' इस वेदांग ज्योतिषशास्त्र से स्पष्ट है कि इस मार्तण्ड शब्द की व्याख्या में भाष्यकार कहते हैं – 'मृर्तण्डे एष: एतस्मिन् यदभूततो मार्तण्ड इति व्यपदेश:' तथा 'एष: सूर्याण्डे अचेतने सति वैराजरूपेण यस्मात्प्रविष्टोऽतो मार्तण्ड इति नाम।' तात्पर्य यह कि सूर्य मृत अण्ड में प्रवेश कर फिर उसी में उत्पन्न हुआ अत: मार्तण्ड नाम से अभिहित हुआ। अण्ड शब्द का तात्पर्य विश्व ब्रह्माण्ड से है। ब्रह्म से अतिरिक्त सब कुछ ब्रह्माण्ड है।

सूर्य हिरण्मय अर्थात् हिरण्य (स्वर्ण) तुल्य प्रकाशमान ब्रह्माण्ड के गर्भ (भीतर, घेरा) में रहकर प्रकाशरूप जीवनी शक्ति प्रदान करता है, अत: हिरण्यगर्भ शब्द से भी अभिहित किया जाता है। सूर्य द्वारा ही दिशा तथा काल आदि का ज्ञान होता है। सूर्य ब्रह्माण्ड का द्रष्टा तथा साक्षी है। सूर्य अपने चारों ओर चन्द्र नक्षत्र आदि को प्रकाश देकर गतिशील क्रियाशील बनाये रखता है। ज्योतिगणों का स्वामी सूर्य अन्तरिक्ष के मध्य तपता है, दूसरों को तपाता है, प्रकाशित करता है, जीवनशक्ति प्रदान करता है। विषुवत नामक मार्ग (विषुवत रेखा) से मन्द, शीघ्र तथा समानगति से चलते हुए दिन-रात को छोटा-बड़ा बनाता रहता है। इस अपनी विशिष्टता के कारण सुगोपासना में विशिष्ट उपास्य मानकर आराधित है।

भारतीय उपासना पद्धति का एक मूल मंत्र था–'यथा देहे तथा देवे' अर्थात् जिस प्रकार देह

को अनेक उपचार समर्पित किये जाते हैं, उसी प्रकार आराध्य को भी अनेक उपचार–पंचोपचार, षोडशोपचार आदि अर्पित करने चाहिए। इस विचारधारा का फल यह हुआ कि प्रत्येक युग में प्रचलित पद्धतियों के अनुसार देव-प्रतिमाओं को वेश पहनाया गया, आयुध दिये गये तथा अलंकारों से मण्डित किया गया। इस प्रकार, ये देव मूर्तियाँ अपने युग की भौतिक सभ्यता का प्रत्यक्ष दर्शन कराने लगीं और आधुनिक काल में उसके अध्ययन का अपरिहार्य साधन बन गईं। कई प्राचीन वस्तुओं का सत्य स्वरूप इन प्रतिमाओं में होता है। पुराण आदि प्राचीन ग्रन्थों में अनेक वस्तुओं के नाम मिलते हैं, परन्तु बहुधा उनका ठीक-ठीक बोध यहाँ नहीं होता। उन विशिष्ट नामों को भली-भांति समझने में मूर्तियाँ हमारी बड़ी सहायता करती हैं। उदाहरणार्थः 'देव-दुन्दुभि, कीर्तिमुख, पादमध्यधारा, गन्धर्व मिथुन सिंह व्याघ्र विद्याधर समन्वित तोरण' आदि प्रतिमा लक्षणों में व्यवहृत शब्दावली मध्यकालीन विष्णु मूर्तियों की सहायता से ही स्पष्ट रूप से समझी जा सकती है।

कभी-कभी मूर्तियाँ लेखांकित एवं तिथियों से युक्त होती हैं। यद्यपि ऐसी प्रतिमाओं की संख्या थोड़ी है, तथापि इन पर दिखलाई पड़ने वाली शैलीगत विधियों का यदि ध्यान से अध्ययन किया जाय, तो प्रत्येक काल की शैली का बहुत कुछ शास्त्र शुद्ध चित्र निखर आता है तथा उस काल का प्रातिनिध्य करने वाले निश्चित मानदण्ड स्थिर किये जा सकते हैं। तिथ्यांकित मूर्तियों की सहायता से इस प्रकार स्थिर किये हुए मानदण्ड अन्य बिना लेखों वाली मूर्तियों का काल निर्णय करने में सहायक होते हैं।

मूर्तियों की शैली एवं विशेषताओं का अध्ययन एक अन्य दिशा में भी हमारी बहुत बड़ी सहायता करता है। आज कई उपयोगी ग्रन्थों का काल निर्णय घोर विवाद का विषय बना हुआ है। यथा पुराणों के निर्माण काल पर बड़ा भारी शास्त्रार्थ है। इन अंशों को प्रत्यक्ष मूर्तियों से मिलाकर उन अंशों का काल स्थिर किया जा सकता है। एक उदाहरण लें। गुप्तकाल के बीच तक की विष्णु मूर्तियों में कहीं भी कमल नहीं दिखलाई पड़ता, विष्णु के तीन हाथों में शंख, चक्र तथा गदा रहती है तथा साधारण दाहिना हाथ अभयमुद्रा में या फल लिये हुए रहता है। स्पष्ट है कि कमल का उल्लेख करने वाले साहित्यिक अंशों का प्रणयन इस काल के बाद ही हुआ होगा। उसी प्रकार, नासाग्र में पड़ी हुई मुक्ता या बुलाक विष्णु के पैरों के नुपुर आदि वस्तुएँ मध्यकाल के पूर्व प्रतिमाओं में नहीं आईं अर्थात् इनका वर्णन करने वाले पदमपुराणादि के वे अंश निश्चय ही बहुत प्राचीन नहीं हो सकते, अपितु उनका प्रत्यक्ष दर्शन कराने वाली मूर्तियों के लगभग समकालीन या बाद के ही हो सकते हैं। इस प्रकार का कालनिर्णय स्पष्टतः केवल विशिष्ट अंशों या अधिक से अधिक अध्यायों का ही किया जा सकता है, खण्ड, पर्व या सम्पूर्ण ग्रन्थ का नहीं।

भारत की प्राचीनकालतम ज्ञात सभ्यता है सिन्धुघाटी की सभ्यता और सर्वप्राचीन साहित्य है वैदिक साहित्य। सिन्धु सभ्यता का ज्ञान हमें उन वस्तुओं से होता है, जो उस क्षेत्र से उत्खनन में मिली हैं। तत्कालीन मूर्तिविज्ञान पर प्रकाश डालने वाली निम्नांकित वस्तुएँ उल्लेखनीय हैं:

1. पर्याप्त मात्रा में मिले हुए लिंगाकार पाषाण, जिनका सम्बन्ध लिंगपूजा से बैठाया गया

है। चपटे छिद्रयुक्त वर्तुलाकार जो पत्थर मिले हैं, उनसे योनिपीठ की कल्पना की जा सकती है।

2. एक मुहर पर बनी हुई त्रिशिर मानव की आसनस्थ मूर्ति, जिसके मस्तक पर सींगदार मुकुट बना है। योगासन–श्रीबनर्जी के मतानुसार कूर्मासन–बैठे हुए इस मानव को भैंसा, गेंडा, हाथी, बाघ एवं एक मनुष्य घेरे हुए हैं। मार्शल ने इसे शिव पशुपति का प्रारम्भिक रूप माना है।
3. एक दूसरी मुहर पर आसनस्थ मानव के अगल-बगल घुटने टेके हुए उपासक दिखलाई पड़ते हैं और मस्तक पर फन फैलाये साँप दिखलाई पड़ता है।
4. अन्य तीन मुहरों पर जैन तीर्थंकरों के समान कार्योन्सरी मुद्रा में खड़े विवस्त्र वृक्ष देवता दिखलाई पड़ते हैं। प्रत्येक क़े पास आधा झुका उपासक है, जिनके मस्तक पर फन फैलाये साँप हैं।
5. मिट्टी की संख्या मुहरें, जिन पर मानव आकृतियाँ बनी हैं और जिन्हें मैके ने अनुमानतः गृह देवताओं का रूप कहा है।

सिन्धु सभ्यता के विषय में कोई निश्चित विधान करना तब तक संभव नहीं है, जब तक हमें उनकी चित्रलिपि का ज्ञान न हो जाय।

भारतीय इतिहास के आरंभिक युग में किसी प्रकार की मूर्तिपूजा की ओर संकेत करने वाली तांबे की उन मानवाकार वस्तुओं का उल्लेख भी आवश्यक है, जो निखाद निधियों (कापर होर्ड्स) के रूप में लखनऊ गुरुकुल विश्वविद्यालय, हरिद्वार, पटना, कोलकाता के भारतीय संग्रहालय आदि स्थानों पर सुरक्षित हैं। विद्वानों ने इन्हें साम्प्रदायिक प्रतीक या विशिष्ट सम्प्रदायों के उपासना चिह्न माना है, परन्तु इस विषय में निश्चित मत प्रदर्शन कठिन है।

अब प्राचीन साहित्य की ओर मुड़ें। प्रथम 'मूर्ति' शब्द को लें। इस शब्द में विशेष व्यक्ति या देवता के मूर्त रूप के साथ-साथ अनुकृति और सादृश्य की कल्पना भी निहित रहती है। प्रतिकृति, प्रतिमा, बिम्ब आदि शब्द भी इसी बात को सूचित करते हैं। 'वाल्मीकि रामायण' में वर्णित अश्वमेध यज्ञ के अवसर पर संस्थापित सीता की सुवर्णमयी प्रतिमा, 'महाभारत' में धृतराष्ट्र द्वारा भीम की काँसे की प्रतिमा को आलिंगन देने की बात और 'शुक्रनीतिसार' में मानव बिम्बों का वर्णन प्रतिमा के साथ निहित सादृश्य की कल्पना को बल देते हैं। जीवित अथवा मृत व्यक्तियों की प्रतिमाएँ बनाना तथा देवकुलादि विशिष्ट स्थानों में उन्हें स्थापित करने की बात अन्यान्य प्रमाणों द्वारा भी सिद्ध की जा सकती है, परन्तु उससे यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि ये मूर्तियाँ देव विग्रहों के समान सभी लोगों के द्वारा पूजी तथा समादृत की जाती थीं। इस प्रकार के व्यवहृत प्रतिमा, प्रतिकृति, बिम्ब, मूर्ति इन शब्दों का भाव स्मृति चिह्न भर होगा।

भारत का प्राचीनतर साहित्य वैदिक साहित्य है, जिसके अन्तर्गत ऋग्वेदादि वैदिक संहिताएँ, आरण्यक, ब्राह्मण और उपनिषद् ग्रन्थों का समावेश होता है। यह सारा साहित्य एक ही समय की सृष्टि नहीं है। परन्तु, उसमें प्राचीनतम होने का सम्मान ऋग्वेद संहिता को मिलता है।

ब्रह्मा का स्वरूप

हिन्दू धर्म में जगतस्रष्टा के रूप में ब्रह्मा का प्रमुख स्थान है। विष्णु और महेश (शिव) के साथ ब्रह्मा का सर्वप्रथम नाम लिया जाता रहा है तथा समाज में ब्रह्मा, विष्णु और महेश, तीन विशिष्ट देवता माने जाते रहे हैं जो क्रमश सृष्टिकर्त्ता, सृष्टिपालक और सृष्टिसंहारक के रूप में पूजित थे। अत्यन्त प्राचीन काल में ब्रह्मा को 'प्रजापति' कहा जाता था। किन्तु गृह्यसूत्रों के काल में 'प्रजापति' को ब्रह्मा कहा जाने लगा। इस प्रकार 'प्रजापति' को 'ब्रह्मा' के नाम से एकीकृत किया गया। कालान्तर में ब्रह्मा को भी जगत के स्रष्टा के रूप में स्वीकार किया गया तथा अत्यन्त प्रारंभ में प्रजापति का भी प्रधान कर्म जगत का सर्जन करना था। इसलिए परवर्ती काल में 'प्रजापति' और 'ब्रह्मा' एक हो गये। ऋग्वेद के अनुसार प्रजापति समस्त जीवों का स्वामी एवं देवोपरि देव था।[1] 'शतपथ ब्राह्मण' में प्रजापति को प्रजावर्ग का सृजनकर्त्ता माना गया है। उसी ग्रन्थ में एक स्थल पर उन्हें वाराहरूप में पृथ्वी का उद्धार करते हुए विवृत किया गया है।[2] यही नहीं वे सारे देवताओं के जनक थे तथा प्रारंभ में जब जगत में कुछ भी नहीं था तब मात्र प्रजापति का ही अस्तित्व था। 'रामायण' में ब्रह्मा को लोककर्ता बताया गया है।[3] गुप्त काल तक आकर 'प्रजापति' शब्द केवल ब्रह्मा का ही बोधक रह गया था। पुराणों में ब्रह्मा का समीकरण प्रजापति से ही किया गया है। 'वायुपुराण में ब्रह्मा ने विष्णु से कहा है कि सृष्टि के आदिकर्त्ता और प्रजापति वे ही हैं।[4] प्रजा का पालन करने के कारण उन्हें प्रजापति की संज्ञा मिली थी। 'मत्स्यपुराण' में भी उन्हें प्रजापति ही कहा गया है। कालिदास के अनुसार ब्रह्मा स्वयंभू (स्वयं उत्पन्न होने वाले), चतुर्मुख (चार मुखोंवाले), वागीश और समस्त संसार के स्रष्टा हैं।[5] जगत का सर्जन (सृष्टि), स्थिति (पालन) और प्रलय (विनाश) उन्हीं के द्वारा होता है। सत्य, रज और तम जैसे गुण उन्हीं में स्थित थे। सृष्टि के निमित्त उन्होंने अपने शरीर को पुरुष और नारी, दो रूपों में विभाजित कर लिया था। 'विष्णुपुराण' के अनुसार कृतयुग के प्रारंभ से ही ब्रह्मा सृष्टि करने की ओर प्रवृत्त थे।[6] जिसके निमित्त उन्होंने तपश्चर्या की थी। वे ही पहले शरीरधारी और सृजनकर्ता थे।

ब्रह्मा के चार मुखों का उल्लेख कालिदास ने भी किया है और पुराणों ने भी। कालिदास के अनुसार वे 'चतुर्मुख' और वागीश थे। 'मत्स्यपुराण' की कथा में कहा गया है कि प्रारंभ में ब्रह्मा के पांच मुख थे, जिनमें से एक मुख को शिव ने काट दिया था।[7] इससे ऐसा लगता है कि विष्णु और शिव के सम्मुख ब्रह्मा की महिमा और प्रतिष्ठा धीरे-धीरे घटती गई जो बाद में आकर और कम हो गई। 'बृहत्संहिता' और 'विष्णुधर्मोत्तर' में उनकी मूर्ति बनाने का विधान दिया गया है। जिस प्रकार देश में विष्णु, शिव, सूर्य जैसे देवताओं के विविध मन्दिर और मूर्तियाँ निर्मित हुईं उसी प्रकार ब्रह्मा के न मन्दिर बने, न मूर्तियाँ ही निर्मित हुईं। यह अभाव इस बात का प्रमाण है कि ब्रह्मा का जन जीवन में कोई प्रभाव नहीं रह गया था तथा समाज में उनका धार्मिक महत्व नहीं के बराबर था। ब्रह्मा की अधिकतर मूर्तियाँ विष्णु और शिव के पार्षद के रूप में बनीं। ब्रह्मा की सर्वाधिक महत्व वाली मूर्ति सिन्ध के मीरपुरखास से मिली है, जो कांसे

की बनी है। इस मूर्ति के चार सिर और दो हाथ हैं, एक में पुस्तक और अक्षमाला है तथा दूसरे में कमंडल। वैसे शेषशायी विष्णु के नाभिकमल पर ब्रह्मा को विराजते हुए अनेक मूर्तियों में देखा जा सकता है।

उपरिलिखित देवताओं के अतिरिक्त इन्द्र, अग्नि, वरुण, यम, कुबेर आदि देवताओं का भी हिन्दू समाज में पूजन अर्चन किया जाता था। धर्मभीरु जनता अपने इष्टदेवों की पूजा मन्दिरों में भी करती थी और घरों में भी। घरों में देवताओं की छोटी-छोटी मूर्तियाँ रखी जाती थीं। व्रत उपवास के साथ-साथ लोग धार्मिक पर्व मनाते थे। धार्मिक भावना से लोग तीर्थयात्रा भी करते थे और देश के विभिन्न भागों में जाकर स्नान, पूजन और ध्यान करते थे।

सृष्टि के रहस्यों के विचार में प्रथम स्थान ब्रह्मा का है। यह बृहि (बृहं) धातु में औणादिक 'मनिन्' प्रत्यय लगाने से बनता है।

बृहं का अर्थ है – बढ़ना। इसलिए ब्रह्म का अर्थ हुआ, बड़ा। 'ब्रह्म' शब्द से एक ऐसे तत्त्व का कथन अभीष्ट है, जो सबसे बड़ा, सर्वव्यापी और सबसे शक्तिमान है। इससे किसी तरह भी कुछ भी बड़ा नहीं है। सारी सृष्टि इसके भीतर है और सृष्टि में यह समाया हुआ है। इससे बाहर कुछ भी नहीं है। आधुनिक विज्ञान की भाषा में इस तरह कहा जा सकता है कि जिस तरह 'ईंधन' एक अत्यन्त सूक्ष्म वस्तु है, जिसके विस्तार की कहीं सीमा नहीं है। वह दीवार, पहाड़ या सारी पृथ्वी के भीतर से उसी तरह चलता है जैसे चिड़िया हवा के भीतर से चलती है। उसी तरह ब्रह्म एक सर्वव्यापी सूक्ष्मातिसूक्ष्म तत्त्व है, जो सबसे भीतर बाहर रहकर सबको चलाता है और जिसके आदि, मध्य और अन्त का कहीं ठिकाना नहीं है। इसे जानने वाले लोग अलंकृत भाषा में कहते हैं कि यह एक ऐसा 'वृत्त' है, जिसका केन्द्र सर्वत्र है और 'परिधि' कहीं नहीं। यह शुद्ध चेतना है और आनन्द इसका स्वभाव है। चेतन अर्थात् ज्ञानमय होने के कारण इसे इच्छा होती है और इच्छा, क्रिया बनकर विश्व के रूप में प्रकट होती है। इसलिए कहा जाता है कि ज्ञानमय विभु की इच्छा और क्रिया, स्वभाव है।

लोग इसे प्रजापति (सारी सृष्टि का अधीश्वर), आत्मभू (आप से आप होने वाला), परमेष्ठी (परमाकाश में, चेतना के आकाश में, अथवा ब्रह्म बनकर रहने वाला) इत्यादि नाना नामों से पुकारते हैं। चेतना और आनन्द (चिदानन्द) ही इसका रूप है। साधना द्वारा इसे केवल अनुभव किया जा सकता है। विवरण द्वारा इसको जानने की चेष्टा करना निरर्थक प्रयास है। स्वानुभूति का विषय शब्दों में नहीं आ सकता। अनुभव करने से ही उसका ज्ञान हो सकता है। जिसने कभी नमक या मिठाई नहीं खाई है, व्याख्यान द्वारा उसे इनके स्वाद का बोध कराना जिस प्रकार असंभव है, उसी प्रकार व्याख्यान द्वारा ब्रह्मानन्द का बोध करना या कराना असंभव है।

इस विभु (सर्वव्यापी) चेतना की इच्छा की क्रिया रूप ग्रहण कर सृष्टि और संहार का कार्य करती रहती है। इसके अनन्त रूप में कार्य के साधन हस्तपादादि की कल्पना करने से इसके असंख्य और विशाल हस्तपादादि की कल्पना करनी पड़ती है। इससे जीव की व्याकुलता बढ़ती है। आत्मोद्धार के लिए वह प्रभु (सर्वशक्तिमान) के निकट जाने के लिए उसे इच्छानुकूल लघुरूप में ग्रहण करता है

सभी प्रधान देवों के प्रतीकों के निर्माण में ब्रह्म, वाक्, माया, दिक्, काल, त्रिगुण और धर्म के सिद्धान्तों का प्रधानतया प्रयोग होता है। कोई विशेष प्रयोजन ध्यान में रहने से, इनके अतिरिक्त, अन्य सिद्धान्तों के आधार पर भी प्रतीक की कल्पना की जाती है।

विष्णु और शिव की तरह ब्रह्मा के भी दो रूप हैं–पूर्ण ब्रह्म और रजोगुण के अधिष्ठाता गुणाभिमानी देव।

ब्रह्मा, ब्रह्म है, आत्मभू (आप से ही आप उत्पन्न होने वाले) स्वयंभू हैं और सारी सृष्टि के धाता (बनाने वाले) हैं, ये सृष्टि स्वरूप हैं, अर्थात् इनमें और सृष्टि में कोई अन्तर नहीं है।

'जर्गाद्विराजोः सत्तैका पवनस्पन्दयोरिव।
जगद्यत्स विराडेव यो विराट् तज्जगत्स्मृतम्।
जगद्ब्रह्मा विराट् चेति शब्दाः पर्यायवाचकाः।।[8]

'पवन और उसके स्पन्दन की तरह जगत और विराट् एक ही सत्ता है, जो जगत है, वही विराट् है, जो विराट् है, वही जगत है। जगत विराट् और ब्रह्मा–ये तीन पर्यायवाची (एकार्थक) शब्द हैं।'

इनके चतुर्मुखादि की व्याख्या इस प्रकार की गई है :

'ऋग्वेदादिप्रभेदेन कृतादियुगभेदतः।
विप्रादिवर्णभेदेन चतुर्वक्त्रं चतुर्भुजम्।

ऋग्वेदादि चारों वेद, कृत इत्यादि चारों युग और ब्राह्मणादि चार वर्णों के प्रतीक इनके चारों मुख और चारों भुजाएँ हैं।

'अरुणादित्यसंकाशं चतुर्वक्त्रं चतुर्मुखम्।
चतुर्वेदमयं देवं धर्मकामार्थमोक्षदम्।।[9]

ब्रह्मा के बालसूर्य के समान लाल वर्ण, चार शिर और चार मुख, चारों वेदमय और धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के देने वाले हैं।

इनका वाहन राजहंस है, जो शान्ति, पवित्रता इत्यादि का प्रतीक है। वह हंसः अहं सः सोऽहं अजपाजप करने वाले जीव और प्राणशक्ति का भी प्रतीक है जिसके द्वारा ब्रह्मा सृष्टि का संचालन करते हैं।

इनका नाम अब्जयोनि है। ये कमल से उत्पन्न होते हैं और उस पर बैठे रहते हैं। यह कमल विष्णु की नाभि से निकलता है।

वैष्णव धर्म का उद्भव और विकास

भगवान विष्णु को अपना प्रधान इष्ट देव और परमात्मा के रूप में मानने वाले भक्त वैष्णव कहे गये तथा तत्सम्बन्धी धर्म दर्शन और सिद्धान्त वैष्णव धर्म। विष्णु वैदिक देवता हैं जिनका

प्रभाव धीरे--धीरे बढ़ता गया। वैष्णव धर्म में विष्णु सबन्धी वैदिक आख्यान निहित हैं। ऋग्वेद में देवताओं के ऐश्वर्य, पराक्रम विस्तार आदि के अतिरिक्त उपनिषदों के ज्ञान, दर्शन और सिद्धान्त आदि का भी समावेश इस धर्म में हुआ है। याज्ञिक कर्मकाण्ड के स्थान पर भक्ति और उपासना का सन्निवेश है। वैष्णव साधक की दृष्टि में यह विशाल विषय उस ऐश्वर्यशाली विष्णु की ही शक्तियों की अनेकानेक अभिव्यक्ति हैं। समस्त जगत उन्हीं की चित्रण कृति है। उसमें (विष्णु अथवा हरि) और जगत में कोई भेद नहीं है। उनके अवतारों की इयत्ता नहीं। जिस प्रकार न सूखने वाले सरोवर से सहस्त्रों कुल्याएँ (छोटी धाराएँ) निसृत होती हैं उसी प्रकार उस तत्त्व निधि हरि से असंख्य अवतारों का उद्गमन होता है। यद्यपि अधिकतर अवतारों की संख्या 24 है और न्यूतनम 10 तथापि हिन्दू धर्म में विष्णु के 10 अवतार अधिक प्रख्यात हुए। ये दस अवतार हैं–मत्स्य, कच्छप, वराह, नृसिंह, वामन, परशुराम, राम, बलराम, बुद्ध और कल्कि। इन अवतारों में कृष्ण का नाम नहीं है क्योंकि कृष्ण स्वयं भगवान के साक्षात स्वरूप हैं। विष्णु के अवतारों के विवरण में बलराम को निहित कर इस संख्या की पूर्ति की गई है। श्रीकृष्ण विष्णु के ही रूप हैं। युधिष्ठिर ने उनकी स्तुति करते हुए कहा है, 'यह सम्पूर्ण जगत आपकी लीलामयी सृष्टि है। आप इस विश्व के आत्मा हैं। आप ही से जगत की उत्पत्ति हुई है। व्यापक होने के कारण आप ही विष्णु हैं, विजयी होने के कारण 'विष्णु', दुःख और पाप हरने के कारण 'हरि', अपनी ओर आकृष्ट करने के कारण 'कृष्ण', विकुण्ठ धाम के अधिपति होने के कारण वैकुण्ठ तथा क्षरअक्षर पुरुष से उत्तम होने के कारण पुरुधोत्तम। इस प्रकार विष्णु का आयाम अत्यन्त विशाल है। वैदिकयुगीन उसकी पराक्रमशीलता परवर्ती काल में आकर शवितसम्पन्न हुई। उनके व्यक्तित्व में अनेकानेक गुण समाहित हुए। उन्हें अत्यन्त पराक्रमी, आनन्द प्रदानकर्त्ता, उपकार करने वाला, पतितपावन, विष्णु स्वरूप, देव मन्दिर, गीतज्ञ, गीतप्रिय, विद्या और यज्ञ का आधार, सृष्टिकर्ता और तारक, व्यापक, परमपद, लोकभरणकर्ता, सर्व भूतों में निवास करने वाला कहा गया है।

वैष्णव धर्म की प्रारंभिक स्थिति : वासुदेव और भागवत धर्म

वैष्णव धर्म का प्रारंभिक रूप भागवत धर्म के अन्तर्गत देवकी–पुत्र वासुदेव कृष्ण के पूजन में दर्शित होता है जो संभवतः छठी सदी ई॰ पूर्व के पहले स्थापित हो चुका था। वासुदेव जो कृष्ण का प्रारंभिक नाम था, पाणिनी के युग में प्रचलित था। उस युग में वासुदेव की उपासना करने वाले 'वासुदेवक' कहे जाते थे। संभवतः वासुदेव कृष्ण को प्रधान देवता मानकर उनकी उपासना समाज में भक्ति के नए आदर्श के रूप में प्रचलित हुई। मथुरा क्षेत्र में उनकी जाति का प्रभाव था। वे संभवतः क्षत्रिय नहीं थे। उनकी जाति को स्यात मथुरा से गुजरात की ओर जाना पड़ा। उस समय उत्तरी भारत विघटन और संघर्ष में पड़ा हुआ था। कृष्ण ने अपने मत का संचालन किया। पंतजलि ने भाष्य करते हुए लिखा है कि वासुदेव 'पूजार्ह' (तत्रभवतः) अर्थात् भगवान की संज्ञा है, जो दिव्य पुरुष है। वे शायद वृष्णिवंशी रहे। पतंजलि के अनुसार वासुदेव

विष्णु के रूप थे। तत्कालीन समाज में कंस और वासुदेव सम्बन्धी आख्यान प्रचलित हो चुके थे। उस युग में कंस वध के चित्र बनाये जाते थे तथा वासुदेव कृष्ण का यशगान किया जाता था। वासुदेव (जनार्दन) के चतुर्व्यूह का उल्लेख भी पतंजलि द्वारा किया गया है। कृष्ण और संकर्षण की सम्मिलित सेना तथा उनके प्रासाद और मन्दिरों का भी विवरण उसमें मिलता है। अतः पाणिनि के काल से वासुदेव का पूजन और भागवत धर्म का प्रसार तीव्र गति से प्रारंभ हो चुका था। गृहपत्नी और गृहपति, जो भागवत धर्म का अनुसरण करते थे, भगवती और भागवतम् कहे जाते थे। वासुदेव के उपासकों के प्रारंभिक अभिलेख भी मिलते हैं। बेसनगर स्थित द्वितीय ई. पू. के एक अभिलेख से ज्ञात होता है कि यूनानी दूत तक्षशिला निवासी होलिओदोर ने देवाधिदेव वासुदेव के स्मरण में गरुड़ध्वज स्थापित कराया था और अपने को 'भागवत्' घोषित किया था। स्पष्ट है कि भागवत धर्म का समाज में इतना अधिक प्रभाव था कि कभी-कभी विदेशी भी उसके अनुयायी बन जाते थे और आराध्य देव के सम्मान और स्मरण में अभिलेख उत्कीर्ण कराते थे। पहली सदी ई. पू. के नारवाट अभिलेख में संकर्षण (वासुदेव कृष्ण के भाई बलराम) और वासुदेव का उल्लेख हुआ है, जो तद्युगीन वासुदेव पूजन के प्रचलन और वासुदेव धर्म के प्रसार को पुष्ट करता है।

'महाभारत' में वासुदेव का नाम अनेक बार आया है। वासुदेव के संबंध में भीम का कथन है, इस नित्य, मंगलमय, अद्भुत और अनुरागी देवता को वासुदेव रूप में समझना चाहिए। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र भक्ति संचालित कार्यों से उनका पूजन करते थे। वृष्णि लोग वासुदेव के अनुयायी थे, जो कालान्तर में 'सात्वत' भी कहलाये। भगवान वासुदेव ने स्वयं कहा है कि 'मैं वृष्णियों में वासुदेव हूँ, पांडवों में धनंजय, मुनियों में व्यास और कवियों में उशना'। सात्वत लोग वासुदेव को परम ब्रह्म के रूप में मानकर विशिष्ट साधना द्वारा पूजते थे। भागवत पुराण में उल्लिखित है कि सभी जीवों में स्थित भगवान को अपने हृदय में दर्शित करना चाहिए और सबके साथ अपना सम्बन्ध स्थापित करना चाहिए, ऐसा करने वाला व्यक्ति ही सच्चा भक्त है। इस प्रकार के व्यक्ति में आदर्श भावना, श्राद्ध, विनय, दोषदृष्टि का अभाव, शांत विचार, सत्यता और शुद्धता होती है। वह सम्पत्ति और विपत्ति को समान मानता है तथा उत्तम, मध्यम और अधम को सम-भाव से समझता है। ऐसा भागवत अनुयायी काम और अर्थ से बहुत दूर रहता है। वह मन में ऐसी प्रवृत्ति नहीं लाता। इस प्रकार की प्रवृत्ति रखने वाले व्यक्ति का पुरुषार्थ नष्ट हो जाता है और मन, प्राण, इन्द्रिय, शरीर धर्म, धैर्य, बुद्धि, श्री, तेज, स्मृति, सत्य आदि भी लुप्त हो जाते हैं। वह परोपकारी और निस्पृह मार्ग का अनुसरण करता है। विष्णु पुराण के अनुसार सात्वता वंश का पुत्र था और कालान्तर में उसके नाम से उसका वंश चला और उस वंश में होने वाले लोग भगवान वासुदेव के अनुयायी हुए। अतः वासुदेव को सात्वतर्धम्भ भी कहा गया। यह भी संभव है कि सात्वत जाति के लोगों में भागवत सम्प्रदाय का विकास हुआ जो वासुदेव को परमेश्वर के रूप में मानता था और सविधि पूजन अर्चन करता था। वासुदेव पूजन इस युग में भी प्रचलित था। मेगस्थनीज नामक यूनानी यात्री ने मथुरा की 'सौरसेन्लोई'

नामक जाति और 'जोबरेस' नामक नदी का उल्लेख किया है, जो क्रमशः 'सूरोसेन' और 'यमुना' शब्दों को व्यवहृत करते हैं। ऐसा लगता है कि भागवत धर्म का उदय मौर्य युग के बहुत पहले हो चुका था, जो संभवत बौद्ध युग के पूर्व का समय था। उसके बाद से भागवत धर्म समाज में सक्रियतापूर्वक स्थान बनाने लगा तथा महाभारत की रचना के समय भागवत धर्म एक प्रमुख धर्म बन गया था। परमेश्वर ने वासुदेव के रूप में इस भूतल पर अवतार लेकर लोगों को नवीन आस्था और विश्वास प्रदान किया तथा कहा, "बुद्धिमान व्यक्ति जन्मों के अन्त के जन्म में यह मानते हुए कि वासुदेव ही सब कुछ हैं स्वयं को मुझमें अर्पित करता हुआ मुझे भजता है, ऐसा महात्मा अत्यन्त दुर्लभ है।" अतः वासुदेव भागवत सम्प्रदाय के सर्वोच्च आराध्य शिव थे जिनका पूजन परमेश्वर रूप में उनके अनुयायियों द्वारा अत्यन्त निष्ठापूर्वक किया जाता था। परवर्ती काल में 'वसुदेव' शब्द उनके पिता के लिए व्यवहृत किया जाने लगा। विष्णु पुराण में 'वासुदेव' को विष्णु के नाम के रूप में स्वीकार किया गया है तथा यह कहा गया है कि विष्णु सर्वत्र है, जिसमें सभी का वास है, इसलिए वह 'वासुदेव' है। एक अन्य स्थल पर 'वासुदेव' के लिए यह विवृत है, 'सम्पूर्ण संसार रूप महावृक्ष के मूलस्वरूप भूत, भविष्य और वर्तमानकालीन सम्पूर्ण देवों, असुरों और मुनिजन का बुद्धि के लिए अगम्य तथा ब्रह्मा और अग्नि आदि देवताओं द्वारा प्रणाम करके भूभार हरण के लिए प्रसन्न किये गये तथा आदि, मध्य और अन्तहीन भगवान वासुदेव ने देवकी के गर्भ से अवतार लिया। उन्हीं की कृपा से महान महिमावाली योगनिन्द्रा भी नन्द गोप की पत्नी यशोदा के गर्भ में स्थित हुई।' 'वायुपुराण' में भगवान वासुदेव के पिता वसुदेव का उल्लेख है, जिसके अनुसार वसुदेव की तपस्या के परिणामस्वरूप देवकी के गर्भ से चतुर्बाहु वाले दिव्य रूपी भगवान ने जन्म लिया।

वासुदेव और नारायण

वासुदेव के लिए 'नारायण' का भी उल्लेख मिलता है। 'नारायण' की 'नाडायन' शब्द से व्यंजना की गई है। उसका अर्थ 'नार' या 'नरो' के समूह के रूप में गृहीत किया जाता है। 'नर' शब्द का व्यवहार वैदिक देवों के लिए भी हुआ है, इसलिए 'नारायण' शब्द दोनों का आम अर्थ अभिव्यक्त करता है। महाभारत के शांतिपर्व में नारायणीय शब्द की कथा 'नारायण' से सम्बद्ध है। नारद को परम पुरुष वासुदेव ने वासुदेव धर्म की दीक्षा दी थी। इसलिए पहले वह नारायण की आराधना करते थे और तब पितरों की। नारायण ही उनके माता, पिता और पितामह थे। आख्यानों में नारायण को जल में शेषशैया पर दर्शित किया गया है, जो 'नारायण' के दूसरे अभिप्राय का समर्थन करता है। मनु के अनुसार 'नर' का अर्थ जल भी होता है जो नर (परमात्मा) की संतान है। वह 'नारा' (जल) परमात्मा का प्रधान आश्रय है, इसलिए परमात्मा 'नारायण' कहे जाते हैं। पुराणों में नारायण के विषय में विस्तृत सूचनाएँ मिलती हैं। जिनके अनुसार नारायण परम पुरुष परमात्मा है। विष्णु पुराण में लिखा है कि नर (परम पुरुष) से उत्पन्न होने के कारण जल को 'नार' कहते हैं, वह नार (जल) ही उनका प्रथम अयन

(आवास) है, इसलिए भगवान को नारायण कहते हैं। मत्स्य, वायु, ब्रह्माण्ड पुराणों में नारायण को विष्णु का स्वरूप माना गया है। वैदिक युगीन अनेक ऐसे संदर्भ मिलते हैं जिनके अनुसार नारायण के मूल आधार का भान होता है। ऋग्वेद में उल्लिखित है कि स्वयंभू नारायण ने समस्त जीवों को धारण किया था। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार 'नारायण' में ही सभी लोक, देव, वेद और प्राण प्रतिष्ठित हैं। महाभारत में एक स्थल पर कहा गया है जब सातवें कल्प के आरंभ में सातवीं बार ब्रह्मा जी के जन्म ग्रहण का अवसर आया तब शुभ और अशुभ से रहित अमित तेजस्वी महायोगी भगवान नारायण ने सबसे पहले अपने नाभि कमल से ब्रह्मा को उत्पन्न किया। ऋग्वेद के पुरुष सूक्त में एक ऋषि का नाम नारायण वर्णित किया गया है, जो संभवतः परवर्ती काल में आकर 'वासुदेव' अथवा विष्णु से सम्बन्धित किया गया। तैत्तिरीय आरण्यक के विवरण में 'नारायण' को उन समस्त विशेषणों से युक्त किया गया है जो उपनिषदों में विवृत हैं। पौराणिक कथाओं में भगवान नारायण को क्षीर सागर में शेषनाग की शैया पर सोये हुए प्रदर्शित किया गया है। अतः नारायण का जल में सम्बन्ध स्थापन का आख्यान पुराकालीन है। परम पुरुष परमात्मा के रूप में 'नारायण' की प्रतिष्ठा 'वासुदेव' के दर्शन ऋग्वेद काल में ही हो चुकी थी, महाकाव्य युग में 'वासुदेव' का गौरव बढ़ा और 'नारायण' के साथ वासुदेव का समन्वय किया गया। इस सम्बन्ध का सुन्दर और सरल वर्णन महाभारत के वनपर्व में हआ है, जिसका आख्यान मार्कण्डेय जी युधिष्ठिर को सुनाते हैं। सृष्टि के प्रलय काल में सर्वत्र जल ही जल व्याप्त था। उस जल में एक न्यग्रोध वृक्ष था, जिसकी शाखा पर एक शिशु शयन कर रहा था। वहाँ मार्कण्डेय मुनि भी आ गये। उस शिव ने जब अपना मुख खोला तब मार्कण्डेय उसके मुख में चले गये, जहाँ उन्होंने अत्यन्त आश्चर्य के साथ सम्पूर्ण सृष्टि को देखा। इसके बाद उस शिशु ने मार्कण्डेय ऋषि को उगल दिया और वे फिर जल में आ गये। इस पर मार्कण्डेय ने उस शिशु से पृच्छा की, 'आप कौन हैं?' तब उसने उत्तर दिया, मैंने जल को 'नारा' नाम की संज्ञा दी है, जो मेरा अयन है, इसीलिए मैं नारायण हूँ। तदन्तर मार्कण्डेय जी ने युधिष्ठिर से कहा, आपके सम्बन्धी जनार्दन ही नारायण हैं। महाभारत के नारायणीय खण्ड में भी वासुदेव के नारायणीय रूप की चर्चा की गई है। एक अन्य कथा में यह कहा गया है कि नारायण चार मूर्तियों (नर, नारायण, हरि और कृष्ण) के रूप में धर्म के आत्मज थे, जो कालान्तर में आकर सत्य, अहिंसा, परम-ब्रह्म आदि तत्त्वों से सम्बद्ध होकर समाज के धार्मिक जीवन के महत्वपूर्ण अंग बन गए। अर्जुन और कृष्ण को महाभारत में नर और नारायण का रूप माना गया है, जो विभिन्न स्थलों पर दृष्टिगत होता है। नर और नारायण के तादात्म्य का यहाँ एक ही दृष्टान्त पर्याप्त होगा। जनार्दन अर्जुन से कहते हैं, 'हे अजेय, तू नर है, मैं नारायण। हम दोनों (नर और नारायण) इस भूतल पर समयानुसार अवतरित हुए हैं। हे पार्थ, न तुम मुझसे पृथक् हो और न मैं तुमसे। हमारे बीच कोई अन्तर नहीं।' अतः ऊपर के विश्लेषण से स्पष्ट है कि नारायण और वासुदेव एक ही परम पुरुष के पर्यायवाची नाम हैं। नारायण नाम पहले प्रचलित हुआ था और वासुदेव बाद में। स्मृतियों में भी 'नारायण' की जगतपति के रूप में वन्दना की गई है, जो इस बात का प्रमाण है कि

नारायण का पूजन समाज में त्वरित गति से बढ़ रहा था और उनके अनुयायियों की संख्या में वृद्धि हो रही थी।

देवता के रूप में विष्णु का अस्तित्व वैदिकयुगीन है। ऋग्वेद में उनकी स्तुति अनेक सूक्तों में की गई है। उनमें विक्रम, पराक्रम और बाद में समस्त जगत समाविष्ट था। इसीलिए वे विश्व में व्यापनशील थे। उनकी वन्दना में कहा गया है कि उन्होंने अपने तीन ही पद में समस्त लोकों को माप लिया था। उनके दो पद तो दृश्य थे किन्तु तीसरा पद पूर्णतः अदृश्य–पक्षियों की उड़ान से भी परे। स्वर्ग में अनिमेष देखते हुए उनके परमपद का दर्शन किया जा सकता था, मधु के उत्स के समान उनके परमपद थे, जहाँ देवगण आनन्द लाभ करते थे। उत्तरवैदिक काल के तत्कालीन समाज में विष्णु का प्रभाव और आयाम बढ़ने लगा, जो महाकाव्य काल में आकर और अधिक बढ़ गया, जिसने उन्हें सृष्टिकर्त्ता और जगन्नियन्ता का पद प्रदान किया। ब्राह्मण ग्रन्थों में विष्णु को सर्वोच्च स्थान प्रदान किया गया है। शतपथ ब्राह्मण के एक उपाख्यान से ज्ञात होता है कि देवताओं ने आपस में यह निश्चय किया कि जो देवता अपने कर्म से अन्त का पता पा लेगा वह सर्वश्रेष्ठ माना जाएगा। देवताओं में विष्णु ने सर्वप्रथम अन्त को प्राप्त कर लिया, फलस्वरूप वे ही देवताओं में सर्वोच्च पद के अधिकारी हुए तथा तीन पद के कारण प्राप्त विजय से देवताओं को उन्होंने अपरिमेय अधिकार से सम्पन्न किया। देवताओं और असुरों के बीच हुए संघर्ष में विष्णु ने देवताओं की बुद्धि और पराक्रम से महनीय सहायता की। विष्णु की अद्‌भुत बुद्धि के कारण असुर इस बात के लिए वचनबद्ध हो गए कि वे वामन के बराबर भूमि देवताओं को देंगे। विष्णु (वामन अवतार के रूप में) जब भूमि पर लेटे तो उन्होंने धीरे-धीरे अपने शरीर का आकार बढ़ाना प्रारंभ किया और अन्त में उन्होंने अपने आकार से सम्पूर्ण पृथ्वी का ग्रास कर लिया। फलतः विष्णु की अद्‌भुत शक्ति के कारण देवताओं को सम्पूर्ण पृथ्वी प्राप्त हो गई। इस प्रकार तत्कालीन समाज में विष्णु की बुद्धि और शक्ति सर्वाधिक प्रभावकारी और महत्वशाली सिद्ध हुई। उपनिषदों में भी विष्णु को परम ब्रह्म के रूप में स्वीकार करके परम पद की प्राप्ति की बात कही गई है। संसार की निर्भरता अन्न के ऊपर थी, इसलिए उसे विष्णु का रूप माना गया था। सूत्र ग्रन्थों के अनुसार जब स्त्री पुरुष का विवाह सम्पन्न होता था तब उस संस्कार में सप्तपदी के समय कहा जाता था कि विष्णु तुम्हारे साथ रहे। इससे यह लक्षित होता है कि विष्णु जैसे देवता की कृपा और अनुकम्पा की सभी कामना करते थे। महाकाव्यों के समय तक विष्णु परम ब्रह्म परमेश्वर का पद प्राप्त कर सर्वोच्च हो चुके थे तथा वासुदेव से उनका तादात्म्य स्थापित किया जा चुका था। महाभारत के अनेक स्थलों पर नारायण और विष्णु को परमेश्वर माना गया है तथा उन्हें वासुदेव भगवान के रूप में वर्णित किया गया है। युधिष्ठिर ने उनकी स्तुति करते हुए उन्हें विष्णु भी कहा है। पुराणों में भी वासुदेव का तादात्म्य विष्णु से किया गया है। विष्णु पुराण में वासुदेव को विष्णु का नामधारी वर्णित किया गया है। उनका विष्णु नाम इसलिए था कि समस्त जगत उन्हीं की शक्ति से व्याप्त था। पुराणों में कहा गया है कि उन्होंने अपने तीन पदों से लोकों को विजित करके इन्द्र को प्रदान कर दिया। विष्णु का

तृतीय पद भास्कर था, सप्तर्षि मण्डल के ऊपर ध्रुव तक विष्णु पद था। यहाँ तक पहुँचने वाले को कोई चिन्ता नहीं होती थी। लोकसाधक तपस्वी ध्रुव आदि ने विष्णु पद प्राप्त करके ही अचलता प्राप्त की थी।

वासुदेव का गोविन्द, गोपाल और कृष्ण से एकीकरण

वासुदेव भगवान के लिए गोविन्द नाम महाभारत में अनेक स्थलों पर आया है। भगवद् गीता के अनेक श्लोकों में भगवान के लिए गोविन्द का उल्लेख हुआ है। उनका गोविन्द नाम इसलिए था कि उन्होंने पृथ्वी को (गां) जल में पाया (विन्दति) था। महाभारत के एक स्थल पर भगवान वासुदेव स्वयं कहते हैं मैंने पूर्व काल में नष्ट होकर रसातल में गई हुई पृथ्वी को पुनः वराह रूप धारण करके प्राप्त किया था, इसलिए देवताओं ने 'गोविन्द' के नाम से मेरी स्तुति की थी। 'गां विदति इति गोविन्दः' अर्थात् जो पृथ्वी को प्राप्त करे उसका नाम गोविन्द है। गोविन्द शब्द ऋग्वेद में गायों के पालने के अर्थ में इन्द्र के लिए प्रयुक्त हुआ है, जो कालान्तर में वासुदेव कृष्ण के लिए व्यवहृत होने लगा। 'गोपाल' शब्द भी इसी अर्थ में प्रचलित हुआ है, जो बाद में वासुदेव कृष्ण का पर्यायवाची बन गया। कृष्ण ने जब इन्द्र पूजन के स्थान पर गोवर्धन पर्वत पूजन का प्रारंभ किया था तब उन्होंने कहा था, हम गोपालक हैं, वनों में घूमते हुए गायों पर अपना पोषण करते हैं। गौ, पर्वत और वन हमारे देव हैं। गोपालकशेषों (आभीर बस्तियों) में निवास करते थे, इसलिए वे कहीं भी सफलतापर्वूक बस सकते थे। अतः व्रज का परित्याग करके वे वृन्दावन में बस गए थे। कालान्तर में गोपालकों के लिए अभीर (आधुनिक अहीर) शब्द भी प्रचलित हो गया। भारतीय इतिहास और साहित्य में आभीर का समुचित विवरण मिलता है।

वासुदेव के लिए कृष्ण का भी व्यवहार हुआ है। महाभारत में स्वयं भगवान ने कहा है, 'पृथापुत्र अर्जुन' मैं काले लोहे का विशाल फाल बनाकर इस पृथ्वी को जोतता हूँ तथा मेरे शरीर का रंग भी काला है, इसलिए मैं 'कृष्ण' हूँ। कृष्ण नाम की दूसरी व्युत्पत्ति भी है जिसके अनुसार 'कृष्णा' का अर्थ है 'सत्' और 'ण' का अर्थ है आनन्द। अतः 'कृष्ण' सच्चिदानन्द है। पुराणों में कृष्ण के अवतार की कथा संग्रहीत है, जो उनका वासुदेव से तादात्म्य स्थापित करती है। वायु पुराण में भगवान के लिए 'वासुदेव' गोविन्द कृष्ण आदि समानार्थक शब्द प्रयुक्त हुए हैं। सुदर्शन के रूप में वे दर्शनीय थे।

पांचरात्र मत का विकास तीसरी सदी ई. पू. के लगभग हुआ था, जो वैष्णव धर्म का प्रधान मत था। इस मत के अन्तर्गत वासुदेव और उसके स्वरूपों का पूजन आराधना सन्निहित है। इस सिद्धान्त के अनुसार सकल विश्व का बीज 'पौरुशी रात्रि' (प्रलय) के रूप में भगवान वासुदेव में समाहित है। उनकी शक्ति, इच्छाशक्ति, क्रियाशक्ति क्रियाशील और भूतिशक्ति, जो मन्द, प्राण और भौतिक प्रकृति की क्षमताओं के रूप में है जागृत हुई। ज्ञान, ऐश्वर्य, शक्ति, बल, वीर्य और तेज उनके छह गुण हैं जिनमें ज्ञान और बल, ऐश्वर्य और वीर्य तथा शक्ति और तेज तीन युगल

हैं। ये युगल (व्यूह) के नाम से ज्ञात हैं। ये तीनों व्यूह 'संकर्षण' (कृष्ण के भाई बलराम), 'प्रद्युम्न' (उनका पुत्र) और अनिरुद्ध (उनका पौत्र) हैं। इन तीनों व्यूहों के ऊपर 'वासुदेव' व्यूह है। इन चारों व्यूहों से सोलह उपव्यूहों का उदय हुआ, जिनसे चार विद्येश्वर निःसृत हुए। इन सबको मिलाकर वासुदेव की चौबीस मूर्तियाँ हो गयीं। तदन्तर भगवान ने अपने को प्रकृति के विभिन्न रूपों में प्रकट किया, जिन्हें 'विभव' भी कहा गया और अवतार भी। भागवत पुराण के अनुसार ये असंख्य हैं। विश्वकसेन संहिता तो आम के पेड़ को भी उनका अवतार मानती है। अहिबुर्धन्य संहिता के अनुसार उनके उनतालीस अवतार हैं, जो विभिन्न मूर्ति के रूप में लोगों द्वारा पूजे जाते हैं। पाँचरात्र शब्द की व्युत्पति प्राचीन काल में कभी हुई थी। नारद के अनुसार इसमें परम तत्त्व, मुक्ति, योग और विषय (संसार) जैसे पाँच पदार्थ हैं। इसलिए यह 'पाँचरात्र' कहा गया। इसका नियमन स्वयं नारायण ने समग्र प्राणियों के ऊपर आधिपत्य स्थापित करने के लिए किया था। इसका आचार पक्ष वैदिक सिद्धान्त पर आश्रित है। पाँचरात्र संहिताएँ हैं। पुरस्कार संहिता, सात्वत संहिता जैसी पाँचरात्र संहिताओं का सन्निवेश रामानुज ने ब्रह्मसूत्र पर भाष्य लिखते हुए किया है। पुरस्कार संहिता का मुख्य अर्थ यह है कि ब्राह्मण लोग चतुर्दिक् आत्मा की आराधना पारम्परिक नामों द्वारा करते हैं। सात्वत संहिता में वर्णित है कि वासुदेव नाम वाले ब्रह्म की उपासना करने से ब्राह्मणों को विवेक आता है। परम संहिता में उल्लिखित है कि प्रकृति का स्वरूप जड, परेपभोगार्थ, नित्य, सदा परिणामिभी और त्रिगुणात्मिका से स्थिर होता है जिसके माध्यम से कर्त्ताओं के कर्म निर्धारित होते हैं। डा. भण्डारकर ने 'सात्वत संहिता' का लम्बा उद्धरण देते हुए पाँचरात्र मत का विश्लेषण किया है। 'नित्य' और 'परम ब्रह्म' को उपासना से ही मुक्ति संभव है। षड्गुण सम्पन्न परमेश्वर के कर, चरण और चक्षु सर्वत्र हैं। वह सबके परे है। सर्वभूताश्रय होकर भी वह एक है। उस परमेश्वर से अलग एक जिक्र है जो ज्ञान और गुणों के कारण एक दूसरे से पृथक् हैं। ये तीनों व्यूह समान हैं जो अपेक्षित फल प्रदान करते हैं। परमात्मा जगत के मंगल के निमित्त चार रूपों की सृष्टि करते हैं – व्यूह, विभव, अर्चावतार और अन्तर्यामी। गुणों के आधार पर तीन व्यूहों की सृष्टि होती है – संकर्षण (ज्ञान और बल), प्रद्युम्न (ऐश्वर्य और वीर्य) और अनिरुद्ध (शक्ति और तेज)। इनके कार्य अलग-अलग हैं। संकर्षण का कार्य है – जगत की सृष्टि और ऐकांतिक (पांचरात्र मार्ग का उपदेश), प्रद्युम्न का कार्य है – सन्मार्गसम्मत क्रिया का निर्देश तथा अनिरुद्ध का कार्य है – क्रियाफल अर्थात् मोक्ष तत्त्व। वासुदेव के उपासक ब्राह्मणों के हृदय में ब्रह्म होता है जो सृष्टि का लक्ष्य और अन्त है। जगत के उद्धार के लिए ब्रह्म से महोपनिषद (सर्वोत्तम ज्ञान तत्त्व) उत्पन्न होता है जो दैवी तत्त्व से युक्त होकर साधक को विवेक का भान कराता है और मोक्ष का मार्ग प्रशस्त करता है। आष्टांगिक योग का अभ्यास कराने वालों को जिनकी आत्मा चिन्तन में लगी रहती है, यह ज्ञान तत्त्व मोक्ष प्रदान करता है। हृदय में स्थित परमात्मा मनसा, वाचा और कर्मणा स्मरण करने वाला वेदज्ञ ही वास्तविक योगी है।

ब्रह्मसूत्र के अनुसार भागवत धर्म में पूजा की पाँच विधियाँ हैं –

(1) अभिगमन–मन, वचन और काया से भगवान के प्रति पूर्ण रूप से उत्सर्जित होकर देव मन्दिर में जाना।
(2) उपादान–विभिन्न पूजा सामग्री एकत्रित करना,
(3) इज्या–पूजा करना,
(4) स्वाध्याय–भगवान के मंत्र का जप करना, और
(5) योग समाधि।

नारद पांचरात्र नामक ग्रन्थ में ज्ञानानुसार संज्ञक संहिता है, जिसमें बाल कृष्ण भगवान का यश वर्णन है और भक्ति की अपूर्व प्रंशसा की गई है (चित्र सं. 1)। भगवान हरि की भक्ति दास्यभाव से करना उत्तम मुक्ति प्रदान करने वाला माना गया है। उसमें भक्ति के छह प्रकार बताए गए हैं–

(1) स्मरण,
(2) नाम, महिमा और यश का कीर्तन,
(3) प्रणमन,
(4) चरणों का सेवन,
(5) भक्ति के साथ पूजा में निरन्तर लगा रहना, और
(6) भगवान हरि के सम्मुख आत्मनिवेदन करना।

किन्तु भागवत पुराण में भक्ति के दो प्रकार निर्दिष्ट किये गये हैं – (1) दास्य (भगवान का दास रूप में पूजन करना) तथा (2) सख्य (सखा भाव से भगवान के प्रति उत्सर्जित होना)। दास्य और सख्य भक्त के लिए पूर्ण आत्मनिवेदन की स्थिति थी। इस दर्शन में राधा को सर्वोत्कृष्ट उज्ज्वल नारी के रूप में स्वीकार किया गया है और भगवान कृष्ण से उनका तादात्म्य दर्शित करके उनकी उत्पत्ति मानी गयी है। अत: स्पष्ट है कि भक्ति के अन्तर्गत राधा का भी विकास हो चुका था।

'वैष्णव' और 'भागवत' विष्णु के भक्त थे, जो वृष्णियों में प्रधान वार्ष्णेय वासुदेव (कृष्ण) का पूजन करते हैं। बहुत पहले पाँचरात्र और भागवत

चित्र 1: बालकृष्ण कालीमर्दन

एक ही थे, किन्तु बाद में उनमें भी अन्तर हो गया। पाँचरात्र का प्रधान आधार 'व्यूहवाद' था, जिसमें व्यूहों की पूजा होती थी। पांचरात्र साहित्य की कुछ संहिताएं चौथी और सातवीं सदी के बीच कश्मीर में लिखी गयीं। 'अमरकोश' में पाँचरात्र मत के सभी व्यूहों का उल्लेख हुआ है। बलराम, कृष्ण, सुभद्रा अथवा एकानक की सम्मिलित और पाँचरात्रिकों का पृथक्-पृथक् वर्णन हुआ है। भगवत विष्णु के भक्त और उपासक थे। पाँचरात्र सम्प्रदाय के एक ग्रन्थ 'पंचतंत्र' में कुछ भेद विवृत किये गये हैं, यथा भागवत सात्वत, पाँचकालवित एकान्तिक, तन्मय और पाँचरात्रिका। पाँचरात्रिकों और भागवतों में प्रधान भेद यह है कि पांचरात्रिक भगवान नारायण की आराधना करते थे और भागवत वार्ष्णेय (वासुदेव कृष्ण) की।

पुराणों में जिस प्रकार शिव का अर्द्धनारीश्वर स्वरूप प्रसिद्ध है, उसी प्रकार हरि-हरात्मक रूप भी पुराणों में वर्णित है। एक ही शरीर के आधे भाग में हरि और आधे दाहिने भाग में हर है। दोनों हरि हर (विष्णु शिव) मिलकर एकरूप प्रकट होते हैं। इसका उल्लेख करते हुए वायु पुराण में उल्लिखित है–

प्रकाशज्याप्रकाशंच जंगमं स्थावरं तथा ।
विश्वरूप मिद्रंसर्वं रुद्रनारायणत्मकम् ॥

अर्थात् यह विश्व हरि हरात्मक रूप है। सम्पूर्ण विश्व परस्पर ब्रह्म का प्रतिरूप है, शिव और विष्णु उसी ब्रह्म के रूप हैं, अतः यह विश्व हरि हरात्मक रूप है। अतः प्रतीकोपासना के सिद्धान्त से एक का उपासक, ज्ञात अज्ञात रूप से दोनों का उपासक है। श्रुति भी विश्व को अग्नि सोमात्मक जगत कहकर हरि हरात्मक रूप का प्रतिपादन करती है और 'सोमों वे विष्णु' तथा 'अग्निर्व रूड़' कहकर सोमतत्त्व नारायणात्मक और अग्नितत्त्व रूढ़ात्मक प्रमाणित करती है। अर्थात् अग्नि और सोम दूसरे शब्दों में शिव तथा विष्णु (हर तथा हरि) का सम्मिलित रूप ही यह विश्वप्रपंच है। अतः स्पष्ट है कि मूलतः विष्णु और शिव एक ही तत्त्व हैं, भेद केवल नाम मात्र का ही है।

श्रुति के अनुसार हरि अर्थात् हर अर्थात् शिव एक ही अक्षर पुरुष की शक्ति है। इनमें भेद केवल नाम का है। एक ही परमात्मा लीलामात्र के लिए कहीं हरिरूप है। कहीं हर रूप में उपास्य है। इन दोनों रूपों में भी परस्पर ब्रह्म ही उपास्य उपासक रूप में वर्णित है। ये हरि और हर उपासना का तत्त्व बताने के लिए एक दूसरे के उपास्य उपासक बन कर लीला करते हैं।

पुराण ब्रह्माण्ड को विष्णु तथा शिव को प्रतिकृति कहता है। जगत के तीन मूल कारण हैं– क्रिया, ज्ञान और अर्थ। इसे इस तरह भी कहा जा सकता है कि इन तीनों--क्रिया, ज्ञान तथा अर्थ का समुदाय ही ब्रह्माण्ड या जगत है। इनमें क्रिया को यज्ञ कहते हैं और यज्ञ को ही यज्ञों के विष्णु कहकर श्रुति विष्णु कहती है। इसलिए क्रिया जिस जगत में प्रधान रूप से नाना रूप में हो रही है, उस जगत या ब्रह्माण्ड को क्रिया या यज्ञ रूप विष्णु की प्रतिकृति कहा जाय या दूसरे शब्द में यज्ञरूप कार्यों से युक्त जगत की प्रतिकृति बनाई जाए तो विष्णु की ही मूर्ति होगी। अतः क्रियारू[illegible] यज्ञमय विष्णु की ही मूर्ति है।

उक्त तीनों मूल कारणों में यदि ज्ञान की प्रधानता से, प्रशान्तभाव से, यदि ब्रह्माण्ड की प्रतिमूर्ति बनाई जाए तो वह शिव की मूर्ति कही जाएगी। इसलिए यह प्रवाद भी चलता है कि उपासना का विष्णु से और ज्ञान का शिव से सम्बन्ध है क्योंकि उपासना क्रियारूप या यज्ञरूप है। शिव या महेश्वर की उपासना भी ज्ञान प्राप्ति के लिए ही मानी गयी है। यथा, ज्ञान की मोक्ष प्राप्ति के लिए आवश्यकता रहती हैं और ये क्रियाएँ उपासना ही कही जाती हैं, इसलिए 'मोक्षमिच्छेज्जनार्दनात' को प्रश्रय दिया गया है, क्योंकि मानव का परम पुरुषार्थ मोक्ष प्राप्ति ही है।

ज्ञान बिना अर्थ के नहीं रहता, वही अर्थ का धारक है अर्थात् सब अर्थों को धारण करने वाले भगवन इन्द्र शेखर शिव हैं। इस दृष्टि से देखा जाए कि अर्थ मुख्य है या यज्ञ तो इसका निर्णय करना संभव नहीं, क्योंकि यज्ञ से अर्थ बनते हैं और अर्थ होने पर ज्ञान होता है और ज्ञान से यज्ञ (क्रिया) होता है। बिना अर्थ के भी यज्ञ नहीं हो सकता अत: दोनों रूप में ज्ञान तथा क्रिया या यज्ञ परस्पर सापेक्ष्य हैं। दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। अत: अकेले नहीं रह सकते। इन्हीं सापेक्ष्य रूपों में कोई किसी को मुख्य मानकर उपासना करे, यह उसकी इच्छा पर निर्भर करता है, पर वास्तव में ज्ञान अधिष्ठाता शिव और क्रिया या यज्ञ का अधिष्ठाता विष्णु ये दोनों कोई भेद नहीं, केवल नाम का भेद है, जैसे ब्रह्म, परमात्मा, परमेश्वर आदि सभी नाम अभेद अखण्ड नित्य अक्षर पुरुष के ही द्योतक हैं, उसी तरह शिव विष्णु एक ही शक्ति के दो नाम मात्र हैं। पुराणों में कहीं-कहीं शिव की उत्कृष्टता का जो वर्णन मिलता है, वह शिव का विष्णु के रूप में ब्रह्मदृष्टि या ब्रह्म स्वरूप समझाने के उद्देश्य से ही है। दोनों में किसी की भी उपासना ब्रह्म की ही उपासना है, क्योंकि "सर्वखल्विदं ब्रह्म।" श्रुति से सब कुछ ब्रह्म ही है।

एक ही परमतत्त्व सत चित आनन्दरूप परात्पर ब्रह्म के नाम से अभिहित है। वह ब्रह्म या अक्षरपुरुष सर्वदा, सर्वथा, पूर्ण, सर्वातीत और सविरूप है, वह देश काल की सीमा से परे है और साथ ही सर्वदेश कालमय भी है। वह नित्य निराकार नित्य निर्गुण है, साथ ही वह नित्य साकार सगुण भी है। पर वह अदृश्य है। उस ब्रह्म का सगुण रूप पांच भौतिक नहीं है और उसके गुण भी, सत्य रज तम गुण नहीं हैं। वह ब्रह्म स्वरूपता, एकमात्र नित्य होते हुए ही अनादिकाल से विविध स्वरूप सम्पन्न, विविध शक्तिसम्पन्न तथा विविध प्रकाश प्रक्रिया सम्पन्न है, नित्य एक होते हुए ही उसकी नित्य विभिन्न सत्ता है।

परात्पर ब्रहा की विभिन्न रूप सत्ता में ही शिव विष्णु सत्ता है। उसकी सत्ता ब्रह्म, राम, कृष्ण, दुर्गा, सूर्य, गणेश आदि संस्कारातीत रूपों में है। ये सभी शिव विष्णु आदि रूप नित्य शाश्वत आनन्दस्वरूप ब्रह्म ही हैं। ये सभी रूप भगवद गुणों से परिपूर्ण हैं तथा सभी दोषों (माया प्रपंच) से सर्वथा रहित हैं, पर ब्रह्म की माया से वशीभूत हैं।

वेद तथा उपनिषदों में परात्पर ब्रह्म के बारे में जो कुछ कहा गया है, वही शिव से सम्बन्धित शिव पुराण आदि पुराणों में शिव के लिए तथा पद्म पुराण, विष्णु पुराणादि में विष्णु के लिए कहा गया है। पुराणों ने दोनों ब्रह्मरूपों शिव तथा विष्णु को ब्रह्म का रूप कह कर उपासना का

निर्देश दिया है। शिव पुराण औपनिषद ब्रह्म को ही शिव कहता है। श्वेताश्वतर उपनिषद जिस रूप में परात्पर ब्रह्म का विवेचन करती है, उसी रूप में शिवपुराण की वाक्दीपय संहिता शिव का वर्णन करती है। वायवीय संहिता का वर्णन वायुदेव द्वारा किया गया है।

शिव पुराण के शिव परात्पर ब्रह्म के वही रूप हैं जो विष्णु पुराण के विष्णु, रामायण के श्रीराम, श्रीमहाभारत के श्रीकृष्ण तथा देवीभागवत की दुर्गा आदि। वस्तुतः एक ही परात्पर ब्रह्म अनादिकाल से ही विभिन्न नाम रूपों में अभिव्यक्त है। जैसा कि 'एक सद्धिप्ताः बहुधा वदन्ति' की श्रुति से स्पष्ट ही है। विष्णु, शिव, शक्ति, सूर्य तथा गणेश एक ही परात्पर शक्ति के सगुण रूप में सृष्टि कार्य संचालन करते हैं और प्रलय काल में उसी में विलीन हो जाते हैं। महाप्रलय के बाद सृष्टि की उत्पत्ति में पुनः परात्पर शक्ति की इच्छा से उत्पन्न हो आर्य संचालन करते हैं। ईश्वर की शक्ति रूपा कला आदान विसर्ग तथा प्रतिष्ठा के रूप में ईश्वरेच्छा से ब्रह्मा, शिव विष्णु रूप में उत्पन्न होती है। अतः एक परात्पर ब्रह्म के शक्ति रूप विष्णु तथा शिव एक ही हैं, इनमें कोई भेद नहीं, कोई छोटा बड़ा नहीं, नाम दो हैं, पर मूलतः एक ही तत्त्व है।

अतः इन तथ्यों से स्पष्ट हो जाता है कि एक ही परमात्मा लीलामात्र के लिए कहीं हरि रूप में, कहीं हर रूप में उपास्य है। इन दोनों रूपों में भी परस्पर ब्रह्म ही उपास्य उपासक रूप में वर्णित है। और इसे बताने के लिए ही 'हरि' और 'हर' उपासना का तत्त्व है, एक दूसरे के उपास्य उपासक बन कर लीला करते रहते हैं। एक स्थान पर भगवान विष्णु से कहते हैं-

स एवाहं महादेवः स एवाहं जनार्दनः।
उमेदारेन्तारं नास्ति घटस्थ जलयोस्वि॥[10]

अर्थात् हे लक्ष्मी! वस्तुतः मैं ही जनार्दन विष्णु हूँ और मैं ही महादेव हूँ। दो घड़ों में रखे हुए एक ही जल के समान एक हूँ, मुझे दोनों में कोई भेद नहीं है।

गोस्वामी तुलसीदास भगवान राम से शिव का सम्बन्ध स्थापित करते हुए लिखते हैं –

'सेवक स्वामी सखा सिम पी के' अर्थात् शिव श्रीराम के साथ कभी सेवक के रूप में होकर, कभी स्वामी के रूप में, कभी सखा के रूप में लीला करते हैं। कभी शिव राम को कभी शिव को पूजते हैं।

'पद्म पुराण' में परस्पर ब्रह्म श्रीराम शिव से कहते हैं –

ममास्ति हृदये शवर्भवतो हृदये त्वहम्।
आवयोरन्तरं नास्ति मूढ़ाः पश्यन्ति दुर्धियः॥[11]

हे शिव! मेरे हृदय में तुम सर्वसंहारक शक्ति होने के कारण शिव का एक नाम शर्व भी है, निवास करते हो और तुम्हारे हृदय में मैं विष्णु निवास करता हूँ। हम दोनों में कोई अन्तर नहीं, हम दोनों एक ही हैं। विपरीत बुद्धि वाले मूढ़ ही हम दोनों को दो समक्ष कर भेद रखते हैं।

शिव पुराण में शिव पार्वती से कहते हैं–

मर्मव हृदये विष्णुर्विष्णोश्च हृदये ह्यहस।
उभयोरन्तरं यो वे न जानति मतो मम॥

हे पार्वती मेरे हृदय में विष्णु और विष्णु के हृदय में मैं हूँ, जो हम दोनों में अन्तर नहीं समझता, वही मुझे प्रिय है। इस तरह पुराणों में शिव द्वारा कहे गये अनेक वचन हैं जो उनकी एकरूपता बताते हैं।

पुराण की सृष्टि प्रक्रिया में शिव के उदर में विष्णु की तथा विष्णु के उदर में शिव की स्थिति कही गयी है। पौराणिक सृष्टि प्रक्रिया के स्वयंभू आदि मण्डलों की रचना पर विचार किया जाय तो यहाँ भी एक दृष्टि से यदि एक व्यक्ति न्यून रहता है तो दूसरी दृष्टि से दूसरा। यथा 'यज्ञो वे विष्णु' श्रुति के अनुसार विष्णु यज्ञस्वरूप ही है, यज्ञ द्वारा ही रुद्र आदि सब देवता उत्पन्न होते हैं। यज्ञ के आधार पर ही सब देवताओं की स्थिति है, रुद्र ही शिव है। अतः यह कहा जा सकता है कि शिव विष्णु के उदर में स्थित रहते हैं। क्योंकि यज्ञ से रुद्र या शिव की उत्पत्ति और यज्ञ ही विष्णु है।

पौराणिक सृष्टि प्रक्रिया को दूसरी दृष्टि से देखा जाय तो अग्नि प्रधान सूर्य मण्डल (शिव) का ही रूप है। उस सूर्य मण्डल की व्याप्ति में अर्थात् सौर जगत के अन्तर्गत यज्ञमय विष्णु है। सौर जगत में जो यज्ञ हो रहा है, इसीसे हमारा जीवन है। श्रुति के अनुसार यज्ञ ही विष्णु का रूप है। अतः यह कहा जाता है कि विष्णु शिव के उदर में है।

आगे सूक्ष्म विवेचन से और स्पष्ट हो जाता है कि सूर्य का उत्पादक यज्ञ परमेष्ठि मण्डल में होता है। अतः वह परमेष्ठि मण्डल विष्णु प्रधान कहा गया है। उस परमेष्ठि मण्डल के गर्भ (भीतर) में सूर्य मण्डल आ जाता है, इससे विष्णु के उदर में शिव का अन्तर्भाव हुआ। विवेचन में आगे बढ़े तो परमेष्ठि मण्डल स्वयंभू मण्डल के अन्तर्गत रहता है और स्वयंभू मण्डल आग्नेय होने के कारण, अग्नि के नियंत्रण रुद्र का मण्डल कहा जाता है। स्वयंभू मण्डल के अन्तर्गत एक 'वाचस्पति तारा' है, वह श्रुति में इन्द्र माना गया है और इन्द्र ही महेश्वर के रूप के अन्तर्गत है। उस मण्डल की व्याप्ति या घेरा में परमेष्ठि मण्डल के अन्तर्गत रहने के कारण, फिर शिव के उदर में विष्णु आ गए। अतः शिवस्य हृदयं विष्णु और विष्णु के हृदय में शिव स्थित हैं। दूसरे शब्दों में विष्णु का हृदय शिव रूप है और शिव का हृदय विष्णु रूप है। ये दोनों एक ही हैं, इनमें कोई छोटा बड़ा नहीं है। उपासक अपनी रुचि के अनुसार शिव विष्णु दोनों रूपों में किसी भी रूप की उपासना कर सकता है।

धातु के अर्थ में भी हरि और हर दोनों शब्द एक ही 'हृ' धातु से बनते हैं। अतः प्रकृति (मूल धातु) दोनों शब्दों में एक ही है, केवल प्रत्यय में भेद है। प्रत्यय भिन्न-भिन्न है। ऐसी दशा में इन दोनों (हरि–हर) में भेद मानना शास्त्र की दृष्टि से अनभिज्ञता का ही परिचायक है। जैसा कि पुराण स्पष्ट करते हुए कहता है –

उभयारेका प्रकृति प्रत्ययेता भिन्न वदाति।
कलयतु कश्चयन मूढ़ो हरि हर भेद बिना शास्त्रम्।

अर्थात् दोनों (हरि-हर) की प्रकृति एक है, अर्थात् मूलतः दोनों एक ही तत्त्व हैं, केवल प्रत्यय (प्रतीति) बाहरी दृष्टि से भेद प्रतीति है। यह भेद शास्त्र को नहीं है, केवल अज्ञानी को ही है। ऐसा कहा जाता है कि अक्षर पुरुष में विष्णु और शिव शक्ति भेद से पृथक्-पृथक् प्रतीत होते हैं। क्योंकि विष्णु आदान क्रिया के अधिष्ठाता और शिव उत्क्रान्ति क्रिया के अधिष्ठाता हैं। पर विचार किया जाये तो आदान और उत्क्रान्ति दोनों एक ही अक्षर पुरुष की शक्ति रूप कला में है। इसलिए इन विष्णु तथा शिव दोनों शक्ति कलाओं आदान तथा उत्क्रान्ति (भीतर से बाहर जाना) दोनों एक ही गति के भेद हैं। अतः विष्णु और शिव वस्तुतः भेद नहीं, भेद नाम मात्र का है।

अक्षर पुरुष की सृष्टि में उत्पत्ति, पालन तथा संहार यथासमय अनिवार्य हैं। पर परात्पर पुरुष अपनी शक्तिज्ञय के माध्यम से यह कार्य अनिवार्य रूप से करता रहता है। ये कार्य आदान प्रतिष्ठा और उत्क्रान्ति मूल शक्ति से होता है जिसमें उत्क्रान्ति अधिष्ठाता शिव है। कुछ लोग शिव को संहारकर्त्ता कहकर उपासना के लिए अयोग्य मानते हैं, किन्तु वैज्ञानिक दृष्टि से यह तर्क भी अनुपयुक्त ही है, क्योंकि अक्षर पुरुष की सृष्टि प्रक्रिया में यह कहा जा चुका है कि संहार ही सृष्टि का कारण है। जैसे बीज नष्ट होता है तभी अंकुर की उत्पत्ति होती है। अतः यह स्पष्ट है कि एक दृष्टि से जो संहार है, दूसरी दृष्टि से वही उत्पादन और पालन भी है। भेद नाममात्र का है, वास्तविक भेद इसमें भी नहीं है। इसके अतिरिक्त संहार सृष्टि प्रक्रिया में अवश्यम्भावी है। सृष्टि में जैसे उत्पत्ति और पालन समय पर अवश्यम्भावी है उसी तरह समय पर संहार भी अनिवार्य है। ये तीनों कार्य--उत्पत्ति, पालन तथा संहार एक ही परात्पर अक्षर पुरुष की शक्ति से होते हैं।

यदि एक ही ईश्वरीय शक्ति से इन तीनों कार्यों का सम्पादन न माना जाय तो बड़ा युक्ति विरोध उपस्थित हो जाएगा क्योंकि संहारक कोई और होगा, तो वह उत्पादक और पालन से जबरदस्त कहा जाएगा, क्योंकि वह उत्पादित और पालित को समाप्त कर देगा। फिर संहारक ही ईश्वर कहलाएगा, उत्पादक या पालक ईश्वर नहीं कहे जाएँगे। इसके अलावा जिसने सबका संहार किया वह अन्त में शेष रह जाएगा, फिर सृष्टि के समय सृष्टि भी वही करेगा, क्योंकि दूसरा रूप है ही कहाँ जो सृष्टि करे। इन सब कुतर्कों का समाधान तभी संभव हैं, जब एक ही परात्पर शक्ति अक्षर पुरुष की क्रिया शक्ति ब्रह्मा, विष्णु और शिव के रूप में अपना उत्पत्ति, पालन और संहार रूप कार्य सम्पादन करे। सृष्टि प्रक्रिया में जिस समय जिस कार्य की आवश्यकता होती है, उस समय अक्षर पुरुष की वही एकाशक्ति त्रिधा स्थात्यां श्रुति के अनुसार शक्ति ज्ञय रूप में कार्यरत हो जाती है। अतः विष्णु और शिव मूलतः एक ही शक्ति हैं, उनमें छोटे बड़े या दो होने का मानना अज्ञान मूलक ही है।

ईश्वर की तीन शक्तियों में शिव केवल उत्क्रान्ति के ही अधिष्ठाता नहीं हैं, बल्कि वैज्ञानिक दृष्टि से अन्य दो शक्तियों से भी पूरित हैं। ईश्वरीय तीनों शक्तियों, तीनों रूपों–उत्पादक, पालक, संहारक में कार्य सम्पादक निमित्त विभक्त होते हुए भी एक दूसरे की पूरक हैं अतः उनमें ऐक्य है, वे एक हैं क्योंकि एक ही अक्षर पुरुष की शक्ति है। उपास्य में किसी भी एक शक्ति को न मानने से उसमें न्यूनता आ जाएगी, जो उपासक की उपास्य के प्रति श्रद्धा में न्यूनता ला देगी। उपासक अपने उपास्य को कर्त्ता धर्त्ता, संहारकर्त्ता आदि सब गुण विशिष्ट मानकर श्रद्धालु होकर उपासना करता है। शिव को ईश्वर की तीनों शक्ति रूपों, कलाओं–इन्द्र, अग्नि तथा सोम का सम्मिलित रूप कहा गया है। इनमें अग्नि और सोम ही सृष्टि में उत्पादक तत्त्व हैं। अतः इन तीनों शक्ति कला रूपों–ब्रह्मा, विष्णु, शिव में भेद मानना एक दूसरे से छोटा बड़ा मानना एकमात्र अज्ञानता का ही द्योतक है। नाम से भिन्न होते हुए भी ये मूलतः एक ही तत्त्व हैं।

शिव उत्क्रान्ति के अधिष्ठाता हैं। उत्क्रान्ति तमोगुण प्रधान है, अतः शिव तमोगुण के अधिष्ठाता हैं, वे ईश हैं, अतः उनमें ईशत्व है, ईशत्व दूसरे को अपने अधीन रखता है। इससे अतिरिक्त तमोगुण का नियमन अति कठिन है। इस दृष्टि से तमोगुण के नियन्ता ईश्वर शिव उपास्य हैं, अनुपास्य नहीं। महाभूतों की उत्पत्ति तमोगुण से ही मानी जाती है और वैज्ञानिक प्रक्रिया में महाभूतों के उत्पादक अग्नि और सोम हैं। उन अग्नि और सोम तक के अधिनायक शिव हैं, इसीलिए उन्हें तमोगुण का अधिष्ठाता कहा गया है। अतः शिव उपास्य हैं।

इस प्रकार पुराणों ने इन दोनों 'हरि-हर' अर्थात् विष्णु और शिव की एकरूपता प्रतिपादित कर स्तुत्य कार्य किया है। विष्णु के कुछ उपासक विष्णु को ही परमात्मा कह कर शिव को उनका उपासक मानकर उन्हें जीव कोटि में मानने का साहस करते हैं। इसके विपरीत शिव के कुछ उपासक शिव को परतत्त्व मानकर विष्णु को उनका सेवक मानने का गर्हित विचार व्यक्त करते हैं। उपासकों की इस मतिमन्दता ने आर्य धर्म ही नहीं बल्कि उसकी सामाजिक शृंखला को भी विच्छिन्न कर दिया, जिसके साक्षी दक्षिण भारत में विष्णु कांची तथा शिव कांची क्षेत्र हैं। इतिहास इसका सुदृढ़ प्रमाण है। वैज्ञानिक प्रक्रिया से भी देखा जाय तो शिव और विष्णु में न कोई बड़ा है, न कोई छोटा है। इन दोनों में छोटे-बड़े का भेदभाव रखना अपने अज्ञान का ही परिचायक है। 'हरि' और 'हर' दोनों ही अपने-अपने कार्य के प्रभु हैं। यह उपासक पर निर्भर करता है कि किसी एक को अपनी उपासना के लिए चुन ले।

तथ्य यह है कि परात्पर अक्षर पुरुष जो उपासना का मुख्य लक्ष्य है तथा जो जीव का अन्तिम प्राप्य है उसमें किसी प्रकार का भेद नहीं है। वह 'वेवेष्टीर्ण विष्णु' अर्थात् सर्वत्र व्यापक है, इसलिए उसे विष्णु कह लीजिए, अथवा 'शेरतेऽस्मिन् सर्वे इति शिवः' अर्थात् सर्व चराचर उसी में सोये या समाये हुए हैं, इसीलिए उसे शिव कह लीजिए। व्यासदेव के वेदान्त सूत्र 'सर्व धर्माषतेश्य' के अनुसार सभी गुण, कर्म और नाम शिव के तथा शिव सहस्र नाम में अनेक नाम विष्णु से सम्बोधित हैं। इन दोनों विष्णु और शिव के नामों में ही भेद है, तत्त्वतः मूल में भेद नहीं है। अतः महाशिव या महाविष्णु एक ही तत्त्व है। उपासक अपनी रुचि के अनुसार, उस

मूल तत्त्व (अक्षर पुरुष) की भिन्न-भिन्न नाम तथा रूपों में उपासना करने का अधिकारी है। उसे अपने उपास्य को ही पूर्ण निष्ठा के साथ चाहे वह उपास्य परमशिव हो, या महाविष्णु हो, सृष्टि का कर्त्ता, धर्त्ता तथा संहारक मानकर उपासनां करनी चाहिए, उपास्य को छोटा कह कर निन्दा रूप दोष पाप से बचना चाहिए। क्योंकि दोनों मूलतः एक ही हैं। नाम भेद में इनमें भेद मानना अज्ञानमूलक है।

(क) विष्णु का स्वरूप

विष्णु शब्द विष धातु से बनता है। इसका अर्थ है—व्याप्त होना। जो विश्व में सबमें परिव्याप्त है, वह विष्णु है।

विष्णु ब्रह्मा है और ब्रह्म ही विष्णु है। इसलिए ब्रह्मा, विष्णु, महेशादि में तत्त्वतः कोई भेद नहीं है। भेद है केवल कल्पित रूपों में।

आप ही भूतात्मा, इन्द्रियात्मा, प्रधानात्मा तथा परमात्मा—इन पाँचों रूपों में स्थित हैं। ब्रह्मा, विष्णु, शिवादि कल्पनाओं द्वारा आप ही कहे जाते हैं। आप क्षर और अक्षर हैं। हे सर्व! हे सर्वात्मन! आप प्रसन्न हों। आपके स्वरूप, प्रयोजन और नाम के विषय में कुछ नहीं कहा जा सकता। हे परमेश्वर! मैं आपको नमस्कार करता हूँ। हे नाथ! जहाँ नाम और जाति आदि की कल्पना भी नहीं है, आप वही अज, अविकारी, नित्य परम ब्रह्म हैं। बिना कल्पना के कोई विषय समझ में नहीं आ सकता। इसलिए कृष्ण, अच्युत, अनन्त, विष्णु नाम से आप पूजे जाते हैं। हे अज! ये सभी कल्पित विषय आप ही हैं। देवों से लेकर सारा विश्व आप ही हैं। हे विश्वात्मन! आप परिवर्तन से रहित हैं। सबमें आपको छोड़कर और कुछ नहीं है। आप ब्रह्मा, पशुपति, अर्यमा और विधाता हैं। आप धारण करने वाले देवताओं के स्वामी, वायु और अग्नि हैं। एक आप ही वरुण, कुबेर और यम हैं। भिन्न-भिन्न प्रयोजनवाली शक्तियों द्वारा संसार की भी आप ही रक्षा करते हैं।

सृष्टि स्थिति और संहार करने के कारण, एक भगवान जनार्दन ही, ब्रह्मा विष्ण और शिव के नाम और रूप धारण करते हैं। अपने को ही स्रष्टा बनाकर सृष्टि करते हैं, विष्णु बनकर पालक बनते हैं और पालन करते हैं। प्रभु स्वयं ही संहर्त्ता बनकर उपसंहार करते हैं।

इनके प्रत्येक हाथ में शंख, चक्र, गदा, और पद्म हैं। शंख, वाक् या शब्द ब्रह्मा का प्रतीक है। जो सृष्टि का कारण होने के कारण रजोगुण का चिह्न है। चक्र रक्षाशक्ति का चिह्न है। यह अधर्म का संहारक और धर्म का रक्षक भी है। इसलिए सत्वगुण का प्रतीक है। गदा तमोगुणात्मक संहारशक्ति है।

चेतना के विस्तार में स्पन्दन स्थान अर्थात् नाभि बिन्दु है, जिससे सृष्टि पथ का नाल और शैवों का मूलस्तम्भ प्रकट होता है। सृष्टि के साकाररूप ब्रह्मा इस कमल पर प्रकट होते हैं।

तब (विष्णु) सृष्टि की इच्छा की और उनकी नाभि से पद्म निकला। उसके नाल पर सोने का अद्भुत कमल निकला, जो ब्रह्मलोक है। मिले रहने और प्रयुक्त नहीं होने के कारण, तत्त्व,

उनके पूर्वरूप और परस्पर कारण, जो मिले थे, वे टूटकर पृथक् हो गये। भगवान आदिपुरुष ने चित् शक्ति से माया द्वारा मिलाये जाने पर योगनिद्रा की कल्पना की। उससे मिलकर उन्होंने गुहा प्रवेश किया। गुहा में उनके प्रविष्ट होने पर, जीवात्मा जग उठता है। यह नित्य का अनित्य से सम्बन्ध हुआ और जो परा है वही प्रकृति है। इस प्रकार हरि की नाभि से सबका सबसे सम्बन्ध वाला पद्म उत्पन्न हुआ। उस पर चारों वेद रूपी चार मुख वाले ब्रह्मा उत्पन्न हुए।[12]

शेषनाग की शैय्या बनाकर विष्णु योगनिद्रा में इस पर पड़े रहते हैं। कहा जाता है कि इस शेषनाग के सहस्र अर्थात् असंख्य मस्तक हैं, जिन पर पृथ्वी पड़ी हुई है। यह शेष 'काल' का प्रतीक है, जो असंख्य रूपों में सारी सृष्टि में विकास और संहार का काम करता रहता है।

जिस प्रकार सर्प के मुँह में पड़ा हुआ वेग, मच्छर इत्यादि को खाना चाहता है उसी तरह काल सर्प से ग्रस्त लोग क्षणिक सुख को भोगना चाहते हैं।

ततःस भगवान कृष्णों रुद्ररूपधरोऽव्ययः।
क्षयाय यतते कर्त्तुमात्मस्थाः सकलाः प्रजाः॥
ततः कालाग्निरुद्रोऽसौ भूतसर्गहरो हरः।
शेषाहिश्वपाससन्तोपात् पातालानि दहत्यधः॥[13]

'तब अव्यय भगवान कृष्ण, रुद्ररूप धारण कर सारी सृष्टि को आत्मस्थ करने के लिए संहार का यत्न करते हैं। तत्पश्चात् सृष्टि के हरण करने वाले ये कालाग्निहर, शेषनाग की सांसों के ताप से नीचे पाताल लोकों को भी जला देते हैं। यहाँ सृष्टि की संहारक शक्ति को काल, रुद्र, कृष्ण और शेष कहा गया है। इनमें कोई भेद नहीं माना गया है।'

(ख) विष्णु की मूर्तियों का विवरण

शेषशायी विष्णु की मूर्ति है। नाभि बिन्दुस्थान है। यह कारणार्णव, अर्थात् चेतना के विस्तार में स्पन्दन का स्थान है, जहाँ से सृष्टि का आरम्भ होता है। यह वेद को 'नाभि' और 'अमृतस्य नाभिः' और अशेष तत्त्व अर्थात् चेतना के उमड़ते हुए वर्णन में सृष्टि का आदि स्पन्दन का विवर्त है। यह वेद के अमृत अर्थात् आनन्द का मधुमय क्षीरसमुद्र है। चारों आयुध त्रिगुण है। शंख शब्दब्रह्म या नाद सृष्टि का प्रवर्तक और रजोगुण है। गदा संहार करने वाला तमोगुण है। चक्र रक्षक सत्व गुण है। पद्म सृष्टि है और नाद अथवा शब्द ब्रह्म के प्रत्यक्ष स्थूलरूप चतुर्मुख ब्रह्मा उसके ऊपर बैठे हैं। हाथों में शब्द (वेद) और वेद की अमृतविद्या का अमृतघट (कमण्डल) है, यही अमृतत्त्व विष्णु और शिव की गंगा है। शिव जब नृत्य करते हैं, तब उनकी जटाओं और अंग-प्रत्यंग से यह चिदानन्द का रस झरता रहता है। यही शिव की जटा गंगा है। यही बुद्ध का कमण्डल है। इनके चारों मुख शब्द ब्रह्ममय चारों वेद के प्रतिरूप हैं। शिवलिंग को उलटकर देखने से यही प्रतीक दिखाई पड़ता है। गोलाकार ऊपर का रुद्रांश विष्णु की नाभि है, मध्यभाग विष्णु अंश का अष्टकोण अष्टप्रकृति का प्रतीक ब्रह्मा का आसन पद्म है और नीचे वाला ब्रह्मांश का चतुष्कोण चतुर्मुख और चतुर्मुख ब्रह्मा है।

इस मूर्ति में विष्णु के दशों अवतार की मूर्तियाँ ब्रह्मा के दोनों ओर बनी हैं। (चित्र सं. 2) दशावतार की दो परम्पराएँ हैं। एक में दशा में बुद्ध की गणना होती है और दूसरे में बुद्ध के स्थान में बलराम को नवाँ अवतार मानते हैं। इस परम्परा में नवाँ अवतार बुद्ध है। वैष्णव सम्प्रदाय की साधना में बलराम शक्ति मायाव्यूह के एक रूप हैं। दोनों पार्श्वदेवी लक्ष्मी और सरस्वती सिरहाने और पायताने बैठी हैं। सामने गरुड़ स्तुति कर रहे हैं। वे कभी वेद और कभी धर्म के प्रतीक माने जाते हैं। विष्णु के गले में वैजयन्ती माला है। यह पंचभूत का प्रतीक मानी जाती है। किन्तु साधारण सिद्धान्त के अनुसार यह वाक् अथवा नाद की वर्णमाला है। जंघाओं पर त्रिशूल पड़ा है। यह नि:सन्देह त्रिशक्ति, त्रिगुण, त्रिवेदवादि का प्रतीक है। हृय की भृगुलता तीर्थंकरों और बोधिसत्वों के हृदय पर धर्मचक्र है। माथे पर करण्डमुकुट है। यह मन्दिर के आकार का है। और सृष्टि का अथवा सृष्टि के सभी भुवनों का प्रतीक है। यह मन्दिर और बुद्ध की प्रतिकृतियों के सम्बन्ध में और भी अधिक स्पष्ट होगा। शेष गतिशक्ति काल है। इसके सात मुख, सतो भुवन अर्थात् सारी सृष्टि में इसकी व्यापकता के प्रतीक हैं। स्थिति शक्ति थरगी देवी शेष के मस्तक के निकट बैठी हैं। पद्मासन पर ध्यानस्थ सी मालूम होती हैं। यहाँ स्थिति शक्ति को नदी पहाड़ वाली स्थूल पृथ्वी के रूप में अंकित नहीं किया गया है। स्थिति शक्ति को स्त्री रूप में स्पष्ट किया गया है। मूर्तियाँ तीन प्रकार की होती हैं – स्थाणुक, आसन और शयन। यह शयनमूर्ति है। (चित्र सं. 3)

चित्र 3. विष्णु (दशावतार)
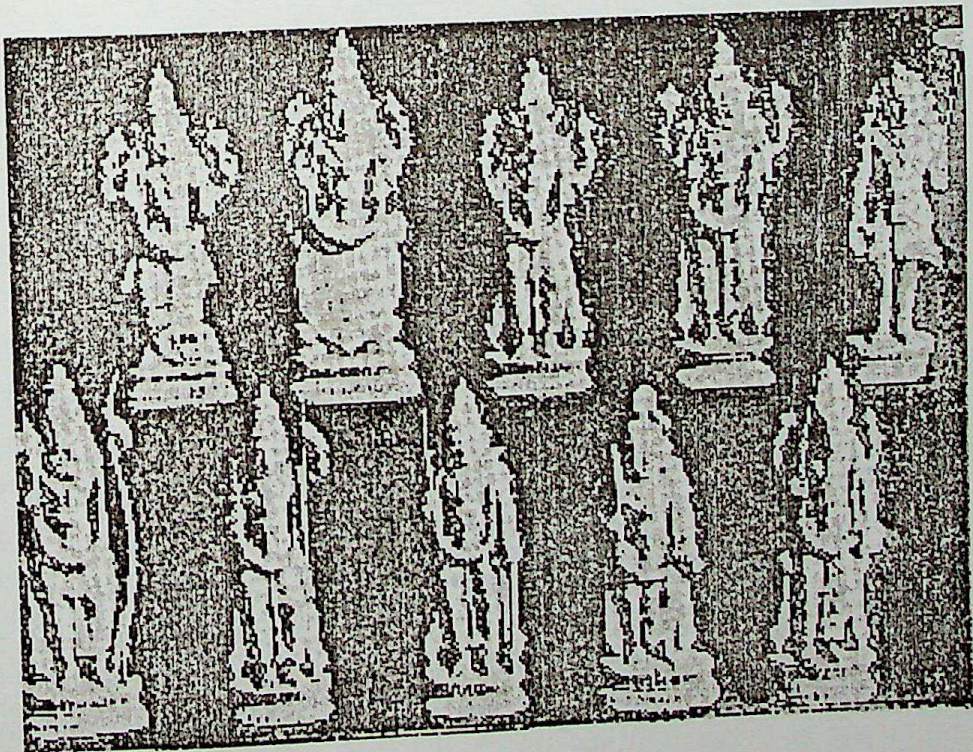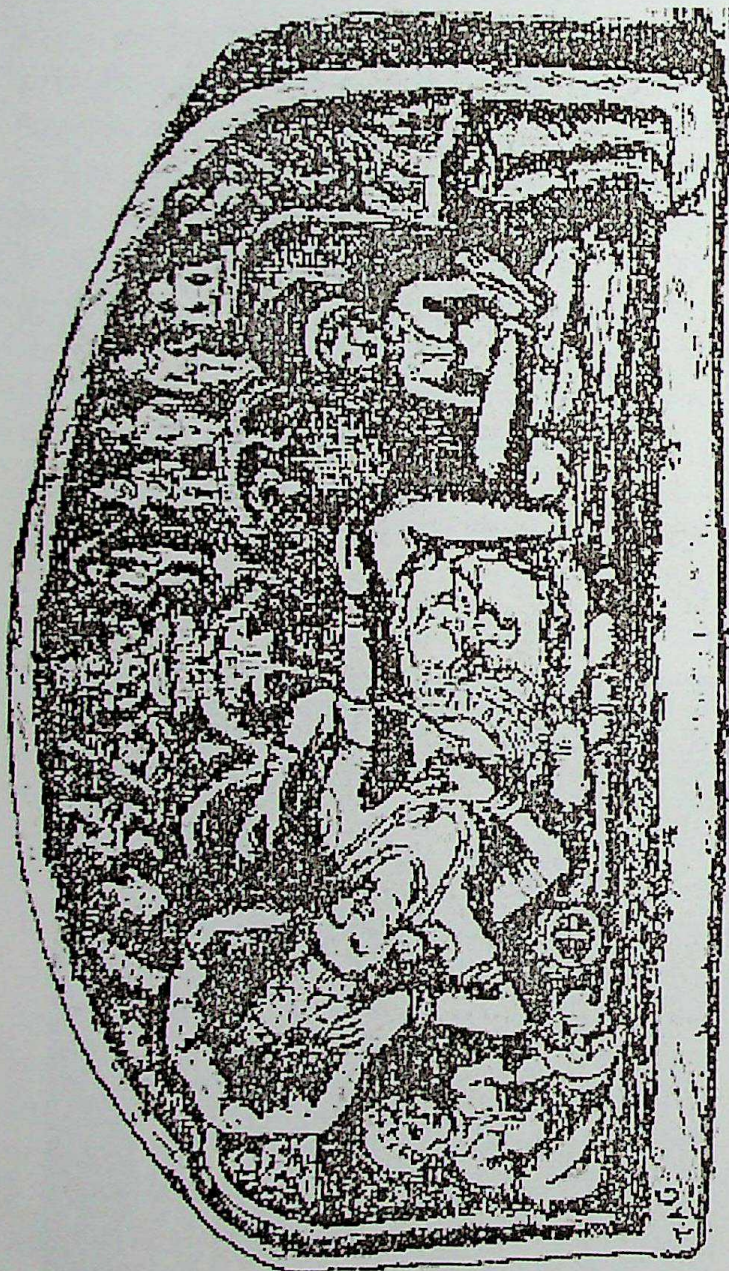
चित्र 2: विष्णु (शयनमूर्ति)

एक मूर्ति मूर के हिन्दू पैन्थियन की है। इसमें सृष्टि और प्रलय के निरन्तर विवर्त का प्रतीकात्मक विवरण है। महाप्रलय के रूप में महाकाल है। इसका विकराल रूप बड़ा भयंकर है। ब्रह्मा, विष्णु, शिव अर्थात् नामरूपात्मक जगत सभी इसके सामने निःसहाय और तुच्छ मालूम होते हैं। यह अपनी लम्बी जिह्वा द्वारा सारी सृष्टि को आत्मसात कर रहा है। यह एक ओर का दृश्य है। दूसरी ओर शिशु रूप में परब्रह्म वटाव पर पड़े हुए हैं और अंगूठा चूस रहे हैं । चारों ओर कारणार्थ (सागर) फैला है, जिसमें कमल खिले हैं। इसका अर्थ यह है कि सृष्टि और प्रलय होता रहता है, दूसरी ओर सृष्टि होती रहती है। अनेक पद्म, अनेक ब्रह्माण्ड की सृष्टि क्रिया का प्रतीक हैं। इसी भाव की एक मूर्ति कामाख्या के मन्दिर में है। माँ की गोद में शिशु है। माँ का स्तन शिशु के मुख में और शिशु का अंगूठा माँ के मुख में है। यह जीवनधारा के निरन्तर प्रवाह का निदर्शन है।

पटना म्यूजियम की मूर्ति संख्या 9791 है। इसे बलराम कहा गया है किन्तु यह यज्ञपुरुष विष्णु की मूर्ति है। नीचे चार पदोंवाला आधार चतुष्कोण है। उसके ऊपर सृष्टि का संकेत कमल और उस पर प्रकृति का प्रतीक वृत्त है, जिस पर यज्ञेश खड़े हैं। पीताम्बर दिक् और वनमाला या वैजयन्तीमाला शब्दब्रह्म वाक् की वर्णमाला है। ऊपर वाले दाहिने और बायें हाथों में अग्नि है। नीचे वाले दाहिने हाथ में चरु या यज्ञकल जैसी कोई वस्तु है। बायाँ हाथ टूटा हुआ है। बाईं ओर वाली पार्श्वदेवी के हाथ में सोमकलश अर्थात् ब्रह्मानन्द का अमृतकलश है और दाहिनी ओर वाली देवी के हाथ में चरुपात्र है। पहिली देवी श्री और दूसरी धरणी हो सकती है, जो चरु रूप में संसार के भरण-पोषण की सभी खाद्य वस्तुओं को उत्पन्न करती है। दोनों पार्श्व-देवियों के ऊपर दो सिंह हैं, जो यज्ञेश के वाहन धर्म हैं। पीताम्बर दिक् और शेष काल है। मूर्ति शिवलिंग के सिद्धान्त पर तीन अंशों में बनी हुई है। नीचे चतुष्कोण आधार ब्रह्मांश है। पैर से कन्धे तक भव्य भाग प्रकृति या विष्णुवंश है। कन्धे से ऊपर का वर्तुलांश शिवलिंग के रुद्रांश की तरह है। उर्ध्वभाग का एक कीछक प्रासाद की ध्वजा की तरह अनन्त की ओर संकेत कर रहा है।

इस मूर्ति का चित्र श्रीगोपीनाथ राव के भाग-1 के पृष्ठ 58 के पट 23 में है। वहाँ यह विष्णु की प्रतिमा मानी गई है, किन्तु यह वैष्णवी शक्ति की प्रतिमा मालूम होती है। यह स्त्रीमूर्ति है, इसके अंग-प्रत्यंग चित्र में स्पष्ट नहीं हैं, किन्तु वाहनी के मध्य में अर्थात् प्रधान स्थान में गरुड़ और ऊपर शेष के रहने से ऐसा अनुमान होता है। इसमें वाहन ध्यान देने का विषय है। यहाँ सिंह और गरुड़ दोनों को ही धारण करने वाली शक्ति धर्म का प्रतीक माना गया है। प्रतिमा के शीर्षस्थान में त्रिशूल त्रिशक्ति, त्रिगुणादि का प्रतीक है। प्रभा मण्डल की चौदह ज्वालाएं चौदह लोक हैं। लोल जिह्वा वाले काल के मस्तक पर त्रिशक्ति का मुकुट है। यह मूर्ति भी शिवलिंग की तरह तीन भागों में बनी है। अधः चतुष्कोण, मध्य सृष्टि और ऊपर गोल रुद्रांश हैं।

एक दूसरा चित्र भी उसी ग्रन्थ के पृ. 87 का है। यह विष्णु की मूर्ति है। पद्मासन पर बैठी हुई ध्यानी बुद्ध की प्रतिमा जैसी है। दाहिनी ओर यदि शंख नहीं रहता तो यह बुद्ध की प्रतिमा

मानी जाती। इससे ब्रह्म के विष्णु और बुद्धत्व में एकत्व का प्रदर्शन किया गया है। मूर्ति के मस्तक पर भुवन का प्रतीक करण्ड मुकुट है और मस्तक के पीछे सात स्फुलिंगोवाला प्रभामण्डल है।

सुदर्शन चक्र

उपर्युक्त ग्रन्थ के पृ. 85 पर एक और चित्र है। यह विष्णु की आसममूर्ति है और ज्ञानमुद्रा में ठीक बुद्ध की मूर्ति की तरह है। पृ. 123 पर एक चित्र है। यह हाथी दाँत के बने हुए दशावतार की प्रतिमाओं का चित्र है। इसमें बुद्ध के स्थान में बलराम की मूर्ति है। इसमें द्वितीय परम्परा का अनुसरण किया गया है। पृ. 288 पर सुदर्शनचक्र का चित्र है। ये आयुध निर्जीव अस्त्र नहीं हैं। वरन् सभी चैतन्य शक्ति हैं, जो सृष्टिलीला में विभु के सहायक हैं। इसलिए इसे कालचक्र और धर्मचक्र कहा जाता है। तीन स्फुलिंगों वाली ज्वालाएं इसकी परिधि से निकल रही हैं। ये त्रिगुण त्रिशक्ति आदि के प्रतीक हैं। (चित्र सं. 4)

पृ. 291 पर सुदर्शन चक्र के चित्र हैं। इन चित्रों की परिधि से पांच स्फुलिंगों वाली ज्वालाएं निकल रही हैं। ये पँचतत्त्व हैं। यह चक्र परमात्म शक्ति का प्रतीक बन गया है। परिधि की इन ज्वालाओं को नटराज के मायाचक्र की पांच स्फुलिंगों वाली ज्वालाओं से मिलाइये। इनमें से एक में वृत्त में भीतर ऊर्ध्व और अधोमुख त्रिकोणों के भीतर बिन्दुस्थान में सुदर्शन की मूर्ति शासक के रूप में है। एक पुरुष तलवार खींचकर खडा है। यह कालचक्र का नियंत्रण करने वाली कालमूर्ति है। दूसरे में ऊर्ध्वमुरा त्रिकोण में एक पुरुष बैठा है। यह काल या धर्म का रक्षक रूप है।

उपर्युक्त ग्रन्थ में ही एक मूर्ति है इसमें और बुद्धमूर्ति में बहुत सारूप है। ऊपर बौद्ध प्रतिमाओं की तरह अधोमुख त्रिशुल त्रिशक्ति, त्रिगुणादि के प्रतीक हैं। उसके नीचे, एक वृक्ष के नीचे प्रधान मूर्ति सुखासन पर बैठी है। देहात में लोग अंगोछे को इस तरह लपेट कर गपशप के

चित्र संख्या 4: सुदर्शन चक्र
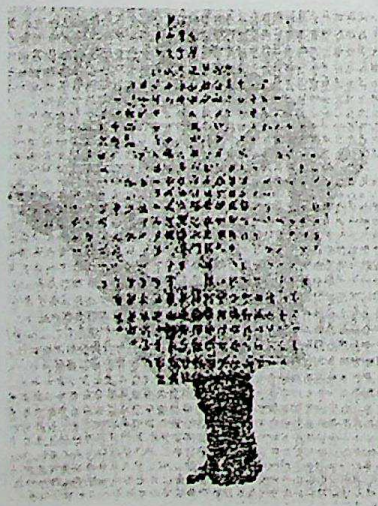
लिए बैठते हैं। मूर्ति के ऊपर वाले दाहिने हाथ में सर्प है और बाएं में मुसल या परिघ जैसा कोई अस्त्र है। नीचे वाला दाहिना हाथ अभय मुद्रा में है और बाएं में वर या ऐसी ही कोई वस्तु है। पैरों के नीचे वृषभ अंकित है। पैरों के नीचे पद्मासन पर एक मूर्ति हैं, जिसके माथे पर बुद्ध के मस्तक पर बिन्दु की तरह बिन्दु हृदय पर जैन बिन्दु या धर्मचक्र बना है। यह शिव की प्रतिमा जैसी मालूम होती है, जिसमें बौद्ध जैन और शैव प्रतीकों का सम्मिश्रण है।

शैव धर्म का उद्भव और उत्कर्ष

शिव से सम्बन्धित धर्म को 'शैव धर्म' और शैव धर्म के भक्तों और अनुयायियों को 'शैव' कहते हैं। शैव धर्मावलम्बियों के प्रधान इष्टदेव भगवान् शिव हैं। यह उत्तरवैदिककालीन नाम है। विष्णु की तरह अनेक अवतारों की कल्पना नहीं की गई न ही उनका विकास अवतारवाद के आधार पर हुआ, बल्कि उनका विकास 'रुद्र' से 'शिवम्' के रूप में हुआ। शिव की प्राचीनता प्रागैतिहासिक है। नवपाषाणयुग की अनेक जातियों में भूमि की उर्वरता के लिए लिंग पूजा की जाती थी। गुडिमल्लम और भीटा से ऐसे लिंग प्राप्त हुए हैं जिन पर मनुष्य की आकृति में देवता अंकित है। कुछ लोगों ने उनकी प्राचीनता की खोज सैंधव सभ्यता में की और यह कहा कि वहाँ से प्राप्त मुहरों पर श्रृंगधारी मानवाकार बैठे हुए देवता पशुपति शिव हैं और उनका प्रतीक लिंग भी चित्रित है जिनके चारों ओर शेर, हाथी आदि पशु बैठे हुए हैं। शिव का एक दूसरा चित्र ताम्रपट्ट पर मिला है जिसमें वे यात्री के रूप में दर्शित हैं तथा उनके सम्मुख दो सर्प हैं और उनके गले में सर्प की माला है। सिंधु सभ्यता के छोटे-छोटे अनेक लिंग मिले हैं। अगर इस मत को ठीक मान लिया जाय तो शैव धर्म विश्व का प्राचीनतम धर्म हो जाएगा। किन्तु तारतम्य और श्रृंखला के अभाव में यह मत स्वीकार करना तर्कसंगत नहीं। ऋग्वेद में शिव के 'रुद्र' नाम का व्यवहार हुआ है, जो अपनी कठोरता और रुद्रता के लिए ख्यात हैं। वे अपनी भयंकर और विनाशक शक्ति से मनुष्य और पशु दोनों को विनष्ट कर देते हैं। उनकी क्रुद्ध और प्रलयकारी शक्ति से महामारियाँ फैल जाती हैं तथा घर उजड़ जाते हैं। अतः उनकी विध्वंसकारी शक्ति से बचने के लिए ऋग्वैदिक आर्यों ने उनकी स्तुति और वन्दना प्रारंभ की, जिससे वे प्रसन्न रहें और विनाशक शक्ति से मनुष्य को कष्ट न दें। ऋग्वेद के विवरण के अनुसार उनके द्वारा फैंके गए बाण तीव्र रूप से स्वर्ग और पृथ्वी पर गिरते हैं। वे अपने अस्त्र से मनुष्य और गाय को हत करते हैं। अतः ऋषियों ने उनसे प्रार्थना की कि वे अपने आयुधों को दूर रखें तथा द्विपदों और चतुष्पदों की रक्षा करें। इस प्रार्थना द्वारा रुद्र के विनाश से लोग बच जाते थे। फलस्वरूप वे उन्हें पशुपति अथवा पशुओं का रक्षक कहते हैं। ऋग्वेद से विदित होता है कि उनकी उपाधि 'पशुप' थी। रुष्ट होने पर वे महामारियाँ फैला देते थे, अतः उनसे बचने के लिए लोग उनकी पूजा करते थे तथा आशा करते थे कि लोगों को विभिन्न रोगों से मुक्ति मिलेगी। रुद्र के पास सहस्त्रों औषधियाँ थीं, जिनके कारण रोगों से छुटकारा पाना सरल था।

उत्तरवैदिक काल में रुद्र का विकास अधिक तीव्र गति से हुआ। 'शतरुद्रिय', 'शिवातनुः' (मंगलमय) कहा गया और साथ ही [illegible] के कारण उन्हें 'शिरिश' और 'गिरित्र' नाम

से अभिहित किया गया। उन्हें पशुओं का स्वामी कहा गया, जो 'पशुपति' (पशूनाम् पतिः) के रूप में उनका विशिष्ट नाम हो गया। धीरे-धीरे रुद्र की व्यापकता बढ़ती गई तथा समाज में उनका विस्तार होता गया। दिशाओं के पति (स्वामी) के रूप में भी उनका स्थान बनता गया। 'कपर्दिन्' (जिनकी ज्वालाएँ कपर्दों की तरह थीं) की संज्ञा देकर उन्हें अग्नि से अभिन्न माना गया उनकी उग्रता जब शांत हो जाती थी जब उन्हें 'शम्भु', 'शंकर' और 'शिव' नामों से अभिहित किया जाता था। चर्म धारण करने के कारण वे कृतिवासन के रूप में ख्यात थे। उन्हें 'शर्व भव' भी कहा गया। संभवतः निषाद आदि अनार्यों से सम्बद्ध होने के कारण ही उनको चर्म परिधान धारण करने वाला माना गया था। रुद्र से अनेक रुद्रों को उद्‌भूत माना गया था जो उनकी व्यापकता व्यंजित करता है। इसलिए इन रुद्रों को गणपति, कांकार, कुम्भकार, रथकार, तक्षक और निषादों के पति (स्वामी) के रूप में स्वीकार किया गया। लगता है, उपर्युक्त वर्गों और अनार्य जातियों के वे उपास्य और आराध्य देव थे। इसी युग में आर्य रुद्र का आर्येतर शिव के साथ समीकरण हुआ। शतरुद्रित से स्पष्ट होता है कि रुद्र अथवा शिव मनुष्यों की बस्ती से दूर रहते थे। वह चोरों, डाकुओं और व्रात्यों के देवता थे। यजुर्वेद में वर्णित है कि शिव का सम्बन्ध आर्य संस्कृति से नहीं, केवल अनार्य लोगों से था। गणपती, तक्षा, निषाश, रूप के गण आदि ऐसे पर्याय रुद्र के लिए व्यवहृत हुए हैं, जो उनकी अनार्य जातियों से समीपता दृढ़ करते हैं। अथर्ववेद के विवरण से यह स्पष्ट होता है कि देवताओं ने महादेव (पशुपति, शर्व, धनुर्धर, भव रुद्र, उग्र) को विभिन्न दिशाओं के स्वामी नियुक्त किया था।

समाज में रुद्र की महत्ता, विशिष्टता और उत्कृष्टता बढ़ती गई। द्विपद और चतुष्पद के शासक के रूप में उनको भी स्वीकार किया गया। उनका क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत था तथा इनका आयाम बहुत बड़ा था। अथर्ववेद और शतपथ ब्राह्मण में उन्हें 'सहस्राक्ष' कहा गया था। निकटवर्ती और दूरवर्ती समस्त पदार्थ उन्हीं के थे, साथ ही वे समग्र धनुर्धरों में श्रेष्ठ थे। उनका आघात सभी देवताओं और मनुष्यों को आहत कर सकता था। अतः उनके द्वारा अपनी रक्षा के लिए उनकी आराधना की जाती थी। रुद्र सर्वत्र था जल, अग्नि, औषधि, वनस्पति और समस्त भूतों में। आकाश और अन्तरिक्ष का वह स्वामी था। वह 'भूतपति' था। पशुपति के रूप में उनके आधीन पाँच प्रकार के पशु थे–गौ, अश्व, मनुष्य, अजा और भेड़। उनकी आराधना करते हुए कहा गया कि वे विनाश, विष और अग्नि से रक्षा करें। अथर्ववेद में उन्हें भव, स्वर्ग और पृथ्वी का ईश कहा गया तथा भव, शर्व और रुद्र (पशपुति) के बाण को 'सदाशिव' बनने के लिए कामना व्यक्त की गई। उनकी उपस्थिति आकाश, पृथ्वी, अन्तरिक्ष और दिशाओं में, सर्वत्र मानी गई थी। वे 'भव' के रूप में पूर्वी प्रदेश के, अन्तवर्ती स्थान में 'शर्व' के रूप में, दक्षिण में 'पशुपति' के रूप में, पश्चिम में 'उग्र' के रूप में, उत्तर में 'रुद्र' के रूप में, 'महादेव' के रूप में ऊपर और 'इशान' के रूप में अन्तरिक्ष में व्याप्त थे। अतः सम्पूर्ण सृष्टि में उनका विस्तार था तथा जगत् उनके निर्देश से संचालित था। ब्राह्मण ग्रन्थ में उन्हें उषा का पुत्र बताया गया है। प्रजापति द्वारा रखे गए उनके आठ नामों में से एक नाम 'अशिन' (वज्र) भी था। उनके आठ

नामों में से रुद्र, शर्व और अश्नि ये चार नाम विध्वंसकारी और विनाशकारी थे तथा चार नाम, भव, पशुपति, महादेव और ईशान, कल्याणकारी, यद्यपि समस्त देवतागण उनकी रुद्रता से भयग्रस्त थे।

सूत्र ग्रन्थों में भी इनकी अपनी अलग विशिष्टता है तथा उनके विवरण से यह प्रसारित होता है कि उनका अनार्य तत्त्वों पर प्रभाव था। उनको प्रसन्न करने के लिए पशुबलि की व्यवस्था की गई। जो ग्राम की सीमा से बाहर आयोजित की जाती थी तथा अवशिष्ट ग्राम में नहीं लाए जाते थे। उनके बारह नामों के साथ उनकी स्तुति की जाती थी। उनके बारह नामों में 'अशनि' को छोड़कर पूर्ववर्ती सात नाम थे तथा पाँच और नाम संयुक्त किए गए थे, जो इस प्रकार हैं – हर, मृड, शिव, भीम और शंकर। उनके साथ इन्द्राणी, रुद्राणी, शर्वाणि और भवानी नामक चार पत्नियाँ भी जोड़ दी गईं। मार्ग को पार करते समय, चतुष्पथ पर पहुँचते समय, नदी पार करते समय, नाव पर आरूढ होते समय, पर्वत, श्मशान और गोशाला जैसे स्थानों के मध्य से जाते समय अपने सुरक्षार्थ रुद्र की उपासना की जाती थी तथा मन्त्र का जप किया जाता था। स्पष्ट है, रुद्र एक विशिष्ट देवता के रूप में विकसित हो रहे थे, जिनकी आराधना समाज में निरन्तर की जाती थी। नदी, पर्वत, प्रदेश मैदान, गौशाला आदि स्थानों से जाते समय उनका स्मरण किया जाता था। अतः वे विभिन्न प्रकृतियों के देवता थे, जिनका प्रसन्न रहना मनुष्यों के लिए आवश्यक था।

श्वेताश्वतर, अथर्वशिरस् जैसे उपनिषदों में शिव के ज्ञान तत्त्व की मीमांसा की गई है तथा उनका सम्बन्ध ईश्वर, जीव और प्रकृति तत्त्वों से स्थापित किया गया है। तैत्तिरीय संहिता में उनकी एकता शिव से स्थापित की गई है (4.5.1)। उन्हें सर्वोच्च देव का पद प्राप्त था। इस युग तक रुद्र शिव की प्रतिष्ठा बढ़ गई थी, किन्तु पत्नी का कोई उल्लेख नहीं मिलता। केन उपनिषद् में उमा का नाम अवश्य मिलता है, किन्तु वह रुद्र की पत्नी नहीं है वह हिमवान की पुत्री (हैमवती) हैं। श्वेताश्वतर उपनिषद् से सिद्ध होता है कि श्वेताश्वर ऋषि भक्ति के वशीभूत होकर रुद्र की शरण में गए थे।

महाभारत में शिव का उल्लेख सर्वोच्च और शक्तिशाली देवता के रूप में हुआ है, जिनसे पाशुपत अस्त्र प्राप्त करने के लिए अर्जुन को हिमालय जाना पड़ा था। वहाँ उन्होंने किरात के वेश में रह रहे शिव कि वास्तविकता को समझे बिना उनसे युद्ध किया, किन्तु वे परास्त होकर भूमि पर पड़ गए। इसके बाद उन्होंने मृत्तिका की वेदी बनाकर शिव की ओर देखा कि जो पुण्य उन्होंने अर्पित किया था वह किरात के सिर पर रखा हुआ है। तब उन्होंने शिव को पहचानकर अपने को उनके चरणों में शरणागत किया। भगवान् शिव ने प्रसन्न होकर अर्जुन को पाशुपत अस्त्र प्रदान किया। भगवान् शिव से इसी प्रकार पाशुपत अस्त्र प्राप्त करने की कथा उपरिलिखित वनपर्व के अतिरिक्त द्रोणपर्व में भी है, जब अर्जुन और कृष्ण स्वप्नावस्था में हिमालय जाते हैं और शंकर भगवान की स्तुति करके पाशुपत अस्त्र की कामना करते हैं। शिव उन्हें एक सरोवर तक जाने का निर्देश देते हैं, जहाँ पाशुपत अस्त्र है। वहाँ पहुँचने पर उन्हें सरोवर में दो विषधर

सर्प दिखाई देते हैं, किन्तु देखते ही वे धनुषबाण बन जाते हैं। जिन्हें अर्जुन उठा लेते हैं। महाभारत के ही सौप्तिक पर्व में विवृत है कि शिव की कृपा से अश्वत्थामा को एक खड्ग मिला था जिससे उन्होंने पाण्डव पुत्रों का वध कर डाला था। पुत्र प्राप्ति के लिए कृष्ण ने स्वयं शिव की आराधना की थी, तदनंतर भगवान शिव ने अपनी पत्नी उमा के साथ प्रकट होकर कृष्ण को मनोवांछित वर प्रदान किया था। लिंग पूजा का जो उल्लेख ऋग्वेद में मिलता है उसका शैव धर्म से सम्बद्ध होना अत्यन्त विवादग्रस्त है। ऋग्वेद में शिश्न-पूजों को घृणा की दृष्टि से देखा गया है। पर यह निष्कर्ष निकाला गया है कि तत्कालीन समाज में इसका प्रचलन था, चाहे वह अनार्यों के समाज में क्यों न रहा हो। किन्तु सायण ने शब्दोत्पत्ति करते हुए भाष्य किया है कि 'शिश्नदेव' का अर्थ होता है कि वे व्यक्ति जो शिश्न से क्रीड़ा करें। दूसरे शब्दों में, ऐसे लोगों को अब्रह्मचारी कहा जा सकता है। ऐसी स्थिति में 'शिश्नदेव' लिंग पूजा का परिचायक नहीं। लिंगोपासना का संकेत महाभारत के अनुशासन पर्व में मिलता है, जो सम्भवतः अनार्य प्रभाव के कारण था। पाणिनि पर भाष्य करते हुए पतंजलि ने शिव की मूर्ति बनाकर पूजा करने की बात कही है। उसने शिश्न पूजा का कोई संकेत नहीं दिया है। शक शासक योग की मुद्राओं पर त्रिशूलधारी शिव अंकित हैं। पल्लव नरेश गुण्डफर्न के कुछ सिक्कों पर त्रिशूल और जटाधारी शिव का चित्र उत्कीर्ण है, लिंग की कोई आकृति नहीं मिलती। हुविष्क की मुद्राओं पर शिवलिंग अंकित है।

गुप्तकाल में शैव धर्म का उत्कर्ष तीव्र गति से हुआ। गुप्त सम्राटों में धर्मावलम्बी होने के बाद भी उनकी धर्म सहिष्णुता की भावना से शैव धर्म का समाज में यथोचित प्रसार हुआ। चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य का मन्त्री वीरसेन शैव धर्मावलम्बी था। कुमारगुप्त प्रथम के मन्त्री पृथ्वीसेन ने शिव मन्दिर को दान प्रदान किया था, जिसका उल्लेख करमदण्डा अभिलेख में हुआ है। स्कन्दगुप्त का अधीनस्थ सामन्त महाराज हस्तिन शिवोपासक था। स्कन्दगुप्त के बैल प्रकार के सिक्के उसकी शैव धर्म के प्रति आस्था व्यक्त करते हैं। वस्तुतः शैव धर्म के इस प्रकार का प्रारम्भ शुंग सातवाहन काल से हुआ जो गुप्त काल में चरम परिणति पर पहुँचा। उस युग में अनेकानेक शैवमन्दिरों के निर्माण के साथ शिव की महिमा से सम्बन्धित उत्कृष्ट साहित्य की भी रचना हुई। रचना के क्षेत्र में कालिदास का शीर्षस्थ स्थान है, जिन्होंने 'कुमार संभव' नामक महाकाव्य की रचना करके शैव धर्म की प्रतिष्ठा में महत्वपूर्ण योग प्रदान किया। 'कुमारसंभव' में शिव के चरित्र, महिमा और गुणों का वर्णन है। इस कृति के अतिरिक्त महाकवि की अन्य कृतियों में शिव के विभिन्न स्वरूपों, मतों और सिद्धान्तों का उल्लेख है। महेश्वर, ईश, ईश्वर, परमेश्वर, अष्टमूर्ति, वृषभध्वज, शूलभृत, पशुपति, त्र्यंबक, त्रिनेत्र, स्थाणु, अयुग्मनेत्र, नीलकण्ठ, नीललोहित, शितिकण्ठ, चण्डेश्वर, विश्वेश्वर, शंभु, हर, गिरीश, महाकाल, भूतेश्वर, शिव शंकर, पिनाकी आदि नामों से शिव का उल्लेख हुआ है। कालिदास के साहित्य में गोकर्ण के शिव, काशी के विश्वनाथ और उज्जैन के महाकाल ज्योतिर्लिंग का संकेत मिलता है। जल, पावक, क्षिति, गगन, समीर, सूर्य, चन्द्र (मन, पिंड) अर्थात् प्रकृति की संयुक्तता से शिव की

अष्ट मूर्ति का निर्माण होता था। वे जगत भ्रष्टा के रूप में पूजित थे तथा उन्हें ही सृष्टि भी कहा गया है। अष्टमूर्ति के आठ स्पष्ट रूप थे--रुद्र, भव, शर्व, ईशान, पशुपति, मौन, उग्र और महादेव। अभिज्ञान-शाकुन्तलम् में शिव की इस प्रकार व्याख्या की गई है–जल, अग्नि, होत, सूर्य, चन्द्र, आकाश, पृथ्वी और वायु। यह माना गया है कि ब्रह्मा व्यक्त से सृष्टा है, विष्णु पालक और शिव संहारक। कालिदास द्वारा शाकुन्तलम् का आरम्भ शिव की स्तुति से किया गया है। पुराणों में अनुपम महिमा निरूपित की गई है। उन्हें देवों में श्रेष्ठ महादेव कहा गया है। स्कन्द पुराण में पशुपति, सर्वज्ञ, ईश्वर, सब तत्त्वों के मूल तत्त्व तथा सनातन भगवान रुद्र ने कहा है कि सृष्टिकर्त्ता ब्रह्मा से पहले मैं ही ईश्वर था, वर्तमान में भी मैं ही ईश्वर हूँ और भविष्य में भी मैं ही एकमात्र ईश्वर रहूँगा। मेरे अतिरिक्त कोई दूसरा ईश्वर नहीं है। उनकी इस प्रतिष्ठा और महानता का कारण यह था कि उन्होंने अपने ऐश्वर्य से देवताओं को, शक्ति से असुरों को, ज्ञान से मुनियों को तथा योग से प्राणियों को पराजित किया था। पुराणों में उनको त्र्यंबक, भव, शैव, महादेव, इशान, शूलपति, शंकर, शूली, त्रिशूलधारी, पिनाकी, नीललोहित, नीलग्रीव, शितिकण्ठ, सहस्राक्ष, वृषभध्वज, पशुपति, अतिभैरव आदि विभिन्न नामों से अभिहित किया गया है। अपने कार्यों को सम करने की उनमें अद्‌भुत क्षमता थी। दक्ष का यज्ञ विध्वंस करने के लिए उन्होंने प्रज्ज्वलित अग्नि के समान वीरभद्र को अपने मुख से उत्पन्न किया था। शिव के इस रूप के विपरीत उनका लोककल्याण का भी रूप है, जिसमें वे विष का पान करते और नीलकंठ कहे जाते हैं।

पुराणों में शिश्न पूजा (लिंग पूजा) का भी उल्लेख है। एक बार जब ब्रह्मा और विष्णु में श्रेष्ठता का विवाद चल रहा था तब उन्होंने दीप्तिमान अलख लिंग देखा। किन्तु लिंग पूजा का स्पष्ट वर्णन मत्स्य पुराण में हुआ है, जिसके अनुसार त्रिपुर के दग्ध होने के समय बाणासुर ने शिवलिंग को सर पर रखकर शिव की पूजा की थी। मथुरा के एक स्तम्भ लेख से विदित होता है कि उमापतेश्वर और कपिलेश्वर नामक शैव आचार्यों के सम्मान में शिव लिंगों का स्थापन किया गया था। ऐसा प्रतीत होता है कि शिवलिंग की पूजा का प्रसार समाज में अत्यन्त परवर्ती काल में हुआ, सम्भवतः गुप्त युग में।

पाशुपत सम्प्रदाय का गुप्त काल में अत्यधिक विकास हुआ। यद्यपि इस सम्प्रदाय के अतिरिक्त वीर, शैव, प्रत्यभिज्ञ आदि कई सम्प्रदाय थे, तथापि मत के मानने वाले लोग तत्कालीन समाज में अधिक हुए। इस सम्प्रदाय के सिद्धान्त के तीन अंग हैं – (1) पति (स्वामी), (2) व्यक्ति, आत्मा या 'पशु' और (3) पाश (बन्धन)।

इनके अतिरिक्त चार पाद हैं –

(1) विद्या या ज्ञान,
(2) क्रिया अथवा कर्म,
(3) योग (ध्यान), और

(4) चर्या अथवा आचार।

पशुपति के रूप में भगवान शिव की उपासना समाज में प्रचलित थी। पाशुपत अस्त्र की प्राप्ति के लिए कठिन तपस्या का उल्लेख कालिदास ने किया है।

अर्धनारीश्वर नटराज

अर्धनारीश्वर के रूप में शिव की कल्पना की गई। शिव और पार्वती की संयुक्त मूर्तियाँ गुप्त युग में और उसके परवर्ती युग में विशेष रूप से स्थापित की गईं। इसी संयोग का वर्णन कालिदास ने 'कुमारसंभव' में अत्यन्त यत्नपूर्वक किया है। शिव और पार्वती का परस्पर इतना तादात्म्य हुआ है कि दोनों की सन्निहित मूर्ति 'अर्धनारीश्वर' के रूप में समाज में चल पड़ी जिसके अन्तर्गत पुरुष और नारी को एक ही शरीर के भाग के रूप में स्वीकार किया गया तथा यह अभिव्यक्त किया गया कि स्त्री और पुरुष एक दूसरे के पूरक हैं। एक दूसरे के बिना अधूरे हैं। इसलिए स्त्री अर्धांगिनी कही जाती है। वस्तुत: स्त्री और पुरुष दोनों संयुक्त होकर सृष्टि का निर्माण करते हैं। फलत: शिव और पार्वती युक्त 'अर्धनारीश्वर' की मूर्ति इसी कल्पना पर आधारित थी, जिसमें अर्धांग रूप में शिव बाईं और अर्द्धांगिनी रूप में पार्वती दाईं और दर्शित हैं। अत: इस काल में अर्धनारीश्वर की अनेकानेक मूर्तियां गढ़ी गईं जो तदयुगीन शैव और शाक्त दर्शन की समन्वित प्रतीक हैं। शिव की पूजा के साथ-साथ शक्ति की पूजा समाज में बढ़ी तथा लोग शक्ति के भी उपासक होने लगे। अर्धनारीश्वर की मूर्तियाँ प्रचुर संख्या में मिलती हैं। वैशाली की एक मुहर पर भी अर्धनारीश्वर की मूर्ति रूपायित की गई है, जो अत्यन्त सजीव और अभिराम है। कुकिंहार से प्राप्त अष्टधातु की मूर्ति इसी प्रकार सुन्दर और आकर्षक है। प्रतिहार अभिलेख में भी अर्द्धनारीश्वर का उल्लेख हुआ। सेन-अभिलेख में अर्द्धनारीश्वर को नृत्य करते हुए चित्रित किया गया है। (चित्र सं. 5)

त्रिमूर्ति के अन्तर्गत ब्रह्मा, विष्णु और शिव की पूजा होती थी, जिसका प्रारंभ गुप्त युग में हुआ था। ब्रह्मा, वैष्णव और शैव सम्प्रदायों का एक साथ समन्वित होकर एकीकृत होना त्रिमूर्ति की अभिव्यंजना है। समन्वय की यह उदार भावना गुप्त युग की अभूतपूर्व देन है। तीनों देवताओं के गुण, बल और स्वभाव को एक ही आधार स्थल पर समाहित करके बहुदेववाद को एकदेव की ओर अग्रसर किया गया। कालिदास ने अपने ग्रन्थों में इन तीनों देवताओं की समान भाव से वन्दना की है तथा उनके सम्मान और वैभव का वर्णन किया है। अत: इन तीनों देवताओं का भाव त्रिमूर्ति के समाहार और प्रतिष्ठापन में दर्शित होता है। कालिदास स्वयं समन्वयवादी विचार के थे। उनके वैष्णव धर्म का प्रतीक ग्रन्थ 'रघुवंश' है जिसमें राम के वैभव और ऐश्वर्ययुक्त चरित्र का रूपांकन है, किन्तु ग्रन्थ का प्रारंभ शिव की स्तुति से किया गया है, जो महाकवि के शैव होने का परिचायक है। कालिदास शिव के श्रेष्ठ उपासक थे, उन्होंने शक्ति के पुरुष से विलग होने और फिर पहचानी जाकर एक होने का, 'प्रत्यभिक्षा' दर्शन का पूर्वरूप, अपने ग्रन्थ 'शाकुन्तलम्' में विवृत किया है। अत: उन्होंने शिव की सर्वत्र आराधना की है, स्तुति

चित्र संख्या 5: अर्धनारीश्वर नटराज

की है, वैसे यत्र तत्र ब्रह्मा की भी उन्होंने अतिशय वन्दना की है, जिसका उदात्तरूप 'कुमारसंभव' में देखा जा सकता है। इस प्रकार दोनों विशिष्ट देवताओं का गुणगान करके महाकवि ने सहिष्णुता एकत्व और एकदेववाद का चित्रण किया है, जिनका समन्वित रूप 'त्रिमूर्ति' की एक मूर्ति के रूप में देखा जा सकता है। यह कल्पना द्वैत सिद्धान्त को भी स्पष्ट करती है। एलिफैंटा की त्रिमूर्ति अत्यन्त विख्यात है, जिनमें ब्रह्मा, विष्णु और महेश (शिव) हैं। ब्रह्मा सर्जन, विष्णु पालन और महेश संहार के प्रतीक हैं।

हरिहर के रूप में शिव को विष्णु के साथ दर्शित किया गया, जिसने 'त्रिदेव' की कला को मुखर किया। वैष्णव और शैव धर्म के समन्वय का यह ज्वलन्त प्रमाण था, जिसकी कला महाकवि कालिदास ने अपने ग्रन्थों में की थी। वस्तुतः यह दोनों सम्प्रदायों के पारस्परिक सौहार्द, सम्मिलन और समन्वयवादी प्रवृत्ति के कारण ही संभव हो सका, नहीं तो उत्तर भारत में भी दक्षिण भारत की तरह वैष्णव और शैवों के बीच संघर्ष चल पड़ता। वैष्णव और शैव के समय जो परम्परा कालिदास ने प्रारंभ की थी वह निरंतर अबाधित रूप में चलती रही, जिसकी पराकाष्ठा तुलसीदासकृत 'रामचरितमानस' में हुई। हरिहर की अनेकानेक मूर्तियाँ गुप्त युग में गढ़ी गईं तथा दोनों सम्प्रदायों की भावना को एक ही मूर्ति के माध्यम से व्यक्त किया गया। मूर्ति के दायें भाग में शिव के लक्षण हैं, जैसे जटा बढ़ाए हुए, हाथों में परशु या अंकुश एवं दाएँ भाग में किरीटधारी विष्णु, जिनके हाथ में शंख और चक्र है।

उत्तर प्राचीनकाल में शिव-पूजा का प्रसार

उत्तर प्राचीन काल में शैव धर्म का विभिन्न सम्प्रदायों के रूप में विकास हुआ। शैव कालानन या कारूक, पाशुपत, कुलशील और कापालिक जैसे सम्प्रदायों के लोग समाज में व्याप्त हो गये थे। कभी-कभी शासक भी शैव धर्मानुयायी होते थे। गौड़ नरेश शशीक दृढ़ शैवमतावलम्बी था। यही नहीं प्रारंभ में कन्नौज नरेश सम्राट हर्ष शिवोपासक था। उस समय भारत में शैव धर्म का अत्यधिक प्रभाव था। ह्वेनच्वांग के अनुसार वाराणसी शैव धर्म का प्रधान केन्द्र था जहाँ एक सौ शिव मन्दिर थे। उत्तर भारत के विभिन्न भागों में विविध राजवंश शासन करते थे। जिनके पृथक्-पृथक् राजा अपनी रुचि के अनुसार शैव धर्म के अनुयायी थे। तत्कालीन अभिलेख इस बात के प्रमाण हैं कि शिव का स्तवन 'ओम् नमः शिवाय' के साथ प्रारंभ होता था, देवाधिदेव महादेव की अत्यन्त भावभीनी वन्दना और स्तुति की जाती थी, जिसमें उनकी ऐश्वर्य गाथा होती थी। कलचुरि अभिलेख में शिव को परम ब्रह्म और जगद्गुरु कहा गया है, जिसकी सेवा में ब्रह्मा और अनेकानेक देव लगे रहते थे। इसी तरह भेड़ाघाट अभिलेख में शिव को 'कल्याणिताम्' कहते हुए भाल पर शशि को धारण करने वाला कहा गया है। एक अन्य कलचुरी अभिलेख में शर्व (शिव) की अत्यंत मोहक प्रशस्ति की गई है। उदयपुर प्रशस्ति में शम्भु (शिव) को 'भुजवाल' से युक्त और 'गंगादुसंसि' अभिव्यक्त किया गया है। तत्कालीन युग के अभिलेखों में शिव के अनेक नाम मिलते हैं। जिनमें केदारेश्वर, रामेश्वर, सोमनाथ, रुद्र,

भवानीपति, व्योमकेश, शिव, महादेव, उमापति, पशुपति, योगस्वामी, कोनार्क, विन्देश्वर, नीलकण्ठ, धूर्जटि, अर्धनारीश्वर, सदाशिव, परमाहेश्वर आदि-आदि प्रसिद्ध हैं। कलचुरी, परमार, प्रतिहार, सेन, चन्देल, चेदि, गहड़बाल आदि राजपूत राजवंश के शासकों ने समय-समय पर शिव की अभ्यर्थना की थी। उस युग में अनेक शिव मन्दिरों और प्रतिमाओं का निर्माण कार्य हुआ। विजयसेन की देवधर प्रशस्ति से विदित होता है कि गगन को स्पर्श करने वाला प्रद्युम्नेश्वर का एक विशाल मन्दिर बना था। पाल शासक नारायणपाल ने बौद्ध होते हुए भी, एक सहस्त्र शिव मन्दिरों का निर्माण करवाया था। उसके उत्तराधिकारी विग्रहपाल ने भी शिव मन्दिर बनवाया था। उस युग में आसाम, बंगाल और उड़ीसा में अनेक शिव मन्दिर निर्मित हुए। उत्तर भारत में प्रतिहार, गहड़वाल और चन्देल शासकों के सहयोग से शैव धर्म का अनुपम विकास हुआ तथा स्थाण्वीश्वर से लेकर कन्नौज तक और बुन्देलखण्ड के खजुराहो, कालिंजर तक अनेक शिव मन्दिरों की पताकाएँ गगन चूमती थीं। खजुराहो में उदयन द्वारा एक मनोरम शिव मन्दिर की स्थापना की गयी थी। यह सर्वविदित है कि चन्देल शासक के प्रोत्साहन, रुचि और संरक्षण के कारण खजुराहो में विभिन देवताओं के आकर्षक और अभिराम मंदिरों का निर्माण हुआ, जिनमें शिव के भी मन्दिर थे। खजुराहो के कंदरिया महादेव का मन्दिर स्थापत्य कला का अद्भुत नमूना है। वहाँ के विश्वनाथ और मेवाड़ मन्दिर भी उसी युग के आस-पास निर्मित हुए हैं। कलचुरि शासकों ने भी अनेक शिव मन्दिर बनाकर पूजन किया था। रतनपुर अभिलेख से विदित होता है कि 919 ई. में केदार शिव मन्दिर बना था। चेदि अभिलेखों में भी अनेक शिव मन्दिरों के निर्माण का उल्लेख है। प्रतिहार शासकों के वर्णन में भी शिवमन्दिर के बनने के उल्लेख हैं। बाउक के ग्वालियर अभिलेख से ज्ञात होता है कि सिद्धेश्वर महादेव के नाम से उसने शिव मन्दिर निर्मित कराया था। राजस्थान के अनेक अभिलेखों में शिवमन्दिर निर्माण के उल्लेख हैं। गुजरात के कतिपय चालुक्य शासक भी शिव भक्त थे। भीम प्रथम शिवोपासक था। उसने सोमनाथ का प्रस्तर का मन्दिर निर्मित करवाया था, जो कालान्तर में महमूद गजनी द्वारा तोड़ दिया गया था। तत्पश्चात कुमारपाल ने उसका पुनर्निर्माण करवाया था। जय सिंह सिद्धराज भी शिवोपासक था जिसने सहस्त्रलिंग झील का निर्माण करवाया था। सोमनाथ के मन्दिर का उल्लेख अलबिरूनी ने भी किया है, जो अपने समय में अत्यन्त प्रसिद्ध और अर्थ-सम्पन्न मंदिर था। वह लिखता है कि सोमनाथ के पूजन के लिए नित्य कश्मीर से पुष्प और गंगा से जल आता था।

शिव मन्दिरों के अतिरिक्त शिव की विभिन्न मुद्राओं में आकृतियाँ भी उकेरी गईं। शिवलिंग के भी निर्माण हुए तथा शिव पार्वती की मूर्तियाँ गढ़ी गईं। नटराज की भी आकृतियाँ चित्रित की गईं जो दक्षिण भारत की मूर्तियों से भिन्न थीं। पूर्वी बंगाल से नटराज की जो मूर्ति मिली है वह बैल पर बैठी नृत्य करती हुई, दस हाथों वाली, अयम्सार दैत्य पर खड़ी होकर नृत्य में लीन है। सेन शासकों की मुहरों पर दस हाथ वाले सदाशिव की आकृति उभारी गई है। अर्धनारीश्वर की मूर्ति मिलती है, किन्तु बहुत कम। वैसे प्रतिहार अभिलेख में अर्धनारी मूर्ति का उल्लेख हुआ है। सेन अभिलेख में अर्धनारीश्वर की मूर्ति नृत्य करते हुए उल्लिखित की गई है। उमा महेश्वर की

मूर्ति तो विभिन्न प्रदेशों में प्रचुर संख्या में मिलती है, जिनमें शिव अपनी पत्नी उमा को बाईं जांघ पर बैठाकर आलिंगित किए हुए हैं जिनमें उनका बायाँ हाथ पार्वती के वाम वक्षस्थल पर है। ऐसी मूर्तियों में शिव-पार्वती दोनों कमल पर बैठे हुए हैं। इनके अतिरिक्त विभिन्न रूपों वाली शिव की मूर्तियाँ भारत के अनेक भागों से प्राप्त हुई हैं।

शैव मठों का उल्लेख विभिन्न अभिलेखों में मिलता है, जहाँ शैव धर्मानुयायी योगी के रूप में रहा करते थें। इस प्रकार के मठ जन कोलाहल से दूर, निर्जन और एकान्त स्थानों पर बनाए जाते थे। कभी-कभी शैव संन्यासी सुदूर पहाड़ियों, जंगलों में भी रहते थे। किन्तु बहुधा वे मठों में ही आवासित रहते थे। मठों में व्यय के लिए राजाओं से दान प्राप्त हुआ करते थे। संन्यासियों की सुविधा के लिए मठ के पास तालाब और उद्यान भी बना करते थे तथा उन मठों के व्यय के लिए अनेकानेक गाँव दान में दिए जाते थे। कलचुरी शासक रत्नदेव तृतीय के मन्त्री ने 1181 ई. में भगवान शिव की दक्षिण दिशा में एक मठ का निर्माण करवाया था। सोमेश्वर के उदयपुर अभिलेख में वर्णन है कि कापालिकों (शैव सम्प्रदाय की एक शाखा) के निवास के लिए मठ का निर्माण कराया गया था। पूर्वमध्य युग में राजस्थान में ऐसे अनेक शैव मठ थे, जिनकी अधिक सहायता स्थायी रूप में की जाती थी। इस प्रकार उत्तर भारत के विभिन्न स्थानों पर शैव मठ थे, जहाँ शैव योगी रहकर साधना किया करते थे।

शिव मंदिरों, मूर्तियों और शैव मठों को तत्कालीन शासकों, श्रेष्ठियों, साधारण जनों और शैव उपासक जनता से प्रचुर धन दान में मिलता था जिससे मन्दिर और मठ का खर्च चलता था। इस प्रकार की आर्थिक सहायता धर्मप्रवण जनता द्वारा सहर्ष दी जाती थी। विभिन्न वस्तुओं के अतिरिक्त बड़े-बड़े भूमिखण्ड और गाँव आदि मन्दिरों, मठों को दान में दिए जाते थे, जिनकी आय से धार्मिक स्थानों का व्यय भार उठाया जाता था। ऐसा लोगों का विश्वास था कि दान प्रदान करने से व्यक्ति की मनोवांछित कामना पूर्ण होती है। लोगों से यह अपेक्षा की जाती थी कि वे ज्ञान रहस्य की प्राप्ति के लिए, युद्ध में विजय प्राप्त करने के लिए तथा नृपति वंश में जन्म लेने के लिए शिव की उपासना करें। दान में प्राप्त भूमि की आय देवता के पूजन में, सत्र चलाने में, किसी नए कार्य का आरंभ करने या शयनआसन प्रदान करने में, ग्लान (पीड़ित) लोगों को औषधि वितरित करने में तथा मन्दिर के परिष्करण में व्यय की जाती थी। अतः यह उद्धरण इस बात का प्रमाण है कि मन्दिरों, मठों को मिलने वाले दान उन्हीं के हित में व्यय किए जाते थे।

शैव मत के विभिन्न सम्प्रदाय और उनके सिद्धान्त

शैव धर्म के विकास के साथ ही इस धर्म के विभिन्न सम्प्रदायों का प्रादुर्भाव हुआ। विभिन्न सम्प्रदायों के लोग अपने-अपने विचारों एवं सिद्धान्तों के अनुसार शिव उपासना करते थे। कालान्तर में इन उपासकों के अलग-अलग वर्ग बन गए जो अलग-अलग सम्प्रदाय के रूप में चुने गए। 'शैवागम' में शैव सम्प्रदायों की संख्या 4 बताई गई है (1) शिव, (2) पशुपति,

(3) कापालिक, (4) कालमुख। वामन पुराण में भी यही चार सम्प्रदाय बताये गये हैं। इन चार सम्प्रदायों के अतिरिक्त दो अन्य सम्प्रदाय वीर शैव या लिंगायत सम्प्रदाय और काश्मीर शैव सम्प्रदाय भी उल्लेखनीय हैं। परन्तु अधिकतर विद्वान ऊपर के 4 मतों को ही मान्यता प्रदान करते हैं।

(1) शैव सम्प्रदाय

वास्तव में इस सम्प्रदाय के लोगों को ही अधिकतर शैव धर्म का उपासक माना जाता है। वास्तव में शैव धर्म का सर्वाधिक प्राचीन सम्प्रदाय 'शैव भागवत सम्प्रदाय' था और उसके मूल सिद्धान्तों को ही शैव धर्म के सिद्धान्त माना जाता है। यह प्राचीन सम्प्रदायों में बँट गया और उसके रूप में अन्य सिद्धान्तों में अनेक परिवर्तन हुए। यहाँ हम शैव सम्प्रदाय, जिसे ही अनेक विद्वानों ने शैव धर्म के नाम से पुकारा है, के सिद्धान्तों की चर्चा संक्षेप में कर रहे हैं।

(1) मूल पदार्थ–शैव धर्म के सिद्धान्तों के अनुसार, सृष्टि के मूल तत्त्व अथवा पदार्थ हैं – (क) पति, (ख) पशु और (ग) पाशा।

(क) **पति** – धर्म के सिद्धान्तों के अनुसार पति का तात्पर्य है शिव, जो सर्वज्ञ, सर्वद्रष्टा, सम्पूर्ण सृष्टि के कर्ता के स्वरूप हैं, इनके पाँच प्रमुख कार्य हैं–(1) सृष्टि का उद्‌भव अथवा सर्जन, (2) सृष्टि का पालन अथवा उसकी स्थिति बनाये रखना, (3) सृष्टि का संहार अथवा उसे विनष्ट करना, (4) सृष्टि का आवरण अथवा उसे विलुप्त कर देना, (5) प्रसाद अथवा सृष्टि पर अनुग्रह करना।

(ख) **पशु** – शैव धर्म के अनुसार पशु का अर्थ होता है 'जीवात्मा' जो अणु रूप में सूक्ष्म है। अपने मूल रूप में पशु अथवा जीवात्मा शिव स्वरूप है किन्तु 'पाशों' अथवा बन्धनों में बंधे होने के कारण वह मलयुक्त और मायामय हो जाती है। मलमुक्त होकर मोक्ष प्राप्त करने के लिए साधना अपेक्षित है।

(ग) **पाश** – यह माया अथवा जीवात्म को बाँधने वाला तत्त्व अथवा पदार्थ है। इससे बँधने पर 'पशु' अथवा जीवात्मा को शिव स्वरूप बन पाना सम्भव नहीं होता। शैव सिद्धान्तों के अनुसार पाश के चार प्रकार हैं – (1) मल, (2) कर्म, (3) माया, (4) रोध शक्ति।

(1) **मल** -- मल का अर्थ होता है वह बंधन जिसके कारण जीवात्मा की वास्तविक शक्ति विलुप्त हो जाती है। इसे माया की संज्ञा भी दी जा सकती है। जिस प्रकार किसी अन्न का छिलका अथवा भूसी उसको अपने में छुपा लेती है उसी प्रकार मल भी जीवात्मा अथवा पशु को छिपा लेती है।

(2) **कर्म** – वह कार्य जो फल की आशा से किए जाते हैं। यह कर्म धर्मयुक्त और अधर्मयुक्त दोनों ही प्रकार के हो सकते हैं।

(3) **माया** – माया वास्तव में शिव की शक्ति है जो प्रलय के समय से जीवों

को अपने में लीन कर लेती है और प्रलय की समाप्ति के पश्चात् उन्हें पुनः जन्म दे देती है।

(4) **रोध शक्ति** – शैव सिद्धान्त के अनुसार यह शिव की शक्ति है जो शेष तीनों 'पाशों' में विद्यमान रह कर, पशु के अथवा उसके जीवात्मा स्वरूप को छुपा देती है।

शैव सिद्धान्त में मोक्ष की परिकल्पना – शैव सम्प्रदाय के सिद्धान्तों में भी मोक्ष की परिकल्पना विद्यमान है। जब 'पशु' पाशों से मुक्त होकर 'शिव' रूप को प्राप्त कर लेता है तो वह मोक्ष प्राप्त कर लेता है। इस अवस्था को शैव धर्म के अनुसार 'परमशिव' की गति अथवा स्थिति कहा जाता है। प्रत्येक पशु को इस स्थिति की प्राप्ति का प्रयास करना चाहिए और शैव धर्म के अनुसार इसके लिये साधना अपेक्षित है। इस प्रकार के चार अंग अथवा चरण कहे जाते हैं। जिन्हें शैव सिद्धान्त के अनुसार 'पाद' की संज्ञा दी गई है। ये चार पाद हैं (1) विद्या, (2) क्रिया, (3) योग, (4) चर्या।

(1) **विद्या पाद** – विद्या पाद के द्वारा साधक अथवा जीवात्मा को शिव का स्वयं अपना तथा बंधनों के सही रूप का ज्ञान प्राप्त होता है।

(2) **क्रिया पाद** – इसके अन्तर्गत वे सारी क्रियाएं आती हैं जिनके द्वारा शिव की आराधना और उपासना की जाती है। इसमें सन्ध्योपासना, मन्त्र सिद्धि, पूजा, तप, हवन आदि आते हैं।

(3) **योग पाद** – इसके अन्तर्गत योग साधना सम्बन्धित सारी क्रियाएं आती हैं।

(4) **चर्या पाद** – इसके अन्तर्गत साधक की जीवनचर्या जब उचित और अनुचित पर आधारित होती है, उसे उचित अथवा विहित कार्यों का परित्याग करना होता है। यह अन्तर विवेक के आधार पर ही किया जा सकता है। शैव सिद्धान्त के अनुसार इन पादों के आधार पर, साधक अथवा शैव धर्म के अनुयायी अपने धर्म मार्ग का अनुसरण करते हुए साधना द्वारा मोक्ष अथवा शिव पद की प्राप्ति कर सकते हैं।

(2) पाशुपति सम्प्रदाय

सर्व धर्म का यह सम्प्रदाय सर्व प्राचीन बताया जाता है। इसके संस्थापक को 'ककुलीश' अथवा 'लकुटी' अथवा 'लकुटीश' आदि नाम दिए जाते हैं। पुराणों में इस बात का उल्लेख है कि लकुलीश नामक ब्रह्मचारी, भागवत धर्म के प्रवर्तक कृष्ण द्वैपायन का समकालीन था। इसके आधार पर इसका समय ईसवी सन् से कुछ सौ वर्ष पूर्व आंका जाता है किन्तु कुछ विद्वानों ने पाशुपत सम्प्रदाय के इस संस्थापक का समय ईसा की दूसरी सदी का आरम्भिक भाग माना है।

(क) शिव का स्वरूप

गणेशादि देवताओं की तरह शिव, सर्वव्यापी पूर्णब्रह्म हैं और इनके रूप और गुण भी अनन्त हैं। इसलिए इनके रूपों और गुणों की नाना प्रकार से कल्पना की जाती है। वेदों और वैदिक साहित्य में रुद्र, भव, ईश आदि नामों से शिव का विस्तृत विवरण मिलता है।

शिव सर्वव्यापी हैं। इसलिए जो शून्य का विस्तार आँखों के सामने दिखाई पड़ता है, वही इनका शरीर है।

'यह लोकमाता पृथ्वी आपके दोनों चरण हैं, सज्जन जिनकी सेवा करते हैं। सभी सिद्ध योगी का निवास स्थान, ताराओं से विभूषित, विस्तीर्ण (पृथ्वी और आकाश के) बीच वाला अन्तरिक्ष आपका उदर है। तारापथ, आपके वक्ष पर चमकता हुआ हार जैसे मालूम होता है। दसों दिशाएँ, कैयूर और अंगद से विभूषित आपकी दस भुजाएँ हैं। आपकी फैली हुई विशालता नील जलदमाला जैसी है।'

आकाश की गोलाकार ऊँचाई इनका शिर है :

'नभः शिरस्ते देवेश।'[14]

आकाश की विस्तृत नीलिमा इनके केश हैं, इसलिए इनका नाम व्योमकेश है। इस विस्तृत नील शून्य का सबसे सुन्दर रत्न चन्द्रमा, इनका शिरोभूषण है, जो घनीभूत सोमरस अर्थात् आनन्दामृत है। इसलिए इनका नाम चन्द्रशेखर है।

ज्ञान, इच्छा और क्रियाशक्ति इनके तीन क्षेत्र हैं! तीनों गुण भी इनके तीन नेत्र हैं। जिनमें ये अपनी सृष्टि को देखते हैं, इसलिए इनका नाम 'त्रिवृतनयन' है। तीनों वेद तथा सूर्य, चन्द्र और अग्नि भी इनके नेत्र माने जाते हैं।

'नमामि वेदत्रयलोचनं तम्।'[15]

'तीनों वेद जिनके लोचन हैं, उन्हें प्रणाम करता हूँ।'

इसके अतिरिक्त भी कहा गया है कि चन्द्रमा, सूर्य और अग्नि इनके तीन नेत्र हैं।

'इन्द्रर्कवह्नित्रिनेत्रम्।'[16] और
'चन्द्रार्कवैश्वानरलोचनाय नमः शिवाय।'[17]

'चन्द्र, सूर्य और अग्नि के तीन नेत्रों वाले शिव को प्रणाम।'

आदि, मध्य और अन्तावस्था में सृष्टि का प्रवर्तन और समावर्तन करने वाली शक्ति का नाम काल है। इसका प्रतीक सर्प है। काल, जो सृष्टि कल्पना में सबसे प्रचण्ड और बलशाली समझा जाता है इनके शरीर पर तुच्छ कीट की तरह रेंगता रहता है और इनकी कृपा और अनुमति से सृष्टि के कार्य करता है।

सृष्टि में स्थिरता देने वाली स्थित शक्ति का नाम दिक् है। यह दिक् महायोगी शिव का लघु कटिवस्त्र है। इसलिए इसका नाम दिगम्बर (दिक् + अम्बर) है। दिशाएँ इनकी भुजाएँ भी हैं।

शिव के चार प्रसिद्ध आयुध हैं -- त्रिशूल, डमरू, मृग और परशु। साधारण रीति से त्रिशूल त्रिगुण का संकेत है। शाक्त, शैव और बौद्ध दर्शन के अनुसार यह त्रिशक्ति (ज्ञान, इच्छा, क्रिया) का प्रतीक है। इसलिए तीनों शक्तियों का क्रियाशील होना ही त्रिशूल है, जिसमें प्रवेश करते ही योगी निरंजन मलरहित -- (विशुद्ध तत्त्वज्ञानवाला) बन जाता है।' यही त्रिशूल का त्रिगुणत्व है। कहा भी है:

'त्रिकोण में ब्रह्मा-विष्णु-महेश्वर -- ये सभी देवता हैं।'

विष्णु के शंख और कृष्ण की मुरली की तरह शिव का डमरू शब्द ब्रह्म का प्रतीक है।

शंकर कभी मुण्डमाल, कभी रुद्रमाल और कभी रुद्राक्ष धारण करते हैं। यह विष्णु की वैजयन्तीमाला, बुद्ध के पद्ममाल और महाशक्तियों की मुण्डमाला की तरह पचांशर्द्धन माला है, जो सृष्टि का प्रतीक है। इसलिए इनके नाम पंचाशर्द्धणरूपधृक्' और 'रुद्राक्षसङ्गमयाकल्प' हैं।

मस्तक पर जटाओं में गंगा और चन्द्रमा है।
गंगा का नाम धर्मद्रवी अर्थात् धर्म का तरलरूप है।

'धर्मस्तु द्रवरूपेण ब्रह्माण निर्मितः पुरा।
तद्वै गंगेति विख्याता शृणु स्तोत्रं वसुन्धरे।'[18]

'(वराह ने कहा) -- वसुन्धरे! स्तोत्र सुनो। पुराकाल में ब्रह्मा ने तरलरूप में धर्म का निर्माण किया। इसी का नाम गंगा पड़ा। तरलरूप में धर्म ही अमृत तत्त्व है। यह विष्णु के चरण से निकलता है, ब्रह्म के कमण्डल, शिव की जटा, बुद्ध के अमृत कलश और शक्ति के कपाल पात्र तथा उपनिषद की ब्रह्मविद्या में इसका निवास है। चन्द्रमा अमृत (महानन्द) स्रावी चिदानन्द है, जो सृष्टि कल्पना का मूल है।'

इनका वाहन वृषभ है। यह विश्व के रूप में साकार ब्रह्म को धारण करने वाली ब्रह्म की अपनी शक्ति धर्म है। वेद में परम ब्रह्म यज्ञ पुरुष की कल्पना वृषभ रूप में की गई:

चत्वारि शृंगास्त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्ष सप्त हस्तासी अस्य।
त्रिधा वद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्यां आविवेश॥[19]

'चार शृंग, तीन पैर, दो शिर और सात हाथ वाले, तीन स्थानों में बँधे हुए और गरजते हुए वृषभ के रूप में महान देव ने मर्त्यों में प्रवेश किया।'

'पशुपति। अहंकार से घिरा हुआ संसारी जीव, वही पशु है। सर्वज्ञ पंचकृत्य सम्पन्न, सर्वेश्वर, ईश, पशुपति है। कौन पशु है, यह फिर (पूछे जाने पर) उसने उसे कहा -- जीवों को पशु कहा गया है। उनके स्वामित्व के कारण वे पशुपति हैं। उसने फिर उससे कहा -- जीव क्यों पशु है, क्यों उनका पति है। उसने उससे कहा -- जिस प्रकार तृणभोजी, विवेकहीन, दूसरों से काम में लाये जाने वाले खेतीबारी के कामों में लगे हुए सब प्रकार के

दु:ख सहने वाले अपने स्वामियों से बाँधे जाने वाले गो इत्यादि पशु हैं और उनके स्वामी भी हैं, उसी प्रकार सर्वज्ञ ईश पशुपति हैं।'

इनका नाम नीलकण्ठ है। समुद्र मन्थन के बाद भयंकर विष हलाहल सारी सृष्टि में भर गया और सृष्टि का संहार होने लगा। इनकी रक्षा के लिए भगवान् ने सारा विष समेटकर कण्ठ में धारण कर लिया और सबकी रक्षा की। इसलिए इनका कण्ठ नीला हो गया। वेदानुसार जीवन यज्ञ है, जीवन समुद्र है। इनके मन्थन से मोह और घोर कष्ट उत्पन्न होता है। यही हलाहल है, जिसे भगवान पीते रहते हैं। यह भगवान् नीलकण्ठ के कल्याणमय रूप और भक्त वत्सलता का चिह्न है।

शिव का नाम त्रिपुरारि है। 'ऐतरेय ब्राह्मण' (1.4.6) में लिखा है कि देवासुर संग्राम में असुरों ने द्यौ, आकाश और पृथ्वी के तीन पुर (दुर्ग) बना लिये थे, जो क्रमश: सोने, चांदी और लोहे के थे। 'छान्दोग्योपनिषद्' में वर्णित लोहित, शुक्ल और कृष्ण का त्रिवृत्त है। ये स्पष्टत: रज, सत्व और तम के द्योतक हैं। त्रिपुर के सोने, चांदी और लोहे के बने हुए त्रिपुर, त्रिगुण से उत्पन्न और उनमें निवास करने वाला महामोह अर्थात् अविद्या है। शिव ने विष्णु, वेद, चन्द्र, सूर्यादि ज्ञानप्रद और मोहनाशक उपादानों से त्रिपुर (अविद्या) का संहार किया।

पुराणों में इसी विषय को अनेक रोचक कथानकों के रूप में दिया गया है। गजासुर और अन्धकासुर की कथा भी इसी का रूपान्तर है। हाथी के रूप में एक सर्वध्वंसी भयंकर राक्षस उत्पन्न हुआ। भगवान् शिव ने काशी में उसका संहार किया। सभी सुखी और प्रसन्न हुए। भगवान् ने उसकी खाल हाथों पर लेकर नृत्य किया।[20]

मूर्तिमान अनैश्वर्य को बुद्धिमान लोग हिरण्याक्ष कहते हैं। हे अरिमर्दन! अविनाशी ऐश्वर्य के द्वारा उसका नाश हुआ।[21]

उसका बेटा अन्धक अर्थात् विचार शक्ति और ज्ञान को अन्धा कर देने वाला महामोह है, जिसका शिव सर्वदा नाश करते रहते हैं। ये मोह रक्तबीज की तरह बढ़ता रहता है, सरलता से नष्ट नहीं होता। महामोह अर्थात् अविद्या का नाम ही अन्ध है।

शंकर का एक अन्य बालरूप है–क्षेत्रपाल। लिंग पुराण में कथा है कि एक बार दारुकासुर को मारने के लिए शिव ने काली का निर्माण किया। उसके वध के पश्चात् भी उनका क्रोध शान्त नहीं हुआ। वे क्रोध से जलती रहीं। शिव बालक रूप धारण कर रोने लगे। उन्होंने उन्हें दूध पिलाया। दूध के साथ ही वे उनका क्रोध भी पी गये। इस प्रकार उनका नाम क्षेत्रपाल पड़ा।

शरभ

ब्रह्म के घोर से घोर रूप की भी कल्पना की जाती है, जिनका एक विवरण गीता के एकादश अध्याय में पाया जाता है। शिव के एक अत्यन्त घोर रूप की कल्पना शरभ के रूप में की जाती है। शरभ एक प्रकार का पशु है, जिसके आठ पैर होते हैं और वह सिंह से भी बलवान होता है। कथा है कि हिरण्यकशिपु के वध के उपरान्त भी नृसिंह का क्रोध शान्त

नहीं हुआ। उनके भयंकर क्रोध में संसार जलने लगा। उससे संसार को बचाने के लिए शिव ने शरभ रूप धारण कर उन पर आक्रमण किया। उनके भय से त्रस्त हो जाने के कारण नृसिंह का क्रोध शान्त हो गया।

(ख) लिंग

लिंग शब्द से सृष्टि और संहार के कारण का ज्ञान होता है। 'ल' से लय और 'ग' से आगमन अर्थात् विकास का बोध होने के कारण यह सृष्टि के अध्यय पद का बोधक है। पूजा में स्थिर होकर जब लिंग पर मन स्थिर होता है, तब बोध होता है कि एक ही स्पन्दन के तीनों भेद इनमें स्थिर हैं। मिट्टी, पत्थर, धातु, रत्न आदि के बने हुए लिंग को न पूजें, आत्मिक लिंग को पूजें, जिसके अन्तर्गत चराचर है। इसी लिंग के आधार पर बाहर के लिंग बने हुए हैं।

अतः मनीषिगण कहते हैं :

लय गच्छन्ति भूतानि संहारे निखिलं यतः।
सृष्टिकाले पुनः सृष्टिस्तस्माल्लिंगमुदाहतम्।[22]

प्रलयकाल में सारी सृष्टि जिसमें लीन हो जाती है और पुनः सृष्टिकाल में जिससे सृष्टि होती है, उसे लिंग कहते हैं।

पुराणों में शिवलिंग के सम्बन्ध में एक कथा पाई जाती है। अपने महत्व को लेकर ब्रह्मा और विष्णु में विवाद होने लगा। उन दोनों के बीच भयंकर ज्वालाओं वाला अग्निस्तम्भ प्रकट हुआ। उसमें प्रकट होकर शिव ने कहा कि जो मेरे आदि अथवा अन्त का पता लगा लेगा, वही बड़ा समझा जाएगा। पता लगाने के लिए विष्णु नीचे चले और ब्रह्मा ऊपर। किन्तु दोनों में से किसी को पता नहीं लगा। यह कथा कूर्म, शिव, वायु (अ. 55), लिंग (अ. 17), मत्स्य (60.4), नीलनमह (अ. 135) और सौर पुराण (अ. 66) में पाई जाती है। इससे मालूम होता है कि लोग ब्रह्म (शिव) के संकेत चिह्न (लिंग) को किस रूप में देखते थे।

दूसरी कथा है कि एक बार तपोवन में शिव के नग्न रूप को देखकर मुनिपत्नियाँ काम पीड़ित हुईं। ऋषियों ने क्रुद्ध होकर शाप दिया, जिससे शिव का शिश्न गिर गया। यह काम की प्रबलता और मदनदहन की कथा का रूपान्तर है। इससे यह भी उद्दिष्ट है कि कामुक का पतन अवश्य होता है, चाहे वह शिव जैसा ही क्यों न हो। जो शिव सत्तामात्र निराकार ब्रह्म है, उनका शिश्न और शिश्न का गिरना कैसा!

'लिंग की स्थिति तीन भागों में होती है। एक भाग भूमि में रहे, दूसरा वेदी में और तीसरे भाग पर पूजा हो। भूमि में चतुष्कोण रहे, वेदी में अष्टकोण और पूजा के लिए गोल बनाना चाहिए। (यह गोल अंश) जितना ऊंचा हो उससे तीन गुना इसका घेरा होना चाहिए। निम्नभाग में स्कन्द रहते हैं, बीच में देवी रहती है और ऊर्ध्वभाग में रुद्र है अथवा ये भाग क्रमशः ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर हैं। ये ही तीनों लोक हैं, ये ही तीनों गुण हैं, ये ही तीनों वेद हैं तथा और जो कुछ तीन रूपों में वर्तमान है।'[23]

इससे स्पष्ट है कि यह अ उ म रूप में ऊंकार ब्रह्म का स्थूल रूप है। लिंग के ये तीनों भाग ब्रह्मा, विष्णु और शिव के प्रतीक होने के कारण समस्त रूप में ऊंकार के प्रतीक हैं, इसे बार-बार दुहराया गया है।

(ग) शिव का नटराज नृत्य

जगत प्रसिद्ध विद्वान डा. आनन्दकुमार स्वामी ने 1912 ई. में 'सिद्धान्त दीपिका' की तेरहवीं पुस्तक में नटराज पर लेख लिखा था। यह फिर बोस्टन (अमेरिका) से 'डांस आफ शिव' नामक ग्रन्थ में प्रकाशित हुआ। उसका यह स्वतंत्र हिन्दी भाषान्तर है।

शंकर नटराजराज हैं। ब्रह्माण्ड उनकी नृत्यशाला है। उनके लय की भिन्न भिन्न गतियाँ हैं। वे स्वयं ही नर्तक भी हैं और दर्शक भी। जब यह महानट तान देना आरंभ करता है, तब उस शब्द से आकर्षित होकर नृत्य लीलाएँ देखने के लिए सभी अपने-अपने स्थानों से निकल आते हैं। जब यह तमाशे की सभी वस्तुओं को समेट लेता है, तब आत्मानन्द में विभोर होकर यह अकेला ही पड़ा रहता है।[24] शंकर के अनेक नृत्यों में से केवल तीन ही प्रमुख हैं। उनमें से केवल एक ही मेरे विवरण का प्रधान विषय होगा। उनमें से एक देवताओं के स्वर्गीय संगीत के साथ प्रदोष नृत्य है, जो हिमालय पर्वत पर हुआ करता है। शिव प्रदोषस्तोत्र में उसका इस प्रकार वर्णन किया गया है :

'तीनों लोकों को उत्पन्न करने वाली गौरी को रत्नजटित सिंहासन पर बिठा कर कैलाश पर्वत पर संध्या समय शूलपाणि नृत्य करते हैं और देवगण चारों ओर उनकी सेवा में उपस्थित रहते हैं।

'सरस्वती वीणा बजाती है और इन्द्र वेणु। ब्रह्मा हाथों से तालों को जगाते हैं। भगवती लक्ष्मी गान करती हैं। विष्णु निपुणता से स्निग्ध मृदंग बजाते हैं और प्रदोषकाल में सभी देवगण मृडानीपति को घेरकर उनकी सेवा में उपस्थित रहते हैं।

'गन्धर्व, यक्ष, मतंग, उरग, सिद्ध, साध्य, विद्याधर, अमर, अप्सरा और तीनों लोक में निवास करने वाले सभी जीव संध्या होते ही शिव के पार्श्व में आकर खड़े हो जाते हैं।'

'कथासरित्सागर' के मंगलाचरण में भी इस नृत्य की चर्चा की गई है।

शिव का दूसरा प्रसिद्ध नृत्य 'ताण्डव' कहलाता है। इनके तामसिक रूप भैरव और वीरभद्र के साथ इसका सम्बन्ध है। यह शमशान में होता है। इसमें शिव की दश भुजाएँ होती हैं और देवी तथा भूत पिशाचों के साथ ये उद्धत रीति से नाचते हैं। एलिफैण्टा, एलोरा और भुवनेश्वर की तक्षणकलाओं में प्रायः ऐसी मूर्तियाँ पाई जाती हैं। इस ताण्डव नृत्य की उत्पत्ति किसी अनार्य देवता से हुई है, जो अंशतः देवता और अंशतः दैत्य थे तथा रात्रि के सन्नाटे में विहार किया करते थे। पीछे के समयों में शैव और शक्ति ग्रन्थों में शिव और देवी के इस शमशान नृत्य का वर्णन बड़े ही मर्मस्पर्शी और गम्भीर भाव से किया गया है।

तीसरा नटराज का नादान्त नृत्य है, जो ब्रह्माण्ड के केन्द्र चिदम्बरम् अथवा तिल्लइ के स्वर्ण मण्डप में हुआ करता है। 'कोशिल पुराणम्' में लिखा है कि तारक वन में ऋषियों के प्रार्थना करने पर पहले-पहल इस नृत्य का रहस्य देवताओं और ऋषियों को मालूम हुआ। इस सम्बन्ध में एक कथा है, जिसका इस नृत्य के साथ कोई सीधा सम्बन्ध नहीं मालूम होता है। उसका सारांश यों है –

> तारक वन में मीमांसा के मानने वाले बहुत से नास्तिक ऋषि रहते थे। उन लोगों के सिद्धान्त को झूठ सिद्ध करने के लिए एक सुन्दरी के रूप में विष्णु को और आदि शेष को साथ लेकर शिव चले। पहले ऋषिगण आपस में ही घोर वाद-विवाद करने लगे, पर शीघ्र ही उनका क्रोध शिव पर आ पड़ा और मन्त्रों द्वारा उनका संहार करने की उन्होंने चेष्टा की। यज्ञाग्नि से एक भयंकर व्याघ्र प्रकट हुआ और उनपर टूट पड़ा। ईषद्धास्य कर शंकर ने उसे पकड़ लिया और अपनी कानी अंगुलि के नख से उसका चर्म छुड़ाकर उसे रेशमी वस्त्र की तरह पहन लिया। इस विफलता से हतोत्साहित होकर ऋषियों ने फिर आहुति देना आरम्भ किया और एक बड़े प्रचण्ड सर्प को उत्पन्न किया। शंकर ने उसे पकड़ लिया और माला की तरह उसे गले में डालकर नाचने लगे। उसके बाद मुयलक नामक एक वीना दैत्य (अपस्मार पुरुष) उनके ऊपर टूट पड़ा। शिव ने अपने अंगूठे से उसकी रीढ़ तोड़ दी। वह छटपटाता हुआ जमीन पर गिर पड़ा। अपने अन्तिम शत्रु को जमीन पर सुलाकर देवताओं और ऋषियों के समक्ष शंकर फिर नृत्य करने लगे।

तव आदि शेष ने शंकर की पूजा स्तुति की और एक बार फिर वही रहस्यमय नृत्य दिखलाने की प्रार्थना की। विश्व के केन्द्र तिल्लई तीर्थ में यह नृत्य दिखलाने का शिव ने वचन दिया। चिदम्बरम् अथवा तिल्लई में दिखलाया हुआ शिव का यह नृत्य, दक्षिण भारत में नटराज की बहुत सी मूर्तियों का विषय है। इन मूर्तियों की छोटी-छोटी बातों में यत्र-तत्र अन्तर है, पर सभी एक ही मूल सिद्धान्त का अवलम्बन करती हैं। इन मूर्तियों का क्या उद्देश्य है, इसकी खोज करने के पहले यह आवश्यक होगा कि नटराज की जैसी मूर्ति मिल रही है, उसका वर्णन किया जाए। शिव की इन नृत्य मूर्तियों में चार भुजाएँ हैं। केशपाश बँधे हुए और रत्नों से अलंकृत हैं। नीचे की जटाएँ नृत्यकाल में घूम रही हैं। बालों में कपाल, लिपटा हुआ एक सर्प और गंगा की मूर्ति, चन्द्रमा और पत्रों की एक माला दिखाई पड़ती है। दाहिने कान में पुरुषों का और बायें में स्त्रियों का कुण्डल है। वे हार, कंकण, रत्नखचित मेखला और अंगूठियों से अलंकृत हैं। कसा हुआ कटिवस्त्र, उड़ता हुआ अंगवस्त्र और उपवीत ही उनके प्रधान परिधान हैं। एक दाहिने हाथ में डमरू है और दूसरा अभय मुद्रा में ऊपर उठा हुआ है। एक बायें हाथ में अग्नि है, दूसरा उठे हुए पैर की ओर संकेत करता हुआ नीचे झुका है। दाहिना पैर छोटे दैत्य मुयलक पर पड़ा है, जो अपने हाथ से एक काला सांप पकड़े हुए है। बायां पैर ऊपर की ओर उठा है। मूर्ति पद्मपीठ पर है, जिसमें ज्वालमाल से अलंकृत एक बहुत बड़ा प्रभामण्डल लगा है। डमरू और अग्नि वाले हाथ इसे भीतर की

ओर से स्पर्श करते हैं। मूर्तियाँ छोटी-बड़ी सब प्रकार की हैं। कदाचित् ही कोई चार फीट बड़ी हो।

साहित्यिक ग्रन्थों का आधार न लेकर भी इस नृत्य के अन्तर्गत सिद्धान्त का वर्णन करना कठिन नहीं है। सौभाग्यवश ऐसे साहित्यिक ग्रन्थ भीं वर्तमान हैं, जिनकी सहायता से नृत्य के साधारण सिद्धान्तों के ही नहीं, वरन् इसके स्थूल सांकेतिक चिह्नों की भी पूरी-पूरी व्याख्या की जा सकती है। नटराज मूर्ति की कुछ विशेषताएँ केवल नृत्य में ही नहीं, शिव की साधारण मूर्तियों में भी पाई जाती हैं। जैसे – योगियों की जटा, पत्रमाल, ब्रह्मकपाल, गंगा की मूर्ति, जटा में घूमती हुई गंगा की धारा, नाग, अर्धनारीश्वर के भिन्न-भिन्न आभरण और भुजाएँ। डमरू योगीश्वर शिव का एक साधारण चिह्न है, पर नृत्य में इसका विशेष अर्थ है। अब प्रश्न होता है कि शिव का नृत्य वस्तुतः क्या है। शैवगण इसे क्या समझते हैं। इस नृत्य का नाम नादान्त है। ग्रन्थों में इसका वर्णन इस प्रकार किया गया है –

'ईश्वर नर्तक है, जो लकड़ी में छिपी हुई आग की तरह चेतन और अचेतन में अपनी शक्ति का संचार करते हैं और उन्हें नचाते हैं।'

नृत्य यथार्थ में ईश की पंचक्रियाओं का अर्थात् सृष्टि, स्थिति, संहार, तिरोभाव और अनुग्रह का द्योतक है। अलग-अलग ये ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, महेश्वर और सदाशिव की क्रियाएँ हैं।

विश्व की यह क्रिया नृत्य का मुख्य विषय है और भी अन्यान्य अवतरणों से सांकेतिक चिह्नों का अर्थ स्पष्ट हो जाएगा। 'उणमाइविलक्कम्' का छत्तीसवाँ पद इस प्रकार है –

'डमरू से सृष्टि होती है, अभय हस्त से रक्षा होती है, अग्नि से संहार होता है, और ऊर्ध्व पद से मुक्ति मिलती है।'

'मुक्ति और अनुग्रह का एक ही अर्थ है। इस पर ध्यान देना चाहिए कि चौथा हाथ आत्मा के रक्षक उठे हुए पांव की ओर संकेत करता है।'

चिदम्बर गुम्माणी कोवई में भी पाया जाता है कि –

'प्रभो! दिव्य डमरू वाले आपके हाथ ने द्यावापृथिवी, अनन्त लोकों और असंख्य जीवात्माओं की सृष्टि की है। आपका ऊर्ध्व हस्त चेतन और अचेतन रूप प्रपंच की सृष्टि की रक्षा करता है। आपके अग्नि वाले हस्त से इन लोकों में परिवर्तन उत्पन्न होता है। भूमि पर आरोपित आपका पवित्र चरण कर्मबन्धन में छटपटाते हुए आत्मा को शरण देता है। जो आपकी शरण में जाते हैं, उन्हें आपका ऊर्ध्वचरण निर्वाण प्रदान करता है। ये पाँचों क्रियाएँ आपके ही हाथों के कर्म हैं।'

तिरूमूलर कृत 'तिरूमन्त्रम्' का नवाँ तन्त्र तिरूकुट्टदर्शन (दिव्य नृत्य का दर्शन) है। इसके पदों से यह सिद्धान्त और भी स्पष्ट हो जाता है –

'उनका रूप सर्वत्र है, उनकी शिवशक्ति सर्वत्र व्यापिनी है। चिदम्बर सर्वत्र है, उसका नृत्य भी सर्वव्यापी है। शिव ही सब कुछ हैं, सर्वव्यापी हैं इसलिए उनका मंगलमय नृत्य सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है। उनके पाँच प्रकार के नृत्य सकल और निष्कल रूप में होते हैं, उनके पंचनृत्य उनकी पंचक्रियाएँ हैं। अपनी मंगलमयी कामना से वे पंचकर्म करते हैं। यही उमासहाय का दिव्य नृत्य है। ये जल, अग्नि, वायु और आकाश के साथ नाचते हैं। इस प्रकार हमारे प्रभु अपने प्रांगण में सर्वदा नृत्य किया करते हैं। प्रभु का यह अनादि और अनन्त नृत्य उन्हें ही दिखलाई पड़ता है, जो माया से ही नहीं, महामाया से भी ऊपर उठ चुके हैं।

शक्ति का स्वरूप आनन्द है। (ब्रह्म और माया का) सम्मिलित आनन्द ही उमा का शरीर है। शक्ति के सगुणरूप के विकास में दोनों का सम्मिलन ही नृत्य है।
उनका शरीर आकाश है, उसमें काला बादल मुयलक है, आठों दिशाएँ उनकी आठ भुजाएँ हैं, तीनों ज्योति (चन्द्र, सूर्य, अग्नि) उनके तीन नेत्र हैं। इस प्रकार वह आत्मविकास कर, हमारे शरीर को ही सभा बनाकर उसमें नृत्य करता रहता है।'

यह शिव का नृत्य है। इसके गम्भीर उद्देश्य का अनुभव तब होता है, जब यह हृदय और आत्मा के भीतर होने लगता है। ईश्वर का राज्य शरीर के भीतर ही है। ईश्वर सर्वव्यापी है और हृदय भी सर्वत्र पाया जाता है।
इसी प्रकार एक और पद है –

'नाचता हुआ चरण, किकिंणी ध्वनि, गाये जाने वाले राग, विचित्र चरण न्यास, नृत्य गुरु के स्वरूप – इन्हें अपने ही भीतर ढूंढ निकालों, तब तुम्हारे बन्धन कट जाएंगे।'

इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए, ईश्वर के अतिरिक्त और सभी विचारों को हृदय से निकाल डालना ही पड़ेगा, जिसमें केवल वही निवास कर नृत्य कर सके।
'उणमाई विलक्कम्' में हम पाते हैं – 'मौनी ज्ञानी तीनों बन्धनों का नाश कर जहाँ उनका आत्मलय होता है, वहाँ ही स्थित रहते हैं। वहाँ वे उन पवित्र का दर्शन करते हैं और आनन्द से उनका हृदय भर जाता है। यही चित् समेश का नृत्य है, जिनका स्वरूप लावण्य का विलास है।'
मौनी ज्ञानियों की भावना के साथ तिरूमूलर के इन सुन्दर शब्दों की तुलना कीजिए – 'वहाँ रहते समय उनको (परम शान्तिपद को प्राप्त किये हुए योगियों को) आत्मविस्मृति हो जाती है और वे निष्क्रिय हो जाते हैं। जहाँ कर्मत्यागी आलसी निवास करते हैं, वह विशुद्ध दिक् है। जहाँ ये कर्मत्यागी खेलते हैं, उसका नाम प्रकाश है। ये कर्मत्यागी जो जानते हैं, वह वेदान्त है। इन कर्मत्यागियों को वहाँ जो मिलता है, वह घोरनिद्रा है।'[25]
शिव संहारकर्ता हैं और श्मशान इन्हें प्रिय है, किन्तु ये संहार किसका करते हैं कल्पान्त में वे केवल द्यावापृथिवी का ही संहार नहीं करते, वरन् उन बन्धनों का संहार करते हैं, जो प्रत्येक

आत्मा को बाँधे रहते हैं। श्मशान क्या है और कहाँ है। यह वह स्थान नहीं है, जहाँ हम लोगों का पार्थिव शरीर जलाया जाता है, वरन् यह भक्तों का हृदय है, जो वीरान और उजाड़ हो गया है। यह शान्ति नहीं, तलवार ला देता है। जहाँ भक्तों के स्वत्व का संहार होता है, उस स्थान से उस पद का बोध होता है, जहाँ उनका अहंकार अथवा माया और कर्म जलाकर भस्म कर दिये जाते हैं। यही श्मशान है, जहाँ नटराज नृत्य करते हैं। इसीलिए इनका नाम श्मशानभूमि का नर्तक है। नटराज के मंगलमय नृत्य और श्मशान के प्रेत के ताण्डव नृत्यवाली इस उपमा में हमें ऐतिहासिक सम्बन्ध दीख पड़ता है।

नृत्य का यह भाव शाक्तों में भी और विशेषतः बंगाल के शाक्तों में प्रचलित है, जहाँ शंकर के पितृरूप की अपेक्षा मातृरूप की ही पूजा होती है। यहाँ नर्तकी काली है। इनके प्रवेश के लिए त्याग द्वारा हृदय को शून्य कर अग्नि से इसका संस्कार करना पड़ता है। एक बंगला स्तोत्र में काली की स्तुति की गई है –

'श्मशाननिवासिनी कालिके! तुम्हें श्मशान प्यारा है, इसलिए अपने हृदय को मैंने श्मशान बना लिया है। वहाँ तू अनादि और अनन्त नृत्य कर।

'मां! मेरे हृदय में और कुछ नहीं। दिन और रात चिता प्रज्ज्वलित रहती है। तेरे शुभागमन के लिए चिताभस्म मैंने चारों ओर बिखेर रखा है। मृत्युंजय महाकाल के ऊपर नृत्य करती हुई तू मेरे हृदय में प्रवेश कर, जिसमें आँखे बंद कर मैं तेरा दर्शन कर सकूँ।'

दक्षिण भारत में भी अन्यान्य तमिल ग्रन्थों में हम पाते हैं – 'असह्य जीवात्माओं का द्विविध फल प्रदान करने के लिए हमारे प्रभु पंचक्रियाओं द्वारा नृत्य करते हैं।'[26] द्विविध फल है – इदम् सांसारिक तुष्टि और परम् मुक्ति का आनन्द।

'उणमाइविलक्कम्' के 32, 36 और 39वें छन्द में हम देखते हैं 'हमारे पापों को दूर करने के लिए हमारे आत्मा में ही 'विशुद्ध ज्ञान स्वरूप' का नृत्य होता है। इस प्रकार हमारे पिता मायान्धकार को छिन्न-भिन्न कर देते हैं। मल (आणव, अविद्या) का नाश कर देते हैं, करुणा की दृष्टि करते हैं और बड़े स्नेह से आत्मा को आनन्दसागर में निमज्जित कर देते हैं। जो इस रहस्यमय नृत्य को देखते हैं, उनका पुनर्जन्म नहीं होता।'

शैव ग्रन्थों में लिखा है कि भगवान् की लीला का अर्थ है संसार का उद्भव और विकास। यह भगवान् की लीला या खेल के लिए किया जाता है। तिरूमलूर लिखते हैं कि 'सर्वदा नर्तन करना ही उसका खेल हो जाता है।'[27]

इस भाव से लोगों के हृदय में शंका होती है कि वे साधारण सांसारिक नर्तक की तरह नाचा करते हैं। इसका उत्तर यह है कि वे विश्व की रक्षा के लिए और जो उन्हें ढूंढते हैं, उन्हें मुक्ति देने के लिए नाचते हैं।

शैवमत के सांकेतिक चिह्नों में पंचाक्षर मन्त्र 'नमः शिवाय' का कोई विशेष उद्देश्य है। इसकी तादात्मता शिव के नृत्य से दिखाई जाती है। 'उणमाइविलक्कम्' में (33-35) नृत्य के साथ इन अक्षरों के नृत्य की तादात्मता इस प्रकार दिखलाई गई है 'उनके चरणों में न, नाभि में

म, स्कन्धदेश में शि, मुखमण्डल में व और मस्तक में य है।' पंचाक्षर के ध्यान की दूसरी रीति भी दी गई है–

'डमरू वाला श, फैला हुआ हाथ व, अभयहस्त य, अग्निवाला हाथ न, और मुयलक को दबा रखने वाला पैर म है।'

उसी ग्रन्थ में और भी लिखा है कि –

'पांचों अक्षरों के अर्थ क्रमशः ईश्वर, शक्ति, आत्मा, तिरोभाव और मल हैं . . . यदि इन पाँच सुन्दर अक्षरों का ध्यान किया जाए, तो आत्मा उस जगत में पहुँच जाएगा, जहाँ न प्रकाश है और न अन्धकार। वहाँ शक्ति का शिव में लय हो जाएगा।'

'उणमाइनिलक्कम्' का एक और पद, प्रभामण्डल की व्याख्या इस प्रकार करता है –

'पंचाक्षर, नृत्य और ऊँकार में कोई भेद नहीं है। लिखे हुए ऊँकार की बाहरी वक्ररेखा ही प्रभामण्डल है। नटराज के ऊपर प्रभामण्डल ऊँकार है और इसकी प्रभा ही अक्षर है, जो ऊँकार से कभी अलग नहीं रहता। यही चिदम्बरेश का नृत्य है।'

शैव मत के एक दूसरे ग्रन्थ में है कि शिव का नृत्य ज्ञान का नृत्य और प्रभामण्डल प्रकृति का नृत्य है – 'एक ओर प्रकृति का नृत्य होता है और दूसरी ओर ज्ञान का। अपना मन द्वितीय के केन्द्र में स्थिर करो।' इसकी व्याख्या के लिए मैं नल्लस्वामी पिल्लई का ऋणी हूँ। आप कहते हैं –

'प्रथम नृत्य प्रकृति के कर्म का आरंभ है। यह भौतिक और व्यक्तिगत शक्ति का स्फुरण है। यही प्रभामण्डल ऊँकार या काली का नृत्य है। दूसरा शंकर का नृत्य है। यह अक्षर है, जो ऊँकार से भिन्न नहीं हो सकता। यही प्रणव की अर्धमात्रा, चतुर्थम्, उधवा तुरीयम्, कहलाता है। यदि शिव की इच्छा न हो, या वे स्वयं नाचना न चाहें, तो प्रथम नृत्य (प्रकृति का) असंभव है।'

इस व्याख्या का सारांश यही मालूम होता है कि प्रभामण्डल भौतिक उपादान व प्रकृति का द्योतक है। इसके भीतर प्रभारूप शंकर है, जो नृत्य करते हुए हाथ, पैर और मस्तक से इसका स्पर्श करते रहते हैं। यही सर्वव्यापी पुरुष है जिस प्रकार शिव और नमः के बीच की स्थिति है, उसी प्रकार इन दोनों के बीच में आत्मा अवस्थित है।

इन सभी व्याख्याओं का सारांश यही होता है कि शिव के नृत्य के तीन प्रधान भाव हैं। प्रथम, इनका यह नृत्य इनके नियमित कार्यकलापों का प्रतिरूप है। ब्रह्माण्ड में जो कुछ वस्तु मिलती है, उसकी हिलाने वाली शक्ति का मूलस्रोत यही नृत्य है। इस विश्व अथवा ब्रह्माण्ड का द्योतक प्रभामण्डल है। द्वितीय, असंख्य जीवात्माओं को माया के बन्धन से मुक्त करना ही इस नृत्य का उद्देश्य है। तृतीय, नृत्य का स्थान विश्व का केन्द्र चिदम्बरम् हृदय के भीतर है।

अन्त में यह कहना अनुचित न होगा कि इस भाव की गंभीरता और सौन्दर्य ही विज्ञान, धर्म

और कला का एकत्रीभूत समस्त रूप है। कला के मर्मज्ञ ऋषियों ने पहले ऐसी वस्तु की कल्पना की, वास्तविक सत्य की प्रतिमा का निर्माण किया, जीवन की जटिलताओं की कुंजी तैयार की, प्रकृति के ऐसे सिद्धान्त ढूंढ निकाले, जो केवल एक ही जाति या परिवार को सन्तोष प्रदान नहीं करते और न एक ही शताब्दी के मनीषियों को मान्य हैं। वरन् सभी काल और सभी देशों में दार्शनिकों, भक्तों और कलाकारों के हृदय पर अधिकार कर लेते हैं, उनकी कल्पनाशक्ति, विचारशक्ति और सहृदयता कितनी विशाल और अद्भुत होगी। इस विशेषज्ञता के युग में हमें विचार समष्टि की आदत नहीं है। किन्तु जिन्होंने इन मूर्तियों का दर्शन किया, उनकी दृष्टि में जीवन में और विचारशक्ति में कोई विशेष अन्तर नहीं हो सकता। जब किसी व्यक्ति विशेष की कृति की हम आलोचना करते हैं उस समय भी हम उसकी उत्पादक शक्ति का अनुभव नहीं करते, अथवा संकेत की भाषा में यही बात इस तरह कही जा सकती है कि रागों का निकल आना अनिवार्य था। कोई न कोई उसे अवश्य ढूँढ निकालता, परन्तु फिर भी राग पर विचार करते समय हृदय की उस शक्ति का हम अनुभव नहीं करते, जिसने ताल और लय के कम्पन का विकास करने वाले राग को ढूंढ निकाला।

वर्तमान युग का बड़े से बड़ा कोई भी कलाकार इससे अधिक बुद्धिमत्ता और अधिक पूर्णता के साथ उस शक्ति की प्रतिमा का निर्माण नहीं कर सकता। यदि काल और शक्ति को हम एक साथ रखना चाहें, तो दिशा और काल के विशाल विस्तार की कल्पना द्वारा ही हम कर सकते हैं। डमरू और अग्नि से केवल दृश्य परिवर्तन का ही बोध होता है, संसार का नहीं। ये चित्र बहुत ही महत्वपूर्ण हैं। ये ब्रह्मा के दिन और रात्रि के चिह्न हैं, जो आँखों से देखे जा सकते हैं।

ब्रह्मा के रात्रिकाल में प्रकृति निश्चल रहती है और जब तक शिव की इच्छा नहीं होती, तब तक वह नहीं नाच सकती। वे अपनी समाधि से जागते हैं और उनका नृत्य जगाने वाले शब्दों की तरंगों को निश्चल प्रकृति में उत्पन्न करता है। प्रकृति भी उसके चतुर्दिक प्रभामण्डल के रूप में प्रकट होकर नाचने लगती है और नृत्य करता हुआ यह उसके नानारूप की रक्षा करता है। पात्र पाकर, नृत्य करता हुआ ही वह अग्नि द्वारा सभी नामरूपों का संहार कर डालता है और प्रकृति को विश्राम देता है। यह तो काव्य है, पर काव्य होने पर भी विज्ञान का सत्य है।

नटराज का केवल सत्य ही नहीं, प्रेम भी है, क्योंकि करुणावृष्टि करना, अर्थात् असंख्य जीवात्माओं को मुक्ति प्रदान करना उनके नृत्य का उद्देश्य है। जिन कलाविदों ने जीवन के मूलतत्त्व को मूर्तरूप देने की चेष्टा की है, उन्हें, इस नृत्यमूर्ति की शक्ति और कल्पना कितनी विशाल है, वह मालूम होता होगा।

इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि इतने युगों से नटराज की पूजा होती आ रही है। हम लोग सब प्रकार की नास्तिकता समझते हैं, यह भी ढूंढ निकालते हैं कि सभी धार्मिक भाव असभ्यों के मिथ्या विश्वास से उत्पन्न हुए हैं, सूक्ष्म से सूक्ष्म और बृहत से बृहत की खोज करते हैं, यह सब कुछ करते रहने पर भी हम नटराज के पुजारी हैं।

(घ) शिव मूर्तियों का विवरण

यन्त्र की सहायता से सभी प्रतीक बड़ी सरलता से समझ में आते हैं, क्योंकि सबका अन्तर्गत सिद्धान्त एक है। जिन सिद्धान्तों पर यन्त्र बनाया जाता है, उन्हीं पर मन्दिर, मूर्ति, स्तूप, स्तम्भ, शिवलिंग आदि का निर्माण होता है। इसलिए इसका विवरण दे देना आवश्यक है।

यन्त्र के मध्य में बिन्दु है। यह विश्वव्यापिनी शक्ति अथवा चित् का प्रतीक है। इसमें स्पन्दन उत्पन्न होता है। स्पन्दन से शब्द और बिन्दु दोनों ही उत्पन्न होते हैं। दर्शन की भाषा में शब्द को नाद और बिन्दु को रूप की संज्ञा दी गई है। इन्हें शक्ति-नाद और बिन्दु अथवा बीज-नाद और बिन्दु भी कहते हैं। इनके प्रतीक तीन बिन्दु हैं, जो ज्ञान, इच्छा और क्रिया शक्ति है। यथार्थ में ये एक सत्ता के ही तीन नाम हैं। इन तीनों बिन्दुओं को मिला देने से त्रिकोण बनता है। यह त्रिकोण, ज्ञान-इच्छा क्रिया, रज सत्व तम, ब्रह्म विष्णु महेश, श्रृग्यजुकाम, ओंकार के अ, उ, म इत्यादि का प्रतीक है। इसका सम्मिलित रूप शूल और प्रतिरूप त्रिशूल है। (चित्र सं. 6)

बिन्दु के बाहर एक उर्ध्वशीर्ष और एक अधःशीर्ष त्रिकोण है। उर्ध्वशीर्ष त्रिकोण कुटस्थ ब्रह्म अर्थात् स्थिति तत्त्व हैं और अधोमुख त्रिकोण इसका क्रियात्मक रूप शक्ति या गतिशक्ति है। इस स्थिति और गति के हिल्लोरे को लेकर बिन्दु फैलकर वृत्त का रूप ग्रहण करता है। यह हिलोर अथवा आनन्द या स्वाभाविक गति ही विभु का नृत्य है जो जगत की सृष्टि और स्थिति का कारण है। त्रिकोणों के बाहर वृत्त अभिन्ना, अर्थात् समस्त प्रकृति है। यह टूटकर तत्त्वों का रूप ग्रहण करती है और सृष्टि का विस्तार करती है। इनकी त्रिगुणात्मिका दिखलाने के लिए कभी-कभी वृत्तरेखा की संख्या तीन कर दी जाती है। इसी को हिरण्यगर्भ, अर्थात् ज्योतिमण्डल कहते हैं, जो टूटकर विराट अर्थात् स्थूल जगत का रूप धारण करता है।

इस वृत्त के बाहर कमल के आठ दल हैं। ये भिन्ना अर्थात् टूटकर फैली हुई प्रकृति के रूप हैं। ये अष्टभिन्ना प्रकृति है—पंचतत्त्व, मन, बुद्धि और अहंकार।

वृत्त और वक्ररेखा में सर्वज्ञ तनाव और गति रहती है और फैलते जाना इसका स्वभाव है। ये चतुष्कोण में जाकर स्थिरता प्राप्त करते हैं और प्रकृति रूप ग्रहण कर जगत् को रूप प्रदान करते हैं। चतुष्कोण स्थिरता का प्रतीक है, यह स्थिति का चिह्न है और भूतत्त्व का (भू-ग्रह का नहीं) प्रतीक माना जाता है। इसका नाम भूपुर भी है, जिसका अर्थ होता है स्थिरता का नगर वा दुर्ग। सृष्टि के इस रहस्य में प्रवेश करने के लिए मयुर वा चतुष्कोण में चार द्वार हैं, जिनके द्वारा गुरु कृपा अथवा विभु की कृपा से साधक जीव प्रवेश कर सकता है। इसी में मानव जीवन की सार्थकता है, अन्यथा यह भटकता हुआ पशु बना रहता है।

इतना-सा स्मरण रखने से सभी प्रतीक हस्तामलकवत् हो जाते हैं और उनमें से एक-एक को स्मरण कर अन्य प्रतीकों के संकेतों को भी समझा जा सकता है।

विष्णु प्रतीक को हम देख चुके हैं। उसमें यन्त्र के सिद्धान्त इस प्रकार सन्निहित हैं। वेदान्त के सत्य और विश्वचेतना का नाम वेद में आए हैं। आप् का नाम पुराणों में नारी है। 'आपो नार इति प्रोक्ता।' [illegible] पड़ा रहता
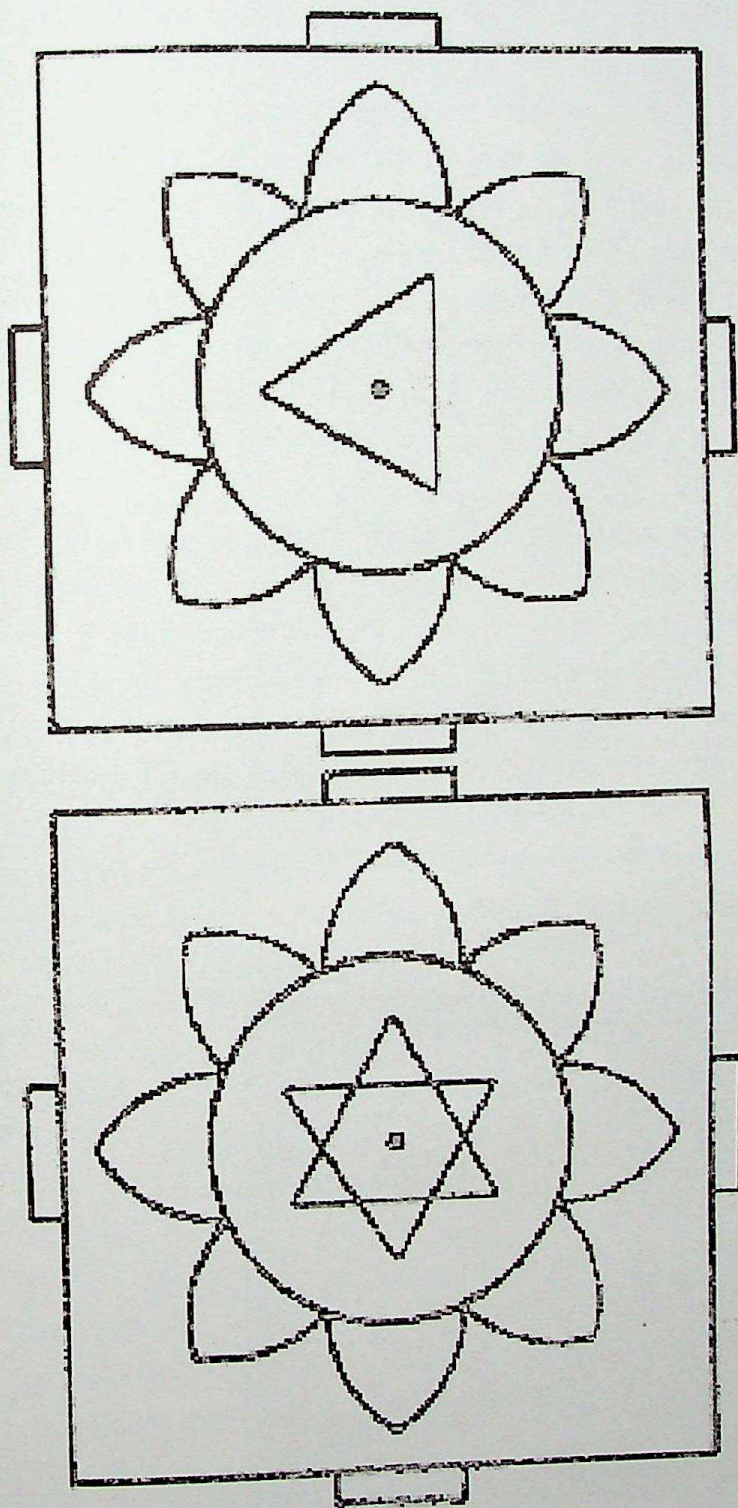
चित्र संख्या 6: पूजन-यन्त्र या चक्र

है। वेद में अमृतस्य नाभिः का प्रयोग हुआ है। यही आप् अमृत है, जिसके समुद्र में स्पन्दन का नाम नाभि है। यही यन्त्र का बिन्दु और विष्णु की नाभि है। इसमें भिन्ना प्रकृति कमल के रूप में प्रकट होती है। जिस पर यन्त्र का चतुष्कोण चतुर्मूल ब्रह्मा के रूप में वर्तमान है। यन्त्र के दोनों त्रिकोण (स्थिति और गति) शेष और धरणी है। इन्हीं का रूप शिव और शक्ति भी है।

एक पत्थर की बनी एक छोटी थाली का चित्र है। यह मुरतजीगंज में मिली थी और अभी पटना म्यूज़ियम में है। यह मौर्यकाल की है। (चित्र सं. 7)

यन्त्र का दूसरा रूप है। चित्र में बिन्दु नहीं दीखता। प्रकृति वृत्त के बाहर अष्टप्रकृति के आठ त्रिकोण बने हुए हैं। उनमें प्रत्येक से दो--दो त्रिकोण निकले हैं, जो श्रीचक्र में अंकित श्रीदेवी की आवरण देवियों की तरह हैं। विभक्त प्रकृति के इन त्रिकोणों के भीतर तीन देवियाँ हैं ये त्रिशक्ति हैं। बाह्य वृत्त के भीतर नाना प्रकार के पशु-पक्षी, कीटादि बने हैं, जो सारी सृष्टि के प्रतीक हैं।

इसमें हर और गौरी के पैरों के नीचे धर्म के प्रतीक वृत्त और सिंह हैं। बाहर हिरण्यगर्भ या प्रकृति का वृत्त प्रभामण्डल के रूप में है। यन्त्र के ऊर्ध्वमुख त्रिकोण हर है और अधोमुख शक्ति त्रिकोण गौरी है। स्थिति और गति के दोनों त्रिकोण अभिन्न हैं। उनका मूर्तरूप हरगीरी के अभिन्न रूप में दिखाया गया है। त्रिशक्ति के तीनों बिन्दु हर के हाथ के त्रिशूल और मस्तक पर त्रिशूलाकार मुकुट में दिखाये गए हैं। मुकुट की तीन वक्र रेखाएँ भी इसी के संकेत हैं। त्रिशक्ति के तीनों बिन्दु पार्वती की नाभि और स्तन बिन्दुओं में स्पष्ट हैं। इससे अधोमुख शक्तित्रिकोण वनता है। (चित्र सं. 8)

डाक्टर आनन्द कुमार स्वामी के 'विशकर्मी' के पट 29 पर एक मूर्ति का चित्र है। यह श्रीलंका के पोलोन्नारूव नामक स्थान की शिवमूर्ति है। इस समय यह कोलम्बो म्यूजियम में है।

चित्र संख्या 7: मुरतजीगंज से प्राप्त पत्थर की थाली
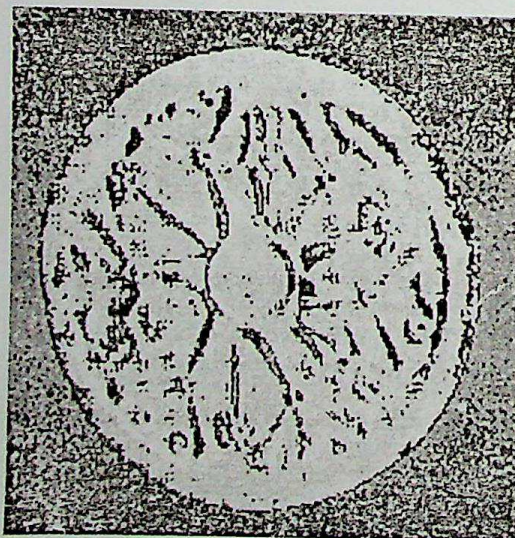
चित्र संख्या 8: शिवशक्ति

अनुमान किया जाता है कि यह ई० सन् की दशवीं से तेरहवीं शताब्दी की मूर्ति है। मूर्तियाँ तीन प्रकार की होती हैं – स्थाणुक, आसन और शयन। यह स्थाणुक मूर्ति है। (चित्र सं. ९)

मूर्ति उत्फुल्ल पद्म के गोलाकार बीजकोष पर खड़ी है। पद्म के आठ पत्रों में से चार सामने दिखाई पड़ रहे हैं। ये अष्टभिन्ना प्रकृति के प्रतीक हैं। वर्तुलाकर बीजकोष प्रकृति का वृत्त और बिन्दु है। स्थिति और गति के प्रतीक, यन्त्र के दोनों त्रिकोणों के स्थान में दोनों चरण हैं, जो नृत्यावस्था में क्रमशः स्थिति और गतिशील रहते हैं। यह तान्त्रिकों की गुरुपादुका है। मूर्ति नृत्य की द्विभंग मुद्रा में खड़ी है। स्कन्धदेश से लम्बित ब्रह्मसूत्र ऊंकार है। नीचे वाले दोनों हाथ अभय और वरद मुद्रा में हैं। ऊपर वाले एक हाथ में मृगरूप में वेद और दूसरे में अविद्या का नाश करने वाला परशु है। दाहिने कान में पुरुष का और बाएं में स्त्री का कुण्डल है। यह निष्क्रिय ब्रह्म की सक्रियावस्था वाला अर्धनारीश्वर रूप है। ज्ञानेच्छाक्रिया तीन नेत्र हैं, जिनके तीन स्थूलरूप इन्द्रर्कवह्वि कहे जाते हैं। मुकुट प्रासाद पुण्य अथवा शिवलिंग की तरह भुवनाकार है और सारी सृष्टि का प्रतीक है। मुकुट में लगा हुआ चन्द्रमा और नरक पाल है। चन्द्रमा (सोम) अमृतसावी चिदानन्द की सीमरसागार है और सर्प के स्थान में कपाल काल का प्रतीक है।
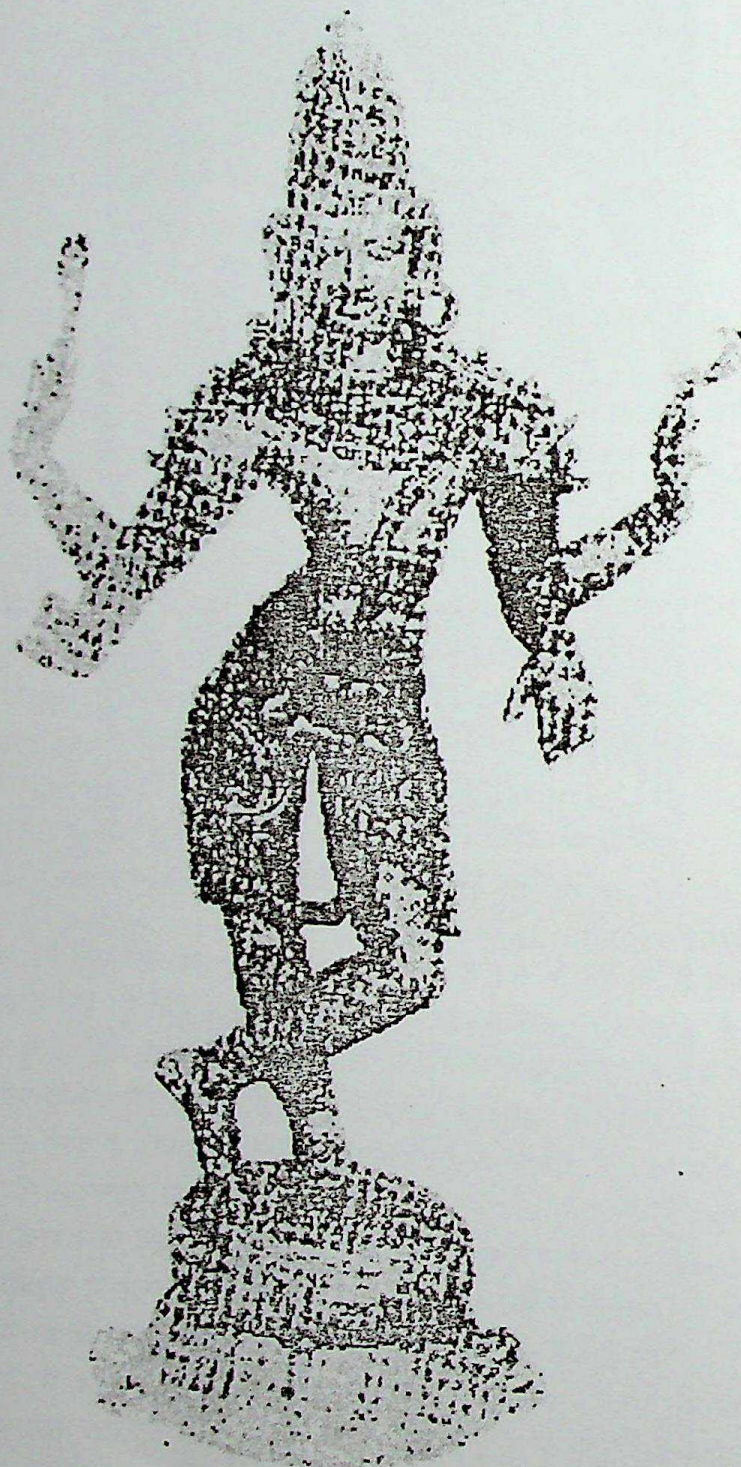
चित्र संख्या 9: शिव (पोलोन्नारूव, लंका)

आनन्द में विभोर दोनों ओंठ मन्द मुस्कान में किंचित खुले हुए हैं। यह सृष्टिप्रवर्तक रजोगुण और आनन्द अर्थात् इच्छा क्रिया का संकेत है। मूर्ति का अपूर्व सौन्दर्य और अद्‌भुत कला देखते ही बनती है। नृत्य की तैयारी वाली मुद्रा नाद बिन्दु के स्पन्दन के प्रवर्तन का संकेत है।

विश्वनृत्य में निरत महानट की मूर्ति है। यह मूर्ति चैन्नई म्यूजियम की है। इसका प्रभामण्डल टूट गया है। वर्तुलाकार आधार बिन्दुस्थान है। उसके ऊपर मोहपुरुष के ऊपर मूर्ति का दाहिना पैर है। यदि प्रभु मोह का शमन न कर दें, तो इनके चरणों तक जाना जीव के लिए संभव नहीं है। कटि में दिक् अम्बर और काल सर्प है। नीचे वाले दो हाथ अभय और वरद मुद्रा में हैं। यह रक्षा का प्रतीक सत्वगुण है। ऊपर वाले दाहिने हाथ में डमरू है। यह सृष्टि का प्रवर्तक शब्दब्रह्म वाक् और रजोगुण है। और बायें हाथ में अग्नि है, जो संहार और तमोगुण का प्रतीक है। बायें कान में स्त्री का कुण्डल है, दाहिने का कुण्डल टूटा हुआ है। यह पुरुष कुण्डल होना चाहिए। यह गति स्थिति का प्रतीक अर्धनारीश्वर का निदर्शन है। माथे पर चन्द्रमा आनन्दामृत का घनीभूत रूप सोम है, जो महा आनन्द के महा उन्माद का प्रतीक है। मुकुट में नृकपाल संहारक काल का प्रतीक है। इन नृत्य को नादान्त नृत्य कहते हैं।

श्रीलंका के पोलोन्नारूव की तीन फुट ऊंची नटराज की मूर्ति है। इस समय कोलम्बो म्यूजियम में है। मूर्ति चतुष्कोण आधार पर है। यह यन्त्रों का भूपुर अर्थात् स्थितितत्त्व है। उनके ऊपर प्रकृति के कमलदल वाला वृत्त है। उसके ऊपर प्रकृति और बिन्दुस्थान का वृत्त है। उसके ऊपर प्रकृति और बिन्दुस्थान का वृत्त है। उसके ऊपर माया वा प्रकृति चक्र है। इसमें पाँच-पाँच

चित्र संख्या 10: विश्वनृत्य गें निरत महानट की मूर्ति

स्फुलिंग वाली ज्वालाएँ हैं। ये पंचतत्त्व के चिह्न हैं। प्रकृति चक्र या प्रभामण्डल से लगा हुआ नीचे मोह पुरुष है, जिस पर नादान्त नृत्य में निरत शिव का दाहिना पैर है। कटिवस्त्र, सर्प, डमरू, अग्नि, अभय और वरद उपर्युक्तवत् हैं। कुण्डल भी स्त्री और पुरुष के हैं। जटाएँ बिखर कर मायाचक्र को छू रही हैं। आत्मानन्द में विभोर आँखें मुंदी हुई हैं। शिवलिंग में यह मायाचक्र वेदी बन जाता है और मध्यस्थ ब्रह्म त्रिगुणात्मक लिंग का रूप ग्रहण कर लेता है। (चित्र सं. 10)

नटराज की मूर्ति का एक चित्र इलस्ट्रेटड वीकली आफ इण्डिया की 1 नवम्बर 1953 वाली संख्या में पृ. 38 में प्रकाशित हुआ था। इसमें अष्टदल कमल वाली भिन्न प्रकृति के ऊपर गोलाकार मूलप्रकृति बिन्दु है। उसके ऊपर पड़ा हुआ मोहपुरुष है। महिषासुर की तरह इसकी दो सींगें हैं। यह घोर पशुत्व अर्थात् अविद्या का लक्षण है। उसके ऊपर चतुरनृत्य में शिव के दोनों पैर हैं और सभी लक्षण पूर्वोक्तवत् हैं। आँखें आनन्द में विभोर और बन्द हैं। माथे पर जटा मुकुट में तीन लपेट हैं। ये त्रिगुणात्मक विश्व के प्रतीक हैं। प्रभामण्डल के मायाचक्र में ज्वाला
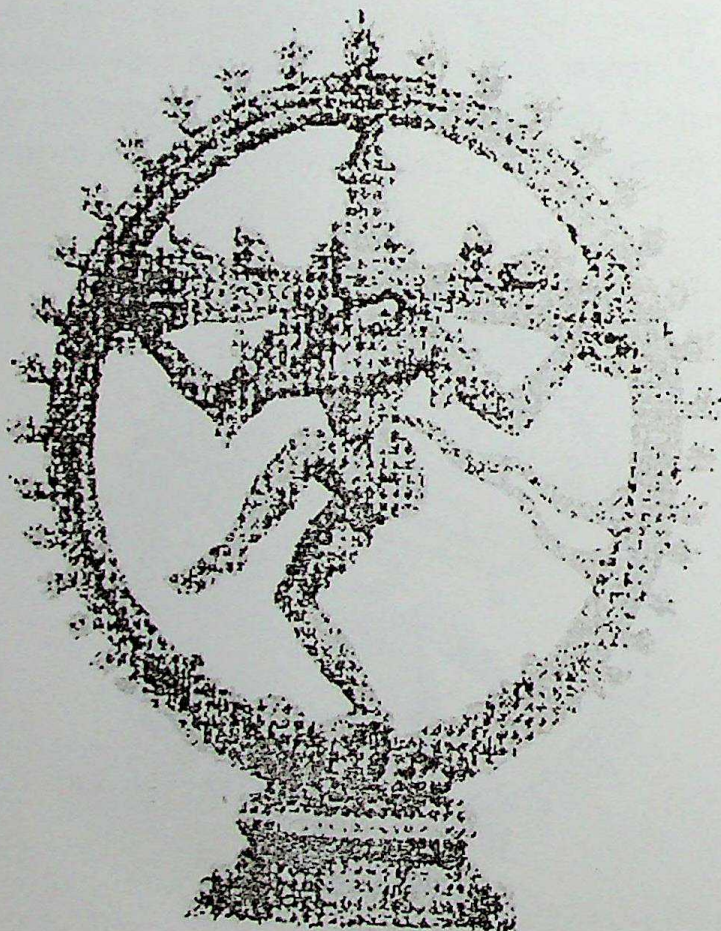
चित्र संख्या 11: श्रीलंका के पोलोन्नारुव की तीन फुट ऊंची नटराज की मूर्ति

के स्थान में कमल लगे हुए हैं, जो सृष्टि के प्रतीक हैं। मस्तक पर तीन कमल का गुच्छा है। यह त्रिशक्ति, त्रिगुण, त्रयी, त्रिदेवादि का प्रतीक है। मुखमुद्रा कोमल प्रशान्त तथा आनन्द में विभोर है। (चित्र सं. 11)

अर्धनारीश्वर नटराज की मूर्ति का एक चित्र इलस्ट्रेटड वीकली आफ इण्डिया के 11 मार्च 1956 वाली संख्या के मुखपृष्ठ पर प्रकाशित हुआ था। यह एक अपूर्व मूर्ति है। इसमें भिन्ना प्रकृति के अष्टदल सामने ही दिखाई देते हैं। इसके ऊपर मूल प्रकृति का बिन्दु है, जिस पर मूर्ति नृत्य कर रही है। दाहिने पैर में पुरुष का वस्त्र और आभूषण तथा बायें में स्त्री का वस्त्र और आभूषण है। दाहिने हाथों के पास सर्प है। दोनों बायें हाथ स्त्री के हैं। एक वरदमुद्रा में है और

चित्र संख्या 13: अर्धनारीश्वर नटराज की मूर्ति

दूसरे ऊपर उठे हुए हाथ में दो पत्रों के बीच पड़ी हुई कलिका के आकार का त्रिशूल है। दाहिने नीचे वाले हाथ पर त्रिशूल अंकित है। मालूम होता है कि इसी त्रिशक्ति के रूप को क्रिश्चियन धर्म में क्रॉस के रूप में ग्रहण कर लिया गया है। यह त्रिशूल प्रतीक अत्यन्त प्राचीन है। आगे चलकर देखेंगे कि मोहनजोदड़ो की पशुपति मूर्ति के मस्तक पर मुकुट की तरह त्रिशूल बना है। बायें कान में स्त्री का कुण्डल है और दाहिनी ओर शून्य में जटा उड़ रही है। मुखमुद्रा प्रसन्न और प्रशान्त है और आनन्द में विभोर नेत्र बन्द हैं। माथे पर जटा मुकुट के नील कुण्डल त्रिशक्ति, त्रिगुणादि है। इस मूर्ति में माया चक्र को स्त्री के अर्धांग के रूप में दिखाया गया है। यही शिवलिंग की वेदी है। यन्त्र के दोनों त्रिकोणकारी ओर ईश के रूप में अंकित हैं। (चित्र सं. 12)

इलस्ट्रेटड वीकली आफ इण्डिया की 1 जुलाई 1956 वाली संख्या में मुखपृष्ठ पर एक चित्र प्रकाशित हुआ था। नीचे कमलदलों के रूप में भिन्न अष्ट प्रकृति है। इसके ऊपर मूलप्रकृति का मण्डल है। उस पर सक्रिय और निष्क्रिय ब्रह्म खड़े हैं। गौरी का दाहिना पैर हर के बायें पैर को स्पर्श कर रहा है। पार्वती के बायें हाथ में शिव का बायाँ हाथ है, जिसमें पार्वती का हाथ टुकड़ा से संलग्न है। शिव के उपर वाले हाथ में मृग है। शिव के नीचे वाले दाहिने हाथ में कुछ चित्र बना हुआ मालूम होता है, जो चित्र में स्पष्ट नहीं दिखाई पड़ता। ऊपर वाले दाहिने हाथ में अज्ञान का हन्ता परशु है। दोनों के मस्तक पर करण्डमुकुट है और आनन्द में विभोर दोनों की ही आँखें बन्द हैं।

सदा एक रस एक अंखडित आदि अनादि अनूप।
कोटिकरूप बीतत नहिं जानत बिहरत जुगल स्वरूप।।
वृन्दावन हरि यहि दिधि क्रीड़त सदा राधिकासंग।
भोर निशा कबहूं नहि जानत सदा रहत यक रंग।।

इसी भाव और रूप का आंशिक चित्रण मन्दिर की, मिथुनों की मूर्तियाँ हैं। इनकी संख्या आठ रहती है। यह अष्टप्रकृति के सक्रियनिष्क्रियात्मक रूप हैं। इनकी संख्या असंख्य हो सकती है। तन्त्रराज में इनकी संख्या पचास कही गई है। किन्तु मन्दिरों में अंकित अष्टमिथुन की ही पूजा होती है।

Elements of Hindu Iconography, Volume Ist, Pt. II के पट CVII पर चिह्न है। यह महाकाली की मूर्ति है और मजियूर में प्राप्त हुई थी। इसमें विभु शक्ति की देवी रूप में कल्पना की गई है। यह शिवमूर्ति का ठीक उल्टा है। शिवमूर्ति में पुरुष प्रधान रूप है और स्त्रियों के कुण्डलादि संकेत द्वारा शक्ति का निर्देश किया गया है। इसमें शक्ति प्रधान रूप है, जिसमें शिवत्व, पुरुष के कुण्डल और आयुधादि द्वारा निर्दिष्ट है।

आधार चतुष्कोण है। यह स्थितितत्त्व है। उस पर भिन्ना प्रकृति के कमलपत्र दिखलाये गये हैं। पद्म पर कोण है। यह मूलप्रकृति बिन्दु है। इस ज्ञानासन पर दक्षिणामूर्ति शिव, विष्णु वा बुद्ध की तरह देवी बैठी है। दाहिने पैर में पुरुष का वस्त्र है और बायें में स्त्री का। दाहिने हाथों में

डमरू, त्रिशूल, शिव के आयुध और बाएं में देवी की शक्ति, पाष और अमृत पात्र है। दाहिने कान में पुरुष का और बाएं में शक्ति का कुण्डल है। मुख पर मन्द मुस्कान है और तीनों नेत्र आनन्दातिरेक में खुले हैं। दो दाँत बाहर निकले हुए हैं। ये चन्द्रकला की तरह अमृतवर्षी महाआनन्द के प्रतीक हैं। ये सारी सृष्टि को जीवन प्रदान करते हैं। माथे पर किरीट मुकुट है। यह शिव शक्ति का विश्वरूप मुकुट है। यह पद्धति बौद्ध प्रतीकों में और स्पष्ट होगी।

इसमें स्पष्ट किया गया है कि विभुसत्ता में स्त्री-पुरुष का भेद मानना असत्कल्पना और अज्ञानता है। यथार्थ में ये एक ही सत्य के भिन्न नाम और रूप हैं। विश्व रचना में जिनकी कहीं इयत्ता नहीं है। शिव की अर्धनारीश्वर मूर्ति कहा जा सकता है।

देवी की मूर्ति मद्रास (चैन्नई) म्यूजियम में है। यह ई. सन् 12वीं से 16वीं शताब्दी तक की मानी जाती है। यह भी अर्धपुरुषेश्वरी की मूर्ति है। चतुष्कोण आधार पर कमल और कमल के वृत्ताकार पुष्करबीजकोष पर देवी ज्ञानासन पर बैठी है। इसी का नाम योगासन भी है। शिव के ध्यान में दिये हुए रूप में भगवती के चारों हाथ हैं–अर्थात् परशु, मृग, वर, अभय मुद्रा में। 'परशुमृगवराभीतिहस्तः है।' मुखमुद्रा गंभीर और प्रसन्न है। दाहिने कान में पुरुष का कुण्डल और बाएं में स्त्री कुण्डल है। मस्तक पर एक शूल के पालक जैसा ज्ञानेच्छाक्रियामय त्रिकोणाकार मुकुट है जो एक रत्नखण्ड जैसा दीखता है। यह कूटस्थ और वज्र का भी संकेत हो सकता है।

श्रीगोपीनाथ राय के *Elements of Hindu Iconography*, Vol. I, Pt. II, page 357, में है। यह तिरूष्पालत्तुराइ की भद्रकाली की प्रतिमा का चिह्न है।

यह स्थानुकमूर्ति, प्रासाद पुरुष, स्तूप, स्तम्भ इत्यादि की तरह दण्डायमान, अखिल विश्व की मूर्ति है। यह शिवमूर्ति का प्रतिबिम्ब है। चतुष्कोण के ऊपर कमल और वृत्त के ऊपर यह मूर्ति खड़ी है। यन्त्र के दो त्रिकोणों के स्थान में दो चरण हैं। दिक् अम्बर है। दाहिने हाथों में शिवत्व के प्रतीक डमरू और त्रिशूल हैं। बायें में शिव के संकेत, पाश और अमृत पात्र है। प्रसन्न मुखमुद्रा है। माथे पर भौहों के मिलन स्थान के निकट (शक्ति) बिन्दु है। ललाट पर त्रिशक्ति, त्रिगुणादि के द्योतक त्रिपुण्ड हैं। मस्तक पर पंचतत्त्वात्मक सारी सृष्टि का प्रतीक जटा मुकुट है। दोनों ओर से इसमें चार-चार स्फुलिंग हैं और मध्य में एक स्फुलिंग है। इसके मिलाने से दोनों ओर से इनकी संख्या पांच हो जाती है। यह नटराज के प्रकृतिचक्र से स्फुलिंगों की तरह पंचतत्त्व का प्रतीक है। यह शैवों की नौ मूल प्रकृति भी हो सकती है।

तंजौर जिले के बैठिश्वर कोयिल की ईंट और सुर्खी की बनी महासदाशिव मूर्ति है। शिव चतुष्कोण आसन पर ज्ञानासन या योगासन पर बैठे हैं। असंख्य हाथों में असंख्य शक्तियाँ आयुध के रूप में हैं। अनेक मुख हैं, किन्तु इनके एकत्व (एक सत्) का प्रतीक ऊर्ध्वस्थ एक मुख है। आगे चलकर स्पष्ट होगा कि इसी सिद्धान्त पर बुद्ध की प्रतिमाएँ भी बनी हैं।

एक नटराज की अपूर्वमूर्ति है और दक्षिणापथ की, नटेश की कल्पना से सर्वदा भिन्न है। इस चित्र की मूल प्रतिमा ढाका म्यूजियम में है। यह उत्तरापथ की कल्पना की कृति है। विभु को धारण करने वाली अपनी शक्ति या अपने अंश का नाम धर्म है। यह वृष है। यह चिदानन्द

का आनन्दस्वरूप है, इसलिए इसका नाम नन्दी है। नटराज नन्दी पर नृत्य कर रहे हैं। असंख्य भुजाएँ और असंख्य अस्त्र हैं। मनोहर मुखमण्डल आनन्द के उल्लास से देदीप्यमान है। माथे पर भुवनप्रतीक करण्ड मुकुट है और सोम है। सोम, सोमरस, अर्थात् चिदानन्द का आनन्द रहा है। इस आनन्दामृत की बूंदें जो जटाओं से और अंग-प्रत्यंग से झर रही हैं उसे नन्दी मुख उठाकर पीता जाता है और पीछे गोमुख द्वारा गंगा के रूप में प्रवाहित करती जाती है तथा स्वयं उस आनन्दसागर में डूबता लहराता रहता है। इस सोमरस द्वारा सारे विश्व को प्लावित करते रहने के कारण प्रभु सोमनाथ है। ऊपर और यत्र-तत्र देवगन्धर्वादि सेवा में उपस्थित हैं। पार्श्वदेवता के रूप में दाहिनी ओर गंगा है। उनके पैर के नीचे उनका वाहन मकर है। बाईं ओर गौरी है। इनका वाहन सिंह इनके पैर के नीचे है। पौराणिक कथाओं के अनुसार हिमालय की दो पुत्रियां हैं। गंगा और गौरी और दोनों का विवाह शिव से हुआ है। गंगा ब्रह्मानन्दामृत का प्रवाह है और गौरी अर्थात् उज्ज्वल वर्णवाली, ब्रह्मज्योति है। दोनों की उत्पति 'अभीद्धतप' अर्थात् 'वृहत सत्य' हिमालय से होती है और दोनों का ज्ञान हिमालय जैसी महती तपश्चर्या और घोर साधना से होता है। दोनों का सीधा सम्बन्ध ब्रहा से है। यही गंगा, गौरी और शिव का विवाह है।

दक्षिणापथ और उत्तरापथ, दोनों की ही महानट की कल्पना अपूर्व है और दोनों पर ध्यान देने से आनन्द से शरीर के रोएँ खड़े हो जाते हैं।

Moor's Hindu Pantheon में एक चित्र है। इसमें शिव परिवार को अंकित किया गया है। कल्पवृक्ष के नीचे भगवान बैठे हैं। ब्रह्मा, विष्णु, गणेश, कार्तिकेय, ऋषि, मुनि, देवगन्धर्वादि सेवा में उपस्थित हैं। सूर्य या चन्द्र भी इस अपूर्व दृश्य को झाँककर देख रहे हैं। देवगन्धर्व कन्याएँ नाना प्रकार के वाद्ययन्त्रों के साथ भगवान की स्तुति कर रही हैं। जगन्माता ब्रह्मज्योति गौरी संसार के शोक, दुःख, मोहादि के हलाहल पात्र को प्रभु को अर्पित कर रही हैं और जगत के कल्याणार्थ प्रभु नीलकण्ठ इसे ग्रहण कर रहे हैं। कालसर्प यत्र-तत्र गतिशील है। प्रभु की जटाओं से आन्नदामृत की गंगा बहकर गोमुख द्वारा निकलकर जगत की रक्षा के लिए इसे प्लावित कर रही है। अन्यथा अपने पापादि के हलाहल से यह जलकर भस्म हो जाए। गोमुख से निकलती हुई गंगा की धारा देखते ही बनती है। नन्दी इस आनन्द सागर में डूब और उतरा रहे हैं।

नटराज की मूर्ति चतुर नृत्य की मुद्रा में है और सभी प्रतीक पूर्ववत हैं। मस्तक पर करण्ड मुकुट जगत का भुवनमण्डल है। [देखिये श्रीगोपीनाथ राय, *Elements of Hindu Iconography*, Vol. II, Pt. I, Plate LXVI, Fig. 2] यह तिरूवरडगुडम् की पीतल की मूर्ति है।

एक दक्षिणापथ के पेरूर के शिवमन्दिर की प्रतिमा है। शिव गजासुर को मारकर उसका चर्म ओढ़े हुए हैं और गजमुण्ड के ऊपर नृत्य कर रहे हैं। यहाँ गजमुण्ड अविद्या का स्पष्ट प्रतीक है। आठ भुजाएँ हैं। मुण्डमाल लटका हुआ है। मुख प्रसन्न है। आनन्द में विभोर आँखें बन्द हैं। जटाएँ बिखरी हुई हैं। माथे पर किरीट मुकुट है, जिसके ऊपर कदाचित् गंगा है। मुख की बनावट सं. 34 वाली मूर्ति से बहुत मिलती है।

एक उमामहेश्वर की पत्थर की मूर्ति है। प्राप्ति स्थान अहोड़े है। यह आसनमूर्ति है। शिव योगासन पर बैठे हैं। उनका लटकता हुआ पैर एक नग्न बालक की पीठ पर है, जिसके माथे पर जटामुकुट है। पार्वती का पैर एक नग्न स्त्री की पीठ पर है, जो आगे की ओर झुकी हुई है और इसकी ठुड्डी के नीचे भक्तिभाव से जुड़े हुए इसके दोनों हाथ हैं। ये दोनों सृष्टि प्रवर्तक इच्छा क्रिया (आनन्द), अर्थात् रति काम है। छिन्नमस्ता और अनेक बौद्ध देवताओं की मूर्तियाँ इसी सिद्धान्त पर बनी हैं।

ब्राह्मणस्य गुदं शंखे शालग्रामं च पुस्तकम् ।
सर्वसहा न सहते स्त्रीणां च कुचमण्डलमम् ॥

'ब्राह्मण के स्फटिक, शंख, शालग्राम, पुस्तक और स्त्रियों के स्तनभार को पृथ्वी नहीं सह सकती।'

इसलिए स्त्रियों की प्रणति इस रूप में अंकित की जाती है। भाव यह है कि जगत् की सबसे प्रबल शक्ति रति काम शिव शिवा के वश में और इनके सेवक हैं। कामकला का यह स्वरूप, बौद्ध प्रतिमा और चित्रों में भी अंकित किया जाता है।

एक मूर्ति पोलोन्नारूव, श्रीलंका में प्राप्त हुई थी और इस समय कोलम्बो-म्यूजियम में है। यह मूर्ति ईस्वी सन् की 10वीं से लेकर 13वीं शताब्दी तक की मानी जाती है। डा. आनन्द कुमारस्वामी (विश्वकर्मा, पट 63) और श्रीगोपीनाथ राव ने लिखा है कि यह एक संत सुन्दरमूर्ति की मूर्ति है। ये सामुद्रिक विद्या के जानने वाले थे। मालूम होता है कि डा. आनन्द कुमारस्वामी ने लोकमुख से सुनकर यह विवरण लिखा और श्रीराव ने इसे ज्यों का त्यों ग्रहण कर लिया। विहार में भगवान् बुद्ध की बहुत सी प्रतिमाएँ हैं, जिन्हें लोग कहीं भीम की और कहीं भैरव की प्रतिमा कहते हैं और उनकी पूजा करते हैं। इस प्रतिमा के साथ भी यही बात मालूम होती है। ध्यानश्लोक में दिये हुए विवरण के अनुसार यह बटुकभैरव का सात्विक रूप होना चाहिए। ध्यान इस प्रकार है –

वन्दे बालं स्फटिकसदृशं कुन्त लोगांसि वक्त्रं
विद्याकल्पैनेवमणिमयैः किंकिणीनूपुरा द्यैः।
दीप्ताकारं विशदचदनं सुप्रसन्नं महेशं
हस्ताब्जान्यां बटुकमनिशं शूलदण्डी दधानम्॥

'मैं बालरूप में बटुक का निरन्तर ध्यान करता हूँ। स्फटिक जैसा इनका वर्ण है। (सुन्दर) बालों से मुखमण्डल दमक रहा है। नए मणि की बनी हुई किंकिणी नुपुर आदि के रूप में विद्याएँ (इनके शरीर से लिपटा) हैं। उद्दीप्त रूप है, सुन्दर मुख है, जिस पर प्रसन्नता विराजमान है। महेश के हाथों में शूल और दण्ड है।'

यह शंकर के बालरूप का ध्यान है। बालों की सजावट और प्रसन्न मुखमुद्रा स्पष्ट है। हाथों की स्थिति से अस्त्रों का बोध होता है। दाहिना हाथ शूल [illegible] की स्थिति में और बायां

दण्डपाणि की स्थिति में है। किंकिणी नूपुर आदि तो हैं ही, मूर्ति भी सर्वथा नवीन अवस्था की बनाई गई है।

नीचे चतुष्कोण आधार है। उसपर कमल और कमल की मध्यकणिका, अर्थात् बिन्दुस्थान के वृत्त पर बालशंकर खड़े हैं। बटुक की इतनी सुन्दर मूर्ति बहुत कम मिलती हैं। पोलोन्नारूव में जहाँ शंकर की, चित्र संख्या-24 जैसी, मनोहर मूर्तियाँ बनती थीं वहाँ बालशंकर की ऐसी सुन्दर मूर्तियों का बनना और उनकी उपासना का होना सर्वथा उचित था।

शरभ का एक चित्र नेपाल में है। नेपाल महाराज प्रताप सिंह कृत 'पुरश्चर्यार्णव' में यह पाया जाता है। शरभ आठ पैरों वाला एक पशु है। कहा जाता है कि यह सिंह से भी बलवान होता है। (नर) सिंह रूप में विष्णु को हिरण्यकशिपु की हत्या करते समय बड़ा क्रोध हुआ। भय हुआ कि इसमें संसार भस्म हो जाएगा। तब संसार की रक्षा के लिए शिव ने शरभ रूप धारण कर सिंह को दबोचा और उसका क्रोध शान्त हो गया। सारांश कि बलवान् का महाक्रोध बल से ही शान्त होता है। इनके रूप का विवरण शरभ प्रकरण में दिया जा चुका है।

शिवलिंग

काशीविश्वनाथ की प्रतिमा है। (चित्र सं. 13) इसके रुद्रांश और वेदी स्पष्ट है। अम्बुप्रणाली बाहर की ओर निकली है, इसे सोमसूत्र भी कहते है। वेदमन्त्रों से पूत और शिवप्रतिमा को स्पर्श करता हुआ अमृतमय जल सोमरस है, जो सोमसूत्र से निकलकर सारे विश्व को प्लावित कर आनन्दमय कर देता है। यह अम्बुप्रणाली संसार के सोमरस (ब्रह्मानन्द) के साथ सम्बन्ध स्थापित कराने में सूत्र का काम करता है, इसलिए इसका नाम सोमसूत्र है। यह परम पावन अमृत है। इसलिए प्रदक्षिणा में इसका लांघना मना है। ''सोमसूत्र न लंघयेत्''। (चित्र सं. 14)

एक नटराज की मूर्ति में शिवलिंग का रूप स्पष्ट हो गया है। इसे पृथ्वी पर पड़ा हुआ देखने से मध्यस्थ शिवः शिवलिंग का स्थान ग्रहण कर लेते हैं, प्रकृति चक्र वेदी बन जाता है और

चित्र संख्या 13: काशीविश्वनाथ की प्रतिमा
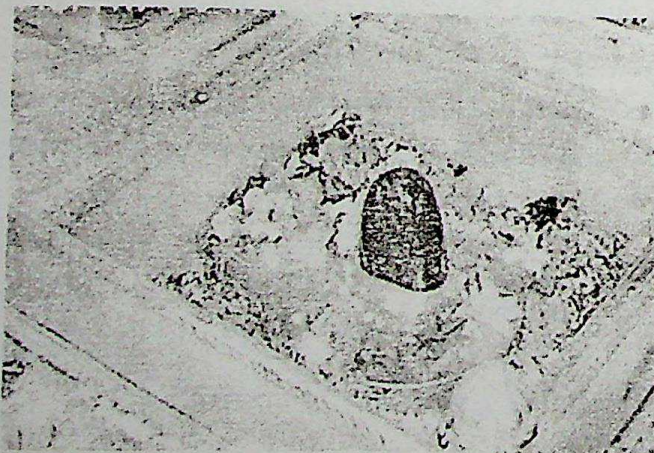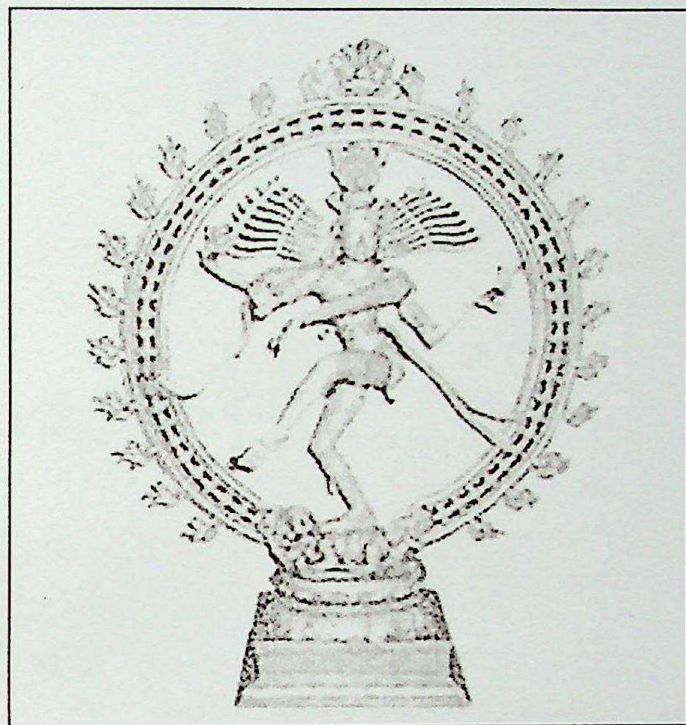
चित्र संख्या 14: नटराज की मूर्ति

मोहपुरुषवाला अंश सोमसूत्र बन जाता है। काशी में मणिकर्णिका घाट पर एक शिवलिंग है, जिसकी वेदी पर मुण्ड बने हुए हैं। यह वाक् शक्ति का मुण्डमाल है। इस मूर्ति में नटराज के प्रभामण्डल की ज्वालाओं की जगह मुण्ड बने हैं। ये विष्णु के गले में वैजयन्ती माला और ब्रह्मा के हाथ के वेद बन जाते हैं, जो जगत के कारण हैं–'यो वेदेभ्योऽखिलं जगत् निर्ममे।'

शिवलिंग के एकमुख लिंग की प्रतिमा है। यह भूमारा के शिव मन्दिर की प्रतिमा है(चित्र सं. 15)। (Memoirs of the Archaeological Survey of India, No. 16, Plate 15, Fig.C) इसमें ब्रह्मांश का चतुष्कोण नीचे अंकित है। मध्यस्थ विष्ण्वंश पर मुखमण्डल और वक्ष बना हुआ है। गले में पंचभूतात्मक या अष्ठभिन्ना प्रकृति का कण्ठमाल है। दोनों कन्धों के पास बालों का त्रिशूल बना है, जो त्रिशक्त्यादि का संकेत है। तीन नेत्र हैं और मुखमुद्रा प्रशान्त है। बायें कान में स्त्री का और दाहिने में पुरुष का आभूषण है। रुद्रांश मुकुट पर मध्यमणि जगमगा रहा है। उसके ऊपर अर्द्धचन्द्र है, जो आनन्दामृत बरसाता रहता है। यही सोम और सोमरस है। अर्धचन्द्र के भीतर त्रिशूल है। इसकी तीन रेखाओं के साथ चन्द्र की दो रेखाएँ मिलकर पंचतत्त्व का संकेत करती हैं। दाहिनी और जटाएँ इस तरह बनी हैं, मानो आनन्दामृत की गंगधार उमड़ती हुई नीचे की ओर बह रही है। यहाँ बालों की लटों से ही कई एक त्रिशूल बन जाते हैं। ऊपर शिवलिंग का वर्तुलांश स्पष्ट है।

एक मूर्ति कम्बोडिया की है और Trocadera, Paris में है। अनुमान किया जाता है कि यह मूर्ति 13वीं या चौदहवीं शताब्दी की है। (देखिए, विश्वकर्मा पट 8) इसमें और सं. 43 वाली मूर्ति

में नाममात्र का अन्तर है। यदि इस शिवलिंग या स्तूप या स्तम्भ के रुद्रांश पर बुद्ध की मूर्ति न बनी होती, तो इसे शिवलिंग नहीं मानने में कठिनता होती है। आगे चलकर स्पष्ट होगा कि लिंग, स्तूप, स्तम्भादि एक ही सिद्धान्त के भिन्न प्रतीक हैं।

विन्ध्यप्रदेश के चौमुखी महादेव की प्रतिमा है। लिंग का ब्रह्मांश संकेतित है और विष्णवंश पर वक्ष और मुखमण्डल बना है। सामने का मुख कुछ खुला है। यह रजोगुणात्मक रूप है। बाईं ओर का प्रशान्त मुखमण्डल सत्वगुणात्मक है। दाहिनी ओर वाला स्पष्ट नहीं दीखता। सामनेवाले मुख के मुकुट के ऊपर कारणचक्र है, जिसका पता लगाकर भगवान् बुद्ध ने धर्मचक्र के रूप में प्रवर्तन किया था। गोल रुद्रांश स्पष्ट है। (चित्र सं. 16)

नासिक के मुखलिंग की एक प्रतिमा है जिसमें लिंगमूर्ति मुखों के ऊपर संकेत रूप में दिया हुआ है। वेदी और सोमसूत्र स्पष्ट है।

राजस्थान के एक शिवमन्दिर की एक मूर्ति है। (Hindu Temples, Stella Kramrisch, Plate LXVII) इसमें शिवलिंग के अतंर्गत भावनाओं को अंकित किया गया है। त्रैलोक्यनगर के मूलस्तम्भ शम्भु हैं। बीच में मूल स्तम्भ है। इसके शीर्ष पर कुछ डालें निकली हैं, जिनमें फूलफलादि लगे हैं। यह संसार वृक्ष अथवा यजुर्वेद का 'परमेव वृक्ष' है। इसके आस-पास बहुत से देव, गन्धर्व और पक्षी हैं। यह सृष्टि का प्रतीक है। मध्य में एक ओर ब्रह्मा इसके अंत का पता लगाने के लिए ऊपर जा रहे हैं और विष्णु नीचे। अंत में हारकर और थककर दोनों नीचे मूलस्तम्भ शिव के निकट भक्ति भाव से खड़े हैं। यह शिवपुराण की एक कथा का चित्रण है!

चित्र संख्या 15: शिवलिंग के एकमुख लिंग की प्रतिमा

हाथीगुम्फा (Elephanta) की प्रसिद्ध त्रिमूर्ति है। बीच में रज प्रधान बड़ा ही प्रभावशाली मुख बना है। यह रजोगुणात्मक है। गले में सृष्टि की माला है। बाईं ओर का मुखमण्डल प्रशान्त है। यह सत्वगुणात्मक रूप है। दाहिनी ओर वाला मुख भयप्रद है। यह खुला है और जीभ चंचल है। दाढ़ी मूछों से मुख ढँका है। हाथ में सर्प है और माथे पर नरकपाल है। यह संहारक तमोगुणात्मक रूप है। मध्यमुख के मस्तक पर मुकुट है। इसका उर्ध्व भाग त्रपुषाकार (ककड़ी की तरह) बना है। यह शिवलिंग का रुद्रांश है। बड़ी प्रभावशाली और मनोहर मूर्ति है। इसी
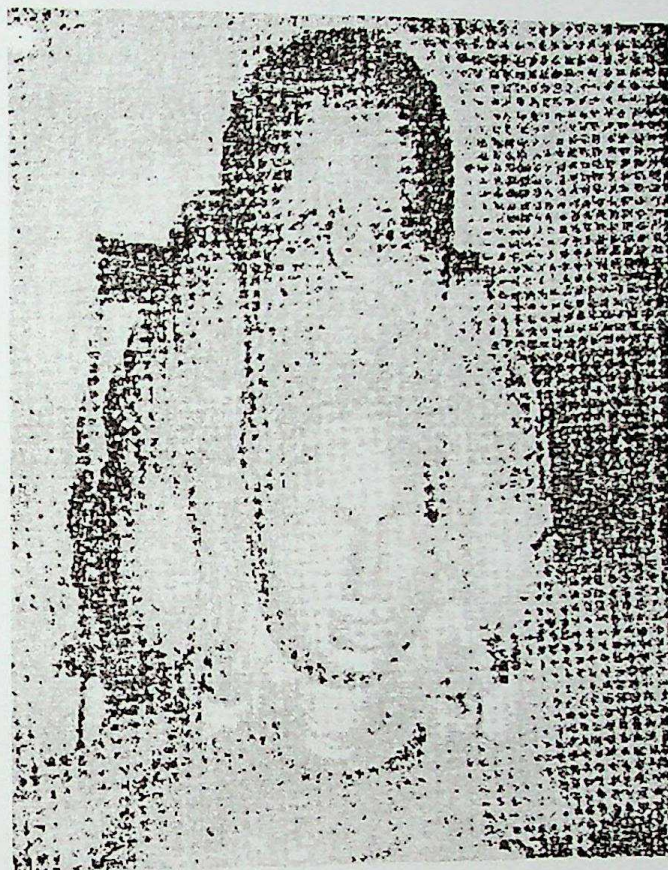
चित्र संख्या 16: विन्ध्यप्रदेश के चौमुखी महादेव की प्रतिमा

प्रकार की एक भग्न मूर्ति भागलपुर के बौसी पहाड़ पर है। उसमें सभी संकेत स्पष्ट रूप से अंकित हैं। 'शिवम हिम्मस्तोत्र' के निम्नलिखित श्लोक में त्रिमूर्ति का भाव स्पष्ट किया गया है :

बहलरजसे विश्वोत्पतौ भवाय नमो नमः
प्रबलतमसे तत्संहारे हराय नमो नमः।
जनसुखकृते सत्योद्रिक्तों मृडाय नमो नमः
प्रमहसि पदे निस्त्रैगुण्ये शिवाय नमो नमः ॥

''रसोगुण की अधिकता द्वारा विश्व की उत्पत्ति करने वाले भव को अनेकानेक प्रणाम। तमोगुण की प्रबलता से विश्व के संहार करने वाले हर को अनेकानेक प्रणाम। सत्व की अधिकता से लोगों को सुख देने वाले मृड को अनेकानेक प्रणाम। त्रिगुणातीत महापद के लिए शिव को अनेक प्रणाम।''

एक महेश्वरमूर्ति दक्षिणापथ के एक मन्दिर के लिए बनाई गई है। इसके बनाने में दो चतुर कारीगरों ने प्रतिदिन दस घण्टे काम करके 60 दिनों में इसे पूरा किया। इसके बनाने में 250 तोला चांदी और 2500 रुपये लगे हैं। (देखिए – *Illustrated Weekly of India*, March 25, 1956, page 55)

यह शिवलिंग महाकाल के रूप में अंकित हुआ है। ब्रह्मांश नीचे संकेतित है। वेदी की जगह विष्णवंश में त्रिगुणात्मिका प्रकृति के तीन वृत्त कालसर्प की तीन लपेट के रूप में हैं। यह ऊँकार की लपेट है। मुखमण्डल तुरीय अर्धमात्रा की तरह बना हुआ है। मुखमुद्रा प्रसन्न है। आँखें खुली हैं। बायें कान में स्त्री का और दाहिने में पुरुष का कुण्डल है। ये यन्त्र के दोनों त्रिकोणों के स्थान में है। माथे पर बिन्दु है। (यन्त्र के और बुद्ध के मस्तक पर बिन्दु को स्मरण कीजिए) ऊपर गतिशक्ति काल है, जिसके पाँच फण पंचतत्त्वों के भीतर की क्रियाशीलता के प्रतीक हैं। ऊपर धर्म सिंह के रूप में है और छत्र कारणचक्र का संकेत है। नीचे पार्श्व में दो सिंह बने हैं। इनके ऊपर दोनों ओर दो और जन्तु हैं। उन्हें वृष होना चाहिए। चित्र में स्पष्ट नहीं है।

चित्र संख्या 17 : शिवज्योतिस्तम्भ मूलस्तम्भ (राजस्थान)

शिव की एक कालारि मूर्ति कैलासमन्दिर, एलूर में है। यह लगभग 775 ई. की मानी जाती है। मृकुण्डु मुनि के पुत्र मार्कण्डेय अल्पायु थे। दीर्घायु के लिये उन्होंने मृत्युजंय शिव की आराधना की। मृत्यु का समय निकट आने पर काल उनका प्राण हरण करने आया। भय से विकल होकर मार्कण्डेय ने शिव की स्तुति की और लिंग विग्रह से प्रकट होकर शिव ने मार्कण्डेय को चिरंजीवी बना दिया। इस प्रतिमा में शिवलिंग से शिव प्रकट हुए हैं। शिवलिंग उनके दाहिने पैर के जानु तक है। इसमें शिश्न भावना का लेशमात्र भी नहीं है। शिशु मार्कण्डेय दोनों चरणों की रक्षा में आ गये हैं और भक्तिभाव से हाथ जोड़कर स्तुति कर रहे हैं। वामपाद से भगवान् ने काल को रोका है। प्रभु के चरण का स्पर्श पाकर काल आनन्द से विभोर होकर आँखे बन्द कर और हाथ जोड़कर स्तुति कर रहा है। प्रभु की मुखमुद्रा प्रशान्त और गम्भीर है। जटामुकुट में ब्रह्मकपाल और त्रिशूल (त्रिशक्ति) है। चिदानन्द के आनन्द की अमृतधारा गंगा, जटा से लहराती हुई निकल रही है। (चित्र सं. 18)

दशावतार मदिंर एलूर की एक प्रतिमा है। इसका निर्माणकाल लगभग 700 ई. माना जाता है। इसमें भी शिवलिंग दाहिने पैर में जानु तक लगा है। काल पर शिव अस्त्र प्रहार करने को

भी उद्धृत है। मस्तक पर ब्रह्मकपाल, चन्द्रकला और गंगा यथास्थान हैं। (चित्र सं. 19)

शक्ति-धर्म - उद्भव एवं विकास

हिन्दू धर्म में शक्ति (देवी) की पूजा अत्यन्त प्राचीन काल से प्रचलित है। शक्ति को नारी रूप में अभिव्यक्त किया गया है, जिसके दिव्य स्वरूप को सर्वाधिक महत्व प्रदान किया गया है। सृष्टि की प्रक्रिया में नारी का योगदान स्पष्टतः अभूतपूर्व है। शक्ति का प्रारम्भिक रूप शिव की पत्नी उमा अथवा पार्वती है जो जगजननी कही जाती है। वस्तुतः उनका तांत्रिक और दार्शनिक विकास शक्ति के रूप में हुआ है। अतः शक्ति और शिव की अभिन्नता स्वाभाविक है। शक्ति के रूप में विकसित होकर पार्वती 'कपिलावरणा', 'काली' और 'सिंहवाहिनी दुर्गा' बन गई, कालान्तर में जिन्होंने असीमित शक्ति से सम्पन्न 'महाकाली' का रूप ग्रहण किया। यहाँ स्मरणीय है कि शिव भी 'महाकाल' कहे जाते हैं। इसलिए शक्ति और शिव की एकात्मकता स्वयं सिद्ध है। वस्तुतः हिन्दू धर्म में विष्णु और शिव के अतिरिक्त अगर किसी देवता की महिमा और गरिमा चरम सीमा पर पहुँची तो वह केवल शक्ति (दुर्गा) की। विष्णु और शैव धर्म की तरह समाज में शक्ति का भी प्रभाव रहा है तथा इसके अनुयायी अत्यधिक विकट और कट्टर भी रहे हैं। शक्ति की पूजा और उपासना करने के कारण इसके धर्मावलम्बी (शाक्त) कहे गए। कालान्तर में 'शक्ति सम्प्रदाय'

चित्र संख्या 18: कालारि मूर्ति - मृत्युंजय शिव
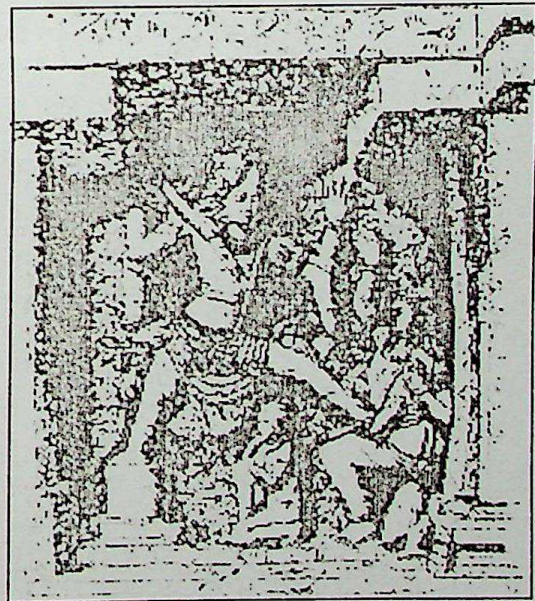
चित्र संख्या 19: दशावतार मंदिर एलूर की एक प्रतिमा - मृत्युंजय शिव

के साथ अनेक नाम जुड़ गए, जो उनके विकसित होने वाले क्रमिक रूपों के परिचायक हैं। काली, चामुण्डा, देवी, शिवानी, रुद्राणी, भवानी आदि विभिन्न नाम उनके शैव सम्बन्ध को व्यक्त करते हैं। इसके साथ ही लक्ष्मी, वैष्णवी, ब्राह्मी, इन्द्राणी आदि विभिन्न नाम भी उनको प्रदान किये गये जो उत्तरोत्तर बुद्धिशील स्वतंत्र अस्तित्त्व को स्पष्ट करते हैं, न कि दूसरे देवताओं के प्रभाव को। 'वाग्देवी' सरस्वती से भी उनका सम्बन्ध स्थापित किया जाता है तथा उन्हें बुद्धि और प्रज्ञा की देवी माना जाता है। मध्यकाल तक आकार शक्ति की उपासना बहुत अधिक बढ़ गई तथा उन्हें सृष्टि, पालक और संहारकर्त्ता का रूप प्रदान करके उनकी उपासना और आराधना की जाने लगी।

अन्य देवताओं की तरह शक्ति देवी का रूप भी प्रागैतिहासिक काल से ही निखरने लगा था। उमा, पार्वती, अम्बिका, हेमवती, रुद्राणी और भवानी जैसे नाम आदि शक्ति के रूप में वैदिक साहित्य में मिलते हैं। ऋग्वेद के दशम मण्डल में एक पूरा सूक्त ही शक्ति की उपासना में विवृत्त है जिसे तांत्रिक 'देवी सूक्त' कहते हैं। महर्षि अंभूण की ब्रह्मवादिनी दुहिता का नाम 'वाक्' था, जिसकी देवी के साथ अभिन्नता थी। उसी के उद्‌गार इस सूक्त में दर्शित होते हैं। सिन्धु सभ्यता की मातृदेवी शक्ति पूजा की ओर लक्षित करती है। कालान्तर में उस वाक् शक्ति का कथन है, "मैं ही बह्म द्वेषियों को मारने के लिए रुद्र का धनुष चढ़ाती हूँ। मैं ही सेनाओं को मैदान में ला खड़ी करती हूँ। मैं ही आकाश और पृथ्वी पर सर्वत्र व्याप्त हूँ।"[28] निश्चय ही यह कथन शक्ति की महत्ता और तेजस्विता को व्यक्त करता है। वह अन्यत्र कहती है, "मैं सम्पूर्ण जगत की अधीशवरी हूँ। अपने उपासकों को धन की प्राप्ति कराने वाली, साक्षात करने योग्य परब्रह्म को अपने से अभिन्न रूप में जानने वाली तथा पूजनीय देवताओं में प्रधान हूँ। सम्पूर्ण भूतों में मेरा प्रवेश है। अनेक स्थानों में रहने वाले देवता जहाँ कहीं जो कुछ भी करते हैं, वे सब मेरे लिए करते हैं।"[29] स्पष्ट है कि देवी अद्वैत रूप में व्याप्त है। जगत के उद्‌भव, पालन और संहार की जो कथा देवी से सम्बद्ध की गई, उसका सूत्र ऋग्वेद में नहीं है। 'शक्ति' का तत्त्व अत्यन्त विस्तृत है। वह पृथ्वी और आकाश दोनों से परे है (परो दिवा पर एना पृथिव्या)। 'अम्बिका' के रूप में देवी का उल्लेख वाजसनेयी संहिता में हुआ है, जहाँ उन्हें रुद्र की बहन (स्वसा) बताया गया है। तैत्तिरीय और शतपथ ब्राह्मणों में भी 'अम्बिका' को रुद्र की बहन कहा गया है।[30] वैसे, तैत्तिरीय आरण्यक में रुद्र की पत्नी पार्वती का सन्दर्भ मिलता है। 'उमा' शब्द का उल्लेख केन उपनिषद् में हुआ है, जहाँ उन्हें विद्यादेवी का रूप मानते हुए 'हेमवती' (हिमालय की पुत्री) कहा गया है।[31] उनका प्रादुर्भाव देवताओं को यह शिक्षा देने के लिए होता है कि अपनी कुछ शक्ति के ऊपर उन्हें गर्व और अभिमान करना चाहिए, क्योंकि सर्वशक्तिमान परब्रह्मा की शक्ति के वे प्रतीक मात्र हैं। उसी परब्रह्म नियन्ता के निर्देशन में रहकर ही वे अपनी शक्ति का प्रदर्शन कर सकने में समर्थ होते हैं। अत: उमा हेमवती विद्या और ज्ञान की अधिष्ठात्री देवी हैं। पार्वती, उमा, हेमवती आदि शब्द पर्वतीय प्रदेश को इंगित करते हैं तथा उस प्रदेश में देवी शक्ति के प्रभाव को भी अभिव्यंजित करते हैं। यही नहीं, शिव को भी कैलाश

पर्वत वासी माना गया है तथा 'कैलाशपति' के रूप में उनकी आराधना उनका गिरी प्रदेश से सम्बन्धित होना व्यक्त करता है। जिस प्रकार प्रारंभ में शिव की प्रधानता दस्यु, किरात, निषाद जैसी आदिम जातियों में अधिक हुई, उसी प्रकार की प्रधानता भी आदिम जातियों और पर्वतीय निवासियों में तीव्रतापूर्वक हुई। इस प्रकार प्रकृति की शक्ति को महत्व प्रदान करके माया के रूप में 'नित्या शक्ति' की अभिव्यंजना की गई। 'माया' को प्रज्ञा और स्वप्न दोनों माना गया, इसलिए देवी शक्ति 'वाग्देवी' सरस्वती भी हुई और स्वप्नमयी मोहिनी रात्रि भी। शक्ति, ज्ञान और मोह को उद्भूत करने वाली क्रियाशक्ति सर्जन अथवा सृष्टि शक्ति से सम्बन्धित हुई। जगजननी के रूप में वह अपनी प्रभा से तीनों लोकों को प्रभावित करने लगी[32], दुर्गा अथवा महाकाली के रूप में तमस रूपी असुरों का संहार करने लगी, योग निद्रा के रूप में वह समस्त प्राणियों को निद्रा के वशीभूत करने लगी, प्रसन्न होने पर वह सभी कामनाओं को पूरा करने लगी।[33] तथा भद्रकाली के रूप में अपनी स्तुति होने पर मनुष्य को कभी पराजित नहीं होने देती थी।[34] इस प्रकार देवी की शक्ति निरन्तर बढ़ती गई और उसका प्रभाव व्यापक होता गया।

मार्कण्डेय पुराण में शक्ति की व्यापकता और महत्ता विवृत है। उसमें शक्ति के तीन रूपों का वर्णन किया गया है – 1. महाकाली (प्रथम अध्याय), 2. महालक्ष्मी (2 से 4 अध्याय) और 3 महासरस्वती (5 से 13 अध्याय)। उक्त पुराण में देवी को ही समस्त प्राणियों में शक्ति, दया, शान्ति, क्षीति, तुष्टि, बुद्धि और माता के रूप में अवस्थित बताया गया है। शक्ति ही पृथ्वी रूप में सृष्टि की आधारशिला है तथा जल रूप में सम्पूर्ण जगत को तृप्त करती है। अपारबल से युक्त होकर वह वैष्णवी है। वह जगत की कारणभूता परा माया है। जीव का बंधन और मोक्ष उसी से ही है। सम्पूर्ण विद्याएँ उसी में स्थित हैं। विश्व की समस्त स्त्रियाँ उसी का प्रतिरूप हैं। वह परा वाणी है। उक्त पुराण में यह भी उल्लिखित है कि सभी जीव महामाया के प्रभाव से वासना रूपी भ्रमर से युक्त मोह रूपी गर्त में पतित होते हैं। जगदीश्वर श्री विष्णु की योगनिद्रा स्वरूपिणी महामाया ही इस विश्व को विमोहित करती है। वे महामाया ज्ञानियों के चित्त का बलपूर्वक आकर्षण करके मोह में गिराती हैं।[35] अतः उसमें कहा गया है कि वे योगनिद्रा महामाया नित्य हैं, जो समस्त जगत में व्याप्त हैं तथा जो अनेक प्रकार से उत्पन्न हुईं। जब देवताओं के कार्य सिद्ध करने के लिए उनका आविर्भाव होता है तब उन नित्य रूपा देवी को संसार में उत्पन्न हुई कहा जाता है। मार्कण्डेयपुराण में ही देवी दुर्गा से सम्बन्धित 'दुर्गासप्तशती' नामक अंश है, जो अत्यन्त महनीय और प्रख्यात है। नवरात्र काल में देवी की आराधना में दुर्गा सप्तशती का ही पाठ किया जाता है और मनोवांछित फल की कामना की जाती है।

महिषासुर को मारने के लिए विष्णु, शिव, ब्रह्मा, इन्द्र, वरुण, सूर्य आदि विभिन्न देवताओं के मुख से निकले हुए तेज से 'शक्ति' का उद्भव हुआ जो महिषासुरमर्दिनी के रूप में ख्यात हुई। उस देवी को सभी देवताओं ने अपने-अपने अस्त्र प्रदान किये। जिनका उन्होंने असुरों का विनाश करने में उपयोग किया था। देवी की उत्पत्ति से सम्बन्धित एक और कथा मार्कण्डेय पुराण में विवृत है जिसके अनुसार शुंभ-निशुंभ जैसे असुरों के आतंक से त्रस्त होकर देवगण

हिमालय पर जाकर देवी की स्तुति कर रहे थे। उसी समय भगवती पार्वती गंगा स्नान करने के लिए जा रही थीं। अतः उन्होंने देवगणों से स्तुति के विषय में पूछा। तभी उनके शरीर के कोश से देवी शिवा (अम्बिका) का उदय हुआ, जिन्होंने अपने को देवी बतलाया जिनके लिए देवतागण स्तुति कर रहे थे। कोश से उत्पन्न होने के कारण वह देवी 'कौशिकी' कही गई। पार्वती के शरीर से अम्बिका के निकलने के कारण उनका शरीर कृष्ण वर्ण का हो गया। जिसके कारण उन्हें 'काली' की भी संज्ञा दी गई। जब वे असुरों का संहार करने के लिए गई थीं तो उनका ललाट क्रोध से कृष्ण वर्ण हो गया था और चण्ड-मुण्ड को मारने के लिए उनके शरीर से करालमुखी काली निकली थी इसलिए अम्बिका ने उसका नाम चामुण्डा रखा। इसके साथ ही ब्राह्मी, महेश्वरी, कौमारी, वैष्णवी, वाराही, नारसिंही और ऐन्द्री ये सात शक्तियाँ भी अम्बिका से ही व्युत्पन्न हुई थीं। नन्दसुता, शाकम्भरी, धीमा भ्रमरी आदि भी देवी के कई स्वरूप थे, जिनका उन्होंने उल्लेख किया था। वायुपुराण में उल्लिखित है कि उमा के क्रोध से भद्रकाली उद्भूत हुई थी। मत्स्यपुराण के वर्णन के अनुसार देवताओं के कार्य सम्पन्न करने के निमित्त उमा के शरीर से देवी की उत्पत्ति हुई थी। अतः इन वर्णनों से स्पष्ट है कि देवी शिव की पत्नी थी तथा शिव और शक्ति में अभिन्नता थी। शिव 'उमापति' थे और शक्ति 'माहेश्वरी' महाकाली आदि। गौरी, जो प्रारंभ में 'वरुण' की पत्नी थी, बाद में शिव की प्रिया बन गई और शिव 'गौरीश' हो गए। वस्तुतः शक्ति में सभी देवताओं की दिव्यता समाहित थी तथा देवताओं के तेजपुंज से शक्ति की उत्पत्ति हुई थी। महाभारत के अनुसार शक्ति (दुर्गा) नारायण और शिव दोनों की पत्नी है। पुराणों में शिव की पत्नी उमा है। अगर देखा जाय तो देवताओं की शक्ति का परिवार शिव के परिवार में सीमित हो गया तथा शिव का परिवार उन्नत होकर व्यापक हो गया था। 'सप्तमातृका' के रूप में शक्ति का विकास हुआ जिनमें ब्राह्मी, माहेश्वरी, कौमारी, वैष्णवी, वाराही, इन्द्राणी और यमी या चामुण्डा, उनके सात स्वरूप माने गए। कुषाणकालीन स्थापत्य कला में सप्तमातृकाओं के चित्र मिलते हैं। गुप्तकालीन कोशकार अमर सिंह ने सप्तमातृका की चर्चा की है।[36] कुमारसंभव में इन्हें 'मातरः' कहा गया। स्कन्दगुप्त के बिहार स्तम्भलेख में भी इनका उल्लेख है। यही नहीं गुप्त सम्राटों की विभिन्न मुद्राओं पर लक्ष्मी और दुर्गा के चित्र अंकित हैं।

हिन्दू धर्म में अन्य देवताओं की तुलना में देवी शक्ति की सत्ता प्रभावशाली आधार पर स्थापित हुई तथा उनका वैभव और ऐश्वर्य धीरे-धीरे अत्यंत शक्तिशाली होने लगा। फलतः मधु कैटभ, महिषासुर, शुंभ-निशुंभ, चण्ड-मुण्ड, रक्तबीज जैसे भयंकर असुरों का विनाश करके ये देव परिवारों में सर्वश्रेष्ठ हो गईं, क्योंकि उन अत्याचारी असुरों का वध कर डालने का बल ब्रह्मा, विष्णु, महेश, इन्द्र आदि बलशाली देवताओं के पास भी नहीं था। अतः देवी शक्ति का स्वतंत्र अस्तित्व सम्मुख आया जो अत्यंत व्यापक और अपार ऐश्वर्ययुक्त था। अपने पति शिव से पृथक् करके काली अथवा दुर्गा के रूप में उनकी स्वतंत्र उपासना प्रारंभ हो गई। इसके साथ ही 'अर्ध-नारीश्वर' के रूप में शक्ति और शिव दोनों की स्थितियाँ संयुक्त हुई तथा शिव और

शक्ति दोनों सम्प्रदायों का पारस्परिक एकीकरण भी हुआ। किंतु शक्ति का विस्तार बड़ा था, मान व्यापक था, इसलिए उनकी प्रधानता स्वाभाविक थी।

मनुष्य की अन्तस वृत्तियाँ शक्ति का ही रूप मानी गईं, जिसमें इच्छा क्रिया, सर्जन, मोह, विनाश आदि सभी सम्मिलित हैं। अत: शक्ति के तीन प्रधान रूप माने गए – 1. सौम्य रूप, 2. प्रचण्ड रूप और 3. काम प्रधान रूप। समाज में प्राय: देवी के सौम्य रूप की ही पूजा 'कापालिक' और 'कालमुख' जैसे चोर पंथी सम्प्रदाय के लोग करते हैं, जिसमें बलि, सुरा, मांस आदि प्रयोग किया जाता है। कामरूपिणी देवी की उपासना, शाक्त लोग करते हैं, जो देवी के 'मोह' और 'माया' को समस्त जगत से ऊपर मानते हैं। वे देवी को 'आनन्दभैरवी', 'त्रिपुरसुन्दरी', 'ललिता' आदि कहते हैं तथा शिव को 'आनन्दभैरव' या 'महाभैरव'। शंकराचार्य ने 'सौन्दर्यलहरी' में देवी के इसी अलौकिक सौन्दर्य का चित्रण किया है। अत: प्रतीकों के आधार पर देवी की सर्वोच्चता सिद्ध की गई है। महाभैरव को देवी की आत्मा माना गया, जिनके नौ व्यूह हैं – काल व्यूह, कुल व्यूह, नाम व्यूह, ज्ञान व्यूह, चित व्यूह (अलंकार, चित्त, बुद्धि, महत और मन)। अत: देवी भी नौ व्यूहों की आत्मा मानी गई है। उनके सम्मिलन से सृष्टि होती है। सृष्टि में 'महाभैरवी' और संहार में 'महाभैरव' की प्रधानता होती है, यद्यपि सृष्टि के पहले शिव और शक्ति की ही सत्ता रही है। प्रकाश रूप में शिव शक्ति के विमर्श रूप में स्थित होकर बिन्दु स्वरूप हो जाते हैं। तत्पश्चात् शक्ति भी शिव में प्रविष्ट होती है। तब बिन्दु विकसित होकर 'नाद' बन जाता है। 'नाद' और 'बिन्दु' सम्पृक्त होकर 'काम' को उत्पन्न करते हैं। श्वेत और रक्त बिन्दु क्रमश: शिव और शक्ति तत्त्व में मिलकर 'कला' को उद्‌भूत करते हैं। 'काम और कला' से त्रिपुरसुन्दरी स्वरूप काम-कला का उदय होता है, जो सर्वोच्च स्थिति है।

शक्ति के लिए 'देवीभागवत' में कहा गया है, 'उनके अखिल प्रभाव को न तो ब्रह्मा, न हरि, न शिव और न अनन्त (शिवनाग) जानते हैं। वे सब भी उसके अंश हैं। फिर अन्य देवों के विषय में क्या कहा जाय। जगदम्बिका के लिए हमारा सदा नमस्कार हो। उनके पादपुंज को पाकर ब्रह्मा विश्व का सृजन करते हैं, विष्णु सर्वदा पालन करते हैं और रुद्र संहार करते हैं। उनकी कृपा के बिना ये देवता भी असमर्थ हैं। उन जगदम्बिका के लिए हमारा नमस्कार है।'[37]

पूर्वमध्यकालीन साक्ष्यों से भी शक्ति पूजा का पता चलता है। भेड़ाघाट (जबलपुर) के निकट 64 योगिनी का मंदिर है, जिसमें 900-1000 ई. के बीच देवी की अनेक प्रतिमाएँ गढ़ी गईं। उसमें शक्ति की 44 प्रतिमाएँ हैं, प्रधानत: दुर्गा और सप्तमातृकाओं की हैं। उनमें कुछ पर अभिलेख भी खुदे हैं। इसी तरह के मंदिर, खजुराहो और सुराडा (उड़ीसा) में भी हैं। राजस्थान और मध्य प्रदेश जैसे कुछ अन्य स्थानों से सप्तमातृकाओं के अतिरिक्त दुर्गा की भी मूर्तियाँ मिलती हैं। प्रतिहार शासक महेन्द्रपाल के अभिलेख में दुर्गा को विभिन्न नामों से अभिहित किया गया है। मूर्ति को यक्षिणी देवी कहा गया है तथा स्तुति के प्रारंभ में दुर्गा को 'महिषासुरमर्दिनी' के रूप में स्मरण किया गया है।[38] एक दूसरे अभिलेख में उन्हें कांचन देवी, सर्वमंगला देवी या अम्बा की संज्ञा दी गई है।[39] अभिलेखों से विदित होता है कि उनकी स्तुति में अपार गुणगान

किया जाता था। देश में शक्ति की प्रतिमाएँ महिषासुरमर्दिनी अथवा दुर्गा के रूप में ही अधिकता से मिली हैं। नवदुर्गा का भी मन्दिर निर्मित होता था। जिसको पूजन अर्चन के लिए दान दिये जाते थे। चामुण्डा, चण्डी, काली आदि के रूप में दुर्गा की उग्र मूर्तियाँ बंगाल से मिली हैं। आसाम स्थित कामाख्या देवी का मंदिर आज भी प्रसिद्ध है, जो देवी के काम रूप को अभिव्यक्त करता है। जम्मू के निकट कश्मीर स्थित शारदा देवी का मंदिर शक्ति मन्दिर के सौम्य रूप का प्रतीक है जो आज 'वैष्णो' देवी के रूप में प्रख्यात है। इस मंदिर के विषय में ग्याहरवीं सदी का लेखक अलबीरूनी लिखता है, कश्मीर के भीतर राजधानी से लगभग दो या तीन दिनों की यात्रा के बाद बोलोर पर्वत की दिशा में लकड़ी की शारदा नामक मूर्ति है जो यात्रियों द्वारा अत्यधिक आदृत और सम्मानित है।[40] मधुमती के दाएँ तट पर स्थित शारदा देवी का मंदिर पूरे देश में ख्यात था, जहाँ दूर-दूर के दर्शनार्थी आते हैं। कल्हण, विल्हण और हेमचन्द जैसे अनेक पूर्वमध्ययुगीन साहित्यकारों ने भी शारदा देवी के मंदिर का वर्णन किया है। कल्हण ने लिखा है कि गौड़ नरेश के अनुयायियों ने शारदा देवी के दर्शन करने के बहाने कश्मीर में प्रवेश किया था।[41] जोनराज ने अपने 'द्वितीय राजतरंगिणी' में शारदा देवी के मंदिर की स्थिति और ख्याति का उल्लेख किया है। अबुलफजल ने 'आईने अकबरी' में शारदा देवी के प्रस्तर मंदिर का वर्णन किया है, जिसके अनुसार 'हाचामूल से दो दिन की यात्रा की दूरी पर पपती नामक नदी है जो दुर्द (दर्द) देश से होकर आती है। सोना भी इस नदी में पाया जाता है। इसके किनारे पर पत्थर का बना शारदा मंदिर है, जिसे दुर्गा भी कहते हैं।'

शक्ति पूजा के प्रधानतः तीन केन्द्र हैं – कश्मीर, कांची और कामाख्या (आसाम)। कश्मीर और कांची श्रीविद्या के प्रधान पीठ हैं तथा कामाख्या कौल मत का प्रधान केन्द्र है।

(क) शक्ति पूजा का ज्ञान तत्त्व और दर्शन तत्त्व

शक्ति पूजा का ज्ञान तत्त्व शैव सिद्धान्तों से तो अवश्य प्रभावित है किंतु शक्ति की दार्शनिक सत्ता और व्यावहारिक सत्ता स्वतंत्र और उन्मुख सत्ता है जो उन्हें सर्वोच्च स्थान प्रदान करती है। प्रज्ञा और स्वप्न दोनों स्थितियाँ 'महामाया' का ही रूप हैं। शक्ति में ब्रह्मा, विष्णु और शिव के अंश होने के कारण सर्जन, पालन और संहार तीनों तत्त्वों का समन्वय है। अतः भक्त उन्हें 'जन्ममाता' के रूप में मानते हैं।

दार्शनिक सत्ता में शिव और पार्वती आद्य तत्त्व हैं, जो देश, काल और तर्क से परे हैं। शक्ति ही अंतर्मुख होने पर 'शिव' है और शिव ही बहिर्मुख होने पर 'शक्ति'। अंतर्मुख और बहिर्मुख दोनों भाव सनातन हैं। शिव तत्त्व में शक्ति भाव कम होता है और शक्ति तत्त्व में शिव भाव कम। किंतु दोनों में अपनी ही प्रधानता होती है। जब दोनों की स्थिति समान अर्थात् समभाव युक्त होती है तब सामान्य रूप होता है जिसे शैव परम शिव कहते हैं और शाक्त पराशक्ति। भेद केवल शब्दों का है। आलोक और स्फूर्ति के रूप में जो शिव हैं, शक्ति में प्रवेश करके वे ही 'बिन्दु' का रूप ग्रहण करते हैं। इसी तरह शक्ति का शिव में प्रवेश होता है। जब बिन्दु

और नाद तत्त्व मिलते हैं तब 'मिश्र-बिन्दु' आविर्भूत होता है जो स्त्री-पुरुष शक्तियों का परिचायक है और 'काम' की संज्ञा से जाना जाता है। श्वेत और रक्त बिंदु क्रमशः पुरुष और स्त्री तत्त्व हैं। जब श्वेत, रक्त और मिश्र बिंदु मिल कर एक हो जाते हैं तब 'कामकला' होती है और सृष्टि का उद्भव होता है। इस प्रकार शक्ति तत्त्व चार हैं – 1. मूल बिंदु (समस्त जगत का उपादान), 2. नाद (बिंदु के संबंध से जन्म लेने वाले तत्त्व), 3. पुरुष का श्वेत बिंदु और 4. स्त्री का रक्त (लोहित) बिंदु। श्वेत और रक्त बिंदु उत्पादक शक्तियां हैं। चारों तत्त्वों के सम्मिलन से 'कामकला' होती है, जो सृष्टि की आधारपीठ है। इसीलिए कुछ प्रमाणों में 'कामकला देवी' की प्रधानता दी गई है! यह कहा गया कि जब पहली बार स्त्री तत्त्व बिंदु में प्रवेश करती है तब नाद के साथ 'हार्थकला' नामक नवीन तत्त्व का उदय होता है। 'कामकला' सर्वोच्च देवी है और सूर्य (संयुक्त विंदु) उनका मुख है। चंद्र और अग्नि (श्वेत और रक्त बिंदु) उनके उरोज हैं और 'अर्थकला' उनकी योनि। हार्थकला से ही सृष्टि होती है। अतः सृष्टि देवी करती है। सृष्टि करने के कारण उनकी स्थिति सर्वोपरि है तथा सभी देवता वर्ग में उनका उच्चतम और विशिष्ट स्थान है। 'परा', 'ललिता', 'भट्टारिका' और 'त्रिपुरसुंदरी' की भी सज्ञा उन्हें दी गई, क्योंकि जगत का जितना सौंदर्य है, उन्हीं के कण से है और वे पूर्ण अखंड सौंदर्य की निकेतन हैं। शिव का प्रतीक 'अ' अक्षर माना गया है और शक्ति का प्रतीक 'ह' अक्षर। 'ह' हर्थकला है जो 'योनि' के आकार का अर्थभाग 'हार्थकला' है। शिव के 'अ' से जब इसकी संयुक्तता होती है तब 'कामकला' या 'त्रिपुरसुंदरी' का आरोपण होता है, जो शिव और शक्ति दोनों तत्त्वों से ही संभव है। इसलिए देवी 'अहं' कही जाती है तथा उनके सभी कार्य और सर्जन 'अहं' से युक्त हैं। जगत की समस्त आत्माएँ 'त्रिपुरसुंदरी' का ही रूप हैं। जब ये आत्माएँ देवी-चक्रों के साथ कामकला, विद्या और ज्ञान का पूर्णतः आभास कर लेती हैं तब ये भी त्रिपुरसुंदरी हो जाती हैं। 'अ' और 'ह' वर्णमाला के प्रारंभिक और अन्तिम अक्षर हैं तथा और सभी अक्षर इन्हीं दोनों के बीच में हैं। इसी प्रकार समस्त तत्त्वों का विकास 'अहं' रूपी 'त्रिपुरसुंदरी' के माध्यम से होता है। इसलिए उसे 'परा' कहा गया, जो वाक् के चार प्रकारों में प्रथम है। सृष्टि उसका फल है, जिसमें स्त्री तत्त्व की प्रधानता है। त्रिपुरसुंदरी से तद्रूपता स्थापित करने वाले लोग अपने को भी स्त्री समझते हैं। शाक्तों के विश्वास के अनुसार ईश्वर स्त्री रूप है, जिसकी प्राप्ति स्त्री बनने से ही संभव है। अतः 'त्रिपुरसुंदरी' ही ललिता है, श्रीविद्या है और सौंदर्य एवं आनंद का परमधाम है।

शाक्त मत में तीन भाव और सात आचार निर्दिष्ट किए गए हैं। तीनों भावों के अंतर्गत पशु भाव, वीर भाव और दिव्य भाव और सात आचारों के अंतर्गत वेदाचार, वैष्णवाचार, शैवाचार, दक्षिणाचार, वामाचार, सिद्धांताचार और कौलाचार। भाव का संबंध अंतस और मनस से है तथा आचार का बाह्य क्रियाकलाप से। भाव के माध्यम से भक्त द्वैत से अद्वैत की ओर प्रवृत्त होता है। पशु भाव आबद्ध जीव की द्वैतभावपन्नता का परिचायक है, वीर भाव उस व्यक्ति की ओर इंगित करता है जो अज्ञानरूपी रज्जु को काटने में कुछ समर्थ होता है तथा दिव्य भाव वह है जिसमें साधक वीरभाव के माध्यम से द्वैतभाव को दूर करने में समर्थ होता है और अपने इष्ट

देवता की सत्ता से अपना तादात्म्य कर लेता है। शाक्तों के दो वर्ग हैं -- कौलमार्गी और समयाचारी। पूर्ण रूप से अद्वैतवादी साधक 'कौल' कहे जाते हैं, जो कर्दम और चंदन में, शत्रु और पुत्र में, श्मशान और भवन में तथा कंचन और तृण में कोई भेद नहीं समझते। समयाचारी शाक्त अन्तस्साधना में अधिक समय व्यतीत करते हैं। दोनों वर्गों में महान अंतर है तथा दोनों एक दूसरे की निन्दा करते हैं।

देवी की आराधना प्राय: तीन प्रकार से की जाती है -- 1. पहले प्रकार की आराधना में देवी की इस प्रकार साधना की जाती है कि वे महापद्मवन में शिव के अंक में बैठी हुई हैं। उनका स्मरण आनंद उत्पन्न करता है तथा वे स्वयं आनंद से अभिन्न हैं। 2. दूसरे प्रकार की आराधना में चक्र की पूजा की जाती है जिसे बाह्य योग (बाह्य पूजा) कहा जाता है। भूर्जपत्र, रेशमी वस्त्र या स्वर्णपत्र पर नौ यौनियों का मंडल और उसके मध्य में एक योनि का चित्र अंकित करके चक्र बनाया जाता है, जो सम्पूर्ण चक्र में 'श्रीचक्र' के नाम से ख्यात है। शाक्त इस चक्र की दो प्रकार से पूजा करते हैं, एक जीवित स्त्री योनि की दूसरे काल्पनिक रूप की। इसलिए शाक्तों की दो शाखाएँ हो गईं, एक कौल और दूसरे समयिन, जिनकी चर्चा ऊपर की जा चुकी है। 3. तीसरे प्रकार की आराधना में दार्शनिक धरातल पर ज्ञान के आधार पर देवी की उपासना की जाती है। देवी के ऐसे आराधक ही सच्चे और सुधी भक्त होते हैं।

काली

'भगवती काली (निष्क्रिय ब्रह्म की) क्रियाशक्ति है। संपूर्ण ब्रह्माण्ड इनका भिक्षापात्र (हाथ का खप्पर) है। स्वयं दे-देकर जीवों को भिक्षारूप में ग्रहण करती है। अंधकार समूह इनके केश हैं, सूर्य और चंद्र इनके चंचल नेत्र हैं। ब्रह्मा, विष्णु, महेश, पृथ्वी, पर्वत, ब्रह्मज्ञानादि उनकी पिटारी में हैं, उनके स्तन लटके हुए हैं, वे चेतना का उत्पत्तिस्थान हैं, स्थूल तरल और मेघ की तरह चंचल हैं, तारे उनके दांत हैं, संध्या की लालिमा उनका अधर है, पूर्णकमल (सृष्टि) उनके हाथ में हैं, अमरावती उनके मुख में है, सातों समुद्र उनके मुक्ताहार हैं, नीलवस्त्र में लिपटी हैं, जम्बूद्वीप उनकी नाभि है, वन के वृक्षादि उनके रोम हैं, तीनों लोकों के रूप में यह वृद्धा प्रकट और लुप्त होती रहती है। उस महाचेतना में, उसके पलक मारने से बहुत से रुद्र बनते और मिटते रहते हैं। ब्रह्मा से भी अधिक असंख्य कल्पनाओं से भरे शून्य में इस क्रियाशक्ति की स्थिति है।

निश्चता शिव का उसका अपना ही हिलता-डुलता अर्थात् क्रियाशील रूप काली (कल गतौ) है अर्थात् महाकाल और महाकाली एक ही तत्त्व के नाम हैं और काली की प्रतिमा निष्क्रिय और सक्रिय ब्रह्म का प्रतीक है।

काली के 'सर्वस्वरूपे सर्वेश सर्वशक्तिसमन्विते' होने के कारण किसी भी रूप में ध्यान किया जा सकता है :

अख्यायाः कालिकायाः कालमातुर्महाद्युतेः।
गुणक्रियानुसारेण क्रियते रूपकल्पना।

'काल की भी जन्मदात्री, महाप्रकाशस्वरूप, आकारहीन कालिका के गुण और क्रिया के अनुसार रूप की कल्पना की जाती है।' अर्थात् जब संहार क्रिया में इन्हें संलग्न दिखाया जाता है, तब उनका तमोगुणी रूप माना जाता है जिसका कल्पित रंग काला है, इसी तरह सृष्टि और स्थिति में क्रमशः रजोगुणी और सत्वगुणी रूप की कल्पना की जाती है, जिनका कल्पित रंग रक्त और श्वेत है।

इनके कानों की सजावट के लिए कर्णाभूषण के स्थान में दो शव लटके हुए हैं। ये धर्म और अधर्म हैं :

धर्माद्धावृभौ कर्णभूषणं चान्दकर्णयौ:।[43]

धर्म और अधर्म– दोनों से ही सृष्टि चलती है। यदि अधर्म न रहे तो प्रपंच लुप्तप्राय: हो जाय। जैसे – चोर अज्ञान से अधर्म, अर्थात् चोरी करता है। उसे पकड़ने के लिए रक्षी चाहिए, उसके अपराध की जाँच और दण्ड के लिए साक्षी, वकील, जज, कचहरी, लोअरकोर्ट इत्यादि चाहिए। इन्हें शिक्षा देने के लिए स्कूल, कालेज, विश्वविद्यालय, शिक्षक, प्रोफेसर इत्यादि चाहिए। यदि चोर चोरी करना छोड़ दे तो ये सब बन्द हो जाएं। इस प्रकार और भी समझना चाहिए। इसलिए धर्म और अधर्म दोनों ही इनके अन्तस हैं। अधर्म जब अधिक उपद्रवी हो जाता है, तब उसे शान्त करना पड़ता है जिसके लिए अवतार रूपग्रहणादि क्रियाएँ होती हैं।

काली ही तारा रूप में तारक (मोक्ष देने वाली) होने के कारण वे सर्वदा तारा हैं। अनायास ही वे वाक्प्रदान करती हैं इसलिए वे नील सरस्वती (लील नील) हैं, उग्र होने के कारण उग्रतारिणी हैं और भयंकर विपत्ति से बचाने वाली होने के कारण उग्रतारा कहीं जाती हैं।

अरुणं वालार्कप्रभ श्रीसुंदरीभिवृतं श्रिया सौन्दर्येण सुन्दर्यः श्रीसुन्दरीप्राया:। श्रीसुन्दर्याः पंचमहाशवसन्नद्धसिहासंन कामेश्वर ङ्को पदेशनमिति विशेष। वृतं परिवेष्ठितम्। मध्ये मध्य त्रिकोणमध्ये। वेन्दवसिंहपीठललिते वैन्दवं बिन्दुचक्र सिंहासनं पूर्वोक्तरूपं तेन ललिते निरूपम शोभान्विते। त्वं श्रीत्रिपुरमहासुन्दरी। ब्रह्मविद्या पर ब्रह्मात्मिका। शिवे कल्याणरूपे।[44]

''हे शिवे! आपका श्रीचक्र वेदों का मूलकोश है, यह प्रसिद्ध है। कैसा। संसारचक्रात्मक। पुनः कैसा। सब ओर से श्रीसुन्दरियों द्वारा घिरा हुआ। कैसी सुन्दरियाँ । वे मन्त्रस्वरूपा उनके द्वारा (घिरा हुआ)। पुनः कैसा। अरुण। मध्य में तुम ब्रह्मविद्या। कैसे मध्य में । बिन्दु के सिंहासन पर। यह अन्वय हुआ। श्रीचक्र महात्रिपुरसुन्दरी का पूजाचक्र। श्रुति अर्थात् वेदों का मूल प्रणव है। कहा गया है कि वेद ओंकार से निकले हैं। उसका कोश श्रीचक्र के बीचवाला त्रिकोण है। कामकला के अक्षरों (ऐ ह्रीं वली) के अंतर्गत तीन बिन्दु हैं। ये तीनों बिन्दु ब्रह्म विष्णु रुद्ररूप हैं। ज्ञानार्णव का वचन है कि हे महेज्ञानि! ब्रह्मबिन्दु का नाम वामाशक्ति है। विश्व को वमन करती है, इसलिए यह वामा है। वामाशक्ति शब्द (ध्वनि, नाम) और अर्थ (विषय रूप) का कारण है, इसलिए श्रीचक्र श्रुतिमूल (ऊँ) का कोष है।

वे अर्थात् महात्रिसुन्दरी के। संसार चक्रात्मक अर्थात् संसारचक्र, कालचक्र और देशचक्र। श्रीशिव ने तन्त्रराज के 28वें पटल में श्रीचक्र की, देशचक्र और कालचक्र से समता प्रतिपादित की है। ग्रन्थविस्तार के भय से मैं यहाँ नहीं लिखती। ज्ञानार्णव का कहना है कि जिन मूलविद्याक्षरों से श्रीचक्र का प्रसार हुआ उन्हीं अक्षरों से संसार चक्र का विस्तार हुआ। जैसे हे शिवे! लकार से परारूप पृथिवी उत्पन्न हुई, जिस पर शैल, वन, कानन, पचास पीठ, सभी तीर्थ, सब गंगा और सभी क्षेत्र स्थान हैं। सकार से चन्द्र, तारा, ग्रह, राशि आदि का रूप उसने ग्रहण किया। हकार से शिव के संकीर्णरूप व्योममण्डल के रूप में वह वर्तमान है। हे प्रिये! हंकार से यह विश्वकर्ती तुर्या माया है। एकार से विश्वपालन में तत्पर वह वैष्णवी शक्ति है। रकार से (वह) तेजोयुक्त पर ज्योति स्वरूपिणी है। ककार से कामदा, कामरूपिणी अध्याया का स्फुरण होता है। हे देवेशि! अर्द्धचन्द्र द्वारा इसे विश्वयोनि कहा गया है। बिन्दुरूप शिव के शून्यरूप से यह साक्षिणी है। इस प्रकार संसारचक्र से मूलविद्या की तादात्मकता अथवा श्रीचक्र की समता है। विख्यात अर्थात् प्रसिद्ध। उसमें अधिष्ठित अक्षर शिवज्योतिर्मय है। उसमें अधिष्ठित अर्थात् श्रीचक्र में अधिष्ठित जो अक्षर हैं वे ही बीज हैं और उनके आवरण देवतादि, जो तत्त्व के संकेतवर्ण हैं, वे ही शिव हैं। अणिमादि सिद्धियाँ, कामाकर्षिण्पयदि अनंगकुसुमादि, सर्वसंक्षोभिणी आदि, सर्वसिद्धिप्रदादि, सर्वज्ञादि, वशिन्यादि, कामेश्र्यादि ही ज्योतियाँ (ग्रह नक्षत्रादि) उसके रूप हैं, उसी से भरे हुए सब ओर से श्रीचक्र को अभिव्याप्त कर इन मन्त्रों के रूप में अर्थात् इन विद्याक्षर रूप में फैले हुए हैं। लकार से चतुष्कोण (भूपुर) का देवता सहित विकास हुआ, सकार से देवता सहित षोडश दल का, हकार से देवता सहित अष्टदल का, ईंकार से देवता सहित चतुर्दश कोण (दल, यांनि) का, एकार से देवता सहित बाहरवाले दशदल का, रकार से देवता सहित भीतर वाले दशार का, ककार से देवता-सहित अष्टकोण का, अर्द्धचन्द्र से देवता सहित त्रिकोण का और बिन्दु से वैन्दव स्थान का अर्थात् मूलविद्या के नौ अक्षरों से आवरण सहित सम्पूर्ण श्रीचक्र बना,'' यही मुनि (दुर्वासा) का अभिप्राय है।

ज्ञानार्णव ने भी कहा है कि :

"लकार पृथिवी बीज है, इसलिए इसको भूविम्ब (भूपुर चतुष्कोण) कहते हैं। भद्रे! सकार षोडशकलात्मक चन्द्रमा है, इसलिए षोडश पत्र को हकारशिव कहते हैं। भद्रे! इसलिए अष्टमूर्ति (शिव) सर्वदा अष्ठदल होते हैं। ईंकार, यह चौदह भुवनरूप माया है, इसलिए पालन करने वाली 'परा' इन्द्रकोण होती है। शक्ति एकादश स्थान में रहकर, तीनों लोकों को उत्पन्न करती है। इसलिए उनका नाम विष्णुयोनि है, यह विष्णु का दशरूप (दशावतार) है। एकार से निकलकर परमेश्वरी, चक्र में व्याप्त होकर प्रस्फुटित हुई है, इसलिए दशकोण के रूप में किरणोंवाला रकार अव्यय ज्योति है। दशकलाओं वाला अग्नि दशकोण का प्रवर्तक है। नकार मदन है। देवि! शिव अष्टस्वरूप है। योनि (त्रिकोण) के रूप में चक्र आठ कोणों [illegible] है। अर्द्धमात्रा नादरूप में गुणों को उत्पन्न करती है। त्रिकोणरूप

योनि बिन्दु के साथ मिलकर, बन्दव बन जाता है। यही कामेश्वर है, जो विश्वाधार का प्रतीक है। हे वरारोहे। श्रीचक्र, श्रीविद्या की शक्ति से उत्पन्न हुआ है।"

"अरुण अर्थात् बाल सूर्य का वर्णवाला। श्रीसुंदरी से घिरा हुआ, श्री के सौंदर्य से संपन्न सुंदरियाँ, श्रीसुंदरी जैसे सुंदरियाँ। इसका विशेषार्थ हुआ – पंच महाशव से सम्बद्ध सिंहासन पर अर्थात् कामेश्वर के अंक में बैठना। वृत्त अर्थात् घिरा हुआ। मध्य में अर्थात् मध्य त्रिकोण में। वैन्दवसिंह पीठललिते अर्थात् वैन्दव बिन्दु चक्र वहाँ पूर्वोक्तरूप सिंहासन, उससे ललित अर्थात् निरूपम शोभान्वित, तुम अर्थात् महात्रिपुरसुंदरी ब्रह्म विद्या अर्थात् परब्रह्ममयी। शिव अर्थात् कल्याणरूपिणी।"

शाक्तदर्शन के अनुसार सृष्टि में काम करने वाले सभी तत्त्वों का, आवरणदेवता के रूप में विवरण देकर और मध्य में प्रधान शक्ति की स्थापना कर, श्रीचक्र के रूप में संसारचक्र के प्रतीक का निर्माण किया गया है। प्रपंचशीला का सबसे सरल प्रतीक शिवलिंग है और सबसे जटिल और गहन श्रीचक्र है।

सरस्वती

सरस्वती शब्द का अर्थ है गतिमती। वाग्देवता या सरस्वती, आध्यात्मिक पक्ष में निष्क्रिय ब्रह्म का सक्रिय रूप है। इसलिए यह ब्रह्मविष्णुशिवादि सभी को गति प्रदान करने वाली शक्ति है। इसलिए इसे ब्राह्मी, हरिहरदयिते इत्यादि कहा जाता है। ध्यान श्लोकों में सरस्वती को, ब्रह्मविचारसारपरमा, आद्या, जगद्व्यापिनी इत्यादि कहा गया है।

''शुक्ल वर्णवाली, ब्रह्मविद्या का अन्तिम सार आद्याशक्ति जगत में व्याप्त वीणा और पुस्तक धारण करने वाली, अभय देनेवाली, जड़तारूपी अंधकार का नाश करने वाली, हाथ में स्फटिक की माला धारण करने वाली, पद्मासन पर बैठी हुई बुद्धि देने वाली उस परमेश्वरी भगवती शारदा की मैं वंदना करता हूँ।''

यहाँ आद्या जगद् व्यापिनी, ब्रह्मविद्यास्वरूपिणी आदि शब्दों से सरस्वती को ब्रह्मस्वरूपिणी कहा गया।[45]

सरस्वती का उज्ज्वल वर्ण, ज्योतिर्मय ब्रह्म का प्रतीक है। ब्रह्मा, विष्णु और महेश की पूज्या होना भी यही सिद्ध करता है।

दुर्गासप्तशती के प्राकृतिक रहस्य में इन्हें महाविद्या, महावाणी, भारती, वाक् सरस्वती, आर्या, महाधेनु, वेदगर्भा (अर्थात् ऊंकार की तरह वेदमाता) सुरेश्वरी इत्यादि कहा गया है।

सरस्वती की वंदना इस प्रकार की गई है :

''सरस्वती को मैं नमस्कार करता हूँ। वे हृदय में रहने वाली चेतना हैं। पद्मयोनि (ब्रह्मा) के कण्ठ में सदा रहती हैं और ह्वीह्वीकार उनको प्रिय है। मति, वर और सभी उद्यमों के फल देने वाली हैं। देवी, केशव की प्रिया हैं, हाथ में वीणा है और वरद (मुद्रा में) है। देवी को

ऐं ऐं मंत्र प्रिय है, दुर्बुद्धि का नाश करने वाली है। स्वतः प्रकाशवाली है, अवलम्बविहीन (अर्थात् अशय कारणस्वरूपा) है और अज्ञान के अंधकार का नाश करने वाली है। मोक्षप्रद, शुभस्वरूपा, नित्या, शुभांगी और शोभन (अच्छे विचारवालों) को प्रिय है। (षट्चक्रों के) पद्मों में निवास करने वाली कुण्डलिनी है और इनका मनोहर शुक्लवर्ण है। सबको प्रिय है और आदित्यमण्डल (गगनलिंग) में लीन है। मैं इन्हें प्रणाम करता हूँ। महात्मा बृहस्पति ने जब इस प्रकार स्तुति की, तब देवी ने रविबिम्ब की प्रभा की तरह अपने को दिखलाया।''[46]

यहाँ सरस्वती को चित् स्वप्रकाश, नित्य निरालंब और ज्ञानस्वरूप कहा गया है। यह वेदांत का सत्य ज्ञानमनंत ब्रह्म है।

''ह्रींकार के रूप में हृदयबीज हो, चंद्रमा जैसी (शीतल और आह्लाददायिनी) कमला हो, सृष्टि तुम्हारी प्रत्यक्ष शोभा है, भव्य हो, अभव्य लोगों पर तुम्हारी कृपा रहती है, कुमति वन के लिए तुम दावानल हो, सभी तुम्हारे चरणों की वंदना करते हैं, तुम पद्मा हो, पद्म पर तुम्हारा आसन है, प्रणत लोगों के मन को प्रसन्न करने वाली हो, प्रोत्फुल्ल ज्ञानप्रदीप हो, हरि और हर की प्रिया हो और संसार का सार हो।

श्री रूप में तुम्हारा नाम धारणा है, तुम्हें ही लोग धृति, मति, नुति इत्यादि कहते हैं। तुम नित्या हो (संसार का) नित्य (चिरंतन) कारण हो, मुनिजनों की प्रणम्य हो और नवीन तथा प्राचीन हो। पुण्य हो पुण्यप्रवाह हो, हरि और हर की पूज्या हो, तुम पूर्णतत्त्व (ब्रह्म) हो और मनोहर वर्णवाली हो। तुम मात्रा हो, अर्थमात्रा का तत्त्व हो, हे महाबुद्धि देनेवाली. बुद्धि दो। हे माधवि! तुम ही प्रेम का स्वर हो।

सौरूप में शक्तिबीज हो, ब्रह्मा के मुख की विभूति हो साकार और निराकार का प्रकाश हो, सभी देवताओं के रूप में तुम्हीं हो, निर्गुण और रूपरहित हो। न स्थूल और न सूक्ष्म (किंतु कारणस्वरूप) हो, तुम्हारा वैभव जाना नहीं जा सकता और उपविज्ञान के तत्त्व तुम्हीं हो। विश्व और विश्वव्यापिनी तुम्हीं हो, सभी गुणों में तुम व्याप्त हो, निराकार हो और नित्य शुद्ध हो।''

इन श्लोकों में सरस्वती को पद्मा, कमला, हरिहरदयिते और हरिहरनमिते कहा गया है। ये कमलभवमुखाम्भोजस्वरूपा हैं। इससे यही स्पष्ट है कि वे व्यक्त रूप में ब्रह्मा विष्णु महेश्वर की शक्ति और समस्त रूप में परब्रह्ममयी ज्ञान इच्छा क्रियाशक्ति हैं। नित्य, निमित्त मात्रार्धतत्त्व, निर्गुण, निराकार, सगुण, साकार, कारणस्वरूपादि विशेषणों से इनका ब्रह्मरूप ही स्पष्ट किया गया है। ब्रह्मा, बुद्ध और त्रिपुरा की तरह सृष्टिपद्म इनका आसन है। इसे तान्त्रिक सप्तकमल पर निवास करने वाली कुंडलिनी कहते हैं।

सरस्वती का गौर उज्जवल वर्ण है। इनके वस्त्राभूषणादि सभी उजले हैं -- '*सर्वशुक्ला सरस्वती*'। ज्ञान की देवी होने के कारण इनका परमोज्ज्वल शुभ्र वर्ण है। अध्यात्म पक्ष में यह "ज्ञान ब्रह्म" का ज्योतिर्मय रूप है।

इनकी चार भुजाएँ हैं। ये चारों दिशाओं की प्रतीक हैं जो सर्वव्यापित्व के लक्षण हैं। एक हाथ में पुस्तक है। स्थूल रूप में यह ज्ञान प्राप्ति का प्रधान साधन है और अध्यात्म पक्ष में सर्वज्ञानमय वेद का लक्षण है। दूसरे हाथ में माला है। यह स्थूल रूप में एकाग्रता का चिह्न है। अध्यात्म पक्ष में यह विष्णु की वैजयंती काली और महाकाल की मुण्डमाला और बुद्ध की पद्ममाता की तरह विश्वजननी मातृका वर्णशक्ति की माला है। इनके दो हाथों में वीणा है। यह स्थूल रूप में जीवन संगीत का प्रतीक है। हमारी जितनी क्रियाएं और विचार हैं, उनका सर्जनात्मक नादरूप पुंजीभूत होकर महाविश्वसंगीत के रूप में काम करता है। यही इनकी वीणा है। अध्यात्म पक्ष में ऐं और क्लीं बीज इनके सूक्ष्म रूप हैं और इनका नाद सरस्वती का पर, अर्थात् कारण रूप है। इन बीजों की अभिव्यक्ति वीणा के नाद में होती है, जो साधकों को सिद्धि और निर्वाण प्रदान करते हैं।

सरस्वती कमल पर ज्ञान मुद्रा में बैठी रहती है। कमल, सृष्टि का प्रतीक है। इस रूप में यही अभीष्ट है कि यह शक्ति सारी सृष्टि में सर्वव्यापिनी है।

मयूर और सिंह भी सरस्वती के वाहन माने जाते हैं, पर इनका प्रसिद्ध वाहन राजहंस है। इसका निष्कलंक उज्ज्वल वर्ण और नीरक्षीरविवेक, सरस्वती के उपासकों के निष्कलंक चरित्र और गुण-दोष को जानकर गुण को ग्रहण करने का प्रतीक है।

अध्यात्म पक्ष में हंस जीव का प्रतीक है। जीव, प्राणशक्ति के द्वारा काम करता है, जिसका लक्षण निःश्वास और प्रश्वास की क्रिया है। निःश्वास से 'ह' और प्रश्वास से 'सः' ध्वनि निकलती है। यही निःश्वास प्रश्वास का आवागमन 'हंसः' है, जिसके द्वारा चिद्रूपिणी सरस्वती क्रिया निष्पादन करती है। यह हंस निर्विकल्प समाधि में अशेषकारण की जलराशि में तैरता रहता है।

दुर्गा

पुरुषरूप में विष्णु, शिव, प्रजापति, ब्रह्मा इत्यादि के रूप में जिस प्रकार परब्रह्म का ध्यान किया जाता है, उसी प्रकार स्त्रीरूप में, दुर्गा के रूप में उनका ध्यान और उपासना की जाती है। पुरुषरूप में माया और मायी की कभी एक ही और कभी दो भिन्न (स्त्री-पुरुष के) रूपों में कल्पना की जाती है। प्रभामण्डलविहीन माया और ब्रह्म के प्रतीक हैं। ये ही भाव अलग-अलग हर-गौरी, राधा-कृष्णादि के रूपों में साकार किये जाते हैं।

ब्रह्म एक शक्तिमात्र है, इसका कोई निश्चित रूप नहीं है। इसीलिए न इसका कोई लिंग है और न जाति है। रूप तो निमित्त पर आश्रित है। भूतविद्या से एक उदाहरण दिया जा सकता है। बिजली एक शक्ति है। इसका क्या स्वरूप है, यह कहा नहीं जा सकता, पर निमित्त भेद से प्रकाश देती है, यन्त्रसंचालन करती है और उष्णता तथा शीतलता भी प्रदान करती है। ब्रह्म के विषय में भी कुछ ऐसा ही कहा जा सकता है। पिता का स्नेह प्राप्त करने के लिए पिता के रूप में और माता की अगाध करुणा के लिए मातृरूप में इसकी उपासना होती है। इस प्रकार अनन्त रूप अनन्त भावनाओं पर आश्रित है।

''तुम स्वाहा, स्वधा, वषट्कार अर्थात् सर्वयज्ञमयी, स्वरों का प्राण (वाक्) अमृत अक्षर (ब्रह्मस्वरूपिणी) नित्या (अविनाशी) और तीन मात्राओं (अ, उ, म) के प्राणरूप (उ) में स्थित हो। अर्द्धमात्रा (तुरीया) में स्थित नित्या जिसका उच्चारण नहीं हो सकता, वह तुम ही हो। तुम सावित्री हो और सबकी जन्मदात्री परा (कारण स्वरूप) हो। तुम ही विश्व का पालन, सृजन और संहार करती हो। जब सृष्टि नहीं रहती है, तब सृष्टिरूप में तुम ही प्रकट होती हो। जगन्मयि! पालन में स्थितिरूपा और अंत में संहतिरूप तुम ही हो। सबका उत्पत्ति स्थान तुम ही हो और तीनों गुणों को विभाजित (क्रियाशील) करने वाली हो।

''सबके प्राण! सत् असत् जहाँ जो कुछ है, उन सबकी जो शक्ति है उसकी क्या स्तुति हो।''

जिसकी प्राप्ति कष्टसाध्य हो, उसे दुर्गा कहते हैं। ब्रह्मप्राप्ति को योग्यता का लक्षण कहा गया है – ''इहामुत्र भोगविरागः''। – जीवनकाल में और मरने के बाद भी भोग से उदासीनता। यह बड़ा कठिन व्रत और दुःसाध्य अवस्था है। इसलिए ब्रह्मप्राप्ति के व्रत को छुरी की धार पर चलने के समान कहा गया है।

विष्णु, शिवादि रूपों से भिन्न विभूतियों और शवितयों समेत, ब्रह्म के एक अभिनव रूप कल्पना का प्रतीक दुर्गा की प्रतिमा है।

दुर्गा पराशक्ति अथवा परब्रह्म है। त्रिशक्ति (ज्ञान, इच्छा और क्रिया) इनके तीन नेत्र हैं। ज्योति स्वरूप, सूर्य, चन्द्र और अग्नि भी त्रिनेत्र कहे जाते हैं। जब आगे पीछे अथवा दक्षिण वाम – इन दो ही भागों में दिशाओं की कल्पना की जाती है, तब इनकी दो भुजाएं होती हैं। मीनाक्षी, कुमारी, पार्वती आदि रूपों में दो भुजाएँ मानी जाती हैं। जब दिशाओं के पूर्वादि चार रूप माने जाते हैं तब इनकी चार भुजाएँ होती हैं। चार दिशाओं और चार उपदिशाओं की कल्पना पर आठ भुजाएँ मानी जाती हैं। ऊर्ध्व और अधः जोड़ देने से दस दिशाओं की प्रतीक दस भुजाएँ और असंख्य कल्पित दिशाओं में सर्वव्याप्ति दिखलाने के लिए सहस्त्र अथवा दस सहस्त्र भुजाओं की कल्पना की जाती है।

महिषासुरमर्दिनी के रूप में एक सर्प है, जो महिष के अंग से लिपटकर उसे विवश किये रहता है। अध्यात्म पक्ष में महिषासुर महामोह का प्रतीक है। जब वह कालक्रम से परिणातावस्था प्राप्त कर घोर उपद्रव का रूप धारण कर लेता है, तब कालशक्ति (सर्प) द्वारा विवश कर महाशक्ति उसे समेटकर आत्मसात् कर लेती है। विद्या और अविद्या की यह क्रिया सृष्टि में निरन्तर चलती रहती है। इसलिए इनके इस रूप की परिकल्पना भी चिरन्तन है।

मधु-कैटभ, महिष, शुम्भ-निशुम्भादि महामोह वा अविद्या है। इनका महापराक्रमी रूप और सब पर विजय प्राप्त करना इनका प्रचण्ड सर्वव्याप्ति का लक्षण है।

देवी प्रतिमा के एक ओर बुद्धि के प्रधान देवता गणेश और धनशक्ति लक्ष्मी हैं और दूसरी ओर ज्ञान की अधिष्ठात्री देवी सरस्वती और सैन्यबल के प्रतीक सेनापति कार्तिकेय हैं।

सप्तशती की कथा सूक्ष्म भावनाओं का प्रतीक है। दुर्गा को जानने और प्राप्त करने की जिज्ञासा और उद्यम की कथा का आरंभ राजा सुरथ (अच्छे रथवाला अर्थात् कर्मनिष्ठ और समाधि वैश्य) (चित्त की एकाग्रता) की कथा से होता है। सुरथ शत्रुओं से पराजित हुए और राज्य छोड़कर उन्हें वन में शरण लेनी पड़ी। समाधि को स्त्रियों और पुत्रों ने धन के लोभ से, मार-पीटकर घर से निकाल दिया। अर्थात् कर्मठता विरोधी शक्तियों से पराजित हुई और चित्त की एकाग्रता संसार की चंचलताओं से घबराकर भाग खड़ी हुई। कर्म और समाधि, दोनों व्याकुल होकर ऋषि सुमेधा (सद्बुद्धि विचार शक्ति) के पास जाते हैं और देवी महामाया के विषय में प्रश्न करते हैं। उनके उपदेश से वे तत्त्वज्ञान प्राप्त करते हैं और उनके बताए हुए उपाय से ब्रह्मशक्ति को प्रकट करते हैं। देवी की कृपा से सुरथ को राज्य (भोगसिद्धि) मिलता है और समाधि को उसकी इच्छा के अनुसार मोक्ष मिलता है।

दुर्गासप्तशती में दुर्गोपासना का जिस प्रकार विधान किया गया है, उसमें मानव बृद्धि और समाज के गूढ़तम सिद्धांत सन्निहित हैं। आध्यात्मिक और लौकिक शक्ति के उद्भव और विकास के स्थूल, सूक्ष्म और पर–जितने रूप हो सकते हैं, उनके प्रपंचात्मक और आध्यात्मिक सभी पक्षों पर विचार किया गया है और उनकी साधना की रीति बताई गई है।

मनुष्य मात्र की प्रथम आवश्यकता भोजन है। इसका विकसित रूप व्यक्तिगत सम्मत प्रौढ़रूप राष्ट्रसम्मत और विराट रूप महालक्ष्मी है। इसकी रक्षा के लिए क्रमशः उसी परिणाम में व्यक्तिगत राष्ट्रीय और विराटरूप में बल चाहिए। नहीं तो गदहे गेहूँ चर जाएँगे और लक्ष्मी को राक्षस लूट ले जाएँगे। बल के भी तीन रूप हैं – व्यांक्तिगत शक्ति, सुसंगठित समूहशक्ति और विराट वा महाकाली शक्ति। संपत्ति और बल के समायोग से पशुशक्ति, अर्थात् मनुष्य का शारीरिक आवश्यकताओं वाला पशुरूप पूर्ण हो जाता है। मनुष्य और पशु दोनों समान रूप से इसका उपयोग करते हैं। शारीरिक बल में श्रेष्ठ मनुष्य और पशु बलहीन का सर्वस्य अपहरण कर आत्मसात कर लेते हैं। इतने में ही अपने को आबद्ध रखने वाला मनुष्य राक्षस हो जाता है। (रावण कंसादि ऐसे ही राक्षस थे।) मनुष्यत्व और देवत्व के लिए, इन शक्तियों के अतिरिक्त विवेक की आवश्यकता होती है। इसका व्यस्तरूप व्यक्तिगत विद्वत्ता और ज्ञान, समस्तरूप विद्याविलासियों और ज्ञानियों का समाज और विराट रूप महासरस्वती है। मानव और मानवता की महासरस्वती के रूप में उपासना की जाती है।

दुर्गा की प्रतिमा समस्त शक्ति अर्थात् राष्ट्रशक्ति का प्रतिस्वरूप है। जो व्यक्ति और व्यक्तियों का सम्मिलित रूप राष्ट्र, शारीरिक बल, सम्पत्तिबल और ज्ञानबल से सिंह सदृश है, उस व्यक्ति में और उस राष्ट्र पर दुर्गा (शक्ति) प्रकट होती है। राष्ट्र को सैन्यबल (कार्तिकेय) और संपत्तिबल लक्ष्मी और ज्ञानबल (सरस्वती) अवश्य चाहिए, किंतु बुद्धिहीन बल, सम्पत्ति और ज्ञान निरर्थक ही नहीं, वरन् आत्मसंहार के लिए प्रबल अस्त्र सिद्ध होते हैं। इसलिए मनुष्यता के आदिदेव, बुद्धि के महाकाव्य (गणपति) वर्तमान हैं, जिनकी विशाल बुद्धि (शरीर) के भार के नीचे सभी विघ्न (चूहे) विवश रहते हैं। सभी दिशाओं में फैली हुई राष्ट्रशक्ति ही, राष्ट्र की,

दो, चार, आठ, दस सहस्र और अनंत तथा असंख्य भुजाएँ हैं और सब प्रकार के उपलब्ध अस्त्र शस्त्र ही दिक्पालों के अस्त्र इत्यादि इनके आयुध हैं। कोई व्यक्ति और राष्ट्र ऐसा नहीं है, जिसका विरोधी न हो। यही महिष है, शक्ति जिसका सर्वदा संहार करती रहती है। दुर्गा के रूप में यह भारतशक्ति की उपासना है।

दुर्गासप्तशती में बारंबार यही दिखाने की चेष्टा की गई है कि देवी विश्वव्यापिनी और एक है और उनकी इच्छा से असंख्य रूप हो जाते हैं। नवार्ण मंत्र (ॐ ऐं ह्रीं क्लीं चामुण्डायै विच्चे) द्वारा इसे और भी स्थिरता दे दी गई है। सप्तशती के पटलों का क्रम है काली, लक्ष्मी और सरस्वती, किंतु मंत्र के बीजों का क्रम है सरस्वती (ऐं), लक्ष्मी (ह्रीं) और काली (क्लीं) अर्थात् काली पटल की क्रियाएँ सरस्वती बीज से होती हैं और सरस्वती पटल की क्रियाएँ काली बीज से। देवी के आदिरूप को लक्ष्मी कहा गया है। लक्ष्म का अर्थ है चिह्न, लिंग। यह ब्रह्म की त्रिमूर्ति की तरह है। लक्ष्मी अर्थात् ब्रह्म की प्रकट इच्छाशक्ति, मध्य में रहकर ज्ञान (सरस्वती) और क्रिया (काली) शक्तियों का संचालन करती रहती है, इसलिए यह ह्री (देवी प्रणव) का वाच्य बनकर मध्यस्थ रह जाती है।

यंत्र प्रतीक पर भी, सभी देवताओं की तरह, देवी की भी पूजा होती है। उसमें प्रधान देवता का स्थान यंत्र के मध्य में होता है और आवरण देवताओं की पूजा प्रधान देवता के भिन्न-भिन्न पार्श्व में यंत्र के भिन्न-भिन्न भागों पर होती है। वहाँ उन देवताओं की प्रतिमा नहीं बनाई जाती, केवल ध्यान और मंत्र से उनकी पूजा होती है।

. यंत्र और प्रतिमा एक ही भावना के भिन्न-भिन्न प्रतीक हैं। देवी के रूप की कल्पना भी शिवलिंग की तरह यंत्र की भावनाओं के आधार पर की जाती है। दिव्यज्योति स्वरूप पराशक्ति का घनीभूत रूप यंत्र है और दिव्यज्योति का घनीभूत लघुरूप शिवलिंग है। दुर्गासप्तशती के द्वितीय अध्याय में लिखा है कि देवताओं की आत्मज्योति जलते हुए पर्वत की तरह दिखाई पड़ने लगी। (अतीव तेजस, कूट ज्वलंत मिव पर्वतम्) और वह घनीभूत होकर स्त्रीरूप में परिवर्तित हो गई। रुद्र अंश से उनका मुख बना (यहभूच्छाम्भवं तेजस्ते नाज्ञायत तन्मुखम्)। यह शिवलिंग का वेदी के भीतर वाला अष्ट प्रकृति का सूचक अष्टकोण है। ब्रह्मा के तेज से उनके चरण बने (ब्रह्मणस्तेजसा पदा)। यह शिवलिंग के निम्नस्थ ब्रह्मांश का सूचक स्थितित्त्व चतुष्कोण है। यह ही यंत्र के क्रमशः बिंदु, अष्टदल और चतुष्कोण भूपुर हैं।

(ख) शक्ति दुर्गा की मूर्तियों का विवरण

दुर्गा की एक मूर्ति नेपाल की है। यह पुनश्चर्यार्णव में प्रकाशित हुई है। सिंह (धर्म) के पैर के नीचे महिष (अधर्म) का कटा हुआ मस्तक है। सिंह अपने दाहिने पैर से महिष के शरीर को दबोचे हुए है और मुख से उसने महिष के, तलवारवाले दाहिने हाथ को बेकार कर दिया है। महिष के शरीर से सर्प लिपटा है। यह काल का बंधन है। कालपाश से अधर्म को विवश कर दिया गया है। दुर्गा का एक पैर धर्म अर्थात् ज्ञान पर है और दूसरा अधर्म अर्थात् अज्ञान पर

है। धर्म-अधर्म और ज्ञान-अज्ञान से ही सृष्टि चलती है। एक का भी अभाव होने से प्रपंच के संचालन में बाधा होने लगती है। दुर्गा के दाहिने हाथ में त्रिशूल है। इसके ऊर्ध्व अंश में त्रिशूल है और नीचे शूल है। त्रिशूल त्रिशक्ति है और इसका घनीभूत रूप शूल है। शूल महिषासुर के कंठ में है, जिससे वह निष्प्राण हो गया है। यह अद्वैतज्ञान अर्थात् तत्त्वज्ञान द्वारा अज्ञान और अधर्म का नाश करना है। यह तत्त्वज्ञान भगवत्कृपा से ही प्राप्त होता है, क्योंकि यह उसी के हाथ की वस्तु है। त्रिशूल और शूल की तेजोमय चैतन्यशक्ति के रूप में उपासना होती है। जगदंबा के दशों हाथों में दश दिक्पालों के शस्त्रास्त्र हैं। (चित्र सं. 20)

महाबलिपुरम् के वराकस्वामिन के मंदिर की चट्टान को काटकर बनाई हुई दुर्गा की प्रतिकृति है। जिस तरह नटराज अपस्मार पुरुष की पीठ पर एक पैर पर सारा भार देकर खड़े रहते हैं, उसी तरह यहाँ दुर्गा एक पैर पर सारा भार देकर महिष के मस्तक पर खड़ी है। पैरों के वामपार्श्व में एक स्त्री और दाहिनी ओर एक पुरुष है। स्त्री के हाथ में सुधापात्र है, जो

चित्र संख्या 20: दुर्गा की एक मूर्ति (नेपाल)

परमानंद का प्रतीक है। दोनों की मुद्रा से मालूम होता है कि दोनों स्तुतिगान में निरत हैं। दाहिनी ओर वाली पार्श्वदेवी के हाथ में तलवार और बाईं ओर वाली के हाथ में धनुष है। दोनों के माथे पर सात लपेट के कारणं मुकुट है, जो सप्तभुवन है। दुर्गा के माथे पर भी सात लपेटों का करण्ड मुकुट है। चित्र के दोनों उर्ध्वकोण में धर्म के प्रतीक सिंह और वृषभ हैं। सिंह के निकटवाले गंधर्व के हाथ में पूजाद्रव्य और वृषभ के निकटवाले किन्नर के हाथ में वाद्ययंत्र है। दोनों के किंचित् खुले मुख से बोध होता है कि दोनों स्तुति गान में निरत हैं।

ऊपर तक त्रिशूल है, जो शक्ति के ज्वालामय चैतन्य रूप से बना हुआ है। इसके तीनों शूल दीपशिखा की तरह लहरा रहे हैं।

एक महिषमर्दिनी की प्रतिमा है। (देखिए डा. आनंद कुमार स्वामी, विश्वकर्मा, चित्रपट[36])। इसमें दुर्गा अपस्मार पुरुष वर नटराज की तरह महिष पर खड़ी है। महिष का आधा शरीर मनुष्य का और आधा शरीर पशु का है। देवी का बायाँ पैर पशुभाग पर और दाहिना मनुष्यांश पर है। देवी के एक हाथ में महिष की पूँछ है, जो उसकी विवशता का चिह्न है। देवी की आठों भुजाएँ फैली हुई हैं, जो सर्वव्यक्तित्त्व के चिह्न हैं। मूर्ति स्थाणु मुद्रा में सीधी खड़ी है। यह सारी सृष्टि के रूप का प्रतीक है। मुकुटादि के प्रतीक चित्र में स्पष्ट नहीं मालूम होते हैं। (चित्र सं. 21)

चित्र संख्या 21 : महिषासुरमर्दिनी – महाबलिपुरम
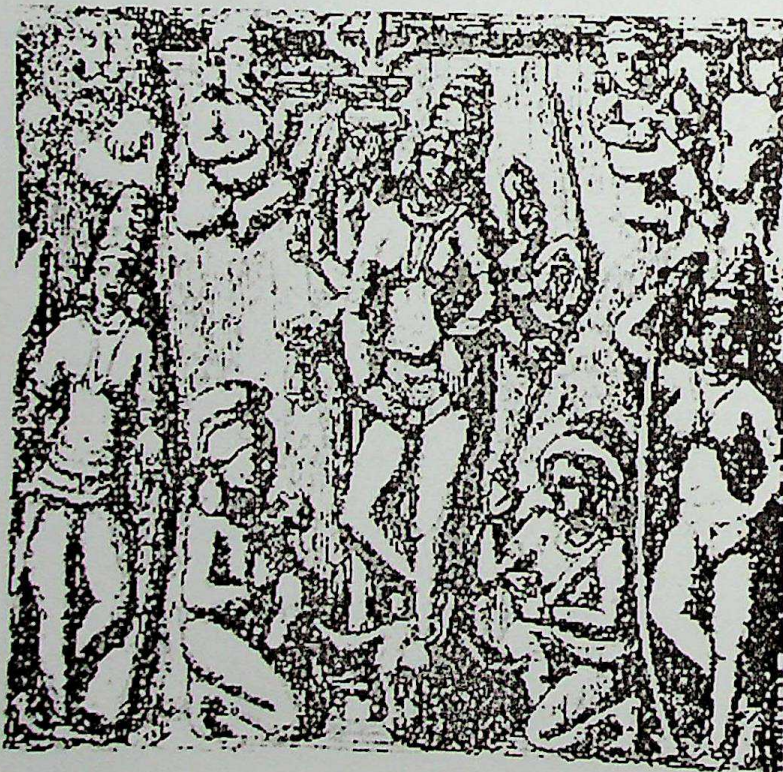
दूसरी महिषमर्दिनी दुर्गा की प्रतिमा है। (देखिए, विश्वकर्मा, चित्रपट-36)। यह इस समय लाइडेन जर्मनी के संग्रहालय में है। मूर्ति बड़ी ही भव्य और प्रभावशाली है। इस मूर्ति की विशेषता है कि यह केवलमहिष पीठ पर है। महिष को रुद्र का अवतार भी कहा गया है। इस सृष्टि से यह शव या शिवपीठ सिद्ध होगा।

काली

काली का चित्र नेपाल में है। पुरश्चर्यार्णव में प्रकाशित हुआ था। (इसका कापीराइट प्रकाशक के अधीन है।) शिव श्मशान में पड़े हैं। सर्प रूप में काल भी अंकित है। निष्क्रिय ब्रह्म (शिव) का सक्रिय त्रिगुणात्मकरूप काली के रूप में स्थाणुक मुद्रा में खड़ा है। (चित्र 20 के यंत्र स्थिति और गति के प्रतीक शिव और शक्ति के दोनों त्रिकोणों का स्मरण कीजिए।) काला रंग और खुले हुए केश वेद की महारात्रि का वा तमोगुण का घोर अंधकार, अर्थात् तमोगुण है। लोल जिह्वा से रक्त बिंदु टपक रहे हैं। यह लाल रंग लोक जिह्वा और रक्तबिंदु का स्राव रजोगुण का और प्रतिक्षण सृष्टि होते रहने का प्रतीक है। इनके मुख का दंतुर होना अनिवार्य है। ये उजले दाँत सत्वगुण हैं और दो बड़े-बड़े दाँत अमृतस्रावी महा-आनंद के प्रतीक हैं। इच्छा ज्ञान क्रिया और स्थूल रूप में चंद्र, सूर्य और अग्नि इनके तीन नेत्र हैं। वाक्शक्ति पचास वर्णों के मुण्डमाल के रूप में गले में पड़ी हुई है। हाथ में ज्ञान का खड्ग और अज्ञान का सद्यछिन्न मस्तक है, जिससे रक्त टपकता रहता है। अज्ञान या अविद्या के शिरच्छेद की यह क्रिया सर्वदा चलती रहती है, क्योंकि अज्ञान का शिर जितना ही काटा जाता है, यह उतना ही बढ़ता है। अम्बा की विशेष कृपा होने से इसका समूल नाश नहीं होता। (रक्तबीज, रावण और ऋग्वेद के वृत्र की कथा का स्मरण कीजिए।) एक हाथ अभयमुद्रा में और दूसरा वरममुद्रा में है। कटि में शवों के हाथों की माला है। ये शिवत्व प्राप्त किए हुए, अर्थात् सोऽहंभाव में स्थित भक्तजनों के कर्म हैं, जिन्हें स्वीकार कर देवी उन्हें मुक्ति देती है, शिव मुक्ति है, जो इनकी कृपा के लिए चिल्लाती रहती है। (चित्र सं. 22)

एक काली का चित्र बंगाल में है। (इसके प्रकाशक एस. दस्तीदार एंड क. हैं।) देवी श्मशान में अपने कूटस्थ रूप शव-शिव पर है। भावनाविहीन अर्थात् निर्विकल्प निरुपाधि अवस्था ही श्मशान है। शिव (मुक्ति) पार्श्व में है। पराशक्ति की लघु शक्तियाँ (योगिनियाँ) विघ्नों (असुरों) को दूर कर रही हैं। और सभी प्रतीक पूर्वोक्त चित्र की तरह हैं। इसमें धर्माधर्म दो शव कानों में आभूषण के स्थान में हैं। अंधकारमय रूप के बाहर प्रकाश पुंज फैला है। यह सृष्टि सूक्त का ''ततो रात्रयजायत, ततः समुद्री अर्णवः'' है। ऊपर ब्रह्मा और विष्णु पार्श्वदेवता की तरह स्तुति कर रहे हैं। (चित्र सं. 23)

बंगाल की एक प्रतिमा है। मूर के हिंदू पैन्थियन से इसका संग्रह किया गया है। मुण्डमाल में मुण्ड वर्णमाला के पचास अक्षरों के संकेत मात्र हैं। इसलिए साधारणतया पचास मुण्ड नहीं बनाए जाते हैं। संकेत के लिए केवल कुछ मुण्ड बना दिए जाते हैं। इस प्रतिमा में पचास मुण्ड बनाने की चेष्टा की गई है।

चित्र संख्या 22: काली - नेपाल

चित्र संख्या 23: बंगाल काली

महालक्ष्मी दुर्गा की अपूर्वमूर्ति है। महिष के खुले मस्तक में कमल है। उस पर दुर्गा खड़ी है यह माया का अज्ञान, जो सृष्टि का मूल है। पीछे सिंह है। सृष्टि लीला के लिए सिंह महिष (ज्ञान-अज्ञान) दोनों की आवश्यकता है।

एक द्वितीय महाविद्या तारा की, बंगाल की मूर्ति है। शिव के हाथों में डमरू और शंख शब्द ब्रह्म के प्रतीक हैं। शृंग कभी-कभी सुधापात्र का भी काम करता है। (चित्र सं. 24) इसलिए यह आनंद का भी प्रतीक है। वाक्शक्ति यत्र-तत्र मालाओं के रूप में पड़ी है। काल शक्ति (सर्प) शिव और शक्ति के हाथों में और पैरों से लिपटे हैं। जगदंबा के पैरों में और शिव के अंगों में ये गति के प्रतीक हैं। कटिवस्त्र (व्याघ्रचर्म) दिक् है। वर्णमाला (वाङ्मय सृष्टिशक्ति अर्थात् नाद बिंदु) गले में है। नीलवर्ण और फैले केश, रक्त और लालजिह्वा तथा उजले दांत, काली की तरह, क्रमशः तम, रज और सत्व के प्रतीक हैं। पुष्ट स्तन और चार सुदृढ़ भुजाएँ जगत्पालन की क्षमता के प्रतीक हैं। तीन नेत्र कालीवत् हैं। त्रिपुरा के सिंहासन के नीचे जो पंचशिव, पंचब्रह्म, पंचभूतादि हैं, वे यहाँ मस्तक पर पंचमुण्ड के रूप में दिखलाये गये हैं। ऊपर सर्पफण के रूप में महाकाल है, अर्थात् पैरों के नीचे महाकाल और मस्तक पर महाकाल। यह महाकाल का महाकाली रूप है। बाएँ हाथों में खड्ग और कर्तरी है, जो अज्ञान के नाश करने में निरत रहते हैं। घोर प्रहार के लिए खड्ग और लघुकार्यों के लिए कर्तर (काती) है।

चित्र संख्या 24: महाविद्या तारा

कभी-कभी काती के स्थान में कंची भी दिखलाई जाती है। इसका अर्थ है कि बड़ी से बड़ी कठिनाई को यह कंची द्वारा अनायास काट डालती है। दाहिने हाथों में सृष्टि का प्रतीक कमल और ब्रह्मानंद का प्रतीक सुधापात्र है। यही सुधापात्र वैदिकों का सोमपान, ब्रह्मा का कमण्डल, मंदिर का अमृतकलश और बुद्ध का कमण्डल तथा सुधाघट है। श्मशान कालीवत् है, जो चिताधूम से आच्छन्न है। देवी स्थाणुक रूप में खड़ी है। यह स्तंभ स्तूप अथवा प्रसाद पुरुष की तरह त्रिगुणात्मक अखिल विश्व का प्रतीक है।

बंगाल में प्रचलित त्रिपुरा की मूर्ति है। इसमें सिंहासन के नीचे पंचब्रह्म अंकित हैं। सिंहासन पर शयन मुद्रा में परमशिव हैं। इसकी नाभि, विष्णु की नाभि की तरह बिंदुस्थान है, जहाँ से सृष्टि का आरंभ होता है वेद में इसे ही "अमृतस्य नाभिः" कहा गया है। नाभि से सृष्टि का प्रतीक कमल निकला है, जिसपर विमर्श अर्थात् साकार सृष्टिरूप त्रिपुराम्बिका बैठी है। विष्णुरूप में कमल पर ब्रह्मा, शाक्तरूप में कमल पर शक्ति, जैन रूप में कमल पर तीर्थंकर और बुद्ध रूप में कमल पर बुद्ध बैठे रहते हैं। सब का अंतर्गत सिद्धांत एक है। पाशांग आदि की व्याख्या त्रिपुरा प्रकरण में हो चुकी है।

कामरूप की कामाख्या की स्वर्णमूर्ति है। इसमें गोलाकार बिंदुस्थान दिखलाया गया है। इसका नाम योनिपीठ भी है। इसके भीतर चतुष्कोण पीठ पर सिंह और शव-पीठ है। ये सब अविनाशी कूटस्थ तत्त्व की अचल स्थिरता के प्रतीक हैं। साधना जगत में ये वीर और दिव्य अवस्थाओं के संकेत हैं, जब शक्ति प्रकट होकर प्रत्यक्ष होती है। नाभिस्थान, कमल इत्यादि

पूर्ववत् हैं। हाथों में जपवटी, अभय और बरद दिखाए गए हैं। ये सृष्टि, उन्नति और रक्षा के संकेत हैं और जगन्माता का यह मंगलमय रूप है। ऊपर अंकित ॐ से इन सभी भावों को व्यक्त करने की कोशिश की गई है। (चित्र सं. 25)

छिन्नमस्ता की मूर्ति नेपाल में है। पुरश्चर्यार्णव में प्रकाशित हुआ है। इसका वृत्त ''नाभि: अमृतस्य नाभि:'' अर्थात् बिंदुस्थान है, जिसमें विवर्त का नाद इतने रूपों की सृष्टि करता रहता है। वृत्त के बाहर के अंधकार और छिटकती हुई प्रकाश की रेखाएँ महारात्रि के अंधकार अर्थात् अज्ञेयता (यहाँ सृष्टि सूक्त को स्मरण कीजिए) और उसके संकुचित रूप साकार श्रेयता के प्रतीक हैं। बिंदु अंधकार और प्रकाश का और भी घनीभूत रूप, सूक्ष्म और स्थूल रूप है। चित्र 20 में यंत्र के मध्य का एक त्रिकोण स्थिति और दूसरा गति का प्रतीक है। ये दोनों एक साथ अर्धनारी रूप में और अलग-अलग भिन्न-भिन्न नामों से स्त्री-पुरुष के रूप में दिखलाए जाते हैं। यहाँ वे ही ज्ञान इच्छा क्रियावाले दो त्रिकोण कामकला, अर्थात् रतिकाम के रूप में दिखलाए गए हैं। इस भावना का मुख्य उपकरण बनाकर अथवा इसी रूप में महामाया अपनी लीला का विस्तार करती है। इसलिए छिन्नमस्ता इसके ऊपर स्थित है। त्रिमूर्ति की मध्यस्थ मूर्ति की तरह इस चित्र का मध्यस्थ प्रधानरूप रजोगुण है और तम और सत्व दो योगिनियों के रूप में दो पार्श्वदेवता की तरह हैं। जिस तरह हवा और बिजली का कोई मस्तक नहीं होता है, उसी तरह शक्ति के मस्तक या हस्तपादादि कल्पित वस्तु हैं। इसलिए ज्ञान खड्ग से इस कल्पित अज्ञान का उच्छेद कर दिया गया है। रक्त की तीन धाराएँ तीनों मुख को भर रही हैं। इससे यही कहा गया है कि एक ही मूलशक्ति त्रिगुण का आधार है और उसी से तीनों गुणों त्रिशक्ति आदि की उत्पत्ति और स्थिति है। दुर्गासप्तशती में दुर्गा को 'गुणाश्रये' और 'गुणमये' कहकर इसी भाव को स्पष्ट किया गया है। (चित्र सं. 26)

इनका नाम प्रचण्डचण्डिका और वज्रवैरोचनी भी है और बुद्ध सम्प्रदाय में इस रूप और भाव को ज्यों का त्यों ग्रहण कर लिया गया है।

छिन्नमस्ता का एक रूप बंगाल में प्रचलित है। इसमें (सृष्टि) और काम रति (स्थिति गति) के प्रतीक स्पष्ट हैं। इसमें वर्णमाला (वाक्) तीनों रूपों में स्पष्ट कर दिखलाये गये हैं। दिक् देवी का वस्त्र है। इसलिए ये दिगम्बरी हैं। कालसर्प तीनों शक्तियों के साथ है और तीनों के हाथ में ज्ञान का खड्ग है। दो योगिनियों के हाथ में सुधापात्र है और महादेवी का अपना मुख ही सुधापात्र है। इसमें नेपाल वाले चित्र की तरह और संकेत नहीं आ सके हैं।

नेपाल में धूमावती की मूर्ति है। इसमें विकराल रूप में शक्ति को अंकित किया गया है। ये काकध्वज और काकवहिनी है। यह श्मशान की शून्यता का प्रतीक है। यहाँ धर्म चक्र के रूप में रथ में लगा है, जो देवी को वहन करता है। हाथ का सूप अज्ञान की भूसी उड़ाकर भक्तों को ज्ञान का अन्न और पुष्टि प्रदान करता है। यह वृद्धा माता का स्तूप है। प्रेममय हृदय इसे प्रेममय रूप में देखता है।

श्रीचक्र शाक्तों का परमाराध्य और परमप्रिय प्रतीक है। इसका सांकेतिक विवरण यथास्थान हो चुका है। सौन्दर्यलहरी की टीका में तथा श्रीविद्या के ग्रन्थों में इसका विस्तृत विवरण है।

चित्र संख्या 25: कामरूप की कामाख्या

चित्र संख्या 26: छिन्नमस्ता की मूर्ति – नेपाल

इसका मध्यस्थ बिन्दुस्थान ध्यान देने योग्य है। इसे ही शक्तिमहिमास्तोत्र में कहा गया है– मध्ये वैन्दवसिंहपीठललिते त्वं ब्रह्मविद्या शिवे। बोरोबुदूर (जावा चित्र 140) का स्तूप इसी यन्त्र पर बना है।

नटेश्वरी

नेपाल से प्राप्त तारा की मूर्ति है। यह इस समय विक्टोरिया अलबर्ट म्यूजियम लण्डन में है। इनके प्रतीक ध्यान देने योग्य हैं। नीचे सृष्टि कमल है। उसके बीच में बिन्दुस्थान कमल की कर्णिका है। उसके ऊपर नटराज के अपस्मार पुरुष की तरह महापुरुष पड़ा है। यही इन्द्र का वृत्र और दुर्गा का महिष है। देवी की मुद्राओं से ही मालूम होता है कि कोई प्रचण्ड नृत्य हो रहा है। नृत्य के वेग में उत्तरीय के दोनों छोर लटक कर ऊपर की ओर मुड़ गये हैं। देवीमूर्ति के बीच में रहने से ऊपर और नीचे दोनों ही ओर त्रिशूल बन जाते हैं। यह त्रिशक्ति का चिह्न है। नेपाल की बौद्धमूर्तियों में यह शैली देखी जाती है। गले में मुण्डमाल है। यह सृष्टि का प्रतीक है। इसके बीच सृष्टि के जीव-जन्तु हैं। हाथ नृत्यमुद्रा में है। मुख विकराल है, जिससे उद्विग्नता और क्रोध प्रकट होता है। कानों के पास उड़ते हुए उत्तरीय नृत्य के वेग को प्रकट करते हैं। और बाल भी अग्नि ज्वाला की तरह मालूम होते हैं। तीनों नेत्र काली, तारा इत्यादि की त्रिशक्ति के प्रतीक हैं। परिशिष्ट 10 में कालरात्रि नृत्य को इस प्रसंग में स्मरण कीजिए।

श्रीराम

राम भारतीय जीवन और भारतीय सभ्यता के मूलस्तम्भ और विशालस्तम्भ हैं। राम नाम लेते ही भारत की प्रत्येक झोंपड़ी से भी इसकी प्रतिध्वनि सुनाई पड़ने लगती है। इस नाम ने कितने युगों से और कितने रूपों में भारत को नित्य नूतन जीवन और बल दिया, इसका लेखा करना कठिन है।

भारत में राम दो रूपों में वर्तमान हैं– नारायण रूप में और नर रूप में। पहले हम नारायण रूप पर विचार करेंगे।

भगवान राम पूर्णब्रह्म हैं। संसार में अधर्म बहुत बढ़ गया और भय होने लगा कि धर्म उठ जाएगा। सब सृष्टि और सज्जनों की रक्षा के लिए प्रभु ने मनुष्य रूप धारण किया और अधर्मियों का नाश कर धर्म की रक्षा की तथा सबका कष्ट दूर किया। जब-जब ऐसी विपत्ति उपस्थित होती है, तब-तब प्रभु नाना रूप धारण कर धर्म की रक्षा और धर्म के बाधक अधर्म का संहार किया करते हैं और अपनी लीला, इस सृष्टि को बनाये रखते हैं।

अपनी इच्छा से रूप ग्रहण करने के लिए प्रभु कोई निमित्त और साधन चुन लेते हैं और उन्हीं के द्वारा रूप ग्रहण करते हैं। रामावतार में अधर्ममूर्ति रावण का संहार कर सृष्टि के नियमों की रक्षा करना निमित्त था और दशरथ तथा कौशल्या को पिता-माता बनाकर इन्होंने रूप ग्रहण किया। मनु शतरूपा रूप में दशरथ कौशल्या ने पूर्वजन्म में प्रभु को पुत्ररूप में देखने के लिए

बड़ी तपस्या की थी और उनकी इच्छा पूर्ण हुई। धन्य हैं वे प्राणी, जिन्हें प्रभु अपनी इच्छा की सिद्धि के लिए साधन बनाकर सत्कर्म करने का सामर्थ्य प्रदान करते हैं और उन प्राणियों के सौभाग्य का क्या कहना, जिन्हें वे अपने माता-पिता के रूप में ग्रहण करते हैं।

प्रभु जब मनुष्य रूप ग्रहण कर प्रकट होते हैं तो उनके यथार्थ रूप को, ब्रह्मविद्या के जानने वाले ब्रह्मज्ञानी लोग ही पहचान सकते हैं।

वाल्मीकि, भरद्वाज, अगस्त्यादि ब्रह्मज्ञों ने इन्हें तुरन्त पहचान लिया और इनकी पूजा की, किंतु औरों ने इन्हें साधारण मनुष्य समझा और कुछ ने अपशब्द का भी व्यवहार किया।

राम जो साक्षात् नारायण हैं उनसे रावणवध के लिए ब्रह्मा ने प्रार्थना की। वे दशरथ पुत्र बने। योगमाया भी जनकपुत्री सीता बनी हैं। शेष भी लक्ष्मण बने हैं और सर्वदा राम के पीछे लगे रहते हैं।

श्रीकृष्ण

राम की तरह कृष्ण भी पूर्णब्रह्म के आविर्भूत रूप हैं। अपने आनंद में अपने शक्तिमाया व्यूह को लेकर ये जगत के बद्ध जीवों के उद्धार के लिए प्रकट हुए और जगत् के बाधक अविद्याग्रस्त राक्षसादिकों को हटाने में अपनी लीला का विस्तार किया और शरणार्थी मुमुक्षुजनों के अवलंबस्वरूप अपनी लीला की गाथा छोड़कर अंतर्धान हो गये। कृष्ण में नरत्व और नारायणत्व इस प्रकार ओतप्रोत है कि इनमें विभेद करना कठिन है। जन्म लेते ही देवकी को विश्वरूप का दर्शन देते हैं। बाल्यकाल से ही राक्षसों का नाश करते हैं। युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में एक ओर शिशुपाल गालियाँ बक रहा है और दूसरी ओर भीष्म में अर्घ्यद्रव्य लेकर प्रथम पुरुष का अर्घ्य देते हैं। आरंभ से अंत तक कृष्णचरित, नरत्व और ब्रह्मत्व से इस प्रकार अनुस्यूत है कि इसे अलग करना असंभव है।

''ब्रह्म एक है, दो नहीं। माया से वह चार हो जाता है। अकारात्मक बलराम विश्व है, उकारात्मक विश्व तेजस है, मकारात्मक अनिरुद्ध प्राज्ञ है और अर्द्धमात्रात्मक कृष्ण है, जिनमें सबकी स्थिति है। रुक्मिणी जगत को बनाने वाली कृष्णात्मिका मूल प्रकृति है। वेदरूप गोपियों से उत्पन्न ज्ञान संगत कृष्ण है। प्रणवरूप होने के कारण ब्रह्मवादी प्रकृतिरूप भी कहते हैं। इसलिए गोपाल विश्वव्यापी ऊं का रूप हैं।''[47]

''यह जगत् वृक्ष का रस है, वह जगतपशु का पालक (गोपाल) है। मुक्त की तरह जीवों को एकत्र रखने का वह सूत्र है, हृदय वस्त्र है।''

''परमानंद नंद है, मुक्ति उनकी गृहिणी यशोदा है। उनकी अजेय वैष्णवी माया के तीन रूप हैं – सात्विकी, राजसी और तामसी। सात्विकी रुद्र है, राजसी ब्रह्मा है और तामसी असुरों में है। अजेय वैष्णवी माया, जो पहिले अक्षर से उत्पन्न हुई, वह ब्रह्म (कृष्ण) की माता देवकी है, वेद जिसकी स्तुति करते हैं। निगम और वेदार्थ वसुदेव हैं, जो राम और कृष्ण की सर्वदा स्तुति करते हैं, जो गोप-गोपियों के साथ खेलने के लिए पृथ्वी पर अवतीर्ण हुए। [illegible] और गाएँ वेद

की ऋचाएँ हैं, ब्रह्म लाठी हैं, भगवान रुद्र बंशी हैं, इंद्र सींग हैं, देवगण गाय और बैल हैं, बैकुण्ठ गोकुल और वन हैं, तापसगण वहाँ के वृक्ष हैं, लोभ, क्रोधादि दैत्य हैं, अपमान कलिकाल है, माया से शरीर धारण करने वाले साक्षात हरि गोप हैं, दुर्बोध कुहरे जैसा यह संसार उनकी माया से मोह में पड़ा हुआ है। वह बड़ी धृष्ट है और देवताओं के लिए भी दुर्जेय है। जिसने मायारूपी रुद्र को बंशी बनाया, उसके लिए जगत् क्या है। उसने देवताओं के ज्ञान और बल को क्षण भर में हर लिया। शेषनाग बलराम हुए और चिरंतन ब्रह्म कृष्ण हुए। ऋचाएँ गोपियां हुईं। द्वेष चाणूर मल्ल है, मत्सर मुष्टिक है, दर्प कुवलयापीड हाथी है और गर्व बकासुर है। दया रोहिणी माता है, पृथ्वी सत्यभामा है, महाव्याधि अघासुर है और कलि राजा कंस है। शुभ उनका मित्र सुदामा है, सत्य अक्रूर और दम उद्धव है। लक्ष्मीरूप में स्वयं विष्णु मेघ के समान शब्द वाला शंख है, जो क्षीर समुद्र से उत्पन्न हुआ था। दधि लेने में पात्र तोड़ कर उन्होंने क्षीर समुद्र बनाया। दुष्टों के नाश और सज्जनों की रक्षा के लिए वटपत्रशायी की तरह बालक बनकर ये क्षीरसागर में क्रीड़ा करते हैं। सब जीवों पर दया करने के लिए और अपने पुत्र धर्म की रक्षा करने के लिए ब्रह्मरूप चक्र है। वायु जयंती से उत्पन्न धर्म नामक चंवर है, महेश्वर आग की तरह जलता हुआ खड्ग है। कश्यप ऊखल है, माता अदिति रज्जु है। शंख और चक्र सब के मस्तक पर (रहने वाले) सिद्धि के प्रतीक बिंदु हैं बुद्धिमान लोग देवताओं के जितने रूप बताते हैं, उनमें उसी की स्तुति करते हैं, इसमें कोई संशय नहीं। शत्रुओं का संहार करने वाली कालिका गदा है और विष्णुमाया शार्ङ्गधनुष है। शरत्काल भोजन है। अपनी लीला के लिए हाथ में लिए हुए कमल का नाल संसार का बीज है। गरुड़ भाण्डीर वट है, नारद सुदामा है और सब जीवों को प्रकाश देने वाली भक्ति, ज्ञान और क्रिया वृंदा है। इसलिए विभु (सर्वव्यापी) इनसे भिन्न वा अभिन्न नहीं है। स्वर्गवासियों के वैकुंठ को उतारकर उन्होंने पृथ्वी पर रख दिया। जो यह जानता है, उसे सभी तीर्थों का फल मिलता है। देहबंध से वह विमुक्त हो जाता है।[48] यही उपनिषत् है।''

''कृष्ण पूर्णब्रह्म है। उनकी शक्ति राधा माया है, जो उनकी चिरसंगिनी है।

> **''सुंदर त्रयगुण रस की सीमा**
> **दूर राधिका श्याम।''[49]**

''सूरदास का कथन है कि राधा और कृष्ण, सुंदरता, त्रिगुण और महारस की चरम सीमा हैं।''

कृष्ण की राधिका के प्रति उक्ति है :

> **''ब्रजहिं बसे आपुहिं बिसरायो।**
> **प्रकृति पुरुष एकै करि जानहु।**
> **बातनि भेद करायो।।''[50]**

''ब्रज में रहकर अपने को भी भूल गई। जान लेने पर प्रकृति और पुरुष एक ही है, भेद केवल (दो) शब्दों का।''

स्वमायया संवृतरुद्धदृष्टये।[51]

''अपनी माया से आवृत होने के कारण दृष्टि को इन्होंने अवरुद्ध कर दिया है।''

शाण्डिल्य ने परीक्षित और वज्रनाम से कहा -- ''ब्रजभूमि के रहस्य को दत्तचित्त होकर सुनिए। व्रजन का अर्थ है व्याप्ति। व्यापक होने के कारण इसे व्रज कहते हैं। गुणातीत व्यापक परब्रह्म ब्रज है। वे सदानंद, ज्योति स्वरूप और मुक्तों के अचल पद हैं। उसमें नंदनंदन, आनंदरूप, आत्माराम, आप्तकाम को प्रेमीजन अनुभव करते हैं। उनकी आत्मा का नाम ही राधा है। उसी में ये मग्न रहते हैं। आत्मस्मरण होने के कारण गूढ़ तत्त्व जानने वाले सिद्ध पुरुष इन्हें राधारमण कहते हैं। उनकी इच्छाएँ गो, गोप और गोपिकाएँ हैं। ये सभी नित्य हैं और लीला में निरत हैं। वे स्वयं आप्तकाम हैं।''[52]

''अष्ट बाह्य प्रकृति ललितादि सखियाँ हैं और जीवभूता पराशक्ति राधा है।''
''सोलह सहस्र गोपियाँ एक शरीर की पीड़ा (स्पन्दन) की तरह हैं, और राधा जीव।''
अर्थात् ये सभी अविनाशी ब्रह्म की अविनाशी लीलाएँ हैं।

भगवान का नटवर रूप नटराज रूप का प्रतिरूप है। नटराज का ज्वालमालयुक्त मायाचक्र गोपीमंडल है, जो उनके पैरों के ताल और वंशी की तान पर थिरकता रहता है। यही नटवर का नित्य विश्वनृत्य रास है, जो चिदानंद के आनंद के महास्फोट का प्रतीक है। इसके चिंतन और कलात्मक अनुकरण में दार्शनिक कवि, चित्रकार, मूर्तिकार आदि कलाकारों ने अपनी-अपनी सारी शक्ति लगा दी है। यह भारतीय प्रतिभा की एक अनमोल सृष्टि है।
भगवान ने कालिय के मस्तक पर चित्रताण्डव नामक नृत्य किया था।

"उस (कालिय) के मस्तकों पर रत्नों के स्पर्श से उनका चरण कमल प्रगाढ़ रक्तवर्ण वाला हो गया और अखिल कलाओं के आदिगुरु नृत्य करने लगे। उनको उस समय नृत्य के लिए उद्यत देखकर गंधर्व, सिद्ध, सुर, चारण और देववधूगण प्रेम से मृदंग, पणव, आणकवाद्य, गीत, पुष्पोहार और स्तुति के साथ सहसा घेरकर खड़े हो गए। उस चित्रताण्डव में (कालिय के) फैले हुए फण पीड़ित और क्षत-विक्षत हुए और वह रक्त-वमन करने लगा।"

विश्वलीला अर्थात् सृष्टि, स्थिति और लय की क्रियाओं में ब्रह्म और उसके स्वभाव नित्य आनंद का उल्लास माया के साथ, जिस महा आनंद अथवा महारस की कल्पना या अनुभव किया जा सकता है। राधिका और श्याम के नाम रूप उसी के प्रतीक हैं और प्रेम द्वारा ब्रह्मप्राप्ति के लिए प्रत्येक जिज्ञासु जीव के लिए अवलंब है। भावाश्रयी भक्तों और योगियों ने समान रूप से इसका अवलंबन किया।

कृष्ण की मूर्तियों का विवरण

भगवान कृष्ण की पीतल की एक मूर्ति है। देखिए -- इसमें नीचे चतुष्कोण आधार है।

उसके ऊपर पद्म है। यह सृष्टि है। उसके ऊपर वृत्त बिंदुस्थान है। काल पर प्रभु नृत्य कर रहे हैं, यह नाद और स्पन्दन है। दाहिना हाथ अभय और बायाँ वरद मुद्रा में है, जिसमें कालसर्प की पूँछ है। माथे पर केश उलटा कमल, आमलक और बिंदु के रूप में सजे हुए हैं। कमल सृष्टि का, आमलक प्रकृति का और बिंदु अमृतत्त्व का प्रतीक है। प्रासाद पुरुष और शिवलिंगादि इन्हीं सिद्धांतों के बनते हैं।

मूर के संग्रह में भगवान कृष्ण की मूर्ति का चित्र है। इसमें पैरों के नीचे कमल और वृत्त क्रमशः सृष्टि और बिंदु के प्रतीक हैं। यंत्र के दोनों त्रिकोणों के स्थान में दोनों पैर क्रमशः स्थिति गति अर्थात् शिव शक्ति के प्रतीक हैं। इसके अधिक विकसित रूप में उठा हुआ मत्यात्मक पैर विश्वनृत्य अथवा विश्वलीला में राधा का रूप ग्रहण करता है। विश्वनृत्य में अष्टभिन्ना प्रकृति रुक्मिणी, सत्यभामा, जाम्बवती आदि अष्टनायिका के रूप में मिलकर इनके साथ नृत्य करती है। महारास में इन नायिकाओं की संख्या असंख्य हो जाती है। घट-घट गोपी घट-घट कान्ह। पीतांबर दिक् है। मुरली वाक अर्थात् शब्दब्रह्म है। माथे का ऊर्ध्वपुण्ड उलटा शिवलिंग की तरह विश्व है। इसके भीतर तिलक, जीव अथवा बिंदु है। माथे पर मोरमुकुट काल है। इसकी पाँच कलंगियां शेष के पाँच मुख की तरह हैं। ऊपर मयूर पंख का गुच्छा है। यह काल के भी काल महाकाल होने का संकेत है।
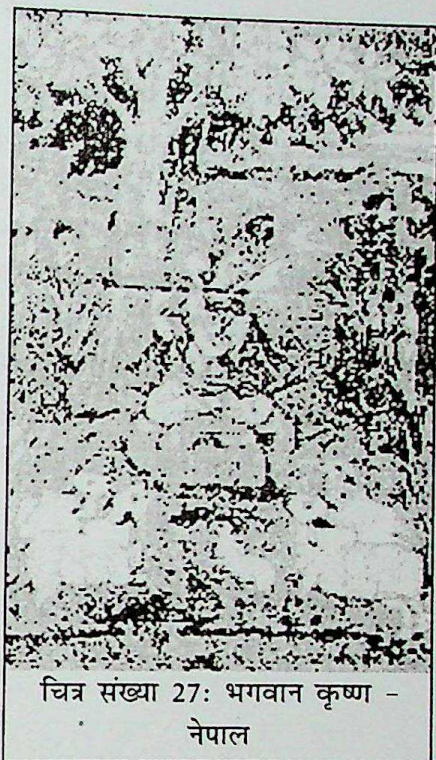
चित्र संख्या 27: भगवान कृष्ण - नेपाल

भगवान कृष्ण का एक चित्र नेपाल-महाराज श्रीप्रतापसिंहकृत पुरश्चर्यार्णव का है। इसमें स्थिति पर अष्टदल कमल है। उस पर भगवान बैठे हैं। पीतांबर मुरली और मोरमुकुट यथावत है। कदम्बवृक्ष विश्व है, जिसके गोल फूल और फल ब्रह्मांड है। जिसमें कृष्ण विहार करते हैं। विश्वलीला के पात्र नायिकाएँ, ऋषि, मुनि आदि सभी उपस्थित हैं। अध्यात्म विद्या और उसकी ज्योति अथवा किरणें गोवें हैं। सामने आनंदामृत की यमुना बह रही है। उसमें एकशक्ति और त्रिशक्ति के प्रतीक कलिकाकार और तीन दलों वाले कमल खिले हैं। (चित्र सं. 27)

अन्य हिंदू देवता और उनके संप्रदाय

विष्णु, शिव और शक्ति के अतिरिक्त हिंदू धर्म में अनेक देवताओं का पूजन प्राचीन काल से प्रचलित रहा है जिनका उल्लेख प्राचीन साहित्य में मिलता है। इनमें गणपति (गणेश), स्कंद कार्तिकेय, सूर्य, अग्नि, ब्रह्मा आदि अनेक देवताओं का हिंदू समाज में विशेष स्थान रहा है। अतः यहाँ उन कतिपय देवताओं के विषय में विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है।

(क) गणेश (गणपति) : गाणपत्य संप्रदाय

गणपति का उल्लेख वेदों में हुआ है, उनका नाम 'ब्रह्मणस्पति' में मिलता है। 'ब्रह्मणस्पति' के अनेक मंत्रों में 'गणपति' शब्द विशेष रूप से प्रयुक्त हुआ है।[53] जो कालांतर में आकर अधिक प्रचलित हुआ। वेदों में उन्हें महाहस्ती[54], एकदंत, वक्रतुंड और दंती भी कहा गया है।[55] गणपति का शाब्दिक अर्थ है, गण अर्थात् समुदायों का स्वामी। इसी अर्थ के आधार पर उन्हें गणेश भी कहा गया है। 'विनायक' नाम भी उनके लिए व्यवहृत हुआ, जो विचरने वाली आत्माओं के लिए प्रयुक्त होता है। 'मानवगृह्यसूत्र' में विनायकों की विघ्नकारी गतिविधियों का परिचय दिया गया है। यही नहीं, 'याज्ञवल्क्यस्मृति' भी विनायकों की विघ्नकारी प्रवृत्तियों का दिग्दर्शन कराती है। रुद्र के अनेक गण हैं, जिनमें 'मरुत' भी है, जिनके स्वामी गणपति हैं शतरुद्रीय ऋचाओं में रुद्र के लिए ही 'गणपति' और 'सेनानी' शब्दों का व्यवहार किया गया है, जो उत्तरवैदिक युग में पृथक् देवताओं के लिए प्रयुक्त होने लगा। पुराण काल में रुद्र शिव के पुत्र 'गणेश' और 'कार्तिकेय' हुए, जो क्रमशः 'गणपति' और 'सेनानी' के नाम से विख्यात हुए।

गणेश्वरों और विनायकों का उल्लेख महाभारत में देवताओं के साथ हुआ है जो मनुष्यों के कार्य देखते परखते हुए सर्वत्र वर्तमान रहते हैं।[56] उनकी स्तुति में उन्हें अनिष्टों को दूर करने वाला और सभी जगह विद्यमान रहने वाला कहा गया है।[57] 'मानवगृह्यसूत्र' के अनुसार विनायकों की संख्या चार है: (1) शालकंटफट, (2) कूष्माण्डराजपुत्र, (3) उस्मित और (4) देवयवन। उनकी दयादृष्टि न होने पर तथा उनसे त्रसित होने पर मनुष्य का मस्तिष्क विकृत सा हो जाता है। वह नाना प्रकार के अस्वाभाविक कार्य करता है। कभी वह घास काटता है, कभी अपने शरीर पर लिखता है, कभी वह उड़ता-सा अनुभव करता है, कभी कोई उसका पीछा करता-सा लगता है। गणपति की कुदृष्टि से न राजकुमार को राज्य मिल पाता है और न वह शासन करने में सक्षम होता है, साथ ही, न प्रवीण कन्या को कोई वर मिल पाता है और न विवाहिता को संतान। ऐसे ग्रस्त और त्रस्त लोगों को विनायक की अकृपा से रक्षित करने के लिए तथा पीड़ित व्यक्ति को छुटकारा दिलाने के लिए चारों दिशाओं से लाए गए पानी और चारों दिशाओं से लाई गई मिट्टी से स्नान कराया जाता है। तदुपरांत सरसों से तुरंत निकाले गए तेल से चारों विनायकों की पूजा के साथ आहुति दी जाती है जिसमें धान, चावल, पकी कच्ची मछली, विभिन्न प्रकार की दालें आदि प्रस्तुत की जाती हैं। इस पूजन विधि से विनायकों की कुदृष्टि और विघ्नकारी प्रवृत्ति से व्यक्ति को मुक्ति मिल जाती है। इसी तरह का विवरण 'याज्ञवल्क्य स्मृति' में भी है। मनुष्य के कामों में विघ्न उपस्थित करने के लिए रुद्र और ब्रह्मा ने विनायक को गणपति बनाया। गणपति के मित, समित, शाल, कटकट, कूष्मांड और राजपुत्र ये छह नाम मिलते हैं। अम्बिका को गणपति की माता बताया गया है।

'मोदगल पुराण' में 'गणपति' के 'ग' अक्षर को मनोवाणीमय सकल दृश्यादृश्य जगत बोधक और 'ण' अक्षर को मनोवाणी विहीन का बोधक तथा उसके पति (स्वामी) को गणेश सर्वोच्च देवता के रूप में विवृत किया गया है। महागणपति, ऊर्ध्वगणपति, पिंगलगणपति आदि उनके विभिन्न रूप हैं।

पौराणिक आख्यानों के अनुसार गणपति शिव के द्वितीय पुत्र हैं, जो विघ्नों को समाप्त करते तथा जीवन को मंगलमय करते हैं। इसलिए प्रत्येक शुभ कार्य के आरंभ में उनकी पूजा आवश्यक मानी गई। विघ्नकारी गणपति को विघ्नहारी के रूप में स्वीकार किया गया। गणों और विनायकों के विघ्नकारी रूप का उल्लेख 'बृहतसंहिता' में भी हुआ है। गणेश की मूर्तियाँ गुप्तकाल में बननी प्रारंभ हुईं जो बाद तक बनती रहीं। उनकी मूर्तियाँ तीन मुद्राओं में मिलती हैं–खड़ी, बैठी और नृत्य करती हुई। ऐसी मूर्तियाँ भारत के विभिन्न स्थानों से मिली हैं। सभी मूर्तियों में गज-मस्तक और बड़ा उर चित्रित किया गया है। जिस प्रकार विष्णु का वाहन गरुड़, शिव का वाहन बैल, दुर्गा का वाहन सिंह है, उसी प्रकार गणेश का वाहन मूषक है।

समाज में गाणपत्य संप्रदाय का भी प्रचलन हुआ जिसमें गणेश की पूजा की जाती रही। गाणपत्य सम्प्रदाय की छह शाखाएँ दर्शित होती हैं – (1) महागणपति के आराधक, जो गणपति को आदिदेव सृष्टिकर्त्ता मानते हैं (2) हरिद्रगणपति के उपासक, जो गणपति के मुख और दंत की मुद्रा अपनी बाँहों पर तपाए हुए लोहे से अंकित कराते हैं। इस शाखा में पीत वस्त्रधारी, यज्ञोपवीत पहने, चतुर्भुज, त्रिनेत्र, हाथ में पाश, कुश और दण्डधारी गणेश की पूजा की जाती है, (3) उच्छिष्ट गणपति के आराधक तामसी और असत् कार्यों के करने वाले होते हैं। मदिरा, मांस आदि का सेवन करते हैं तथा अपने ललाट पर लाल मुद्रा अंकित करते हैं, (4) नवनीत गणपति, (5) स्वर्णगणपति तथा (6) सन्तानगणपति। अन्तिम तीन शाखाओं के आराधक गणपति की मूर्ति की प्रतिष्ठा करके पूजन करते हैं। सभी हिन्दू परिवार में आज भी गणेश की पूजा होती है। महाराष्ट्र में गणेश प्रमुख देवता के रूप में पूजे जाते हैं। विद्यारंभ श्रीगणेश से ही होता है। व्यास के बोलने पर 'महाभारत' लेखन का कार्य गणेश ने स्वीकार किया था, किंतु यह भी तय किया था कि महर्षि व्यास धाराप्रवाह बोलेंगे ताकि गणेश को रुकना न पड़े। व्यास ने इसके साथ एक शर्त यह लगा दी कि गणेश बिना अर्थ समझे कोई भी श्लोक नहीं लिखेंगे। जब गणेश श्लोक का अर्थ समझने लगते थे तब व्यास को भावों को यथोचित रूप में व्यक्त करने का समय मिल जाता था। इससे व्यास को भाव तारतम्य बनाये रखने में सरलता हुई। अतः इस कथा के माध्यम से गणेश के ज्ञान और बुद्धि का परिचय प्राप्त होता है।

सभी प्रधान देवताओं की तरह दो रूपों में गणेश की उपासना होती है – (1) आदिशक्ति परमात्मा ब्रह्म और (2) गुणाभिमानी तथा निमित्ताभिमानी देवता के रूप में । स्तोत्रों में इन्हें परब्रह्मा कहा गया है।

''परब्रह्मरूप, चिदानन्दरूप, परेश, महेश, गुणासगर, गुणेश, गुणातीत, ईशमयूरेश के पूज्य गणेश को मेरा बारम्बार नमस्कार।'' गणेश को चिदानन्दस्वरूप, परब्रह्म और गुणातीत कहा गया है।

''गणेश की आज्ञा से ही ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर, जगत् की सृष्टि, पालन और संहार करते हैं। गणेश सभी देवताओं के पूज्य हैं। ये प्रभुओं के भी प्रभु (शक्तिमान) विघ्नराज हैं। ये सिन्दूरवर्ण के, पुराने और पुरुष हैं। चन्द्रकलाधारी चतुर्भुज, कुंचराकृति ये एक हैं और लक्ष्मी इनकी सहचरी है। माया ही इनका शरीर है और स्वभाव मधुर है। इनके ध्यान और पूजन से ऐसा

ही स्वभाव हो जाता है। मुनि भी संसार को पार कर जाते हैं। वे ही ब्रह्मा, हरि, इन्द्र, चन्द्र, और परम परमात्मा हैं। ये ही सभी भुवनों के साक्षी हैं।''

यहाँ लक्ष्मी को गणेश की सहचरी कहा गया है। इससे गणेश और विष्णु का अभिन्नत्व व्यक्त होता है।

"एक दाँत, चार हाथ, पाश अंकुश धारण करने वाले, अभय वरद हस्तवाले, मूषक ध्वजवाले, रक्तवर्ण, लंबोदर, शूर्पकर्ण, रक्त वस्त्रवाले, रक्तगंधविलेपित अंगवाले, लाल फूल सुपूजित, भक्त पर दया करने वाले, जगत के कारण, अच्युत देव, सृष्टि में सबसे पहले प्रकट होने वाले प्रकृति और पुरुष से भी आगे हैं। इस प्रकार जो (गणेश का) ध्यान करते हैं, वे योगियों में श्रेष्ठ हैं।"

ॐ गणेश का प्रतीक है। इसमें ॐ का ऊपर वाला भाग मस्तक का वृत्त नीचे वाला भाग उदर का विस्तार सूंड नाद और लड्डू बिंदु है। इस रूप में गणेश की कल्पना की गई है और इस प्रकार की मूर्तियाँ भी मिलती हैं।

'शिवमानस पूजा' में इन्हें प्रणवाकृते कहा गया है।

सत्वप्रधान रूप में गणेश का रंग श्वेत माना जाता है :

''सत्वात्मकं श्वेतम नन्तमाद्यम्।''

आदि अनंत और सत्वात्मक देव (गणेश) श्वेत है।

रज प्रधान रूप में इनका रंग लाल है।

"सिद्धि देने वाले और इच्छा पूर्ण करने वाले पार्वती पुत्र गणपति की मैं वंदना करता हूँ। ये नाटे-मोटे शरीरवाले, सुंदर हाथी के मुखवाले, बड़े पेट वाले और सुंदर हैं। ये विघ्नेश हैं और मधु की गंध के लोभ से भौंरे इनके गालों के पास पंख चालन करते रहते हैं। दंत के प्रहार से शत्रुओं को इन्होंने चीर दिया है और उनके रुधिर से इनके (शरीर पर) सिंदूर की शोभा बन गई है।" यहाँ दन्त एक प्रकार का छुरा है। रुधिर और सिन्दूर का रक्तवर्ण तथा अरि का संहार, रज प्रधान कर्म और वर्ण है।

त्रिगुणाधार होने के कारण तम प्रधान रूप में इनका वर्ण श्याम होना चाहिए किंतु ऐसा ध्यान मिलता नहीं है। ये बुद्धि, सिद्धि, ऋद्धि आदि के देवता हैं और तमः प्रधानता इनके विरुद्ध पड़ती है। बोध होता है कि इसीलिए साधारणतः इस रूप में इनकी उपासना नहीं होती है। किंतु, घोर आभिचारिक क्रियाओं में इस रूप का प्रयोग हो सकता है।

गणेश की चार भुजाएँ हैं। एक में पाश और दूसरे में अंकुश है। तीसरा अभय और चौथा वरद मुद्रा में है।

इनकी चार भुजाएँ चार दिशाओं की प्रतीक हैं। यह सर्वव्यापित्व का लक्षण है। पाश और अंकुश की नाना प्रकार से व्याख्या की गई है।

''रागः पाशः, द्वेषोऽङ्कुशः।''

राग पाश है, द्वेष अंकुश है।

''इच्छाशक्तिमयं पाशमङ्कुशं ज्ञानरूपिणम्''

इच्छाशक्ति पाश है और अंकुश ज्ञान है।

''इच्छाज्ञानक्रियाशक्तय एवं तदाज्ञयां पाशादिस्वरूपमा पन्नास्तदुवासनमाचरन्ति।''

इच्छा ज्ञान और क्रियाशक्तियाँ ही उनकी आज्ञा से पाशादि स्वरूप धारण कर उनकी उपासना करती हैं।

गणेश मोदकप्रिय हैं। ऊँकार स्वरूप में सूंड नाद का और मोदक बिंदु का प्रतीक है। अन्यथा मोदक असंख्य जीव हैं, जो इनके आकाशरूपी विशाल उदर में निवास करते हैं। सूर्य, अग्नि और चंद्रमा इनके तीन नेत्र हैं।

"शशिभास्करदीतिहोत्रदृक्।"

कभी काल सर्प और कभी त्रिगुणात्मक प्रणव इनका यज्ञोपवीत है।''

"यज्ञोपवीतं त्रिगुणस्वरूप सौवर्णभवं ह्याहिनाथभूतम्।".

"हे गणाध्यक्ष! उपवीत ग्रहण कीजिए। यह त्रिगुण है, जिसमें प्रणव (ऊँकार) की ग्रंथि लगी हुई है। ''गणेश के वाहन मूषिक, वृक्ष, सिंह, गरुड़ और मयूर हैं। मूषिक वृष, सिंहादि की तरह धर्म के प्रतीक हैं।"

वाईं ओर नाना प्रकार की सिद्धियों और शक्तियों के साथ सिद्धि एकांत भाव से गणेश की सेवा करती है। यथार्थ में यह माया का ही अपना रूप है। अनेक सुबोध कलाओं और विद्याओं के साथ बुद्धि दक्षिण भाव से परेश गणेश की सेवा करती है। मायाओं में ज्ञान देने वाली ये (शुद्ध) चेतन हैं।

लौकिक दृष्टि से गणेश का वाहन मूषक विघ्न का प्रतीक है सारी सृष्टि में प्रत्येक व्यक्ति, समाज, राष्ट्र इत्यादि के प्रत्येक कार्य के साथ विघ्न लगा रहता है और बुद्धि से यह वश और विवश किया जाता है। जितना विशाल कार्य होता है, उतना ही विशाल विघ्न भी होता है उसे शान्त रखने के लिए उतनी ही बड़ी बुद्धि की भी आवश्यकता होती है। सारी सृष्टि के विघ्नों का नाश करने के लिए विशाल बुद्धि के प्रतीक गणेश का विशाल शरीर है। इस महाबुद्धि की शक्ति के सामने सभी विघ्न चूहे से बन जाते हैं और विवश रहते हैं।

गणेश के गजानन में भी कुछ इसी तरह की कल्पना दिखाई पड़ती है। सामुद्रिक शास्त्र के अनुसार शरीर के लक्षणों में लम्बी नाक प्रखर बुद्धि का लक्षण है। मालूम होता है कि इस भाव का अनुसरण कर बुद्धि के अधीश्वर और महाबुद्धिरूप गणनायक को संसार की सबसे लम्बी

हाथी की नाक देकर इन्हें गजानन बना दिया गया। चाहे जिस रूप की कल्पना की जाय, यह स्पष्ट है कि इन रूपों में एक अखण्डित सत्ता की उपासना होती है और तदनुरूप नाना रूपों का निर्माण किया जाता है।

नटेश गणेश

विभु के स्पन्दन का ही नाम उसकी इच्छा और क्रिया है। उसकी इच्छा से उसमें जो स्पन्दन होते हैं, वे सृष्टि में नाना प्रकार की क्रियाओं का रूप ग्रहण करते हैं। यही विभु की लीला है। कला की भाषा में इसको ही विश्वात्मा का नृत्य कहते हैं। विश्वात्मा की जितने रूपों में कल्पना की गई; उन सभी का नृत्तरूप है। नटेश गणेश का एक वर्णन इस प्रकार है :

> ''शेषनाग के फण टूट न जाएं, इसलिए पृथ्वी पर धीरे-धीरे पैर रखते है, संसार गोलक फट न जाय, इसलिए संक्षिप्त चीत्कार करते हैं, वेग में पड़कर संसार उड़ न जाय, इसलिए बड़े-बड़े कानों को धीरे-धीरे हिलाते हैं, इस प्रकार संसार की रक्षा में चतुर गणेश हमारी रक्षा करें।''

नृत गणेश की मूर्तियाँ सर्वत्र पाई जाती हैं। असम प्रदेश में कामाख्या देवी के मंदिर पर भी यह मूर्ति बनी हुई है। इसके अतिरिक्त इन्हीं भावों के आधार पर पुराणों में गणेश के सम्बन्ध में नाना प्रकार की रोचक कथाओं की रचना की गई है। इनके गजानन और एकदन्त होने की कथा सर्वत्र प्रसिद्ध है।

पुराणों में एक प्रकार के प्रेत या क्षुद्रदेवयोनिवालों को गण कहा गया है और उनके नेताओं को भी गणेश (गण+ईश) और विनायक गण कहा जाता है। ब्रह्मप्रतीक गणेश और भूत प्रेतों के नायक गणेश और विनायक दो भिन्नार्थक शब्द हैं। उनका कोई पारस्परिक सम्पर्क नहीं है।

गणेश की मूर्तियों का विवरण

Moor's *Hindu Pantheon* की मूर्ति है। गणेश के इस चित्र में प्रतीकात्मक सभी संकेत हैं। ऊपर सर्प से घिरा ऊँ है, यह कालरूप गतिशक्तियुक्त स्रष्टा, शब्द ब्रह्म है। मूर्ति शिवलिंग की तरह तीन भागों में बनी है। नीचे वाहनवाला भाग, मध्य भाग और ऊपर वर्तुलाकर, प्रभा मण्डल है। पंचतत्त्व में काम करने वाली गाति, अर्थात् काल पंचमुख सर्प है। गणेश के मस्तक के पीछे इसकी लपेट के ही कुण्डल भाव बिन्दु है। सोमरस बरसाने वाला घनीभूत अभूतत्त्व मस्तक पर चन्द्रकला है। षड़ अर्द्धमात्रा की तरह ज्ञान नाद और इसके साथ सम्बद्ध मोदक बिन्दु है। एक हाथ में त्रिशक्ति त्रिगुणादि का प्रतीक त्रिशूल है। दूसरे में अज्ञान का हन्ता परशु है। एक हाथ में लड्डू है। (चित्र सं. 28)

यह सृष्टि का संकेत बिन्दु है। नीचे वाले दाहिने हाथ में वर है। धर्म का प्रतीक मूषक, वृषभ की तरह बना हुआ है। यह धर्म है, जो विभु का अपना रूप है। अन्यथा दूसरा कौन इसे धारण

कर सकता है। धर्मरूपी अपनी शक्ति पर ही विभु स्थिर है। लौकिक अर्थ में चूहा विघ्न का प्रतीक है। इसे दबाने और वश में रखने के लिए मोदकों के रूप में सृष्टि के जीवों और बुद्धि से भरा हुआ विशाल उदर है, जो विघ्न को वश में किये रहता है। यदि बुद्धिमत्ता से विघ्न को न दबाया जाय, तो यह व्यक्ति, राष्ट्र इत्यादि को नष्ट-भ्रष्ट कर देगा।

चित्र संख्या 28: ॐकारस्वरूप ब्रह्म गणेश

एक चोल काल की, पीतल की, गणेश की मूर्ति है। *इलस्ट्रेटेड वीकली ऑफ इण्डिया* के 23 अगस्त 1957 वाली संख्या में प्रकाशित हुई थी। यह मूर्ति चतुष्कोण स्थितितत्व पर बनी है। इसमें सृष्टि का पद्म है, जिसमें भिन्ना प्रकृति के आठ तत्वों (पंचतत्त्व, मन, बुद्धि, अंहकार) के पद्म आठ हैं। इनमें पाँच सामने दिखाई पड़ते हैं और तीन सम्भवतः पीछे की ओर हैं। इनमें ऊपर अभिन्ना अर्थात् समस्त प्रकृति का वृत्त है। द्विभंग नृत्यमुद्रा में स्थिति और गति, अर्थात् शक्तिमान और शक्ति के प्रतीक ऊँ ब्रह्मस्वरूप गणेश खड़े हैं। कटिवस्त्र दिक् है और कालसर्प का यज्ञसूत्र है। ऊपरवाले दोनों हाथों में पाश और अंकुश हैं। दाहिना नीचे वाला हाथ अभय मुद्रा में है। इसमें कोई यन्त्र बना है और सिद्धि का फल है। नाद का प्रतीक मुण्ड अर्धचन्द्राकार में है, जिस पर बिन्दु है। सूँढ़ पर अर्धचन्द्र सोमरस अथवा अमृतत्त्व का प्रतीक है। यही ब्रह्मानन्द है। दोनों नेत्रों की बीच में बिन्दु और उस पर नाद (अर्धचन्द्र) बना है। मुकुट के तीन चक्र, त्रिशक्ति के प्रतीक हैं। इनके ऊपर सृष्टिरूपी महारम्भ का मूल बिन्दु है।

पटना म्यूजियम की एक गणेश मूर्ति है। इसमें ब्रह्मगणेश के सभी प्रतीक अंकित हैं। अनुमान किया जाता है कि ईस्वी सन् से पूर्व द्वितीय शताब्दी की यह मूर्ति है। गणेश के रूप में गणेश पूजा कब से प्रचलित थी, यह कहना कठिन है।

पटना म्यूजियम की एक नटेश गणेश की मूर्ति है। पैरों के नीचे मूषिक है। यह विघ्न है। बुद्धि के देवता विघ्न प्रयोग में प्रतिपक्षियों का नाश करते हैं और विघ्न को रोककर सिद्धि प्रदान करते हैं। यह छह हाथों वाली मूर्ति है। बायें तीन हाथों में नीचे से क्रमशः मोदक, अभय और नागपाश अर्थात् काल का बन्धन है। दाहिने हाथों में परशु, अभय और चक्र जैसा कोई अस्त्र है। माथे पर आनन्दमृत का सोमन 'चन्द्र' है। तीन लपेटों में बना हुआ मुकुट त्रिशक्त्यादि का

प्रतीक है। मुकुट के ऊपर ऊँ अर्थात् ओंकार के आकार का संकेत बना हुआ है। कालसर्प का यह सूत्र है। दोनों पार्श्व ऋद्धि-सिद्धि भी नृत्य कर रही हैं। ऊपर देव गन्धर्वादि भी नृत्य में सम्मिलित हैं। मूर्ति की बाह्य रेखा शिवलिंगाकार है।

वेदारण्यम् (दक्षिणापथ) की एक मूर्ति है (देखिए *इलस्ट्रेटड वीकली ऑफ इंडिया*, सितंबर 13, 1958, पृष्ठ 33 और 34)। यह नटेश गणेश की एक अपूर्व मूर्ति है। चिदाकाश चेतना के विस्तार में ब्रह्म का स्वाभाविक निरंतर स्पन्दन ही उसका निरंतर नृत्य है, जो जगत के आदि, मध्य और अवसान का कारण है। इसलिए ब्रह्मस्वरूप सभी देव-देवियों की नृत्यमूर्तियाँ होती हैं। प्रकृति के पद्म की कर्णिका पर गणेश का नृत्य हो रहा है। विशाल उदर ऋत बृहत् ब्रह्मानंद के महानंद का सुधासिंधु अथवा अमृतकलश है। यही अमृतकलश ब्रह्मा और बुद्ध के कमण्डल तथा शिव और विष्णु की गंगा है। कालसर्प का उदरबंध और यज्ञोपवीत है। उदरबन्ध इस तरह बना हुआ है कि कलश के बीच के जोड़ जैसा मालूम होता है। इस पर त्रिशक्ति त्रिरत्न के रूप में जड़ी हुई है। नाभि 'अमृतस्य नाभिः' है। ऊपरवाले दोनों हाथों में पाश और अंकुश हैं और नीचे वाले दोनों हाथ अभय और वरदमुद्रा में हैं। दोनों हाथों में बिंदुरूप सृष्टि के संकेत ही मोदक है। सूँड और इसके मोदक से सुंदर नादबिंदु (चंद्रबिंदु) का रूप बनता है। माथे पर त्रिशक्ति का करण्डमुकुट है, जिस पर अमृतस्रावी पूर्णचंद्र बना हुआ है।

एक तंजौर के अवदायर कोइल के मंदिर की मूर्ति है। (इलस्ट्रेटड वीकली का उपर्युक्त अंक देखिए) इसमें अमृत्व के महामाण्ड का रूप विनायक के उदर के रूप में स्पष्ट कर दिया है। उदर ठीक विशाल कलश जैसा है। इसका जोड़ भी स्पष्ट है और संकेत पूर्ववत् है।

नागपतनम (दक्षिणापथ) के कयरीगन स्वामी मंदिर की मूर्ति है। यह सिंहवाहन विनायक की मूर्ति है। यहाँ ब्रह्मा अपनी ही शक्ति धर्म पर स्थित है। पंचतत्त्व के प्रतीक पैरों की पाँचों अंगुलियां स्पष्ट हैं। दोनों चरणों के बीच कपड़ों से त्रिशक्ति का त्रिशूल बना हुआ है। उदर अमृतभाण्ड है, जिस पर लोलुप कालसर्प फण फैला कर पड़ा हुआ है। नाभि 'अमृतस्य नाभिः' है। यह टोंटी की तरह बनी है, जिससे जगत की तृप्ति और रक्षा के लिए अमृतरस की धारा बह रही है। शुण्डाग्र नाद के अर्धचंद्र की तरह बना है। नीचेवाले बाएँ वरद हरत में त्रिशक्ति का त्रिशूल है। अन्य हाथों में आयुध शक्तियों की व्याख्या पहिले हो चुकी है। मध्यवाला मुख राजमुख और पार्श्ववाले दो मुख वराह के हैं। यह शिव की त्रिमूर्ति की तरह त्रिगुण और त्रिशक्ति
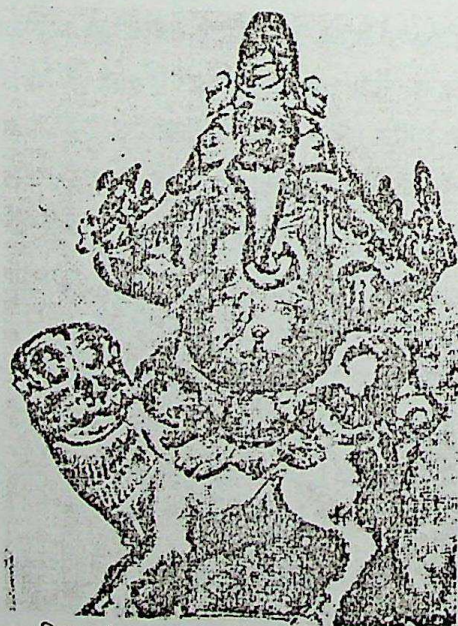
चित्र संख्या 29: गणेश नागपतनम (दक्षिणापथ) के कयरीगन स्वामी मंदिर

का प्रतिरूप है। यथार्थ में सभी आकारों के आधार निराकार ब्रह्म का कोई रूप नहीं है। ध्यान के समय मन के अवलंब के लिए उसका मछली (मत्स्य), कछुआ (कच्छप), सिंह (नृसिंह), साँप (अनंत का शेष), आधा पक्षी और आधा पशु (शरभ) इत्यादि तथा नर्मदेश्वर, शालग्रामादि प्रस्तरखण्डों के रूप में अर्थात् किसी भी रूप में इसकी कल्पना की जा सकती है। छिन्नमस्ता में इसके कटे हुए मस्तक से यही दिखलाया गया है कि सहस्रशीर्षा होने पर भी इसका एक भी शिर नहीं है। करण्ड मुकुट पर और उसके पार्श्व में बने हुए कानों पर भी त्रिशक्ति की तीन रेखाएँ और त्रिशूल बनाए गए हैं।'' (चित्र सं. 29)

एक मदुरा (मथुरा, दक्षिणापथ) की मूर्ति है। इसमें निम्नांश सिंह का, मध्यांश मनुष्य का और ऊर्ध्वांश गज का बना हुआ है। यह नृसिंह, शरभ, वराह-विनायक की तरह नृसिंहगज ब्रह्ममूर्ति है। देवी रूप में इसके अंकित होने के कारण उदर को फैलाकर अमृतघट बनाने से कला का सौंदर्य नष्ट हो जाता। इसलिए उदर में ब्रह्मानंद का अमृतघट बना हुआ है। जगत को प्राण और पुष्टि देने वाले ज्ञान और कर्म के दोनों इच्छात्रियारूप स्तन अनावृत हैं। नाभि और दोनों स्तन, महाशक्ति की प्राप्ति की योनि, अर्थात् त्रिकोण का संकेत करते हैं। मस्तक और झुंड सुंदर अर्धचंद्राकार है। बायाँ पूर्णदंत बिंदु का काम करता है। स्त्री का स्वाभाविक सौंदर्य, लावण्य और विलास का अंकन मूर्ति में देखते ही बनता है। मातृत्वरूप में ब्रह्माविनायक की यह एक परम मनोहर प्रतिमा है।

एक कन्याकुमारी के निकट सुचीन्द्रम की मूर्ति है। यह मातृरूप में ब्रह्मगणेश की एक अत्यंत सुंदर मूर्ति है। मूर्ति चतुष्कोण पीठ पर ज्ञानमुद्रा में बैठी है। नीचे वाले दोनों हाथ अभय और वरद मुद्रा में हैं। माँ के दोनों अमृतघट अनावृत हैं। ऊपरवाले दोनों हाथों में शिव, त्रिपुरादि की तरह पाश और अंकुश है। सूँड अर्धचंद्राकार है। आधी खुली आँखों से करुणा वृष्टि हो रही है। मालूम होता है कि ओंठ और आँख से बरसता हुआ अमृत का फुहारा शरण में आए हुए संतप्त जनों का सिंचन कर रहा है। कालरात्रि के केशों के महाविस्तार की तरह केशराशि फैली हुई है। इसका अंतर्गत सिद्धांत है-

पुरुष वा स्मरेद्देवि स्त्रीरूपं वा विचिन्तयेत।
अथवा निष्कलं ध्यायेत सच्चिदानन्दलक्षणम्॥

शिव कहते हैं, ''देवि! पुरुष रूप में ध्यान करें, अन्यथा स्त्री रूप में अथवा सत्, चित्, आनंद रूप में निराकार का ध्यान करें।''

(ख) स्कन्द कार्तिकेय

स्कन्द कार्तिकेय शिव पार्वती के पुत्र थे। रामायण के अनुसार अग्नि ने गंगा का अभिषेक किया था, तदनंतर स्कन्द का जन्म हुआ था।[58] गंगा द्वारा भ्रूण को हिमालय पर्वत पर फेंक दिए जाने पर उसका पालन-पोषण कृतिकाओं ने किया था, इसलिए उनका नाम 'कार्तिकेय' हुआ।

महाभारत में भी उनके पिता अग्नि कहे गए हैं किंतु उनकी माता का नाम भिन्न है। अग्नि की पत्नी स्वाहा उनकी माँ बताई गई है।[59] यह भी कथा दी गई है कि जब इंद्र ने स्कंद पर वज्र प्रहार किया तब उनके दक्षिण पार्श्व से विशाख की उत्पत्ति हुई। लगता है, 'स्कंद' और 'विशाख' को एक माना जाने लगा था। कालांतर में अग्नि को शिव का प्रतिरूप मानते हुए कार्तिकेय को शिव का पुत्र माना गया है। इसके अतिरिक्त कार्तिकेय को शिव का एक रूप और गोत्र प्रवर्तक स्वीकार किया गया। उनका वाहन मयूर माना गया जो जंगलों में रहता है। जंगलों और वहाँ के जीवों के स्वामी रुद्र और उनके गण हैं। इसलिए कार्तिकेय का शिव से संबंध स्थापित होना स्वाभाविक था। बाद में वे देवताओं के सेनानायक बन गए। पाणिनी ने भी शिव, स्कंद और विशाल की मूर्तियों का उल्लेख किया है।[60] कुषाण शासक कनिष्क के कतिपय सिक्कों के पृष्ठ भाग पर 'स्कंदों', 'महासेनी', 'कुमारों' और 'विजागो' (विशाख) के साथ तीन आकृतियां प्रतिकृत हैं।[61] देवताओं की सेना का नायकत्व करने के कारण स्कंद 'महासेन' के नाम से भी प्रख्यात हुए। स्कंद को 'कुमार' भी कहते हैं। लगता है, 'विशाख' नाभ पहले किसी अन्य देवता का था जो बाद में स्कन्द के साथ एकान्वित हो गया। किंतु मुद्रा पर उत्कीर्ण की गई तीन आकृतियाँ संभवतः किन्हीं तीन देवताओं की अभिव्यंजना करती हैं। पतंजलि ने 'महाभाष्य' में स्कन्द पूजा का संकेत किया है। कार्तिकेय को 'शरणभव' और 'शरजन्मा' भी कहा गया, जो उनके शरों के वन में जन्म लेने के कारण प्रचलित था। कालिदास ने 'कुमारसम्भव' में इनके जन्म से सम्बन्धित कथा दी है। मयूर पर बैठी उनकी अनेक मूर्तियों का उल्लेख भी महाकवि ने किया है।[62] देवगिरि पर स्कन्द का एक मंदिर निर्मित हुआ था। गुप्तकाल में स्कन्द पूजा का विशेष प्रचलन हुआ। भिलसद में 'स्वामी महासेन' (स्कन्द) के मंदिर की प्रतोली ध्रुव शर्मा ने बनवायी थी। यही नहीं गुप्त सम्राट स्कन्दगुप्त के नाम के साथ 'स्कन्द' का महत्व ध्वनित होता है।

पुराणों से स्कन्द के विषय में विस्तृत विवरण प्राप्त होता है। वायुपुराण और विष्णु पुराण में उन्हें सुरसेना पति[63] और सेनापति[64] कहा गया है। स्कन्द की उत्पत्ति के विषय में पुराणों में विवृत है कि इन्द्र ने अग्नि को शिव और पार्वती की रति में विघ्न डालने के लिए भेजा फलतः शिव का सद्य तेज अग्नि को सहना पड़ा पर असह्य होने के कारण उसने उसे गंगा को स्थानांतरित कर दिया। गंगा ने उस तेज को 'शरवण' नामक वन में रखा, जहाँ स्कन्द का जन्म हुआ। इसीलिए ब्रह्माण्डपुराण और वायुपुराण में स्कंद को 'जाह्नवी सुत' और 'शंकरात्मज' दोनों नामों से अभिहित किया गया। ब्रह्माण्डपुराण के एक स्थल पर उल्लिखित है कि शिव और पार्वती के संयोग से स्कंद का जन्म हुआ था। मत्स्यपुराण की कथा के अनुसार अग्नि द्वारा रति में विघ्न उपस्थित करने के कारण शंकर के तेज का अर्द्धांश पार्वती को न मिलकर आश्रम में स्खलित हो गया, जो सरोवर बन गया। एक दिन पार्वती ने उस सरोवर का जल पी लिया, जिससे स्कन्द का जन्म हुआ। हिन्दू समाज में स्कन्द की पूजा शिव के साथ भी होती थी तथा स्वतंत्र रूप से भी। इस प्रकार की उनकी अनेक मूर्तियाँ समाज में गढ़ी गईं। कदम्ब और यौधेय वंश

के शासक कार्तिकेय की पूजा करते थे। दक्षिण में 'सुब्रह्मण्य' नाम से उनकी आराधना की जाती रही। देवसेना और बल्ली नामक उनकी दो पत्नियों का उल्लेख भी मिलता है।

(ग) सूर्य और सौर सम्प्रदाय

हिन्दू समाज में सूर्य की उपासना ऋग्वैदिक युग से ही होती रही है, जिनका ऋग्वैदिक नाम 'सविता' भी है। वस्तुतः वैदिक देवमण्डल में उनका प्रमुख स्थान था, किंतु परवर्ती काल में जाकर विष्णु, शिव और शक्ति की तुलना में उनका स्थान अपेक्षाकृत निम्न हो गया। ऋग्वैदिक काल में वे जगत के जंगम और स्थावर जीवों की आत्मा थे।[65] वे सात घोड़ों के रथ पर सवार रहते थे।[66] और जगत को प्रकाशित करते थे। उस युग में वे प्रकृति के सर्वश्रेष्ठ रूप थे। कालान्तर में आकर देश में उनका पूजन प्रारंभ हुआ, जो विजातियों के प्रभाव के कारण था। कुषाण युग में सूर्य की मूर्तियाँ भी बननी शुरू हो गई थीं। ऐसी एक मूर्ति मथुरा के संग्रहालय में है जिसकी बनावट और साज-सज्जा पूर्णतः मध्य एशियाई है। वह कुषाण राजाओं की तरह सटा सलुका (वेस्ट कोट) और घुटने तक जूते पहने तथा कमल पुरुष धारण किये हुए है जो उसके कुषाण शासक होने का भ्रम उत्पन्न करता है। भविष्यपुराण के विवरण से विदित होता है कि कृष्ण और जाम्बवती के पुत्र साम्ब ने सिंध में चन्द्रभागा तट पर सूर्य का पहला मंदिर निर्मित करवाया था। उस मूर्ति को पूजा के लिए शकद्वीप निवासी पुरोहित (मग पुजारी) बुलाये गये थे। मग जाति के लोग ईरान के रहने वाले थे, जिन्होंने तीसरे सदी के लगभग भारत में आकर सूर्योपासना का प्रचार किया। यह उल्लेख इस बात को स्पष्ट करता है कि भारत के ब्राह्मण सूर्य पूजा के विधि-विधान से सम्पन्न कराने के लिए आमंत्रित किये गए थे और इस प्रकार भारत में शाकलद्वीपी नामक ब्राह्मणों का एक अलग वर्ग बन गया। चन्द्रभागा (चिनाब) के तट पर मुल्तान के सूर्य मंदिर का उल्लेख श्वानच्वांग ने भी किया है। उसके अनुसार यह मूर्ति स्वर्ण निर्मित तथा बहुमूल्य पदार्थों से अलंकृत थी। हर्ष के जन्म के अवसर पर जो ज्योतिषी बुलाये गये थे, उनमें तारक नामक भोजक ज्योतिषी भी था।[67] भोजक का अर्थ है मग, जो सूर्य की पूजा किया करते थे। गरुड़पुराण में वर्णित है कि कृष्ण के पुत्र साम्ब को कुष्ठ रोग होने पर गरुड़ शाकद्वीपी ब्राह्मणों को सूर्य-पूजा के निमित्त ले आया जिनके पूजन से उन्हें कुष्ठ रोग से मुक्ति मिली। वराहमिहिर के अनुसार सूर्य पूजा के लिए मगों को ही पुजारी बनाया जाता था।[68] कालिदास ने सूर्य के उपस्थापन का वर्णन किया है।[69] रघुवंश में सूर्य के सात हरे अश्वों का उल्लेख है।[70] गुप्त सम्राट कुमार गुप्त के शासन काल में रेशम बुनने वालों के एक संघ ने मंदसोर के निकट दशपुर में एक सूर्य मंदिर का जीर्णोद्धार कराया था। तत्कालीन युग की सूर्य की अनेकानेक मूर्तियाँ मिली हैं, जो मथुरा संग्रहालय, भारत कला भवन (काशी हिन्दू विश्वविद्यालय) आदि में रखी हैं। हूण शासक तोरमाल और मिहिरकुल सूर्य की पूजा करने वाले थे। मिहिरकुल ने सूर्य देवता के मंदिर का निर्माण करवाया था। पूर्वमध्ययुगीन अनेक उल्लेखों से विदित होता है कि तत्कालीन समाज में सूर्य पूजा में आस्था रखने वाले लोग थे जिन्होंने

सूर्य मंदिरों और मूर्तियों का निर्माण करवाया था। थानेश्वर के राज्यवर्धन, आदित्यवर्धन, प्रभाकरवर्धन जैसे शासक सूर्योपासक थे। उदयसिंह का भीममल अभिलेख सूर्य की पूजा से प्रारंभ होता है।[71] मुल्तान के जिस सूर्य मंदिर का उल्लेख किया गया है, उसके विषय में अलबरूनी का कथन है, "सूर्य की वह सबसे प्रसिद्ध मूर्ति थी, जो 'आदित्य' कहलाती थी। यह लकड़ी की थी और लाल चमड़े से ढँकी थी। उसकी दोनों आँखों में दो लाल पद्मराग थे। यह कहा जाता है कि वह पिछले 'कृतयुग' में बनी थी।"[72] अलबरूनी के अतिरिक्त मसूदी (10वीं सदी का प्रारंभ), इस्तखरी (दसवीं सदी), इब्न हौकल (दसवीं सदी) आदि अनेक मुसलमान लेखकों ने मुल्तान के सूर्य मंदिर का उल्लेख किया है।[73] जो देविका तट पर स्थित था। तेरहवीं सदी में निर्मित उड़ीसा के कोणार्क का सूर्य मंदिर अत्यन्त भव्य और विशाल है। इन्द्रादित्य, लोलार्क, भास्कर, आदित्य, वरुणस्वामी, मार्तण्ड आदि सूर्य के विभिन्न नाम अभिलेखों में मिलते हैं जो उसके सहस्त्र नामों में से हैं। सौर सम्प्रदाय के अनुयायी मस्तक पर लाल चन्दन की सूर्य आकृति बनाते हैं, लाल पुष्पों की माला पहनते हैं तथा सूर्य की उपासना करते हैं। वे प्रातः और सायं सूर्य की पूजा करते हैं तथा रविवार के दिन व्रत रखते हैं। ऊपर के संक्षिप्त साक्ष्यों से स्पष्ट है कि समाज में सूर्य की पूजा करने वालों की कमी नहीं थी।

भारतीय सनातन वैदिक समाज में, प्रत्येक सत्कर्म के आरंभ में, पंचदेवता के रूप में परमात्मा की आराधना करके, किसी कर्म का आरंभ किया जाता है। ये पंचदेव हैं: गणेश, विष्णु, शिव, सूर्य और दुर्गा।

किसी मूर्ति, चित्र या यन्त्र की तरह सूर्यमण्डल भी विभुशक्ति का प्रतीक है और परमात्मा के प्रत्यक्ष रूप में इनकी उपासना होती है। यह मत श्रुति, स्मृति, पुराण, तन्त्रादि सम्मत है।

य आदित्ये निष्ठन् आदित्यादन्तरो यं आदित्यो न वेद यस्यादित्यः शरीरं य आदित्यमन्तरो यमयत्येष स आत्मान्तर्यान्यमृतः।

''जो आदित्य के भीतर अवस्थित है और आदित्य से भिन्न है, जिसे आदित्य नहीं जानता है, आदित्य जिसका शरीर है, जो आदित्य के भीतर रहकर इसका नियंत्रण करता है वही तुम्हारा आत्मा, अंतर्यामी और अविनाशी है।''

इस उद्धरण में सूर्य का ब्रह्म प्रतीकत्व स्पष्ट है।

सूर्याद्वै खलु इमानि भूतानि जायन्ते। सूर्याद्यज्ञः पर्जन्योऽन्नमात्मा नमस्त आदित्य त्वमेव प्रत्यक्षं कर्म कर्त्तासि। त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि। त्वमेव प्रत्यक्षं विष्णुरसि।

विष्णुलिंग और शिवलिंग की तरह ब्रह्मलिंग के रूप में सूर्य की उपासना होती है। इसका नाम गगनलिंग है इसमें आकाश वेदी और सूर्यमण्डल लिंग है।

जिस प्रकार शिवलिंग और शालिग्राम पर सभी देवताओं का आह्वान करके पूजन किया जाता है, उसी प्रकार सूर्यमंडल में सभी देवताओं का ध्यान कर साधना द्वारा सिद्धिलाभ किया

जा सकता है। वाग्वेदी, गायत्री आदि देवियों का और नारायण, ब्रह्मा, शिवादि देवों का ध्यान सूर्यमंडल में विहित है। गगनलिंग के रूप में सूर्य विभु का प्रत्यक्ष प्रतीक है।

(घ) यक्ष पूजा

प्राचीन समाज में यक्ष पूजा भी हुआ करती थी। वैदिक युगीन साहित्य में यक्षों का उल्लेख मिलता अवश्य है किंतु यक्ष पूजा का आरंभ परवर्ती काल में ही हुआ। ऋग्वेद, अथर्व वेद तथा ब्राह्मण और उपनिषद ग्रंथों में यक्षों का वर्णन हुआ है तथा उनका अर्थ अलौकिक प्राणी या प्रेतसम प्राणी से लिया गया है। ऋग्वेद में यक्ष का अर्थ मृत व्यक्ति की आत्मा लिखा गया है। (4.3.13) कभी-कभी कुबेर के अनुचर भी यक्ष ही कहे जाते थे। पालिपिटक से ज्ञात हुआ है कि प्रेत, राक्षस, पिशाच आदि मानवेतर आत्माएँ यक्ष के अंतर्गत आती थीं। विमानवत्युअट्टकथा में विवृत है कि जिनको बलि अर्पित की जाय और जिनकी पूजा की जाय वे ही यक्ष हैं। यक्षों को यदा-कदा देव अथवा देवपुत्र भी कहा जाता था। उनके कार्य अनेक प्रकार के थे। प्रायः वे दयालु होते थे और जीवों का कल्याण चाहते थे। यही नहीं वे जीवों को दुष्कर्मों से अलग रखते थे। वे यमपुरी में जीवों का मार्गदर्शन करते थे। कभी-कभी यक्ष क्रुद्ध और भयानक होते थे और जान से मारने की धमकी भी देते थे। एक जातक से ज्ञात होता है कि एक यक्ष ने सारिपुत्र का प्राण लेने का निश्चय कर लिया था। (1.395) यक्षों की तुलना में यक्षिणियाँ अधिक क्रूर और भयावह होती थीं जो यात्रियों को मार्ग में भुलावा देकर और अपने मायाजाल में उन्हें फाँसकर मार डालती थीं। यक्षों के नगर प्रायः द्वीपों, बीहड़ जंगलों और घोर रेगिस्तानों में हुआ करते थे। सिरिसवत्थु नामक यक्ष नगर ताम्रपर्णी द्वीप में स्थित था। जातकों में वर्णित है कि कभी-कभी यक्ष नगरों में निवास न करके एकांत स्थानों में रहा करते थे।

हिंदू बौद्ध और जैन साहित्य से यह स्पष्ट होता है कि समाज में यक्षों का पूजन अर्चन हुआ करता था। उनके पूजा स्थल यक्ष भवन या यक्ष चैत्य कहे जाते थे जिनमें यक्ष की मूर्तियाँ प्रतिष्ठापित रहती थीं। कभी-कभी यक्षों और यक्षिणियों का पूजन बिना मूर्ति के, कल्पना के आधार पर, संपन्न किया जाता था। यक्ष का पूजन अर्चन करने वाले लोग उन्हें अनेक प्रकार की भेंट अर्पित करते थे, जिनमें शूकर, मछली, मृग, सुरा आदि सम्मिलित थीं। सूचिलोम, खर, इंद्रकूट, मणिमाल, अजकलापक आदि अनेक यक्ष थे। सूचिलोम यक्ष का निवास गया के समीप था। भरहुत वैदिक में इस यक्ष की मानव आकृति उरेही गई है, जो सिर पर उष्णीष धारण किए हुए है। संयुक्त निकाय और सुत्तनिपात में वह भगवान बुद्ध से बातें करते हुए वर्णित है। इंद्रकूट नामक यक्ष राजगृह के इंद्रकूट पर्वत पर निवास करता था। ऐसे अनेक यक्षों का वर्णन मिलता है जो भिन्न-भिन्न स्थानों में निवास करते थे। अनेक यक्षिणियों की आकृतियाँ भरहुत से सांची तक की कला में प्रदर्शित की गई हैं, जो अर्धनग्न और कटि तक वस्त्र पहने हैं।

(ङ) नाग पूजा

आर्यों में नाग पूजा का प्रचलन नहीं था। यह आर्येतर प्रभाव का परिणाम है। कालांतर में जब आर्येतर लोग आर्यों के समाज में घुल-मिल गए तब अनार्यों के उपास्य देवता आर्यों के धर्म में सम्मिलित हो गए। नागों के प्रति आर्यों का व्यवहार शत्रुतापूर्ण था। ऋग्वेद से ज्ञात होता है कि इंद्र ने वृत्र और अहि नाग के अहंकार का दमन किया था। (1.32) महाभारत में उल्लिखित है कि अर्जुन ने नागों के निवास स्थान खांडव वन को जला डाला था। यही नहीं, जनमेजय ने नाग यज्ञ संपन्न करके समस्त नागों का विनाश करने का प्रयास किया था। महाभारत के सभापर्व में उल्लिखित है कि राजगृह में नाग मंदिर था। (11.9) राजगृह आने पर कृष्ण और अर्जुन ने मणिनाग की पूजा की थी। जरासंध के शासन काल में मगध नाग पूजन का प्रमुख केंद्र था। लगता है, समाज में नाग पूजा का प्रारंभ भय के कारण हुआ। एक स्थान पर भगवान बुद्ध ने अपने अनुयायियों से कहा कि हे भिक्षुओं, आप लोग नागों के राजकुलों की पूजा करें। इससे आप उनके दंश से मुक्त होंगे। (अंगुत्तर निकाय 2.72) भिक्षु लोग प्राय: नंगे पैर जंगलों और बीहड़ स्थानों में भ्रमण किया करते थे और अक्सर सर्प उन्हें काट लिया करते थे इसलिए बुद्ध ने नाग पूजा का निर्देश दिया। वस्तुत: सर्पदंश से बचने के लिए ही नाग पूजा क़ा प्रचलन हुआ। वैसे, भारतीय मिथकों में शेषनाग और वासुकि नाग का विवरण मिलता है। भगवान विष्णु शेषनाग पर शयन करते हैं तथा भगवान कृष्ण ने कालिया नाग को नाथा था। तक्षक नाग ने तो सम्राट परीक्षित को ही दंश कर लिया था और इसी दंश का बदला लेने के लिए वंशज जनमेजय ने नागयज्ञ सम्पन्न कराकर समस्त नागों को उस यज्ञ में समाप्त करने का प्रयास किया था।

राजगृह नाग पूजा का प्रधान केन्द्र बन गया था, यह जैन ग्रन्थों से भी प्रमाणित होता है। वहाँ आज भी मणिनाग के मंदिर का अवशेष है। बौद्ध जातकों से भी नाग पूजा सम्बन्धी अनेक वर्णन मिलते हैं। गृह्य सूत्रों ने नागों की पूजा में लावा, भुने यव का आटा, दुग्ध मिला हुआ आटा, जल, पुष्प, बलि आदि प्रदान करने का निर्देश किया है। कालान्तर में अनेक नाग मूर्तियाँ भी गढ़ी जाने लगीं। कौटिल्य ने अपने 'अर्थशास्त्र' में फणयुक्त नागमूर्तियों का वर्णन किया है। पूर्वमध्ययुग तक आते-आते नागों की आकृतियाँ मंदिरों की दीवारों आदि पर उकेरी जाने लगीं। कभी-कभी आधा मानव और आधा नाग की आकृति निर्मित की जाती थी। भारतीय कथाओं में यह माना जाता रहा है कि पाताल में नागलोक था और वहाँ नाग रहते थे। उस नगरी का नाम भोगवती था। इतिहास में नागवंश का उल्लेख मिलता है। समुद्रगुप्त के समय नागवंश था। असम में रहने वाली आदिम जाति आज भी 'नाग' जाति कही जाती है।

(च) वृक्ष पूजा

भारत में वृक्ष पूजा प्रागैतिहासिक काल से चली आ रही है। हड़प्पा और मोहजोदड़ो की मुहरों पर वृक्ष की आकृतियाँ अंकित हैं, जिससे पता चलता है कि उस युग के लोग वृक्ष

पूजा भी करते थे। कभी--कभी वृक्ष का वास्तविक रूप में पूजन किया जाता था और कभी-कभी उसके अधिदेवता के रूप में। मोहजोदड़ो की एक मुहर पर देवता की खड़ी नग्न मूर्ति है जिसके दोनों ओर अश्वत्थ (पीपल) का शाखायुक्त वृक्ष है। इसी प्रकार हड़प्पा से प्राप्त मुहरों पर वृक्ष की आकृतियाँ बनी हैं। ऋग्देव में अरण्यानी (अरण्य-वन-की आत्मा) की पूजा का वर्णन है तथा अश्वत्थ या पिप्पल (पीपल) वृक्ष का उल्लेख है। परन्तु वृक्ष पूजा का कोई विवरण नहीं मिलता। उत्तरवैदिक युग के साहित्य में वृक्ष पूजा का सन्दर्भ प्राप्त होता है। अथर्ववेद, ब्राह्मण तथा उपनिषद् ग्रन्थों से विदित होता है कि समाज में वृक्षों की पवित्रता और शुद्धता प्रतिष्ठित थी। अथर्ववेद से ज्ञात होता है कि समाज में वृक्ष पूजा प्रचलित थी। (5.43) इनकी पुष्टि ऐतरेय ब्राह्मण (3.30.33), छान्दोग्य उपनिषद (8.5.3), कौषीतकि उपनिषद् (1.3) जैसे ग्रन्थों से भी होती है। बौद्ध ग्रन्थों से विदित होता है कि समाज में वृक्षों की पूजा की जाती थी तथा यह समझा जाता था कि वृक्षों में देवता, नाग, अप्सरा, प्रेत आदि निवास करते हैं। जातकों के वर्णन इस बात के प्रमाण हैं कि लोग यश, धन, सन्तान आदि के लिए वृक्षों की पूजा किया करते थे (1.259, 328 आदि)

जैन धर्म

पशु हत्या से सम्पर्क रखने वाले वैदिक कर्मकाण्ड के विरोधी जैन और बौद्धमत हैं। ऐसा अनुमान होता है कि इस प्रकार के यज्ञों के विरोध करने वाले बहुत से लोग या लघु सम्प्रदाय होंगे, जिनका प्रथम सुसंघटित रूप जैनमत के रूप में प्रकट हुआ।

जैनमत में चौबीस तीर्थंकर हैं। ये ब्रह्मपुरुष हैं। इन्होंने मनुष्य रूप में माता--पिता से जन्म ग्रहण किया और तपश्चर्या द्वारा जिनत्व प्राप्त किया।

तीर्थंकर शब्द के अर्थ अनेक प्रकार से किये जाते हैं। 1. जो संसार सागर से पार होने के उपाय का निर्माण करें। 2. तीर्थ अर्थात् धर्म का जो स्वरूप निर्णय करें। 3. तीर्थ अर्थात् धर्म का यथार्थ स्वरूप जिनके करतल में है। सारांश यह है कि जो समर्थ ब्रह्मभूत महापुरुष दूसरों को भी मार्ग दिखला कर संसार सागर के पार लगा दें, उन्हें तीर्थंकर कहते हैं।

जैन अवतारों को नहीं मानते। सनातनियों के अवतार की तरह उनके तीर्थंकर ही भवाम्बुधिमग्न जीवों का उद्धार करते हैं।

तीर्थंकरों के विग्रह में हृदय पर श्रीवत्स अर्थात् चक्रचिह्न रहता है। यह धर्मचक्र है। इनके आसन के नीचे के सिंह और वृषभ, बुद्ध, दुर्गा और शिव के वृषभ और सिंह की तरह धारणधर्मा धर्म के प्रतीक हैं। इनकी प्रतिमाओं के पार्श्व में बुद्ध और छिन्नमस्ता की तरह दो शासन देवता (यक्ष अथवा गन्धर्व, देव या देवी के रूप में) रहते हैं। इन रूपों के अंतर्गत सिद्धान्त एक है। इनके विग्रह के साथ त्रिशूल और सभी विग्रहों के ऊपर त्रिछत्र है। ये त्रिशक्ति (ज्ञान, इच्छा, क्रिया) के सिद्धान्त हैं, जो सभी भारतीय सम्प्रदायों में समान श्रद्धा से माने जाते हैं।

कुछ जैन देवियों के नाम इस प्रकार हैं - कंकाली, काली, महाकाली, चामुण्डा, ज्वालामुखी, कामाख्या, कपालिनी, भद्रकाली, दुर्गा, ललिता, गौरी, सुमंगला, रोहिणी, त्रिपुरा,

कुरूकुल्ला, चन्द्रवती, यमघण्टा, क्रान्तिमुखा, गणेश्वरी, बैताक्षी, कालरात्रि, वैताली, भूतडामरी, विरुपाक्षी, चण्डी, वाराही, यमदूती, भुवनेश्वरी इत्यादि।

जैन देवियों में श्रुतदेवी विशेष रूप से उल्लेखनीय है। श्रुतदेवी सरस्वती का ही एक नाम है। जिस प्रकार श्रोतमत वाले वसन्त पंचमी (माघ शुक्ल पंचमी) के दिन सरस्वती की विशेषरूप से उपासना करते हैं, उसी तरह जैन ज्ञानपंचमी (कार्तिक शुक्ल पंचमी) के दिन श्रुतदेवी की विशेष रूप से उपासना करते हैं।

वैदिक और जैन प्रतीक के तुलनात्मक विचार से प्रथम तीर्थंकर ऋषभनाथ और यक्ष गोमुख विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

ऋषभनाथ या वृषभनाथ का नाम आदिनाथ भी है। वे जैन सम्प्रदाय के संस्थापक माने जाते हैं। प्रत्येक जिन की माता ने इनके जन्म के पूर्व स्वप्न में कुछ न कुछ देखा था। यही स्वप्न में देखी हुई वस्तु उस दिन का लांछन या चिह्न माना जाता है। धर्मचक्र भी ऋषभदेव का एक विशिष्ट लांछन है। प्रत्येक जिन ने किसी न किसी वृक्ष के नीचे कैवल्यपद (केवल ज्ञान) प्राप्त किया था। उस वृक्ष से उनका निकट सम्बन्ध माना जाता है। श्रीआदिनाथ का लांछन वृष और वृक्ष न्यग्रोथ है। इनका यक्ष गोमुख और यक्षिणी चक्रेश्वरी या अप्रतिचक्रा है। इनके पार्श्वचर दो पुरुष--भरत और बाहुबली हैं।

यह भारतीय परम्परा की विशिष्टता है कि जिस विग्रह की प्रधान रूप से उपासना की जाती है, वह ब्रह्म का प्रतीक बन जाता है और अन्य देवगण उस रूप के उपासक बन जाते हैं। शिव की पूजा विष्णु और विष्णु की पूजा शिव करते हैं और ब्रह्मा, विष्णु, महेश सभी सरस्वती, काली, कृष्णादि की उपासना करते हैं। जिन और बुद्ध की भी इसी रूप में सभी उपासना करते हैं और ब्रह्मोपासना से जिन को जिनत्व और बुद्ध को बुद्धत्व प्राप्त होता है। इन्हीं विचारों को लोग नाना प्रकार से घुमा-फिरा कर प्रकट करते हैं।

जैन मूर्तियों का विवरण

एक आदिनाथ ऋषभनाथ की मूर्ति है। यह मेहत, जिला गोंडा की है। पद्मासन के नीचे दो सिंह और वृषभ हैं। ये दुर्गा और शिव के विग्रहों की तरह धर्म के प्रतीक हैं। वेद में परमात्मा को वृष और वृषभ कहा गया है। यह ऋषभनाथ नाम ही वेद के भाव पर लिया हुआ मालूम होता है। आसन के नीचे सृष्टि का कमल है। इस पर ब्रह्मा, देवी या बुद्ध की तरह परमात्मा के प्रतीक ऋषभनाथ पद्मासन पर बैठे हैं। शैव, शाक्त, वैष्णव और बौद्ध स्थाणु (खड़ी) मूर्तियों के पार्श्वदेवता की तरह इनके भी दोनों पार्श्व में दो अनुचर हैं। एक के हाथ में चंवर और दूसरे के हाथ में पूजा की कोई वस्तु है, जो चित्र में स्पष्ट दिखाई नहीं पड़ती। हृदय पर धर्मचक्र बना है। यह विष्णु के श्रीवत्स लांछन की तरह है और दोनों का अर्थ भी एक है। विष्णु की श्री का वत्स या स्वयं विष्णु का ही धर्म है। उसी का प्रवर्तित रूप यह चक्र है। धर्मचक्र प्रभामण्डल के रूप में मस्तक के पीछे भी लगा है। यह वेद का कालचक्र है, जो काल और धर्मचक्र के रूप में विष्णु और शक्ति के हाथों में है और जिन तथा बुद्ध से सम्बद्ध है। मस्तक पर तीन छत्रों

वाला छत्र है। यह त्रिशक्ति का प्रतीक है। यह शिव और बुद्ध का त्रिशूल और दुर्गा का त्रिकोण है। धर्मचक्र और त्रिशक्ति के दोनों ओर दो गज इसी भाव से अंकित किये जाते हैं। सभी ओर अनेक तीर्थंकर पर तीर्थंकर के ध्यान में निमग्न हैं।

तीर्थंकर नेमिनाथ की एक मूर्ति है। यह ग्वालियर की है। आसन के पीछे विश्व को धारण करने वाला धर्म दो सिंहों के रूप में अंकित है। प्रतिमा की दाहिनी ओर वाले सिंह के ऊपर धर्मचक्र अंकित है। मूर्ति आसन मुद्रा में पद्मासन पर बैठी है। पार्श्व में दो पार्श्व चर या पार्श्वदेवता हैं। हृदय पर धर्मचक्र है। मस्तक के पीछे प्रभामण्डल के रूप में धर्मचक्र है। मस्तक पर त्रिशक्ति का प्रतीक त्रिच्छत्र है, जिसके एक या दो छत्र चित्र में आये हैं। तीसरा दिखाई नहीं पड़ता है।

एक मेहत गोंडा से प्राप्त आदिनाथ अथवा ऋषभनाथ की मूर्ति है।

चित्र संख्या 30: जैन चौमुखी अथवा सर्वतोभद्र प्रतिमा

भगवान महावीर की एक मूर्ति है। मूर्ति के नीचे सृष्टि का पद्म है। पद्म के ऊपर त्रिशक्ति के प्रतीक तीन त्रिशूल हैं। ऊपर पद्मासन पर ध्यानस्थ है। एक वीर का पार्श्वदेव चित्र में दिखाई पड़ता है। मस्तक के पीछे प्रभामण्डल के रूप में धर्मचक्र है। ऊपर त्रिशक्ति का त्रिच्छत्र है। आध्यात्मिक वैभव के प्रतीक दो गज इनकी सेवा में संलग्न हैं।

जैन चौमुखी अथवा सर्वतोभद्र प्रतिमा है। यह शिवलिंग की तरह तीन स्तरों में बनी हुई है, जो भूः, भुवः और स्वः के भी प्रतीक हैं। यह सब प्रकार से चौमुखी शिवलिंग की तरह है।

गण्डवाल ग्वालियर राज्य की, चक्रेश्वरी और गोमुख यक्ष की प्रतिमा है। यह ऋषभनाथ अथवा वृषभनाथ का रूपान्तर है। यह शिवशक्ति का प्रतिरूप है। श्रीमुख चतुष्कोण पीठ पर बैठा है। (चित्र सं. 30) इसके दाहिने हाथ में त्रिशूल के स्थान में तीन लपेटों की मूठवाला दण्ड है। बायें हाथ की वस्तु ठीक-ठीक दिखाई नहीं पड़ती। चक्रेश्वरी के दाहिने हाथ में भी इसी तरह का कोई अस्त्र है। चक्रेश्वरी शक्ति का एक नाम है। इसका अर्थ होता है—जगदीश्वरी। चक्र का अर्थ है, जो क्रमणशील रहे, अर्थात् चलता रहे। जगत और संसार का भी यही अर्थ है।

बौद्ध धर्म

भगवान बुद्ध का अवतार आज से लगभग 2500 वर्ष पूर्व हुआ। कपिलवस्तु के राजवंश में इन्होंने जन्म ग्रहण किया। पिता का नाम शुद्धोदन और माता का नाम मायादेवी था। यशोधरा

नामक सुन्दरी राजकुमारी से इनका विवाह कर दिया गया और राहुल नामक एक पुत्र भी उत्पन्न हुआ।

युवावस्था के प्रारंभ में ही रोग, जरा और मरण का दृश्य देखकर उनका मन उद्विग्न हो उठा। वे इनसे छुटकारा पाने के उपाय के लिए चिन्तित हो उठे। एक रात को अपने शिशु पुत्र को माता की गोद में छोड़कर उन्होंने संसार का त्याग किया। राजगृह जाकर एक ब्राह्मण से दीक्षा ली और छः वर्षों तक अध्ययन और कठिन तप तथा योगाभ्यास किया। किंतु इससे न उन्हें शान्ति मिली और न जीवन के उन चिरन्तन महारोग जरामरणादि से छुटकारे का उपाय मिला। एक दिन हठपूर्वक उन्होंने प्रतिज्ञा की--

इहासने शुष्यतु में शरीरं स्वगस्थिमांसं प्रलयं च यातु ।
अवाध्य बोधि बहुकल्पदुर्लभां नैवासनात्कायमतश्चलिष्यते ।।

नाशयित्वा तयोविघ्नान् कामध्वंसी भवाभ्यहम् ।
मृत्युंजयी भविष्यामि सच्चिदानन्द विग्रहः ।।

"इसी आसन पर मेरा शरीर सूख जाय, चमड़ा, हड्डी और मांस विलीन हो जाएं। अनेक कल्प में जो ज्ञान दुर्लभ है उसे बिना पाये इस आसन से शरीर न हिलेगा।
तप के विघ्नों का नाश करके मैं कामध्वंसक बनूँगा, मैं मृत्युजंय बनूँगा और सत् चित आनन्द मेरा शरीर होगा।''

यह भगवान की भीष्म प्रतिज्ञा थी। जब तक भोग की तृष्णा मर न जाए तब तक आत्म-लाभ का मार्ग रुका रहता है। काम (इच्छाएँ) ही ब्रह्म प्राप्ति के भयंकर विघ्न हैं। भगवान् ने उनके नाम का दृढ़ संकल्प किया और सिद्धि प्राप्त की। प्रत्येक महायोगी कामध्वंसक, मृत्युंजय और चिदानन्द शरीर वाला होता है, जिसके आदर्श शिव हैं। भगवान ने मार की सेना का ध्वंस किया। एक दिन समाधि की अवस्था में उस परम सत्य का साक्षात्कार हुआ और यह महायोगी कृतार्थ हो गया। यह आनन्द के उल्लास में चिल्ला उठा-मैंने पा लिया। मैं इस अमृत की धारा को संतप्त संसार में बहा दूँगा। अब जरा, मरण और रोग का भय संसार से मिट जाएगा। गया में जिस पीपल के पेड़ के नीचे इन्हें सत्य दर्शन हुआ, उसका नाम बोधिद्रुम (ज्ञानवृक्ष) पड़ा और जिस तत्त्व का बोध हुआ, वह कारणचक्र था। राजकुमार सिद्धार्थ उस दिन से बुद्ध अर्थात् ज्ञानी हुए। गया से बुद्ध काशी गए और सारनाथ में इस नए पाये हुए धर्म का उपदेश किया, जिसका नाम धर्मचक्र प्रवर्तन पड़ा।

बुद्ध ने जिस धर्म का उपदेश किया, यह कोई नया धर्म नहीं था। यह वैदिक धर्म का ही एक सुधरा हुआ रूप था।

वैदिक कर्त्तव्य के दो रूप हैं – ज्ञानकाण्ड और कर्मकाण्ड। ज्ञानकाण्ड ब्रह्म विद्या है, जिनके द्वारा मानव जीव का परम लक्ष्य ब्रह्मत्व की प्राप्ति होती है। ज्ञान द्वारा चित्त में जो स्थिरता आती

है, कर्म का भी लक्ष्य वही है। ज्ञान और कर्म जब साधन न बन कर साध्य बन जाते हैं, तब उपद्रव होने लगता है। बुद्ध के समय में यज्ञ, हवनादि कर्म साधन न रह कर लक्ष्य बन गए थे। इसलिए आडंबर ने प्रचंड रूप धारण कर लिया था। इसमें पशुहत्या उद्वेग का कारण था। जब पशुओं को मारकर लोग ढेर लगा देते होंगे और रक्त नाले से बहता होगा और इनकी कीचड़ और दुर्गंध फैली रहती होगी, तो साधारण जनता के लिए सचमुच यह एक विचित्र और विचलित कर देने वाला दृश्य उपस्थित होता होगा। इसी प्रकार के बहुत से आचारों का प्रचार हो गया था, जो जीवन के चरम लक्ष्य ब्रह्मप्राप्ति के साधन होने के बदले बाधक हो गए थे। भगवान बुद्ध ने इसका विरोध किया और सद्धर्म का उपदेश किया। उन्होंने आर्यसत्य वैदिक ब्रह्मविद्या का धर्म को एक नया रूप दिया। उन्होंने कहा :

''अत: भिक्खुओ! मैंने एक प्राचीन राह देखी है, एक ऐसा प्राचीन मार्ग, जो कि पुरातन काल के पूर्ण जागरितों द्वारा अपनाया गया था। उसी मार्ग पर मैं चला और उस पर चलते हुए मुझे कई तत्त्वों का रहस्य मिला। वही मैंने भिक्षु-भिक्षुणियों, नर-नारियों और दूसरे सर्वसाधारण अनुयायियों को बताया। अत: श्राबुसो! इसी प्रकार यह ब्रह्म चिंतन ब्रह्मचर्य जो कि इतना फूला-फला और सब देशों में सबसे सुपरिचित हुआ, लोकप्रिय बना। संक्षेप में, देवताओं और मनुष्यों के लिए अच्छी तरह प्रकट किया गया।''[74]

''अस्तित्व और अनस्तित्व दोनों सापेक्ष हैं। जो वस्तुत: निरपेक्ष है, वह अस्तित्व तथा अनस्तित्व दोनों से परे है। मुक्त बुद्ध की अवस्था ब्रह्म से भी ऊँची है। वह परमोच्च है। यह परम तत्त्व उदान में अजात, अभूत, अकत, असंगत कहा गया है। यह उपनिषदों का ब्रह्म है जिसे 'न इति, न इति' कहा गया है। बुद्ध निज को ब्रह्मभूत करता है। बुद्ध ने परम यथार्थ के बारे में चरम दृष्टिकोण अपनाया।''[75]

जो बुद्ध का अदृश्य परम कान्तिमान् और शाश्वत तत्त्व है, यही शाक्तों की तुरीया, शैवों का तुरीय और वेदांत का ब्रह्म है। इसी को बुद्ध ने अपने उपदेश और व्यवहार में ग्रहण किया।

बौद्धधर्म के भिन्न-भिन्न मतों के अनुसार बुद्ध के उपदेशों का सारांश इस प्रकार है :

"थेरवादी शाखा बौद्धधर्म की सबसे पुरानी शाखा है। इसके अनुसार बुद्ध के उपदेश बहुत सरल हैं। वह कहते हैं, सारे पापों से दूर रहो। सब अच्छी बातें जमा करो और मन को पवित्र करो। यह बातें शील समाधि और प्रज्ञा के अनुसरण से प्राप्त होंगी। इनका विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। शील अथवा सद्व्यवहार ही मानवीय जीवन में सारी प्रगति का मूलाधार है। साधारण गृहस्थ को हिंसा, चोरी, झूठ, व्यभिचार और मादक व्यसनों से बचना चाहिए। यदि वह भिक्षु हो जाए, तो उसे ब्रह्मचर्य का जीवन बिताना चाहिए। गृहस्थ के लिए आवश्यक सद्व्यवहार के चार बाकी नियम पालन करना चाहिए, और उसे पुष्पमालाएँ या अन्य किसी प्रकार के सौंदर्य प्रसाधन का व्यवहार नहीं करना चाहिए। नरम गद्देवाले आसन या बिस्तरे उपयोग में नहीं लाने चाहिए। सुवर्ण या चाँदी का उपयोग नहीं करना चाहिए।

न नाच देखना चाहिए, न संगीत के जलसे या अन्य असभ्य तमाशों में जाना चाहिए, दोपहर के बाद भोजन नहीं करना चाहिए। कभी-कभी अच्छे व्यवहार का अर्थ लिया जाता है कि बुरे जीवन व्यवहारों (दश अकुशल कर्मपथ) से दूर रहना, उदाहरणार्थ – हिंसा, चोरी, व्यभिचार, मिथ्याचार, निंदा, कठोर शब्द, अर्हतापूर्ण वचन, लोभ, असूया, गलत दार्शनिक मत आदि। समाधि अथवा मनन का उद्देश्य मन को पूर्णतः संतुलित रखना है, जिससे एक ही समय में एक साथ चार आर्षसत्य की प्रज्ञा हो सकती है और प्रतीत्य समुत्पाद के नियम का भी ज्ञान पाया जा सकता है। उसके अनुसार इस जीवन का पूर्व जीवन से और उत्तर जीवन से संबंध प्रस्थापित किया जा सकता है। कर्म प्रत्येक व्यक्ति के जीवन को आकार देता है और सारा विश्व उसमें बंधा है। अतः कर्म एक तेजी से चलते हुए रथ की धुरी है।''[76]

''योगाचार में बोधिप्राप्ति के लिए योगाभ्यास को सबसे प्रभावशाली पद्धति माना गया है। चान (ध्यान) शाखा के अनुसार सापेक्ष और परम की अभेद चेतना से ही मनुष्य बुद्धत्व प्राप्त कर सकता है।''[77]

निदान कथा के 'दूरे निदान' में सुमेध ब्राह्मण की कथा से ये सिद्धांत और भी स्पष्ट हो जाते हैं। एक धनी कुलीन ब्राह्मण वंश में, अमरावती में सुमेध का जन्म हुआ था, पर उनके बचपन ही में उनके माँ-बाप चल बसे। उन्होंने ब्रह्म विज्ञान की शिक्षा ली। माता-पिता की छोड़ी संपत्ति से नितांत असंतुष्ट होकर उन्होंने सारी सम्पत्ति दान कर दी और संन्यास ग्रहण कर लिया। जन्म, मरण, सुख और दुःख, रोग और वेदना से परे की अमत महानिर्वाण अवस्था की खोज में वे चल पड़े। उन्होंने यह अनुभव किया कि संसार में जो कुछ है, इसके दो पहलू हैं – सत् और असत्। इसलिए जन्म दुःख से मुक्त होने के लिए कोई अजन्मा वस्तु भी जरूर होगी। इसी वस्तु से साक्षात्कार करने का निश्चय करके वे ध्यान करने हिमालय गये। यहाँ धम्मेक पहाड़ में उन्होंने अपना निवास बनाया और केवल पेड़ों से गिरे फलों को खाकर जीवन-यापन करते रहे। शीघ्र ही पाँच अभिञ्ञा और समाधि में उन्हें पूर्णता प्राप्त हो गई।[78]

सद्धर्म पुण्डरीक के दूसरे अध्याय में बुद्ध यह बतलाते हैं कि परमं सत्य का तथागत अपने भीतर ही अनुभव कर सकते हैं और वह दूसरों के सामने व्यक्त नहीं किया जा सकता।[79]

'धम्मपद' बौद्ध दर्शन और व्यवहार का प्रमुख ग्रन्थ है। इस छोटे से ग्रन्थ में अन्य बौद्ध ग्रन्थों की भांति, सब प्रकार के जप यज्ञादि और अन्य आत्मप्रपीडक हठयोगी की निन्दा है और इसका विशेष आग्रह शील पर है। यह शील, समाधि और पञ्ञा (प्रज्ञा) से विकसित होता है। बुद्ध के उपदेश संक्षेप में यों हैं – सारी बुराइयों से बचो। जो अच्छा है, उसे जमा करो और मन को शुद्ध करो।[80] कौन सा धर्म इससे सहमत नहीं होगा? इसके उपदेश के अनुसार सब निश्चित चीजें क्षणिक हैं, दुःख से भरी हैं और इस कारण से 'अनत्ता' या अपनी नहीं हैं। लोगों से कहा गया कि वस्तुओं के केवल बाह्य आकर्षण पर न जाकर, उनके दुःखद पक्ष को भी पहचानें। उसमें अविद्या को सबसे बड़ी अशुद्धि कहा गया है और यह कहा गया है कि तृष्णा

या आसक्ति के अस्त से ही दुःख का अंत होगा। लोभ, ईर्ष्या, भ्रांति आग की तरह खतरनाक बताई गई हैं और जब तक उन्हें न रोका जाए, यह सम्भव नहीं कि सुखी जीवन बिताया जा सके। व्यक्ति को पाप से या अपवित्रता से मुक्त करने में, सिवाय, उसके अपने और कोई मदद नहीं कर सकता। मनुष्य को चाहिए कि वह अपने आपको जगाने का प्रयत्न करें। बुद्ध भी बहुत कम मदद कर सकते हैं, चूंकि वे केवल मार्गदर्शक चिह्नों के समान पथप्रदर्शक मात्र हैं।[४]

इन कतिपय उद्धरणों से भी यही सिद्ध होता है कि बुद्ध ने अपने उपदेशों में वेदोपदिष्ट सारे सिद्धान्तों को ग्रहण किया और इन्होंने अपनी साधनाओं से ब्रह्म विद्या में सिद्धि लाभ की। सोऽहंभाव में स्थिरता प्राप्त कर लेने पर इन्होंने अपने को तथागत कहना आरंभ किया।

जिस प्रकार स्वामी दयानन्द ने छुआछूत, जातपाँत और मूर्तिपूजा का खण्डन और घोर विरोध किया, उसी प्रकार बुद्ध ने मिथ्याचार के आडम्बर और यज्ञ के रूप में फैले हुए नाना प्रकार के अनाचार का घोर विरोध किया। आर्य समाज और जैनों की तरह इन्होंने किसी को शिखा सूत्र छोड़ने को न कहा। देवी-देवताओं की आराधना को इन्होंने न रोका। केवल, धर्म के नाम पर पशुहत्या और यज्ञ के मिथ्याडम्बर का विरोध किया। इन्होंने यज्ञादि को धर्म नहीं माना। इन्होंने धर्म के यथार्थ रूप को ग्रहण कर शील के रूप में उसका नियमपूर्वक कठोर अभ्यास और आचरण का प्रचार किया। यह सनातन धर्म का शोधित और चमकता हुआ रूप था। इसमें दया और मैत्री की प्रधानता थी।

योग और तंत्र, ब्रह्मविद्या के व्यावहारिक रूप हैं। बौद्धों ने दोनों का बड़ी स्वच्छन्दता से प्रयोग किया। इसलिए शाक्त, शैव और वैष्णवों की तरह जैन और बौद्ध प्रतीकों में केवल रूप का अंतर है, सिद्धान्त का नहीं। सिद्धान्त सबका एक है।

बौद्ध प्रतीक (बुद्ध)

बुद्ध राजकुमार सिद्धार्थ और ब्रह्म हैं। इसलिए दोनों ही रूपों में इनकी प्रतिमा, चित्र इत्यादि पाये जाते हैं।

प्रतिमाएँ तीन प्रकार की होती हैं-- स्थाणुक, आसन और शयन। स्थाणुक मूर्तियाँ सीधी या समभंग, द्विभंगादि मुद्राओं में खड़ी रहती हैं। इनके दोनों पार्श्वों में दो देवताओं की मूर्तियाँ रहती हैं। यह अशेषकारण रूप परमतत्त्व का प्रतीक है। आसन प्रतिमाएँ नाना प्रकार के आसनों पर बैठी रहती हैं। शयनमूर्ति लेटी रहती है या किसी वस्तु पर अड़ी रहती है। बुद्ध की तीनों प्रकार की प्रतिमाएँ पाई जाती हैं। स्थाणुक मूर्तियाँ प्रायः बहुत ही प्रभावशाली और मनोहर हैं। इनके साथ कभी पार्श्वदेवता की मूर्ति रहती है और कभी नहीं। कभी ये मूर्तियाँ प्रभामण्डल के भीतर रहती हैं और कभी प्रभामंडल में नहीं भी रहतीं। कभी ये मूर्तियाँ चैत्य के भीतर बनाई जाती हैं।

बुद्ध महायोगीश्वर के रूप में अवतीर्ण हुए थे। इसलिए ध्यानस्थ योगी के रूप में इनकी बहुत सी आसन प्रतिमाओं का निर्माण किया गया है। इस प्रकार की प्रतिमाओं में ये प्रायः पद्मासन पर ध्यानस्थ बैठे रहते हैं और मुखमंडल के पीछे प्रभामण्डल चमकता रहता है। माथे

पर प्राय: तिलक बना रहता है जो कारणतत्त्व के बिंदु का प्रतीक है। कुछ बौद्धतत्त्वज्ञ इसे ऊर्ण कहते हैं। जहाँ भौंहें मिलती हैं, वहाँ के भ्रमराकार घूमे हुए बालों को ऊर्णा कहते हैं। यह महापुरुषों का एक लक्षण है। किंतु, बुद्ध के ललाट पर बने हुए ये बिंदु ऊर्णा नहीं हैं। ऊर्णा को दोनों भौंहों के बीच में होना चाहिए। किंतु ध्यान से देखने पर बोध होगा कि यह तिलक का बिंदु ऊर्णा से ऊपर ललाट पर बना रहता है। यदि यह भूमध्य में रहता तो भी इसका वही अर्थ होता। भूमध्य ही आज्ञाचक्र में नित्य इच्छास्थान वा मन:स्थान है। वही बिंदु स्थान है, जहाँ इतरलिंग के रूप में परमा ज्योति प्रकट होती है। बुद्ध के ललाट पर बिंदु के निर्माण से ही यह स्पष्ट है कि यह ऊर्णा नहीं है। यह बिंदु बुद्ध की प्राचीन से प्राचीन प्रतिमा में पाई जाती है। श्रीचक्र में यह बिंदु स्थान चक्र के मध्य में है और विष्णु तथा शिव की प्रतिमा में यह नाभि है, जहाँ से कमल के रूप में सृष्टि का विकास होता है।

बुद्ध की आसन प्रतिमा धर्मचक्रप्रवर्तन मुद्रा में, ज्ञान मुद्रा में और योग मुद्रा में पाई जाती है। जब दोनों हाथों की अंगुलियाँ छाती के सामने कुछ मुड़ी हुई एक दूसरे के ऊपर दिखाई जाती हैं तब उसे धर्मचक्रप्रवर्तन मुद्रा कहते हैं। जब एक पैर आसन पर समेटकर दूसरा आसन से नीचे लटकाकर उपदेश करते हुए दिखाए जाते हैं, तो इसे ज्ञान मुद्रा कहते हैं। जब हाथ पर हाथ रखकर पद्मासन पर ध्यानस्थ बैठे दिखाए जाते हैं, तब इसे योग मुद्रा कहते हैं। शिव, देवी, विष्णु आदि की इन मुद्राओं में बनी प्रतिमा और बुद्ध की प्रतिमा में कोई भेद नहीं दिखाई पड़ता।

बुद्ध की बहुत सी प्रतिमाओं में नटराज की तरह बड़े ही सुंदर प्रभामण्डल बने हुए हैं। इनकी बहुत सी मूर्तियाँ अभय और वरद मुद्रा में भी हैं।

ब्रह्मरूप में बुद्ध की नाना प्रकार की मूर्तियों का निर्माण किया जाता है। कभी इसके चार हाथ, कभी दश हाथ और कभी सहस्र भुजायें दिखाई जाती हैं। देवी की मूर्ति की तरह कभी इन्हें गजारूढ़ और कभी सिंहारूढ़ दिखाया जाता है। सिंह धर्म का प्रतीक है। इसलिए बुद्ध की मूर्ति, स्थाणुक वा आसन, जिस किसी मुद्रा में क्यों न दिखाइं जाए, मूर्ति के पीठ अथवा आसन के नीचे सिंह बना रहता है। कभी-कभी वृषभ भी दिखाई पड़ता है।

चक्र और त्रिशूल

क्रमण जिसका स्वभाव हो, उसे चक्र कहते हैं। यह विवर्तना, परिणाम और उपरतिवाला कालचक्र और अभ्युदय और नि:श्रेयस का कारण धर्मचक्र है। यह कारणचक्र अर्थात् परब्रह्म का भी प्रतीक माना जाता है। चक्र में साधारणत: आठ अर होते हैं। ये यंत्र की अष्टप्रकृति हैं।

सारनाथ वाले स्तम्भशिखर के धर्मचक्र में 24 अर हैं। विष्णु के चौबीस अवतार, जैनों के चौबीस तीर्थंकर, बौद्धों के चौबीस बोधिसत्व और सांख्य के चौबीस तत्त्वों का इन अरों से संबंध नहीं है, यह नहीं कहा जा सकता। इनका पारस्परिक संबंध और भाव भी स्पष्ट है कि यह चक्र एक विश्वव्यापी तत्त्व का प्रतीक है।

विष्णुचक्र और बुद्ध के धर्मचक्र में भेद नहीं है। विष्णुचक्र भी धर्मचक्र की तरह धारण, अर्थात् रक्षाशक्ति है।

बुद्ध की मूर्तियों के साथ त्रिशूल अंकित रहता है। कभी त्रिशूल के ऊपर चक्र और कभी चक्र के ऊपर त्रिशूल बना रहता है। भरहुत और सांची के स्तूप के द्वारों पर ऐसे चक्र और त्रिशूल पाए जाते हैं। यह चक्र त्रिशूल प्रायः बुद्ध और बौद्ध देव-देवियों के प्रभामण्डल के ऊपर भी बना रहता है, जिनपर त्रिशूल के ऊपर धर्मचक्र पड़ा रहता है।

त्रिशूल, त्रिशक्ति (ज्ञान इच्छा क्रिया) का प्रतीक है।

पार्श्वदेवता

बुद्ध की स्थाणुक मूर्तियों के दोनों पार्श्व में दो मूर्तियाँ रहती हैं। ये पार्श्व-देवता हैं। त्रिमूर्ति की मध्यमूर्ति की तरह, बीचवाली मूर्ति रजोगुण है, जो अन्य दो गुणों का संचालन कर सृष्टि क्रिया प्रवर्तित रखती है। शिव, विष्णु, जिन आदि की स्थाणुक मूर्तियाँ भी इसी सिद्धांत पर इसी रूप में बनाई जाती हैं। एक मूर्ति में एक ओर वाले पार्श्वदेवता के हाथ में कमण्डल और दूसरे हाथ में कुछ है। इन्हें ब्रह्मा और इंद्र कहा जाता है। दूसरी मूर्ति में दोनों पार्श्वदेवताओं के हाथ में चंवर है। इस सिद्धांत पर बनी अनेक मूर्तियाँ मिलती हैं, जिनमें पार्श्वदेवताओं में एक स्त्री और एक पुरुष है। इससे सिद्धांत में कोई बाधा नहीं पड़ती। स्त्री संघ और पुरुष धर्म है। बीच में बुद्ध रहते हैं।

स्तंभ

स्तंभ दो प्रकार के होते हैं। एक चैत्य और देवप्रसादों के भीतर रहते हैं और दूसरे उन्मुक्त स्थान में कभी शिखर के साथ और कभी बिना शिखर के बनाए जाते हैं।

चैत्यों के स्तंभ का आरंभ चतुष्कोण से होता है। यह प्रासादों का चतुष्कोण वा स्थिति तत्त्व है। इसके ऊपर निधि कलश बना रहता है। कलश के ऊपर मूलस्तंभ बना रहता है। ब्रह्मस्तंभ चतुष्कोण होता है और विष्णुस्तंभ अष्टकोण। ऊपर गोलाकार या षोडशकोण का कंठ रहता है। यह रुद्रकंठ है। इसके ऊपर अमृत कलश रहता है। इसके ऊपर बुद्ध की चार अवस्थाओं (अवतार, महाभिनिष्क्रमण, धर्मचक्र प्रवर्तन और महापरिनिर्वाण) के द्योतक चार चौकोरी शिलाखण्ड बने रहते हैं और उनके ऊपर सृष्टि का प्रतीक मिथुन बना रहता है। यह मिथुन विभुशक्ति का अष्ट प्रकृति (पंचतत्त्व, मन, बुद्धि, अहंकार) के साथ विलास है जिसके बिना संसार का अस्तित्व असंभव है। मंदिरों के नीचे धर्मचक्र का कालचक्र भी बना रहता है, जिसके बिना सृष्टि का चलना असंभव होता है।

केवल स्तंभ भी मूलस्तंभ के उपर्युक्त नियमों पर बनता है। इसके शिखर पर बुद्ध की चार अवस्थाओं के द्योतक चार वृषभ, सिंह, अश्वादि बने होते हैं। कभी बुद्ध का प्रतीक केवल एक गज, सिंह, वृषभादि के रूप में बना रहता है। सारनाथ वाले शिखर पर चार सिंहों के नीचे बौद्धधर्म के चारों मान्य लांछनों में से तीन गज, वृषभ और अश्व बने हुए हैं। सिंह ऊपर है। ये टूटे हुए सिंह त्रिमूर्ति की तरह दिखाई पड़ते हैं। सामनेवाले खुले हुए मुख में लोल जिह्वा है।

दाहिनी ओर वाला मुख खुला हुआ विकराल मालूम होता है और बाईं ओर वाला प्रशांत मुद्रा में है। ये क्रमशः त्रिमूर्ति के रज, तम और सत्व के प्रतीक जैसे हैं।

विश्व रचना का क्रम एक पुरुष अथवा मानव मूर्ति के रूप में माना जाता है। इसलिए परमात्मशक्ति का नाम परम पुरुष है। इसके अंतर्गत मूलभावना यों है–

> मनुष्य की रीढ़ के भीतर मूलाधार से लेकर सहस्रार तक एक शक्ति का स्तंभ है। इसे अलंकृत भाषा में ज्योति स्तंभ कहते हैं और तंत्र को भाषा में यह कुंडलिनी है। इसमें नीचे से क्रमशः मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपुर, अनाहत, विशुद्ध, आज्ञा और सहस्रार–ये सात चक्र वा पद्म बने हुए हैं। इन पद्मों की कर्णिका के बीच से कुण्डलिनी का स्तंभ मूलाधार से सहस्रार तक है और इस स्तंभ के चारों ओर इन पद्मों के दल बने हुए हैं। मूलाधार रीढ़ के अंतिम छोर पर है, और भूतत्त्व का अधिष्ठान है। इसमें चार दल हैं और यह चौकोर हैं। यह स्थिति तत्त्व है। शिश्नमूल के सामने रीढ़ के भीतर स्वाधिष्ठान है। इसमें छः दल हैं और यह अप्तत्त्व का स्थान है। नाभि के सामने मणिपुर है, इसमें दश दल हैं और यह तेजस्तत्व का अधिष्ठान है। हृदय के सामने अनाहत है। इसमें बारह दल हैं और यह वायुतत्त्व का अधिष्ठान है। कण्ठकूप के सामने विशुद्ध है। इसमें सोलह दल हैं और यह आकाश तत्त्व का अधिष्ठान है। भ्रूमध्य के सामने आज्ञाचक्र है। इसमें दो दल हैं और यह मन शक्ति का स्थान है। इसके ऊपर सहस्रार है, जो बीज बिन्दु स्थान है। ये लघुरूप में क्रमशः भूलोक, भुवलोक, स्वलोक, महरलोक, जनलोक, तपलोक और सत्यलोक हैं। इसका विस्तृत और विशाल रूप परम पुरुष का स्थूल, अर्थात् विराट रूप है। जिस प्रकार मानवरूप के शक्तिस्तम्भ में सातों चक्र गुथे हुए हैं और शक्तिस्तम्भ, मूलस्तम्भ अर्थात् गृह के प्रधान स्तम्भ की तरह है, उसी प्रकार परम पुरुष मूलस्तम्भ की तरह है, जिसमें मूलाधार से नीचे सात अधोलोक और सात ऊर्ध्वलोक छत्रदण्ड में छाते की तरह लगे हैं। यह ब्रह्माण्ड का छत्रदण्ड ही स्तम्भ की मूल भावना है और इसी भावना को हृदय में रखकर विभुशक्ति की कल्पना कर उपासना के लिए स्तम्भ रूप में उसके प्रतीक का निर्माण किया जाता है। इसी का लघुरूप शिवलिंग और विशाल रूप स्तूप है। प्रासाद पुरुष के रूप में विश्वरूप परमात्मा की रचना करते समय निधि कलश और अमृत कलश के बीच में इस ''त्रैलोक्यनगरारम्भ'' मूलस्तम्भ की कल्पना की जाती है। यही बौद्धस्तम्भ है। बौद्धस्तम्भ उपासना के लिए भगवान बुद्ध का प्रतिरूप या प्रतीक है।

बुद्धरूप से मुख्यतः सिंह, वृषभ, गज और अश्व का घनिष्ठ संबंध है। सिंह, वृष, गज और अश्व सभी धर्म के चिह्न हैं। गज बुद्ध का अपना रूप है। इसी रूप में बुद्ध ने माया देवी की कुक्षि में प्रवेश किया था। वैदिक यज्ञों का अश्व महाभिनिष्क्रमण में भगवान का वाहन था। ये बुद्ध के प्रतीक के रूप में स्तंभों के शिखर पर बनाए जाते हैं। जब शिखर पर सिंहादि की एक मूर्ति रहती है, तब यह युद्ध का प्रतीक है और जब चार-चार सिंहादि बने रहते हैं, तब ये बुद्ध के अवतार, महाभिनिष्क्रमण, धर्म चक्रप्रवर्तन और महापरिनिर्वाण, इन चार अवस्थाओं के प्रतीक

होते हैं। चैत्यों के स्तंभों में भी इसी नियम का अनुसरण किया जाता है। लंका के अनुराधापुर के स्तंभराम और लंकाराम में इसी उद्देश्य से सहस्रों बड़े ही मनोहर किंतु पतले स्तंभ बनाए गए थे।

स्तूप

स्तूप भी मूलस्तंभ या पूंजीभूत परमज्योति का प्रतिरूप है। स्तूपिका के ऊपर सृष्टि के लोकों का प्रतीक छत्र रहता है। छत्रदंड में लगे हुए छत्रों की संख्या प्रायः एक, तीन, सात और चौदह होती है। एक छत्र धर्मचक्र है। यह प्रभामंडल वाली बौद्ध मूर्तियों के ऊपर भी बना रहता है। तीन त्रिभुवन, सात सप्तलोक और चौदह चतुर्दश भुवन के प्रतीक हैं।

स्थाणुक मूर्तियों में और विशेषकर बुद्ध की स्थाणु मूर्तियों में जटामुकुट और करण्डमुकुट में ये तीन, सात और चौदह कुण्डल वा लपेट के रूप में दिखाए जाते हैं और किरीटमुकुट में रत्नों की संख्या से यह संकेत प्रकट होता है। बोरोबुदुर (जावा) का स्तूप श्रीचक्र पर बना है। इससे यह निःसंदिग्ध रूप से स्पष्ट हो जाता है कि श्रीचक्र की तरह स्तूप भी विश्व और विश्वात्मा का प्रतीक है।

बुद्ध की मूर्तियाँ भी इन्हीं सिद्धांतों पर बनाई जाती हैं। बैठी हुई मूर्तियों के तीन भाग होते हैं। नीचे का भाग आसन है, मध्य भाग में बुद्ध का शरीर रहता है और ऊर्ध्वभाग में मस्तक के चारों ओर वर्तुलाकार प्रभामण्डल है। इन तीनों भागों को ढाँपने के लिए इनके बाहर रेखा खींचने से शिवलिंग की आकृति बन जाती है।

प्रभामण्डल के भीतर स्थाणुक बुद्धमूर्ति शिवलिंग पर अंकित शिवमूर्ति जैसी मालूम होती है। प्रभामण्डल के ऊपर त्रिशूल इस सादृश्य को और भी पूर्ण बना देता है। यह प्रभामण्डल स्तूप और शिवलिंग दोनों का ही प्रतीक है, जिसके भीतर ज्योतिर्मय पूर्णब्रह्म के रूप में बुद्ध वर्तमान है।

देव-देवी

बौद्धमत में शैव, शाक्त और वैष्णव देवी--देवताओं का स्वच्छंदता से प्रयोग किया गया है। कहीं इनका नाम बदल दिया गया है और कहीं ज्यों का त्यों है। इनके प्रतीकों में भी कोई अंतर नहीं है।

तारा - ये शाक्तों की द्वितीया महाविद्या ब्रह्ममयी तारा है। प्रायः इनके एक हाथ में कमल है और दूसरा वरदहस्त है। तारा की चतुर्भुजी मूर्तियाँ भी पाई जाती हैं। उनके एक हाथ में खड्ग रहता है। कभी कामाख्या की तरह कमल पर बैठी रहती हैं।

श्यामा - इनकी मूर्ति भी तारा की तरह ही है।

प्रज्ञापारमिता - इसका अर्थ होता है ज्ञान में पारंगत। यह महासरस्वती के नाम का रूपांतर है। महादेवी की तरह इनकी उपासना होती है।

मंजुश्री - यह महात्रिपुरसुंदरी के नाम और रूप का प्रतिरूप है। मंजुश्री की मूर्ति का निर्माण पुरुष रूप में किया जाता है। इनके एक हाथ में खड्ग रहता है, जो काली और तारा के संग की तरह अज्ञान का नाश करने के लिए ज्ञान खड्ग है।

भैरव - नालंदा की खुदाई में भैरव की मूर्ति भी मिली है। पटना संग्रहालय में इसे हयग्रीव अंकित किया गया है। किंतु हयग्रीव विष्णु के अवतार हैं, जिसमें सर्पवलय, व्यालयज्ञोपवीती और त्रिनेत्र हो ही नहीं सकता। यह भैरव के ध्यान से मिलता है। मालूम होता है कि भैरव की उपासना के लिए इस रूप को शैव और शाक्त मत से ज्यों का त्यों ले लिया है।

बौद्ध धर्म के विस्तार के साथ नए बौद्धों के हृदय में पुराने देवी-देवताओं के लिए श्रद्धा बनी रही और वे उन्हें अपने नये धर्म में ले आए।

बुद्ध मूर्तियों का विवरण

आदिबुद्ध वज्रधर हैं। यह नेपाल के एक रंगीन चित्र की अनुकृति है। ये वेदांत के ब्रह्म और वेद के सत् की तरह बौद्ध देवसमाज के सर्वश्रेष्ठ देव हैं। (चित्र सं. 31)

वज्र शब्द की आगे व्याख्या हो चुकी है। वज्र का अर्थ है अचल, अटल और अविनाशी तत्त्व। यह वेदांत का कूटस्थ है।

नीचे ब्रह्मा के पद्म की तरह सृष्टि का प्रतीक पद्म है। उसकी कर्णिका (बिंदुस्थान) पर पद्मासन के ऊपर बुद्ध बैठे हैं। बीच में आसनमुद्रा में भगवान का शरीर है। यह देहलिंग की तरह बना हुआ है। दोनों जानु के पास से दो ज्वालाएँ निकल रही हैं और भगवान का शरीर ही ज्योतिर्मय है। ये तीनों ज्योतियाँ त्रिशक्ति की त्रिशूल बनाती हैं। गले में विष्णु की वैजयंती और शैव तथा शाक्तों के मुण्डमाल की तरह वाक्, अर्थात् सृष्टि की माला है। दाहिने हाथ में वज्र और बाएँ में वज्रघण्टा है। वज्र 'ऋत वृहत्' की निश्चल स्थिरता का प्रतीक है। वज्र के दोनों छोरों पर त्रिशक्ति के प्रतीक दो त्रिशूल बने हुए हैं। बाएँ हाथ में वज्रघंटा शब्द ब्रह्म है। यह विष्णु का शंख, शिव का डमरू, कृष्ण की बंशी और शक्ति का घंटा है। इसके भी एक छोर पर त्रिशूल बना है, जिसे भगवान अंगुष्ठा और तर्जनी के बीच पकड़े हुए हैं। वज्रवाले दोनों हाथ एक दूसरे के ऊपर हृदय पर पड़े हुए हैं। यह निश्चल एकाग्रता अर्थात् आत्मतुष्टि (आत्मन्येवात्मना तुष्टः) का प्रतीक है। यही त्रिशक्ति की शून्यता है। खित्तान लोग भी हृदय पर इसी प्रकार क्रॉस (+) बनाया करते हैं। इससे स्पष्ट बोध होता है कि क्रॉस या क्रूस त्रिशूल की अनुकृति है। एक ग्रंथ में अन्यत्र भी इसकी चर्चा हुई है। भगवान
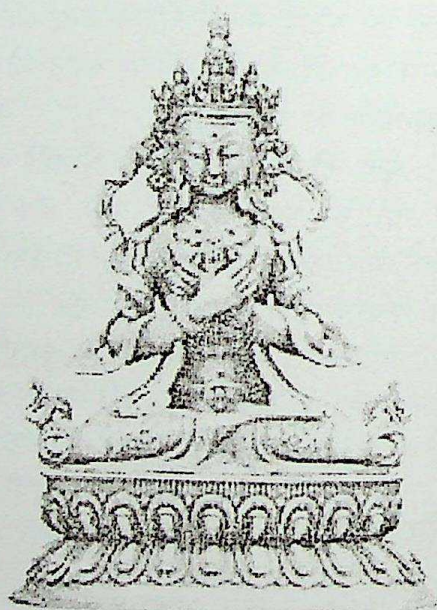
चित्र संख्या 31: आदिबुद्ध (नेपाल)

के कंधे से लटकते हुए और हवा में उड़ते हुए उत्तरीय के दोनों छोर शरीर के साथ त्रिशूल बनाते हैं।

भौंहों के बीच उज्ज्वल बिंदु वा तिलक है। ग्रीनबेडेल ने इसे ऊर्णा कहा और पीछे के सभी लेखकों ने इसे इसी नाम और रूप में ग्रहण कर लिया। दोनों भौंहों के मिलने के स्थान में गोलाकार घूमे हुए बालों को ऊर्णा कहते हैं। यह महापुरुष का एक लक्षण है। किंतु यह ऊर्णा हो नहीं सकता। यदि यह बिंदु ऊर्णा होता तो भौंहों के बालों की तरह इसका भी रंग काला होता। किंतु इसका रंग उजला होने के कारण स्पष्ट है कि यह ऊर्णा नहीं है। यह आज्ञाचक्र का बिंदु स्थान है, जहाँ ध्यानस्थ होने पर प्रथम ज्योति प्रकट होती है। बिंदु के ऊपर रत्नमुकुट है। इसकी एक पंक्ति में पाँच और दूसरे में सात रत्न हैं। ये क्रमशः पंचतत्त्वादि अर्थात् तारा के पंचब्रह्म और सप्तलोक हैं। शेष के भी पाँच और सात फण बनाने का विधान है। पीछे ज्योति बगराता हुआ प्रभामण्डल यह सूचित करता है कि भगवान ज्योतिर्मय है।

बुद्ध की एक मूर्ति बर्लिन म्यूजियम में है। यह नेपाल की प्राचीन पत्थर की मूर्ति है। इस पर अंकित लेख है – ये धर्माः हेतु प्रभवाः।

भगवान के आसन के नीचे दो सिंह हैं। धर्म के ऊपर सृष्टि का प्रतीक कमल है। ब्रह्मा की तरह भगवान कमल पर पद्मासन पर भूमिस्पर्श मुद्रा में बैठे हैं। ललाट पर बिंदु चमक रहा है। (यंत्र के बिंदु को स्मरण कीजिए।) समूची प्रतिमा शिवलिंगाकृति की बनी है। मालूम होता है कि शिवलिंग के भीतर शिव प्रकट हुए हैं। नीचे धारणशक्ति, मध्य में विष्णुशक्ति का कमल और ऊपर रुद्रांश है।

एक वृद्ध का मस्तक गांधारशिल्प की कृति है और अनुमान किया जाता है कि ईसवी सन की चौथी शताब्दी की है। इसमें ललाट बिंदु इतना स्पष्ट है कि यह ऊर्णा हो नहीं सकता। ईसवी सन् के पूर्व की मूर्तियों में भी ये बिंदु पाए जाते हैं। यह दार्शनिकों और साधकों का बिंदु है।

एक बुद्धमूर्ति भी गांधार शिल्प की कृति है। यह इस समय ब्रिटिश म्यूजियम लंदन में है। अनुमान किया जाता है कि यह ईसवी सन् की दूसरी शताब्दी की मूर्ति है। इसमें ललाट बिंदु स्पष्ट है और यह ऊर्णा नहीं है। यह साधना और सिद्धि का प्रतीक है।

शिलाखंड पर प्रथम धर्मचक्र प्रवर्तन का दृश्य अंकित है। इसमें बुद्ध के आसन के नीचे त्रिशूल पर धर्मचक्र अंकित है। ग्रीनवेडेल इसे बौद्धत्रिरत्न (बुद्ध, धर्म और संघ) के रूप में ग्रहण करने में हिचकते हैं। किंतु त्रिशूल का सूक्ष्मरूप त्रिशक्ति और स्थूलरूप बौद्ध संप्रदाय में त्रिरत्न है।

सांची स्तूप का एक द्वार है। इसे ईसवी सन् से दो सौ वर्ष पूर्व का माना जाता है। इसके शिखर पर चक्र के ऊपर त्रिशूल बना हुआ है (चित्र सं. 32)। इससे स्पष्ट है कि बौद्ध संप्रदाय में दोनों का समान रूप से आदरणीय और शीर्षस्थान है। एकशूल ज्योतिर्मय एक चैतन्य शक्ति का प्रतीक है, जिसकी उपासना शूलप्रतीक के रूप में होती है और त्रिशक्ति त्रिशूल है, जिसकी उपासना त्रिकोण, शिवलिंग, स्तूपादि के रूप में होती है। दुर्गा के चित्र में महिष के कण्ठ में
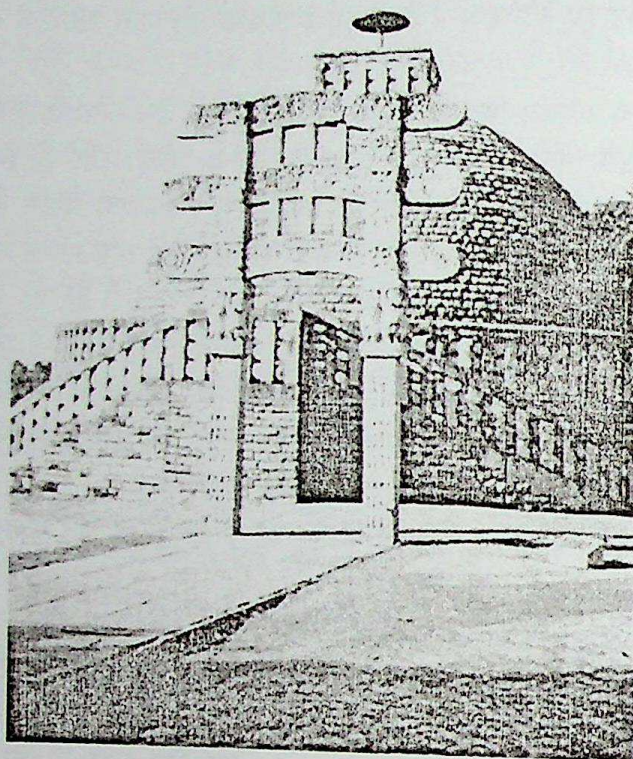
चित्र संख्या 32: सांची स्तूप का एक द्वार

शूल है और ऊपर त्रिशूल। ये एक ही सिद्धांत के समस्त और व्यक्त रूप हैं। जैन मूर्तियों की तरह चक्र और त्रिशूल के पार्श्व में एक गजराज खड़ा है। नीचे द्वार के वाम स्तंभ पर चक्र अंकित है, जिसके ऊपर स्तूपिका (देवप्रासादों का अमृत कलश) बना है। गजयूथ आराधना में निरत है। द्वार की तृतीयभूमि के दोनों पार्श्व में दो स्तूप बने हैं, जो शिवलिंग जैसे दिखाई पड़ते हैं। यथार्थ में शिवलिंग का विस्तृत रूप स्तूप और स्तूप का लघुरूप शिवलिंग है। लघुरूप में पूजन के लिए बनाए हुए सभी स्तूपों में और शिवलिंग में कोई भेद नहीं मालूम होता। वे स्तूप जैसे तब लगते हैं, जब उनके ऊपर स्तूपिका या छत्र लगा दिए जाते हैं।

त्रिशक्ति का सिद्धांत कितना प्राचीन है, यह कहना कठिन है। ऋग्वेद की ऋचा है—

द्यौमे पिता जनिता नाभिरत्र बंधु मे माता महती महीयम् ।
उत्तानयोश्चंबोयोनिरतरत्रा पिता दुहितुर्गर्भमाघात् ॥

(ऋ. 1, 22, 164, 33)

द्वितीय पंक्ति का पदपाठ है –

उत्तानयो: चंबो: योनि: अंत: अत्र पिता दुहितुगर्भमाघात्। "द्यौ मेरे जन्मदाता पिता हैं, यहाँ नाभि मेरा बंधु है और यह पृथ्वी मेरी माता है। चित्त पड़े हुए दो सोमपत्रों के भीतर योनि है। यहाँ पिता ने कन्या में गर्भाधान किया।"

अक्षरार्थ लेने पर यह ऋचा निरर्थक ही नहीं, वीभत्स भी है। किंतु मुझे इसके अर्थ का इस प्रकार बोध होता है कि नाभि शक्ति का ज्ञान स्थान है और दो चित्त पड़े हुए सोम पीने के कटोरे क्रमशः इच्छा के बिंदु और क्रिया के विंदु हैं। इन तीनों बिंदुओं से त्रिशक्ति का त्रिकोण या योनि बनती है। पिता, अर्थात् जगत के निर्माता ने इस योनि का निर्माण किया और इसके भीतर सृष्टि का प्रवर्तन किया। इसलिए योनि, अर्थात् त्रिशक्ति का त्रिकोण जगत्पिता की बेटी है और इसमें सृष्टि का आरंभ, अर्थात् गर्भाधान हुआ, जिसे शाक्तदर्शन में चिचिनीक्रम कहा गया है। यंत्र के दो त्रिकोण इस ऋचा के द्यौ और मही हैं जो अभिन्न हैं और सृष्टि की विवर्तन और संवर्तन क्रिया को चलाते रहते हैं।

एक मोहनजोदड़ो की खुदाई में मिली हुई पशुपति की मूर्ति है। पशुपति शब्द में प्राणिमात्र का नाम पशु है। इसलिए सर्वेश पशुपति है। इस चित्र में पशुपति बीच में बैठे हैं और चारों ओर मनुष्य से लेकर मत्स्य और कीटादि सभी जंतुओं से घिरे हैं। चौकी जैसी किसी वस्तु पर सिद्धासन के ऊपर बैठे हैं। नाभि के नीचे एक त्रिशूल बना है और दूसरा मस्तक के ऊपर बना है (इसे सांचीवाले त्रिशूल से मिलाइए)। सम्भवतः इसका संकेतार्थ यह है कि पराशक्ति या परात्मा का साकार रूप जगत है और त्रिशक्ति में इसका आदि और अंत है। यदि मोहनजोदड़ो की सभ्यता को वेद से आगे की सभ्यता माना जाए, दो त्रिशक्ति का इतिहास मोहनजोदड़ो से भी आगे निकल जाता है और भूत के अंधकार के गर्भ में विलीन हो जाता है।

त्रिशक्ति का ही दूसरा रूप चंद्र और बिंदु है। मालूम होता है कि चांद और सितारे के रूप में इस्लाम ने भी इसे ग्रहण किया है। यह भावना इससे और भी दृढ़ हो जाती है कि गजनी में महमूद गजनवी की कब्र पर षटकोण यंत्र अंकित है। हम देख आए हैं कि षटकोण विशुद्ध त्रिशक्ति का प्रतीक है।

एक प्रतिकृति स्वात में मिली थी और इस समय कलकत्ता म्यूजियम में है। यह बुद्ध के प्रथम धर्मोपदेश की प्रतिकृति है।

इसमें बुद्ध के दाहिने हाथ के नीचे त्रिशूल पर चक्र बना है। इनसे बोध होता है कि यह कितना व्यापक और प्राचीन सिद्धांत है।

सांची स्तूप के द्वार में एक भाग है। इसमें नीचे चतुष्कोण वेदी पर चक्र के ऊपर त्रिशूल बना हुआ है। उसके ऊपर बोधिद्रुम है। इसके स्कंध से फूटती दो डालों के बीच त्रिशूल दिखाई पड़ता है। यह मेहराब का अंश भी हो सकता है। मानव, देव, गंधर्वादि सभी इनकी आराधना में संलग्न हैं।

सांची स्तूप के द्वार में एक और अंश है। इसमें एक बलवान पुरुष के माथे पर चक्र, चक्र पर त्रिशूल और त्रिशूल के तीनों शूलों पर तीन चक्र हैं। जो वहाँ उपस्थित हैं, वे सभी स्तुति प्रार्थना में निमग्न हैं। संभव है कि यह बलवान पुरुष बुद्ध हों, जो त्रिशक्ति और त्रिरत्न के आधार हैं।

भरहुत के प्रसेनजित् स्तंभ का एक अंश हैं (Gruen Wedel, *Buddhist Art in India*, page, 69, Fig. 38)। इस चित्र के नीचे एक लेख है — राजा प्रसेनजी कोशलो। नीचे दो पुरुषों

के बीच एक चतुष्टकोण वेदी है जिस पर बहुत से फूल पड़े हैं। वेदी चार स्तंभों पर है। ये संभवत: बुद्ध की चार अवस्थाओं के द्योतक हैं – अविर्भाव, महाभिनिष्क्रमण, धर्मोपदेश और महानिर्वाण। वेदी के ऊपर बीच में बोधिद्रुम है और इसके दोनों और दो पत्र और उन पर त्रिशूल बने हुए हैं। चक्रों के एक ओर संघ स्त्रीरूप में और दूसरी ओर धर्म पुरुषरूप में खड़े हैं। ऊपर का लेख है – भागवत शाक मुनिनो बोधी। (चित्र सं. 33)

नेपाल की एक मूर्ति है। इसका नाम है त्रिलोकपाणि लोकेश्वर। यह बुद्ध का चित्र है। नीचे कमल है। ऊपर कर्णिका पर बुद्ध खड़े हैं। स्थाणुक मूर्ति है जो सारी सृष्टि का प्रतीक है। एक पैर में स्त्री का वस्त्र है और दूसरे में पुरुष का। यह अर्द्धनारीश्वर की तरह शिव शक्ति की स्थिति और गति का प्रतीक है (चित्र सं. 34)। यंत्र (चित्र 6) के दोनों त्रिकोणों को स्मरण कीजिए। जानु के पास उठे हुए उत्तरीय के छोरों से शरीर के साथ त्रिशूल बन जाता है। बाएँ हाथ में सृष्टि का प्रतीक कमल है और दाहिने में त्रिशूल के रूप त्रिशक्ति है। माथे पर बिंदु है और बिंदु के ऊपर मुकुट में तीनों रत्नों के रूप में त्रिरत्न, त्रिशक्ति इत्यादि हैं। ऊपर पंचब्रह्म के प्रतीक पंचरत्न हैं। प्रभामण्डल दीपशिखा की तरह बना है। इसका संकेत है कि भगवान ज्योतिस्वरूप हैं।

नालंदा से प्राप्त बुद्ध की एक मूर्ति है और नालंदा म्यूजियम का एक अनमोल रत्न है। बुद्ध की ऐसी मूर्ति अन्यत्र कहीं देखने में नहीं आई। चतुष्कोण वेदी पर कमल है और इसकी कर्णिका पर भगवान स्थाणुक मुद्रा में खड़े हैं। यह सारी सृष्टि का प्रतीक है। बाएँ हाथ में धर्मचक्र और दाहिने हाथ में त्रिशक्ति का त्रिशूल है। यह इतना स्पष्ट है कि इसमें कोई संदेह हो नहीं सकता। गले में पद्ममाल है। यह महाकाल और महाकाली का मुण्डमाल और विष्णु की वैजयंती माला है। ऊपर मस्तक के पीछे प्रभामण्डल है। इससे ज्योति की रेखाएँ फूट रही हैं
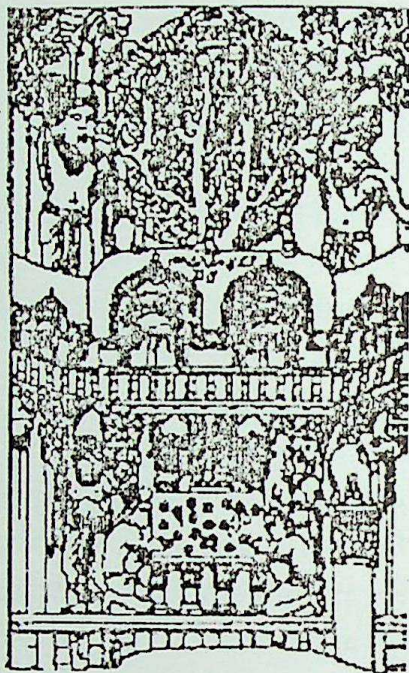
चित्र संख्या 33: भरहुत के प्रसेनजित् स्तंभ का एक अंश
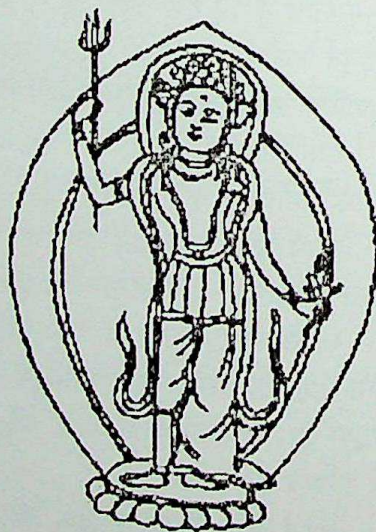
चित्र संख्या 34: बुद्ध (नेपाल) की मूर्ति

और ऊपर शूल के अग्रभाग की तरह ज्योति की शिखा है। यह स्पष्ट संकेत है कि भगवान ज्योति स्वरूप हैं। मुखमुद्रा प्रशांत और गंभीर है। ओठों पर ईषत् हास्य लक्षित होता है। मूर्ति सम भंगमुद्रा में खड़ी है।

एक कन्हेरी गुहा की एक प्रतिकृति है। सृष्टि का मूलस्तंभ पद्मनाल के रूप में निकला है। कहाँ से निकला है, यह कौन बतावे। इसलिए इसका उद्‌गम स्थान अज्ञेय शून्यता की ओर संकेतित करके छोड़ दिया गया है। इस सृष्टि के मूलस्तंभ को नाग, अर्थात् काल दोनों ओर से अवलंब दे रहे हैं। विष्णु की मूर्ति में शेष सारी सृष्टि के प्रतिरूप पुरुष को धारण करते हैं और सृष्टि की स्थिति के प्रतीक धर को धारण किए रहते हैं। ब्रह्मा की तरह बुद्ध कमल पर बैठे हैं। शाखाकमलों पर पार्श्वदेव देवियाँ सेवा में संलग्न हैं। ऊपर गंधर्व और किन्नर स्तुति में निरत हैं और अज्ञान के बादलों को चीरकर ऊपर ज्ञानलोक की ओर जा रहे हैं। भगवान के पैरों के पास धर्म के प्रतीक दो सिंह हैं।

बोधिसत्व की भारत की बनी पीतल की मूर्ति है, जिसमें चाँदी और तांबा जड़े हैं। इस की ऊंचाई 7½ इंच है और मूर्ति बर्लिन म्यूजियम में है। मूर्ति स्थाणुक मुद्रा में है। पीठ का जितना सा अंश दिखाई पड़ता है, वह गोल है। नीचे पद्म और चतुष्कोण होना चाहिए। गले से पद्ममाला लटक रही है, जो चित्र में देखने से मुंडमाला-सी लगती है। नाभि त्रिशूलाकार बनी है। दाहिने अभयहस्त में गुणिका और बाएँ वरदहस्त में मातुलंग जैसी कोई वस्तु मालूम होती है। ललाट पर बिंदु स्पष्ट है। आँखें ध्यानस्थ सी हैं। मुकुट का अग्रभाग त्रिशक्ति का प्रतीक त्रिशूलाकार बना हुआ है। मूर्ति किंचित् दाहिनी ओर झुकी हुई द्विभंग मुद्रा में है।

एक दीपंकर बुद्ध और मेघ की प्रतिकृति है। यह कन्हेरी की 25वीं गुहा की दीवाल में बनी हुई है।

बुद्ध कहीं जा रहे थे। रास्ते में कीचड़ पड़ा है। भगवान के चरणों को कीचड़ से बचाने के लिए मेघ ने उस पर अपने बाल फैला दिये।

यह भगवान की स्थाणुक द्विभंग प्रतिकृति है। पार्श्ववताओं में एक देव और एक देवी है। देव धर्म और देवी संघ है। भगवान के दोनों कंधों के निकट और मस्तक के दोनों ओर त्रिशूल बने हुए हैं। मस्तक के निकट एक ओर गंधर्व पुरुष और दूसरी ओर स्त्री दोनों अज्ञान के बादल (वृत्र) को चीरते हुए अज्ञात ज्ञानलोक की ओर बढ़े चले जा रहे हैं। (प्रसाद पुरुष प्रतीक के ऐसे मिथुनों को स्मरण कीजिए।)

पटना म्यूजियम (9591) की एक मनोहर मूर्ति का चित्र है। यह मूर्ति कुर्किहार से मिली है। यह पीतल की है और 2 फुट 10 इंच की है।

यह भगवान की स्थाणुक समभंग मूर्ति है। मूर्ति का निम्नभाग भूपुर की तरह चौकोर बना हुआ है। उसके ऊपर दो बलवान् और तेजस्वी सिंह बने हुए हैं। ये धर्म हैं। दोनों सिंहों के बीच पद्मनाल जैसा बना हुआ है। उसके ऊपर नीचे शीर्ष वाले दो त्रिशूल और दो चक्र बने हुए हैं। इनके ऊपर द्वितीय भूपुर की तरह दूसरा चतुष्कोण वेदी है। उनके ऊपर कमल है। उसकी

कर्णिका (यंत्र के बिन्दु स्थान) पर भगवान् के दोनों चरण हैं और दीर्घकाय तथा प्रभावशाली मूर्ति खड़ी है। दाहिने वरदहस्त पर चक्र बना हुआ है और बायें हाथ में कुछ है। मस्तक पर तृतीय नेत्र की तरह स्पष्ट बिन्दु है और जटामुकुट के ऊपर त्रिशूल बना हुआ है। ब्रह्मा के हाथ में चंवर और अमृत पात्र और इन्द्र के हाथ में अमृतत्त्व का चरु है। समूचे प्रभामण्डल से ज्योति छिटक रही है। यह विश्व का प्रतीक शिवलिंगकार स्तूप है। इसके ऊपर अमृत कलश का प्रतीक स्तूपिका बनी हुई है। जिस तरह प्रसाद पुरुष के भीतर उसकी चेतना और प्राणस्वरूप देवता प्रतिष्ठित रहता है, उसी प्रकार अपनी ज्योति से विश्व को भरकर स्तूप के भीतर भगवद्विग्रह प्रतिष्ठित है। कहा जाता है कि त्रयास्त्रिंशत् स्वर्ग से भगवान के भूमिष्ठ होने का यह दृश्य है।

एक पटना म्यूजियम (9793) की पीतल की मूर्ति है। कुर्किहार में मिली है। इसकी ऊँचाई 2 फुट 2 इंच है। मूर्ति के नीचे सामने अधोमुख त्रिकोण बना हुआ है। यह त्रिशक्ति का शक्तिमय रूप है। पीठ तीन भूपुरों का बना हुआ है। पहिला चतुष्कोण सबसे नीचे है। दूसरा मध्य में और तीसरा सबसे ऊपर है। भूपुर के ऊपर पद्मपीठ के सामने तीन पद्मपत्र की तरह तीन रत्नों की त्रिशक्ति और त्रिरत्न बने हैं। ऊपर सृष्टि का पद्म है, जिसकी कर्णिका पर भगवान की स्थाणुक समभंग मूर्ति खड़ी है। ज्वाला की लपटों को फेंकता हुआ स्तूपाकार प्रभामण्डल बना है। इसके ऊपर स्तूपिका के स्थान में उलटा त्रिशूल बना है। प्रभामंडल चतुष्कोण वेदी पर स्थित शिवलिंग की तरह मालूम होता है, जिसमें शिव के स्थान पर बुद्ध प्रकट हुए हैं। ज्ञाननेत्र के स्थान में ललाट पर बिंदु स्पष्ट है।

एक कुर्किहार से प्राप्त पीतल की तारा की मूर्ति पटना म्यूजियम (9630) में है। इसकी ऊँचाई एक फुट है।

मूर्ति दो चतुष्कोण पीठों पर है। पहले चतुष्कोण पर तीन भूपूर जैसी रेखाएँ हैं। उसके ऊपर दूसरी चतुरस वेदी है। उसके ऊपर सामने तीन कमलदल के रूप में त्रिशक्ति और त्रिरत्न का त्रिशूल बना हुआ है। दो वृत्तों के ऊपर कमल है। कमल की कर्णिका पर स्थाणुकमूर्ति अतिभंगमुद्रा में खड़ी है और कटि से ऊपर का अंग दाहिनी ओर झुका है। दाहिना हाथ वरदहस्त है और बाएँ में पद्म है। मुकुट के ऊर्ध्व भाग पर त्रिशूल बना है और कमल के तीन दलों से मस्तक की बाईं ओर त्रिशक्ति और त्रिरत्नादि का संकेत है। प्रभामण्डल शिवलिंगकार स्तूप जैसा है, जिससे ज्योति छिटक रही है। इसके शीर्ष पर तीन रत्न हैं और उनके ऊपर स्तूपिका के स्थान में त्रिशूल पर चक्र का शिखर बना हुआ है। सारी प्रक्रिया ज्योति स्वरूप शुद्ध चेतना के प्रतीक की ओर संकेत करती है।

एक पीतल की बुद्धमूर्ति कुर्किहार में पाई गई है। यह पटना म्यूजियम (9633) में है।

यह तीन अंशों में ठीक शिवलिंग की तरह बनी है। नीचे का चतुरस शिवलिंग के ब्रह्मांश की तरह है। मध्य भाग अष्टदल कमल पर है। यह अष्टकोण विष्णुवंश की तरह है। ऊपर वर्तुलाकार रुद्रांश की तरह है। ऊपर त्रिशूल पर धर्मचक्र है। इसके ऊपर मुकुलित पद्म सृष्टि की अनंत सत्ता की ओर संकेत करता है।

अमरावती से प्राप्त एक प्रस्तरखण्ड का चित्र है। इसमें चतुष्कोण आधार पर वृत्त के ऊपर वर्तुलाकार स्तूप है। यह सिद्धांत और आकार में ठीक शिवलिंग की तरह है। यदि इस पर स्तूपिका न बनी रहती, तो इसे शिवलिंग कहीं कहना कठिन होता। नर, नाग, सुर, गंधर्व, स्त्री-पुरुष, सभी मत्त होकर, नृत्य, गान इत्यादि से इसकी आराधना में उन्मत्त से हैं। बड़ी भव्य मूर्ति और दृश्य है। स्तंभ और देवप्रासाद भी इन्हीं सिद्धांतों पर बनते हैं।

एक मूर्ति कोलकाता म्यूजियम में है। यह लौरिया टंगाई की इंद्र शैलगुहा में प्राप्त हुई थी। शक्र बुद्ध का दर्शन करने आए हैं, यही दृश्य इसमें दिखलाया गया है। यंत्र के तीन भूपुर की तरह तीन चतुष्कोण वेदियों पर पद्मासन के ऊपर भगवान हैं। बाहर का स्तूपाकार घेरा ठीक शिवलिंग की तरह मालूम होता है। शक्र के साथ ध्यानावस्थित देव, गंधर्व, पशु आदि सभी श्रद्धापूर्ण भक्ति से खड़े हैं।

नेपाल की मूर्ति है। यह सिंहनाद नामक बोधिसत्व की मूर्ति है। जो भी नाम दिया जाए, यथार्थ में यह बुद्ध की मूर्ति है। लगभग चतुष्कोण वेदी के दो स्तरों (भूपुर) पर कमल है। मूर्ति की सुविधा के लिए इसकी कर्णिका भी लगभग चतुष्कोण बनाई गई है। उस पर गरजता हुआ सिंह (धर्म) है, क्योंकि धर्म यदि दब्बू और चुप हो जाए तो सृष्टि का नाश हो जाएगा। उसके ऊपर कमल (सृष्टि) है। उसकी वृत्ताकार कर्णिका (विंदु) पर बोधिसत्व बैठे हैं। उनके सिंहासन का पीठ तीन अंशों में त्रिशूलाकार बना हुआ है।

नेपाल की मूर्ति है। श्रीविनयतीव भट्टाचार्य ने इसे प्रत्यगिरा कहा है। किंतु यह विश्वरूप बुद्ध की प्रतिकृति है।

भगवान के दोनों चरण दो कमलों पर हैं। ये स्थिति और गति हैं। इन्हें यंत्र के दोनों त्रिकोणों और छिन्नमस्ता के काम और रति से मिलाइए। देखने और सुनने में भिन्न होने पर भी ये दोनों अभिन्न हैं। इसलिए शिव शक्ति, दिक् काल, शेष पृथ्वी आदि के रूप में ये युग्मरूप में दिखाए जाते हैं। ये ही मंदिरों की मिथुन मूर्तियाँ हैं। इनकी संख्या एक से पचास तक ग्रंथों में देखी जाती हैं। 'दुर्गासप्तशती' के वैकृतिक रहस्य में एक मिथुन की ओर महानिर्वाण सूत्र में पचास मिथुनों की पूजा का विधान है। ये पचास मिथुन वर्णमाला की पचास शक्तियों के भिन्न-भिन्न रूप जैसे मालूम होते हैं। मंदिरों में प्रायः अष्टभिन्ना प्रकृति (पंचतत्त्व, मन, बुद्धि, अहंकार) और चेतना के अष्टमिथुन नाना मुद्राओं में अंकित किए जाते हैं।

भगवान् के दाहिने चरण में स्त्री का और बाएँ में पुरुष का पहिरावा है। यह स्थिति और गति के अर्धनारीश्वरत्व का प्रतीक है। बुद्ध के सहस्र अर्थात् असंख्य हाथ हैं। दाहिनी भुजा अभयमुद्रा में दिखाई पड़ती है। त्रिमूर्ति की तरह भगवान के त्रिगुण, त्रिरत्न, त्रिशक्ति आदि के बोधक तीन मुख हैं। मस्तक पर चौदह भूमियों का मंदिर करण्डमुकुट की तरह है। यह अखिल ब्रह्माण्ड के चौदह लोकों का प्रतीक है, जो विश्वात्मा बुद्ध का मुकुट है।

(सारनाथ के म्यूजियम में मैंने एक मूर्ति देखी। एक सुंदर कमल पर चौदह भूमियों का मंदिर है। यह चतुर्दशभुवनात्मक सृष्टि का प्रतीक है। मैं उसका चित्र न ले सकी।)

भगवान का लटकता हुआ और पैरों के पास ऊपर की ओर उठा हुआ उत्तरीय पैरों को बीच में रखकर त्रिशूल बनाता है।

एक बौद्ध देवता जम्भल का चित्र कहा जाता है। देखिए *Buddhist Iconography*, विनयतोष भट्टाचार्या, Plate XXVIC जंभल बौद्ध धर्म का अत्यंत प्राचीन देव माना जाता है। लोग इसे बुद्ध से भी प्राचीन मानते हैं। यथार्थ में, साधना के जो सिद्धान्त यंत्र में अंकित हैं, उन्हीं का यह मूर्त्तरूप है। तिब्बत में इसे ही यवयुग्म (पूज्य माता-पिता) कहते हैं।

सृष्टि के कमल की कर्णिका पर देव बैठे हैं। स्थिति वाला त्रिकोण देव का शरीर है। त्रिकोण की तीन भुजाओं की त्रिशक्ति इत्यादि के प्रतीक तीन मुख और प्रत्येक मुख में दो नेत्र और ललाटबिन्दु हैं। माथे पर पंचरत्नों का मुकुट है। यह तारा के मस्तक के पंचमुण्ड और त्रिपुरा के सिंहासन के नीचे पंचब्रह्मादि है, जो साधारणतया पंचतत्त्व के प्रतीक माने जाते हैं। ऊपर जटा मुकुट त्रिशूलाकार बना हुआ है। जिसके मध्य भाग में त्रिरत्नादि अमृतघट के रूप में बने हुए हैं। देव के मस्तक पर त्रिरत्न के ऊपर सप्तरत्न है। ये चित्र 108 के मुकुट के 14 लोक की तरह सप्त लोक हैं। देवी के माथे पर पंचरत्न हैं। ये भी पंचभूत हैं, क्योंकि गति शक्ति पंचभूत के रूप में विश्वव्यापी है। यह देवीरूप यंत्र का दूसरा त्रिकोण हुआ। ये दोनों भिन्न हो नहीं सकते। एक ही शक्ति के दो नाम और रूप होने के कारण स्वभावतः अभिन्न हैं। इसलिए अभिन्न युग्म के रूप में अंकित किये जाते हैं। पाश, अंकुश, धनुषादि की व्याख्या त्रिपुरा और गणेश प्रकरण में हो चुकी है।

बुधपाल की यह मूर्ति नेपाल से प्राप्त हुई है तिब्बत में इसे यवयुग्म कहते हैं (चित्र सं. 35)। बुद्ध के इस चित्र में उपासना के सभी सिद्धान्त आ जाते हैं (यंत्र चित्र 6 से मिलाइए)। नीचे भिन्ना प्रकृति का कमल है। इसकी संख्या कभी-कभी नौ भी कही जाती है। इसीलिए यहाँ नौ दल हैं। उसके ऊपर समस्त प्रकृति का वृत्त है। वृत्त के भीतर दो त्रिकोण अर्थात् स्थिति गति,
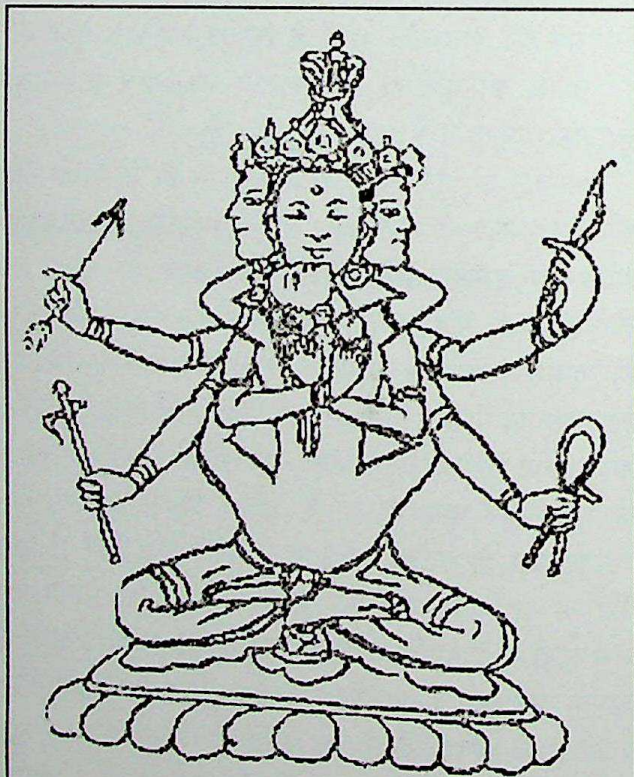
चित्र संख्या 35: यवयुग्म अर्थात् जगन्माता पिता बुधपाल की मूर्ति (नेपाल)

काम रति है (छिन्नमस्ता के चित्र 26 को देखिए) इन पर भगवान का बायाँ चरण है। शाक्त और शैवों के नियमानुसार इसे दाहिना होना चाहिए। यह चरण यंत्र का बिंदु है। बिंदु, अर्थात् साकार सृष्टि में भिन्न-भिन्न शक्तियाँ किस प्रकार काम करती हे, यह आगे अंकित किया गया है।

बुद्ध के गले में मुण्डमाला लटक रही है। यह शक्तियों और शैवों की वाक् अथवा वर्णमाला है। जानुओं के निकट तीन-तीन सूत्र लटक रहे हैं। त्रिशक्तियादि त्रिक के प्रतीक का यहीं से आरंभ होता है। स्थिति और गति पुरुष और नारी के रूप में अंकित है। स्थिति के बिना गति नहीं हो सकती और गति में स्थिति है। यदि गति में स्थिति नहीं रहे, तो गति किसकी और कैसे होगी। समुद्र में लहर उठती है। यदि समुद्र (स्थिति) न रहे, तो न लहर उठेगी और लौटती लहर कहाँ विलीन होगी, इसका कोई ठिकाना न रहेगा। इसलिए दोनों एकाकार और अभिन्न हैं। पुरुष की दो आँखें और तीसरी आँख जैसा ललाटबिंदु है। ऊपर सात रत्नों का मुकुट है, यह सप्तलोक है। ऊपर बुद्ध की मूर्ति है। इसका अर्थ है कि सारी प्रतिकृति बुद्धभावना की है। देवी के मस्तक पर पांच रत्न हैं। ये तारा और त्रिपुरा के पंचब्रह्म, पंचतत्वादि हैं। बुद्ध के ऊपर वाले बाएँ हाथ में खट्वांगवाला त्रिशूल है। खट्वांग एक प्रकार का शस्त्र है, जिसके अग्रभाग में धातु का नरमुण्ड बना रहता है। त्रिशूल और तीनों मुंड त्रिशक्ति और त्रिरत्नादि त्रिकों के प्रतीक हैं। नीचे वाले हाथ में सुधा पात्र है। ऊपर वाले दाहिने हाथ में डमरू, अर्थात् शब्दब्रह्म और नीचे वाले हाथ में कूटस्थता का प्रतीक वज्र है।

लद्दाख के एक रंगीन चित्र की प्रतिकृति है। चित्र में भ्रम से लद्दाख की जगह ल्हासा छप गया है। इसका नाम है चिति। चिति शक्ति को कहते हैं :

चितिरूपेण यां कृत्स्नमेतद् व्याप्य स्थिता जगत् ।
नमस्तस्य नमस्तस्य नमस्तस्यै नमो नमः ॥

(दुर्गासप्तशती। अध्याय 5)

''चिति, चेतना रूप से जो संपूर्ण जगत में व्याप्त होकर स्थित है उसे बारंबार नमः।''

इसमें नीचे सृष्टि का पद्म है। उसके ऊपर बिंदुस्थान अर्थात् वृत्त है। उस पर विवर्त के घोर नाद शब्दब्रह्म (वाक्) के प्रतीक दो शंख हैं। इन पर तांत्रिकों की गुरुपादुका दोनों चरण हैं। ऊपर स्थिति और गति (योगवासिष्ठ के महाभैरव और कालरात्रि) का नृत्य हो रहा है। महाभैरव कूटस्थ है। गति (शक्ति) का नृत्य उसी पर होता है। इसलिए गति का संपूर्णरूप और दोनों पैर ग्रंथ में निरवलंब हैं और इसकी सारी क्रियाएँ चिति पति अर्थात् शक्तिमान पर होती हैं। (काली, तारा इत्यादि महाविद्याओं को स्मरण कीजिए। अध्यात्म में शिवशक्ति की तरह सीताराम, राधाकृष्णादि शक्ति और शक्तिमान के नामरूप भी अभिन्न हैं)। चिति पति के बाएँ हाथ में नरमुण्ड और दाहिने में खट्वांग है। वे काली के नरमुण्ड और खड्ग अर्थात् अविद्या और ज्ञान हैं। चिति (शक्ति) के बाएँ हाथ में सुधापात्र और दाहिने में अग्नि है। ये सृष्टि और संहार की

क्रियाएँ हैं। नरमुण्ड की माला स्पष्ट है। यह वाक् (नाद) की वर्णमाला है। चिति और चिति-पति दोनों के ही तीन-तीन नेत्र हैं। ये त्रिशक्ति, त्रिगुणादि हैं। दोनों के ही माथे पर पाँच-पाँच नरमुण्ड हैं। ये त्रिपुरा अथवा तारा की तरह पंचब्रह्म, पंचप्रेत पंचत्यादि हैं। बाहर अग्नि की धधकती हुई लपटों का प्रभामण्डल बना है, जो लुढ़कते हुए (विवर्त) रूप में अंकित है, जिससे सृष्टि का निरंतर निकलना और लुप्त होना दिखलाया गया है। नीचे चित्र के वाम पार्श्व में प्रभामण्डल के बाहर गति और स्थिति वाले साकार जगत (विमर्श) के दो बिंदु और वृत्त हैं। इनके ऊपर त्रिरत्न या त्रिशक्ति के तीन सुधापात्र हैं। उनके उपर आनन्दामृत पात्र है। ठीक इसके उल्टी ओर नाद का प्रतीक शंख है। उसके निकट ब्रह्मज्योति का दीप है। उसके ऊपर जगत को पुष्टि और तुष्टि प्रदान करने वाला फल-फूलों से भरा पात्र है। एक ओर ज्योति (गौरी) और दूसरी ओर आनंदामृत (गंगा) है। प्रभामण्डल के ऊपर दाहिनी ओर कमल पर धर्म बैठे हैं। बड़ी प्रशान्त मुद्रा है। बाएँ हाथ में ज्ञान की प्रतीक पुस्तक है और दाहिने से उपदेश का संकेत कर रहे हैं। बाई ओर दो सूअर के ऊपर कमल है। उस पर सारी सृष्टि का प्रतीक क्रियाशक्ति संघ, स्त्री के रूप में अंकित है। इनकी क्रियाशीलता सारे शरीर की चेष्टाओं और शस्त्रास्त्रसंपन्न फैली हुई भुजाओं में अंकित है। संघ के तीनों मुख तीनों गुण हैं, दाहिना उजला मुख सत्वगुण, बायाँ काला सूकरमुख तमोगुण और बीचवाला तेजस्वी मुख रजोगुण है। धर्म और संघ के बीच में त्रिशक्ति के त्रिक और वस्त्र के त्रिशूल बने हुए हैं। संक्षेप में--स्थितिगतिमय बुद्ध, ज्ञान, धर्म, इच्छा और संघ क्रिया है। चित्र के कंकालरूप में रहने के कारण मांस, चर्म वाले रूप की कामुक भावना यहाँ लुप्त हो जाती है और यथार्थ भाव प्रकट हो जाता है।

एक प्रतिकृति का नाम परमाशव है। यह चित्र नेपाल के मंदिर से प्राप्त हुआ। नीचे सृष्टि का कमल है। बिंदुस्थान पर चार-चार स्त्री और पुरुष हैं। स्त्रियों के नाम हैं--इंद्राणी, श्री, रति और प्रीति। पुरुषों के नाम हैं--इंद्र, मधुकर, जयकर और बसंत। इनपर परमाश्व के दोनों पैर हैं। स्पष्ट है कि ये छिन्नमस्ता की मूर्ति के रति काम के भिन्न रूप हैं। शिव की तरह कटि में व्याघ्रचर्म है। यह दिक् का अंबर है। मुक्तों में ब्रह्मा और शिव स्पष्ट रूप से अंकित हैं। इसलिए तृतीय मुख विष्णु का है। कारण स्पष्ट है। विष्णु के दशावतार में बुद्ध की गणना है। इसलिए विष्णु विग्रह से इसका एकत्व दिखाया गया है। विष्णुमुख के मस्तक पर पाँच-पाँच रत्नों की दो पंक्तियाँ हैं। ये पंचब्रह्मादि हैं। सभी मुखों पर दो नेत्रों के साथ तीसरे नेत्र का भी तिलक और बिंदु के रूप में संकेत है। ये त्रिशक्त आदि के त्रिक् के स्थूल रूप हैं। बाएँ हाथों में सृष्टि का पद्म, खट्वांग और अविनाशी शब्दब्रह्म का वज्रघंटा है। दाहिने हाथ में पाँच तत्त्वों का द्योतक पाँच अरोंवाला चक्र, त्रिशूलाकार वज्र, ज्ञान खड्ग और बाण हैं। सबसे ऊपर अश्व और बुद्ध बने हुए हैं। बुद्ध का अर्थ है कि यह बौद्धसाधना के तत्त्वों का प्रतीक है। (चित्र सं. 36)

परमात्मा के रूप में अश्व की भावना वेद से प्राप्त हुई मालूम होती है, क्योंकि यज्ञ पुरुष को वहाँ यज्ञाश्व के रूप में देखा गया है। भगवान बुद्ध के महाभिनिष्क्रमण का सहायक कंथक भी श्रद्धा का पात्र है। इन कारणों से बोध होता है कि बुद्ध को परमाश्व कहा गया। शरभ,

नृसिंहादि ऐसे रूपों की चर्चा हम कर चुके हैं।

एक त्रैलोक्यविजय नामक बौद्धदेवता की मूर्ति का चित्र है। इसका एक पैर एक पुरुष पर और दूसरा एक स्त्री पर है। यह छिन्नमस्ता की मूर्ति की तरह है और भाव भी एक है। इसके गले में ताकृकावणो की माला है और नाना प्रकार की शक्तियाँ अस्त्रों के रूप में हाथों में दिखलाई गई हैं। तीन मुख भी कुछ त्रिगुणात्मक त्रिमूर्ति महादेव की तरह हैं।

एक अष्टधातु की मारीचि की प्रतिमा है। नालंदा में मिली थी। इस समय पटना म्यूजियम में है। (भ्रम से चित्र के नीचे त्रैलोक्यविजय छप गया है।) यह बौद्ध उषा की प्रतिमा है। मारीचि की मूर्तियों में उषा के सात घोड़ों के स्थान में सात सूअर बने रहते हैं। इस चित्र में प्रतिमा के वे सूअर नहीं आ सके हैं। सृष्टि के कमल पर मूर्ति है। देवी दो हाथों से वस्त्रों को संभाल रही है, इससे और सारे शरीर की चेष्टा से प्रखर क्रियाशीलता प्रकट हो रही है। सामनेवाला मुसकुराता हुआ सुंदर मुख रजोगुण है। दाहिना सत्वगुण और बायां तमोगुण है। त्रिशक्ति या त्रिरत्न के मुकुट के ऊपर धर्मचक्र या तीन लपेटों वाला त्रिकालचक्र है। पैरों के बीच में लटकता हुआ वस्त्रखण्ड त्रिशक्ति का त्रिशूल बनाता है।

चित्र संख्या 36: बुद्ध परमाशव मूर्ति (नेपाल)

नेपाल से प्राप्त हुई मूर्ति अवलोकितेश्वर की है। सृष्टिपद्म का बिंदुस्थान कर्णिका का वृत्त है। यंत्र (चित्र सं. 6) के दोनों त्रिकोणों के स्थान में दोनों चरण हैं। कमल पर दोनों और लटकता हुआ उत्तरीय दोनों पैरों के साथ त्रिशूल बनाता है। बाएँ हाथों में ऊपर से कमल, धनुष बाण और अभय मुद्रा है। दाहिने में जपवटी, चक्र और वरद मुद्रा है। दो हाथ हृदय के पास जुटे हुए हैं। इन सब अस्त्रों के रूप और सिद्धांत का व्याख्यान हो चुका है। त्रिमूर्ति की तरह तीन मस्तक त्रिशक्ति और त्रिगुणादि के प्रतीक हैं। ऊपर जाकर केवल एक मस्तक रह जाता है। यह व्यक्त शक्तियों का समस्त रूप है और इसका अर्थ है कि एक ही सत्ता से भिन्न-भिन्न शक्तियों और नामरूपादि का विकास होता है। एक सत्, विप्रा बहुधा वदन्ति। दो नेत्र और मस्तक पर बिंदु त्रिशक्ति के प्रतीक हैं। मस्तकों के पास प्रभामण्डल तीन खण्डों में है। ये त्रिशक्त्यादि के प्रतीक हैं। बाहर प्रभामण्डल दीपशिखा के आकार का है। इससे स्पष्ट है कि यह रूप ज्योतिर्मय और ज्योति का घनीभूत रूप है। इस चित्र को महासदाशिवमूर्ति से मिलाकर देखिए।

सहस्रबाहु अवलोकितेश्वर बोधिसत्व की यह मूर्ति 30 सितंबर, 1957 को वियतनाम सरकार द्वारा नई दिल्ली के राष्ट्रपति भवन के नेशनल म्यूजियम को भेंट की गई थी। चतुष्कोण वेदी पर एक सिंह अपने दोनों हाथों पर मस्तक पर सृष्टि का कमल उठाए हुए है। दोनों हाथ और

मस्तक से त्रिशक्ति का प्रतीक बन जाता है। उस पर सहस्रबाहु और त्रिमुख बोधिसत्व बैठे हैं। गोद वाले हाथों में धर्मचक्र मालूम होता है।

एक जावा की मंजुश्री बोधिसत्व की मूर्ति है। इस पर शक् 1265 उत्कीर्ण है। इसके अनुसार यह ई. सन् 1343 होता है। यह मूर्ति बर्लिन म्यूजियम में है। मंजूश्री महात्रिपुरसुंदरी के नाम का रूपांतर है। पद्म पर बैठे हैं और दाहिने हाथ में ज्ञानखड्ग है, जो सर्वदा भक्तजनों के अज्ञान का नाश करने के लिए उद्धत रहता है।

मैत्रेय बुद्ध की मूर्ति पटना म्यूजियम (1682) में है। यह विष्णुपुर, गया में मिली थी। मूर्ति ज्ञानमुद्रा में बैठी है। वाम स्कंध के पास एक पुष्प है, जिसमें तीन कर्णिकाएँ हैं और त्रिशूल बना है। तृतीय नेत्र के स्थान में नेत्रोंकार बिंदु है और उसके ऊपर मुकुट में त्रिशूल बना है। मुकुट भी त्रिशूलाकार है। बाएँ कान के पास चक्र बना है। चक्र और त्रिशूल का विवरण बुद्धमूर्तियों के साथ दिया जा चुका है।

अवलोकितेश्वर की मूर्ति पटना म्यूजियम (1680) में है। यह भी विष्णुपुर गया में मिली थी। अवलोकितेश्वर अर्धपर्यंकासन पर बैठे हैं। अष्टदल का पद्म हाथ में है। ललाट पर तृतीय नेत्र के स्थान में नेत्राकार बिंदु है। इसके ठीक ऊपर त्रिशूल बना है। मुकुट भी त्रिशूलाकार है, जिस पर बुद्ध की आकृति बनी है।

प्रज्ञापारमिता नामक बौद्धदेवी की मूर्ति है। यह लाइडेन (जर्मनी) के म्यूजियम में है। यह मलंग (जावा) में मिली थी और 14वीं शताब्दी की मानी जाती है। (देखिए विश्वकर्मा, प्लेट 5) प्रज्ञापारमिता का अर्थ है प्रज्ञा (बुद्धि) के पारम (पार) इता (गता)- बुद्धि में पारंगत। यह महासरस्वती का दूसरा नाम है। देवी पद्म की कर्णिका पर पद्मासन के ऊपर बैठी है (सरस्वती के ध्यान को स्मरण कीजिए पद्मासन संस्थिताम्)। मूर्ति के हाथ धर्मचक्रमुद्रा में हैं। बाएँ कंधे के निकट एक कमल है, जिसपर पुस्तक है। तृतीय नेत्र के स्थान में बुद्ध की तरह बिंदु है। मूर्ति शिवलिंगाकार पत्थर पर शिवलिंग की तरह तीन भागों में बनी है।

बौद्धदेवी बसुधारा की मूर्ति कही जाती है। यह पटना म्यूजियम (9741) की है। यह 935 ई. की है। चतुष्कोण पीठ पर कमल है। इसकी कर्णिका पर देवी ललितासन पर बैठी है। दाहिना पैर एक पद्म पर है। दाहिनी ओर अमृतघट को लिए कोई मनुष्य बैठा है। देवी के बाएँ जानु पर एक दंड है, जिसमें तार जैसी कोई वस्तु लिपटी है। यह बाएँ हाथ में है। दाहिने हाथ में कोई फल है। यह वरदमुद्रा के हैं। देवी की दाहिनी ओर एक सिंह है। बाएं और दाहिने कंधे के निकट दो हंस हैं, जिनके मुख में कमल की डंडी है। देवी के ललाट पर तृतीय नेत्र के स्थान में बिंदु है। मुकुट के त्रिरत्न त्रिशूल की तरह दिखते हैं। प्रथम प्रभामण्डल के ऊपर त्रिरत्न है और द्वितीय के ऊपर त्रिशूल है। इन प्रतीकों की व्याख्या हो चुकी है।

पटना म्यूजियम में एक बौद्धदेवी की मूर्ति (9751) है। देवी सृष्टि के कमल की कर्णिका पर बैठी है। कमलनाल की जड़ या उत्पत्ति स्थान का पता नहीं है। संकेत से बोध होता है कि यह शाक्तों की महारात्रि का अंधकार और शाक्तों का श्मशान तथा बौद्धों की शून्यता है। नीचे

त्रिशक्ति के तीन नाल निकले हुए हैं। ये त्रिगुणादि के जिक्र हैं। देवी का दाहिना पैर एक कमल पर है। इनके दाहिने हाथों में त्रिशूल, ढाल, तलवार और वरदमुद्रा है, जिसमें एक नुकीला फल है। बाएँ हाथों में पुस्तक, पाश, अंकुश और वज्र हैं। प्रभामण्डल में दोनों और छः छः स्फुल्लिग हैं। बीच का त्रिशूल दोनों ओर से सातवां बनता है। ये सप्त ऊर्ध्व और सप्त अधोलोक हैं। इसके ऊपर त्रिशूल पर धर्मचक्र है, उसके ऊपर फिर त्रिशूलाकार एक रत्न है। देवी के तृतीय नेत्र के स्थान पर बिंदु है। माथे का मुकुट करण्डमुकुट है, जो शिवलिंगाकार है।

पटना म्यूजियम में तारा की एक मूर्ति है जिसकी संख्या 8035 है। शाक्तों और बौद्धों की तारा एक ही है। इनके मस्तक पर त्रिशक्ति का मुकुट है और आसपास में ध्यानी बुद्ध बने हुए हैं। यह मूर्ति शून्यता अथवा अशेषकारण का प्रतीक है।

तारा की दूसरी मूर्ति पटना म्यूजियम में (संख्या 3745) पद्म की कर्णिका पर बैठी है। पद्मनाल का उद्गमस्थान शून्यता की ओर संकेतित है। शाक्त तारा और त्रिपुरा की तरह बौद्धतारा प्रतीक में पंच ब्रह्म के स्थान में पद्म के नीचे पंचोपासक है। देवी का दाहिना पैर एक कमल पर है। बायाँ हाथ अभय मुद्रा में है बाएँ कंधे के निकट एक फूल है। दोनों पुष्ट स्तन ज्ञान और कर्म के दो अमृतकलश हैं, जो जगत को जीवन प्रदान और उसका भरण पोषण करते हैं। मुकुट पर त्रिशक्ति का प्रतीक है। ऊपर प्रभामण्डल पर तीन छोटे बुद्धवाले स्तूप त्रिशूलाकार में बने हुए हैं। देवी के वाम और दक्षिण स्कंध के पास दो सिंह हैं। सर्वत्र देव, गंधर्व कन्यादि आचरण देवता के रूप में सेवा में उपस्थित हैं।

बौद्धतारा की एक मूर्ति कुर्किहार से मिली है जो पटना म्यूजियम (9770/9721) में है। चतुष्कोण के दो भूपुर पर पद्मपीठ है। शाक्त तारा के यंत्र में भी भूपुर की दो रेखाएँ रहती हैं। पद्मपीठ की कर्णिका पर सगभंग मुद्रा में देवी की स्थाणुकमूर्ति विश्व का प्रतीक बन कर खड़ी है। बिंदु को घेरने वाले यंत्र के दोनों त्रिकोण (चित्र सं. 6) दोनों चरण हैं। इन्हें शाक्त गुरुपादुका भी कहते हैं। सामने कटि से लटकते हुए तीन सूत्र त्रिशूल के तीनों शूल हैं। पार्श्वसूत्रों के अग्रभाग टूटे हुए मालूम होते हैं, किंतु मध्यसूत्र का शूलाय अक्षुण्ण और स्पष्ट है। नाभि और स्तन के दो बिंदु, त्रिशक्ति के बिंदु के स्पष्ट प्रतीक हैं। यहाँ चित्र 87 के संबंध में लिखित वेद की ऋचा को देखिए। वहाँ योनि, अर्थात् जगत के उत्पति स्थान को नाभि और दो चित् सोम का कटोरा कहा गया है, क्योंकि इच्छा और विद्या, आनंद के विभक्त और परिवर्तित नाम हैं और आनंद का ही प्रतीक सोम या सोमरस है। यहाँ देवी के दोनों पयोधर जगत को जिलाने और पुष्ट रखने वाले ज्ञान और कर्म के सोम, अर्थात् अमृत पात्र का घट है, जो ब्रह्मा और बुद्ध के हाथ में कमण्डल और सोमनाथ के सोम या चंद्रकला है। ये ही काली के दो बड़े चंद्रकलावत निकले हुए दाँत और विष्णु के चरण हैं, जहाँ से गंगा की अमृतधारा निकलकर जगत को प्लावित करती है। यही तारा और काली के हाथ जीवों के लिए अगम्य हो जाएँगे और जगत की जीवनी शक्ति सूख जाएगी तथा सृष्टि का नाश हो जाएगा। इसलिए ये अमृतघट पिपासु जगत के लिए सर्वदा पुष्ट, रसपूर्ण और अनावृत रहते हैं। बायाँ हाथ अभय मुद्रा में है, जिसमें सृष्टि का कमल है और दाहिने वरद हस्त में कोई रत्न है। बाएँ कान में स्त्री का और दाहिने में पुरुष का आभूषण है।

तृतीय नेत्र के स्थान में बिंदु है। माथे पर मनोहर मुकुट है, जिसका मध्यमणि शूलाकार है। प्रसन्न, गंभीर और ईषत हास्य युक्त मुखमुद्रा की शोभा अवर्णनीय है। पार्श्व में छिन्नमस्ता की तरह दो पार्श्वदेवियाँ हैं। छिन्नमस्ता की पार्श्वदेवियों के हाथ में दो खड्ग हैं, जिनसे वे अज्ञान के वैश्य का संहार करती रहती हैं और इन दोनों के हाथों में चँवर है, जिनसे ये अज्ञान की मलिनता को झाड़ती और दूर करती रहती हैं। यह मूर्ति त्रिशक्ति, त्रिगुण, त्रिरत्नादि के प्रतीक हैं।

संदर्भ ग्रंथ

1. ऋग्वेद, 10-21।
2. 14.1.2.11 इयमग्रे पृथिध्यास...वराह उज्जधान सोऽस्या। पतिः प्रजापतिः।
3. रामायण बालकाण्ड, 15.5, अश्रु पैल्लोककर्त्तारं ब्रह्माणं वचनं ततः।
4. वायुपुराण, 24-21 यथा भावास्तया चाहमादिकर्त्ता प्रजापतिः।
5. कुमारसम्भव, 2.1, 3.17।
6. विष्णुपुराण, 6.1.7, आद्ये कृतयुगे सर्गो ब्रह्मणा क्रियते यथा।
7. आसीत्पूर्व वरारोहे ब्रह्माणस्तु शिरो वरम्
पंचम शृणु सुश्रोणि जातं कांचनसमप्रभ॥
ततः क्रोधपरीतेन संरक्तनयनेन च।
वामांगुष्ठनखाग्रेणच्छिन्नं तस्य शिरो मया॥
8. योगवासिष्ठ (निर्णयसागर, बम्बई, शाके 1851, सन् 1937 ई.), निर्वाण प्रकरण, उत्तरार्द्ध, सर्ग 74, श्लोक 24.25।
9. कालीविलासतन्त्रम् (लन्दन सन् 1917 ई.), पटल 20, श्लोक 12।
10. विष्णु व्याप्तो।
11. विष्णुपुराण (जीवानन्द, कलकत्ता, अंश 5) अध्याय, 9, श्लोक 50-56 श्लोक 50-54 तक ज्यों के त्यों बह्म और वायुपुराण में भी मिलते हैं।
12. योगशास्त्र ब्रह्मसंहिता (वसुमती प्रेस, कलाकत्ता, वंगाक्षर), पृ. 311, श्लोक 18-22, प्रतीक के लिए ब्रह्मा और त्रिपुरा प्रकरण भी देखना चाहिए।
13. ब्रह्मपुराण, अध्याय 232, श्लोक 16 और 24।
14. स्कन्द पुराण, विष्णुखण्ड 27-42।
15. ब्रह्मपुराण (आनन्दाश्रम, पूना, शाके 1817, सन् 1895 ई.) 123. 200।
16. वेदसारशिवस्तोत्रम्, श्लोक 2।
17. शिवपंचाक्षरस्तोत्रम्, श्लोक 4।
18. वाराहपुराणस्थ गंगास्तवन 2।
19. ऋग्वेद, 4.58.3।

20. जगद्रक्षायै त्वं नटसि (शिवमहिम्मन: स्तोत्रम)।
21. प्रतिमा लक्षण, पृ. 30।
22. लिंगपुराण, 99, 8।
23. शिवोपनिषत् अध्याय-2, श्लोक 3-6।
24. सिद्धान्त दीपिका, डा. आनन्दकुमार स्वामी।
25. सिद्धान्तदीपिका पु. 3, पृ. 13 में "काली क्या है" शीर्षक देव।
26. मूपक्षसूत्र, 5.5।
27. तिरूमलूर प्रधव, 9.3।
28. ऋग्वेद, 10-125।
29. वही, 10-125-3।
30. वाजसनेयी संहिता, 358 शतपथ ब्राह्मण, 2.6.2.9 अम्बिका वै नालास्य रुद्रस्य स्वसा।
31. केन उपनिषद्, 3-12।
32. ब्रह्माण्ड पुराण, त्रिजतां जननी वभासे विद्योतमानविभवा।
33. विष्णु पुराण, 5.1.86।
34. वायु पुराण, 9.86.87।
35. मार्कण्डेय पुराण, 73-40-42 ऋ तथापि समतावते मोहगर्त्ते निपातिता:।
महामाया प्रभावेणं संसारस्थितिकारिणा।
36. वायु पुराण, 30-164 ऋ।
37. देवीभागवत, 5-98-99 ऋ।
38. इपि इं. 14, पृ. 177-84।
39. वही, 9, पृ. 325।
40. ग्याहरवीं सदी का भारत, पृ. 193।
41. राजतरंगिणी, 4.325।
42. महानिर्वाणतन्त्रम्, वंगाक्षर, कलकत्ता, 1320 साल, 5.140।
43. योगवासिष्ठ, बम्बई, 1937, निर्वाण प्रकरण, उत्तरार्द्ध, 78, 41।
44. त्रिपुरामहिमस्तोत्रम्, नित्यानन्दकृता टीका, काव्यमाला, एकादशगुच्छक:।
बम्बई, शाक: 1855, सन् 1933 ई.।
45. प्राकृतिक रहस्यम्, श्लोक 15।
46. बृहस्पतिकृत सरस्वतीस्तोत्रम्।
47. गोपालोत्तरतापिन्युपनिषत्, श्लोक 10-13।
48. ऋग्वेद, पुरुषसूक्त, यजु: 31.14- ग्रीष्म इध्म: शरद्धवि:।
49. सूरसागर, बम्बई, संवत् 1890, स्कन्ध 10, पृष्ठ 344, पद 31।
50. वही, पृ. 262, पद 26।
51. भागवत 10.86.48।

52. भागवत माहात्म्य, 1.19.23।
53. तैत्तिरीय संहिता, 2.3.143।
54. ऋग्वेद, 8.81.1, आ तू न इन्द्र क्षुशन्तं चित्रं ग्रामं संगुभाय महाहस्ती दक्षिणेन 167, 728।
55. तैत्तिरीय आरण्यक, एकदन्ताय विद्महे वक्रतुण्डाय धीमहि तन्नो दन्ती प्रचोदयात्।
56. महाभारत, अनुशासनपर्व 151-26।
57. वही, 150-57।
58. रामायण, 1.37.14, समन्ततस्तवा देवीमध्यषिचत् पादकः।
59. महाभारत, वनपर्व, अध्याय 219।
60. अष्टाध्यायी, 5.3.99।
61. जर्नल ऑफ बाम्बे ब्रांच ऑफ रायल एशियाटिक सोसायटी, 12, पृ. 385।
62. रघुवंश, 6.4।
63. वायुपुराण, 53.31, सुरसेनापतिः स्कन्दः पठ्यतेऽऽयारको ग्रहः।
64. विष्णुपुराण 18.28, श्रीवेदसेना विप्रेन्द्र देवसेना पतिहरिः।
65. ऋग्वेद, 10.125, सूर्य आत्मा जगतस्तस्युषश्च।
66. वही, 8.61.16।
67. हर्षचरित, पृ. 148, त्रिकालज्ञान... मोजकस्तारकी नाम गणकः समुपसत्य विज्ञापितवान्। टीकाकार ने ''भोजक'' शब्द की टीका इस प्रकार की है, मोक्षक रविमयंयिता पुजकाहि भूयसां गणका श्वन्ति ये मगा इति प्रसिद्धा।
68. बृहत्संहिता, 60.19।
69. विक्रमोर्वशीय, 5.4।
70. रघुवंश 3.22।
71. इपि. इं. 11, पृष्ठ 55-57।
यस्योदयास्तमये सुरमुकुटनिघृष्टचरकणकमलोपि।
कुरुतेऽजलि त्रिनेत्रः स जयति धाम्नां निधिः सूर्यः ।।
72. ग्यारहवीं सदी का भारत, पृ. 187।
73. वही, पृ. 188।
74. राधाकृष्णन, बौद्धधर्म के 2500 वर्ष, दिल्ली, 1956, पृ. 13 में संयुक्त निकाय से उद्भूत।
75. वही, पृ. 34।
76. वही, पृ. 7।
77. वही, पृ. 87।
78. वही, पृ. 105।
79. वही, पृ. 114।
80. वही, पृ. 111, धम्मपद, 183।
81. वही, पृ. 112, धम्मपद, 206।

6

वास्तुकला अथवा स्थापत्य कला

'वास्तु' शब्द की उत्पत्ति वस्तु से हुई है। कोई निर्मित या योजना 'वास्तु' है। सृष्टि में जितनी वस्तुएं हैं, सभी 'वास्तु' में समाहित हैं। समस्त भूमण्डल तथा सौरमण्डल वास्तुकला के प्रतिपाद्य विषय हैं। इस दृष्टि से वास्तुकला अत्यन्त व्यापक एवं विराट् है।

भारतीय स्थापत्य कला जितनी व्यापक है, उतनी ही प्राचीन भी। यहाँ के आदिग्रन्थ वेद माने जाते हैं। अथर्ववेद में स्थापत्यवेद नामक एक उपवेद भी माना गया है। इससे विदित होता है कि इस देश में अति प्राचीन काल से ही वास्तुनुकूल पद्धति पर स्थापत्य कला विकसित हो चुकी थी। इसकी पुष्टि मत्स्यपुराण के इस प्रवचन से होती है:

भृगुरत्रिर्वशिष्ठश्च विश्वकर्मा मयस्तथा ।
नारदो नग्नजिच्चैवः विशालाक्ष पुरन्दरः ॥
ब्रह्मा कुमारो नदीश शौनको भर्ग एव च ।
वासुदेवोऽनिरुद्धश्च तथा शुक्रवृहस्पती ॥
अष्टादशैते विख्याताः शिल्पशास्त्रोपदेशकाः ।

वास्तुकला के इन अट्ठारह आचार्यों में विश्वकर्मा तथा मय का नाम सर्वविदित है। विश्वकर्मा देवताओं के तथा मय असुरों के स्थपति माने जाते हैं। महाभारत में मयासुर का उल्लेख है, जिसने पांडवों के अनुपम सभा-भवन का निर्माण किया था। आज भी यहाँ के शिल्पी विश्वकर्मा की पूजा बड़ी निष्ठा के साथ सम्पन्न करते हैं। ब्राह्मण ग्रन्थों में नागों का उल्लेख है, जो तक्षण कला में निपुण थे। उनके अधिपति नग्नजित वास्तु आचार्यों में परिगणित थे, जिनका 'चित्रलक्षण' ग्रन्थ संसार प्रसिद्ध रचना है। बौद्ध जातक एवं पाली ग्रन्थों में भी नागों की तक्षणकला तथा चित्रकला का विशद वर्णन है। मोहनजोदड़ो और हड़प्पा के पुरातात्विक उत्खनन से प्राप्त महल, स्नानागार तथा नालियों का अस्तित्व भारतीय स्थापत्य की प्राचीनता की पुष्टि करते हैं। वात्स्यायन के 'कामसूत्र' में विभिन्न कलाओं का वर्णन है। इसमें वास्तुकला और तक्षण कला की भी उल्लेख है। अतएव भारतीय स्थापत्य अति प्राचीन है, जो आर्यों एवं अनार्यों

की सम्मिलित देन है। आज भी दक्षिण भारत में गगनचुम्बी विमानयुक्त भवन दीखते हैं, जिनकी अलंकार संपदा एवं तक्षण कला अनंत शोभा से युक्त है। संभवतया द्रविड़ कला से पूर्ण रचना ने ही नागर प्रासादों की कल्पना को मूर्त्त किया है।

भारतीय वास्तु में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण रचना मंदिर है। देवमंदिरों के निर्माण की कोई न कोई पृष्ठभूमि होती है। पाश्चात्य स्थापत्य का उद्‌भव पार्थिव तत्त्वों से हुआ है। उसकी पृष्ठभूमि सौन्दर्य है। मानव शरीर के सौष्ठव की अभिव्यक्ति ही वहाँ की कला का उद्देश्य रहा है। किन्तु, भारतीय स्थापत्य धर्म अथवा यज्ञ के रूप में सम्पन्न किया गया है। भारतीय संस्कृति का मूलाधार देवतत्त्व है। यह देवभावना यहाँ के प्रत्येक क्रियाकलाप में निहित है। अतएव, मंदिरों के निर्माण में भी यहाँ देवतत्त्व को ही प्रमुखता दी गई है। यह पूर्णरूपेण निराकार ब्रह्म की साकार प्रतिष्ठा है। अतएव, यहाँ मंदिरों के निर्माण की आधार भूमि विशुद्ध आध्यात्मिक है, जो धर्म और दर्शन से अनुप्राणित है।

मंदिर की तुलना मानव शरीर से की गई है। पत्थर, पर्वत, काष्ठ तथा धातु इस मंदिर रूपी शरीर की अस्थियाँ हैं, जिनसे इसका ढांचा बनता है। मंदिर की निर्माण शैली ही इस शरीर की आकृति है। जिस प्रकार शरीर को विविध प्रकार के आभूषण तथा परिधान से सुसज्जित किया जाता है, उसी प्रकार मंदिर को कलात्मक रचनाओं से अलंकृत किया जाता है। जीवित शरीर के भीतर आत्मा का अस्तित्व आवश्यक है और यह आत्मा होती है मंदिर के भीतर गर्भगृह में स्थापित देवप्रतिमा।

मंदिर का जो रूप हमारे समक्ष वर्तमान है, उसका वास्तु विधान किसी व्यक्ति विशेष अथवा युगविशेष की देन नहीं है। यह तो कलाकारों के युग-युगान्तर के अनुभव, अनुसंधान, प्रयोग तथा साधना की परिणति है।

कलाकारों को मंदिर निर्माण की प्रेरणा संभवतया चैत्य की आकृति से मिली होगी। किंतु, गुप्तयुग में ही सर्वप्रथम शास्त्रविहित पद्धति पर मंदिरों का निर्माण हुआ। गुप्तयुगीन प्रारंभिक मंदिर प्रस्तर निर्मित हैं, जिनमें गर्भगृह तथा बरसाती की योजना है। इन मंदिरों की छतें सपाट हैं। कालांतर में इन छतों की रूपरेखा तिकोने रूप में परिणत हो गई, जिन्हें शिखर की संज्ञा दी गई। नाचनाकुठारा का पार्वती मंदिर इसका सर्वप्रथम उदाहरण है। इसकी छत के ऊपर एक कक्ष की योजना शिखर के प्रारंभिक रूप का संकेत देती है। शिखर का पूर्ण विकसित रूप देवगढ़ का दशावतार मंदिर है। यह पंचायतन योजना में निर्मित है। गुप्त कलाकारों की यह अभिनव देन है। गुप्तयुगीन मंदिरों में स्तंभों की व्यवस्था विशिष्ट है। ये मंदिर अत्यधिक अलंकृत भी हैं। कानपुर का भीतरगाँव मंदिर संरचनात्मक शैली की सर्वप्रथम कृति है। इसकी एक-एक ईंट अलंकृत है। गुप्तयुगीन प्रारंभिक मंदिरों में सार्वजनिक आयोजन के लिए स्थान का अभाव है।

गुप्त वंश का आधिपत्य सुदूर दक्षिण तक था। अतएव, उत्तर और दक्षिण भारत की स्थापत्य कला में सादृश्य है। गुप्त युग के बाद भारत की शक्ति छिन्न-भिन्न हो गई। देश कई छोटे-छोटे

राज्यों में विभक्त हो गया। इसका प्रभाव स्थापत्य कला पर भी पड़ा। इसकी एकरूपता समाप्त हो गई। सातवीं शती की मंदिर वास्तुकला में एक नई चेतना दिखाई पड़ती है, जो स्थानीय विशेषताओं के साथ आविर्भूत हुई। भारत के मंदिरों को साधारणतया तीन खण्डों में वर्गीकृत किया गया है:

1. उत्तर भारत के मंदिर (नागर मंदिर)
2. मध्यवर्ती भारत के मंदिर (चालुक्य अथवा बेसर मंदिर)
3. दक्षिण भारत के मंदिर (द्रविड़ मंदिर)

नागर मंदिरों की योजना वर्गाकार है। इनमें ताख, आले तथा मण्डप की योजना है। इस शैली के मंदिरों के शिखर आमलक से सुशोभित हैं, जिनके ऊपर कलश है। मंदिरों का द्वार पूर्वाभिमुख है तथा गर्भगृह में प्रतिष्ठित देवता के वाहन के लिए गर्भगृह के सामने समुचित स्थान की व्यवस्था है। स्थानीय प्रभाव के कारण इनके वास्तु-विन्यास अथवा अंगों के नामकरण में यदा-कदा भेद दृष्टिगत होता है किन्तु मूल रूप में विशेष अंतर नहीं है।

उड़ीसा में गर्भगृह को श्री मंदिर अथवा देवल कहते हैं तथा महामण्डप को जगमोहन। इनके अतिरिक्त, नटमण्डप तथा भागमण्डप भी इन मंदिरों के अन्य अंगों के नाम हैं। शिखर की बनावट के अनुसार, ये मंदिर 'रेखादेवल' और 'पीडदेवल' की पद्धति में निर्मित हैं। रेखादेवल के अंग हैं – बड़, छप्पर तथा आमलक। पीडदेवल में बड़, पीड और घंटाकलश की योजना है। श्री मंदिर या गर्भगृह देवादेवल की पद्धति में निर्मित है तथा जगमोहन पीडदेवल की योजना में निबद्ध है। भुवनेश्वर का लिंगराज मंदिर इसका सर्वोत्कृष्ट प्रमाण है।

चन्देल नरेशों द्वारा निर्मित खजुराहो के मंदिरों की निजी मौलिकता है। ये मंदिर अंग शिखर अथवा उरूश्रृंग से विभूषित हैं। सामान्यतया, नागर मंदिरों के भीतरी भाग सादे हैं और बाह्य भाग में सुरुचिपूर्ण अलंकरण है। इसी पद्धति पर उड़ीसा और खजुराहो के मंदिर भी अलंकृत हैं। किंतु, इन मंदिरों में बाह्य अलंकरण स्वरूप श्रृंगारिक दृश्य के चित्रण की प्रधानता है। खुजराहो के मंदिरों में कंदरीय महादेव मंदिर उल्लेखनीय है, जिसकी छत का अंत:पटल कलात्मक अलंकरण से सुशोभित है।

गुजरात की ख्याति तो सोमनाथ मंदिर के कारण है किंतु, अब तो इसकी स्मृति ही शेष है। यहाँ 11वीं शती का निर्मित मोधेरा का सूर्य मंदिर अपनी अनुपम काया लिए दर्शकों को बरबस आकृष्ट करता है। इसी का समकालीन आबू पर्वत का विमलशाही मंदिर अपनी अलंकरण सम्पदा के लिए प्रसिद्ध है। श्वेत संगमरमर प्रस्तर से निर्मित इस जैन मंदिर का भीतरी और बाहरी दोनों भाग अत्यन्त कलात्मक ढंग से अलंकृत हैं। इसकी भीतरी छत की अलंकरण पद्धति भी अद्वितीय है।

कश्मीर स्थापत्य की गौरवमयी रचना मार्तण्ड मंदिर है। भारत में सूर्य मंदिरों की संख्या अत्यल्प होने के कारण कश्मीर का महत्वपूर्ण स्थान है।

बंगाल में प्राचीन वास्तुकला के उदाहरण नहीं के बराबर हैं। किंतु, पुरातात्त्विक उत्खनन से कुछ मंदिरों के अवशेष प्राप्त हुए हैं, वे बंगाल की स्थापत्य कला पर पर्याप्त प्रकाश डालते हैं। ये मंदिर ईंट के बने हैं, जो इनकी विशेषता प्रदर्शित करते हैं। पहाड़पुर का मंदिर इस शैली की सुन्दरतम कृति है। भीतरगाँव मंदिर की भांति इस मंदिर में भी अलंकृत ईंटों के फलक लगे हैं।

उत्तर की नागर जैन शैली तथा दक्षिण की द्रविड़ शैली का मिश्रित रूप चालुक्य अथवा बेसर शैली है। इस शैली के मंदिरों के दो वर्ण हैं– 1. पूर्ववर्ती चालुक्य मंदिर तथा 2. परवर्ती मंदिर। पूर्ववर्ती चालुक्य शैली के मंदिरों में नागर शैली के शिखर हैं। लाढ़वा मंदिर तथा दुर्गा मंदिर इसके उदाहरण हैं। लाढ़वा मंदिर की छत के ऊपर एक और मंजिल की योजना शिखर के प्रारंभ का सूचक है। परवर्ती चालुक्य मंदिरों में कुछ मंदिरों के शिखर नागर शैली के हैं तथा कुछ मंदिर द्रविड़ शैली के शिखर से मंडित हैं। पापनाथ मंदिर का शिखर नागर शैली की रचना है तथा विरूपाक्ष मंदिर द्रविड़ शैली के शिखर से विभूषित है। हलेविद का होयसलेश्वर मंदिर होयसल शैली की चरम उपलब्धि है। इसमें अलंकरण की अटूट शृंखला है। इसकी सूक्ष्म कला प्रशंसनीय है। इस शैली के मंदिरों की विशेषताताराकृति की योजना भी है।

दक्षिण भारत के मंदिरों में कला और सौन्दर्य का अद्भुत सम्मिश्रण दीखता है। ये मंदिर द्रविड़ शैली में निर्मित हैं। यह शैली दक्षिण के कई राजवंशों के संरक्षण में फूली-फली तथा स्वभावतः उनके नामों से भी ख्यात हुई। इनमें प्रमुख राजवंश हैं– पल्लव, चोल तथा पंड्यि। द्रविड़ मंदिर ऊँचे परकोटे से घिरे हैं। इनको प्राकारम् कहते हैं। इनमें मंदिरों के समूह हैं, जिनमें जलाशय, स्तंभयुक्त कक्ष तथा स्तंभों से बने बरामदे सन्निहित हैं। ये मंदिर कई मंजिलों में नियोजित हैं। नीचे की मंजिल की चौड़ाई सबसे अधिक है और ऊपर मंजिलों की चौड़ाई क्रमशः कम होती गई है। इन मंदिरों की छतें ढोलाकार हैं, जिनके ऊपर स्तूपिकाएँ हैं। द्रविड़ मंदिरों की प्रमुख विशेषता गोपुरम् है। यह मंदिर का प्रवेशद्वार है। इसकी रचना विशिष्ट है। यह कई मंजिलों में बना है। निचली दो मंजिलें ठोस प्रस्तर से निर्मित हैं तथा ऊपरी मंजिलें ईंट और वज्रलेप (प्लास्टर) की बनी हैं। प्रत्येक मंजिल में मंदिर की प्रतिकृति अंकित है। इसकी छत ढालुवाँ है, जिसमें कीलनुमा आकृति का अलंकरण है। द्रविड़ मंदिर मात्र पूजास्थल ही नहीं, प्रत्युत शिक्षा एवं सार्वजनिक आयोजन के लिए भी उपयुक्त स्थान था।

पल्लव नरेशों के संरक्षण में द्रविड़ शैली की चार विभिन्न पद्धतियाँ विकसित हुई, जो महेन्द्र शैली, नरसिंह शैली, राजसिंह शैली तथा नंदीवर्मन शैली कहलाती है। महेन्द्र शैली में पत्थर की चट्टानों को खोदकर मंदिर निर्मित किए गए, जो मण्डप सदृश हैं। नरसिंह शैली या मामल्ल शैली में इसी पद्धति पर मण्डप के अतिरिक्त रथों का निर्माण हुआ, महाबलिपुरम् के रथ इसी शैली की रचना हैं। राजसिंह शैली में पत्थर की चट्टानों को जोड़कर, अर्थात् संरचनात्मक मंदिर बनाए गए। महाबलिपुरम् का समुद्रतटीय मंदिर इस शैली की अनुपम कृति है। नंदीवर्मन शैली भी राजसिंह शैली की परम्परा में ही पल्लवित हुई।

चोल मंदिरों में विमान की विशालता है। इनके गोपुरम की योजना बृहत है। इन मंदिरों में अलंकरण के लिए 'कुडु' का प्रयोग किया गया है। तंजौर का बृहदीश्वर मंदिर तथा गंगैकोड-चोलपुरम् का बृहदीश्वर मंदिर इस शैली की सर्वोच्च उपलब्धि है।

पांड्यकाल के मंदिरों के गोपुरम् की निर्माण पद्धति में परिपक्वता है। ये कई मंजिलों में निर्मित हैं।

मदुरा शैली के मंदिरों में परकोटों की बहुलता है। श्रीरंगम् के मंदिर में सात घेर हैं। स्तंभयुक्त लंबे बरामदे इन मंदिरों की विशेषता है। रामेश्वरम् मंदिर इसका सर्वोत्तम उदाहरण है।

नागर मंदिरों की ही परम्परा में एलोरा के गुफा मंदिर हैं। सामान्यतया गुफा शब्द से एक निर्जन पर्वत कंदरा का बोध होता है, किन्तु ये गुफाएँ सौन्दर्य के भण्डार हैं। यहाँ वनस्थली का शांत वातावरण है, राजप्रासादों जैसी तड़क-भड़क है, तथा पूजागृह सी पवित्रता है। ये गुफाएँ बौद्ध, जैन और ब्राह्मण तीनों धर्मों की त्रिवेणी हैं। बौद्ध और जैन गुफाएँ ब्राह्मण मंदिरों के पहले की रचनाएँ हैं। इनके परीक्षण से संकेत मिलता है कि मंदिरों के निर्माण का यह आधार रहा हो। इसकी पुष्टि उदयगिरी के गुफा मंदिरों से होती है। राष्ट्रकूटों द्वारा निर्मित एलौरा के गुफा मंदिरों की निजी विशेषता है। इनमें कैलाश मंदिर संसार की आश्चर्यजनक वस्तुओं में है। इसका निर्माण चोटी से प्रारंभ किया गया है और नीचे तक पर्वत काटकर मंदिर बनाया गया है। इस मंदिर का सौन्दर्य अवर्णनीय है। शिव एक विराट् दैवी कल्पना है, जहाँ सारे विरोधों की मंगलमयी विश्रांति है। इस दार्शनिक रूप का अनूठा चित्रण एलोरा के कैलाशनाथ मंदिर में किया गया। इसका श्रेय उन साधनारत कलाकारों तथा शिल्पसाधक भिक्षुओं को है जिनके सहयोग एवं सकंल्प की परिणति यह सौन्दर्य का मंदिर है।

सोलहवीं-सत्रहवीं शताब्दी के बाद भारत में मंदिरों का निर्माण कार्य शिथिल पड़ गया। किन्तु, जावा, कंबोडिया, बर्मा, सुमात्रा, बोरोबुदूर आदि सुदूर शहरों में भारतीय शैली से प्रभावित मंदिर दीखते हैं। संभवतया, ये भारतीय शैली के ही विस्तार हैं।

उत्तर और दक्षिण भारत के वास्तु शिल्प में भेद होते हुए भी सारा वास्तु मात्र भारतीय है। ये हमारी एकता के प्रतीक हैं। ये कलाकृतियाँ देश को एकता के सूत्र में बाँधती हैं। भारत विविधताओं का देश है। एक ओर हिमालय का पर्वतीय प्रदेश है, तो दूसरी ओर दक्षिण का पठार। राजस्थान की शुष्क मरुभूमि यहीं है, और बंगाल की शस्य श्यामला भूमि भी इसी देश में है। यहाँ मध्यप्रदेश के घनघोर जंगल और गंगा की सुरम्य उपत्यका है। रूपगत विविधता होते हुए भी ये एक माला के बहुरंगी पुष्प हैं, जिनकी अलग-अलग शोभा है, फिर भी सभी एक ही सूत्र में पिरोये हुए हैं। हमारे रहन-सहन के ढंग अलग हैं, भाषाएं भिन्न हैं, आचार-विचार पृथक् हैं, फिर भी हमारे आदर्श और विश्वास एक हैं। हमारे अंतःकरण से संगीत का एक ही स्वर मुखरित होता है। इस एकता के निर्माण में इन कलाकारों का बहुत बड़ा योगदान है, जिनकी साधना की परिणति ये अमूल्य कलाकृतियाँ हैं। अतएव, हम उन अज्ञात कलाकारों के प्रति ऋणी हैं। कितना श्रम लगा होगा इनके निर्माण में, जबकि आधुनिक युग जैसे तकनीकी साधन भी उस समय उपलब्ध नहीं थे। फिर भी, किस प्रकार ये भव्य मंदिर निर्मित किए गए, यह सोचकर हम विस्मय विमुग्ध हो जाते हैं। इन कलाकारों ने इतनी निष्ठा और लगन से इनका निर्माण किया कि जो कुछ बनाया, वह कला की अमर निधि हो गई। ये कलाकृतियाँ विशुद्ध पूजाभाव और

धार्मिक प्रेरणा से रची गईं, कोई लौकिक उद्देश्य अथवा स्वार्थसिद्धि की भावना न थी। अतएव, ये सात्विक एवं मंगलप्रद भावनाओं से ओतप्रोत हैं। इनको देख हम श्रद्धा एवं भक्ति से नतमस्तक हो जाते हैं। प्रत्येक कलाकृति एक-एक रत्न के समान बहुमूल्य है। ये हमारे धर्म और विश्वास के प्रतीक हैं। यहाँ आकर हम सांसारिक कष्टों का विस्मरण कर आध्यात्मिक सुख का आनन्द लेते हैं। ये भारत का गौरव हैं। हमारा तथा हमारी राष्ट्रीय सरकार का परम पुनीत कर्तव्य है कि अपने गौरव की रक्षा करें। इन कलाकृतियों को नष्ट होने एवं तस्करी से बचाएं।

भारतीय कला का सन्देश आनन्द, उल्लास और मोक्ष है। इस कला में यह शक्ति है, जिसने अपने कोमल स्पर्श से पाषाण को प्राणवान् बना दिया है। कला का प्रत्येक उदाहरण उस जगमगाते दीपक की भांति है, जो अपने प्रकाश की किरणें बिखेर कर जीवन के पथ को आलोकित करता है। ये कलाकृतियाँ युग-युग तक पथ-प्रदर्शन करती रहें।

कहा जाता है, वृक्ष लगाने, कुएँ, तालाब या मंदिर आदि बनवाने से मनुष्य को स्वर्ग की प्राप्ति होती है। इन कलाकारों को स्वर्ग मिला अथवा नहीं, किन्तु उनको अमरत्व अवश्य प्राप्त हो गया। कला के ये साधक अपनी कृति को बनाकर मंदिर स्थापत्य के इतिहास में अमर हो गए। उन तपःपूत कला के प्रणेताओं को शत-शत प्रणाम।

हड़प्पाकालीन स्थापत्य (कला)

नगर योजना एवं स्थापत्य सड़कें

हड़प्पा, मोहनजोदड़ो आदि प्रमुख नगरों का निर्माण एक योजनाबद्ध व्यवस्था के आधार पर हुआ था। इस उच्चकोटि की व्यवस्था का निर्माण सिद्धहस्त कारीगरों द्वारा किया गया था। सड़कें सीधी थीं और एक दूसरे को समकोण पर काटती थीं। प्रधान सड़कें (राजपथ) पूर्व से पश्चिम या उत्तर से दक्षिण की ओर जाती थीं। प्रायः सभी सड़कें समानान्तर थीं। इधर-उधर की सभी गलियाँ राजपथ से मिल जाती थीं। प्रत्येक गली में एक कुँआ होता था। सड़कों के किनारे कूड़ा-करकट जमा करने की व्यवस्था थी।

नालियाँ

मोहनजोदड़ो में अनेक सुंदर नालियाँ मिली हैं। नालियों का इतना सुंदर प्रबन्ध प्राचीन काल के किसी अन्य देश में नहीं मिलता। प्रत्येक सड़क तथा गली के किनारे पक्की नालियाँ बनी थीं। चारों ओर की गलियों की नालियाँ एक प्रधान सड़क की बड़ी नाली में ही आकर गिरती थीं। घरों का पानी प्रायः मिट्टी के परनालों या नालों द्वारा बह जाता था। नालियों की ईंटों को जोड़ने के लिए चूना जिप्सम मिश्रित पलस्तर बनाया जाता था। नालियाँ ईंटों या पत्थरों से ढँकी जाती थीं। नालियों का कीचड़ तथा कूड़ा एकत्र करने के लिए स्थान-स्थान पर गड्ढे बने होते थे। स्नानागारों तथा शौचगृहों की नालियाँ प्रायः दीवारों में ही बना दी जाती थीं।

भवन

उत्खनन में अनेक प्रकार के भवनों के ध्वंसावशेष मिले हैं। हड़प्पा की अपेक्षा मोहनजोदड़ो के भवन अधिक विशाल थे। मकान प्रायः दुमंजिले होते थे। इन मकानों के ऊपर की छत मिट्टी अथवा कच्ची या पक्की ईंटों की बनी होती थी। समृद्ध व्यक्तियों के मकानों की छतों पर पकाई गयी ईंटें बिछी होती थीं। उपरी खंड के फर्श के नीचे कड़ियों के ऊपर छड़ियाँ और घास-फूस डाल दी जाती थी। इनके ऊपर फिर मिट्टी या फर्श बैठाया जाता था। कड़ियों का प्रयोग मोहनजोदड़ो में बहुत हुआ है।

मोहनजोदड़ो के भवनों में आम सड़कों की ओर प्रायः दरवाजे बहुत कम पाये जाते थे। दरवाजे प्रायः गलियों की ओर बनाये जाते थे। दरवाजों पर लकड़ी की चौखट होती थी। खिड़कियाँ ऊँचाईं पर बनायी जाती थीं। खिड़कियों के लिए पत्थर की जालियों का भी प्रयोग हुआ है। ऊपरी खण्डों में जाने के लिए सीढ़ियां बनी थीं, जिनके अवशेष मिले हैं। कहीं-कहीं लकड़ी की सीढ़ियाँ भी होती थीं। प्रायः सभी भवनों में आँगन की व्यवस्था थी। कई भवनों में कुएँ भी बने थे। हड़प्पा में अपेक्षाकृत बहुत कम कुँए मिले हैं। श्री वत्स के अनुसार पीने के अलावा, अन्य प्रयोजन के लिए पानी नदी से लिया जाता था। कुँओं के निकट नालियाँ होती थीं।

स्नानगृह एवं शौचालय

मोहनजोदड़ो में सामान्यतः घरों में निजी स्नानगृह थे। स्नानगृहों के बाहुल्य से पता चलता है कि यहाँ के निवासी शारीरिक स्वच्छता पर विशेष बल देते थे। स्नानगृहों की फर्शों पर ईंट बड़ी सफाई के साथ लगायी जाती थी। इनमें जल की एक बूंद भी नीचे नहीं जा सकती थी। निजी गृहों के ऊपरी खण्डों में भी स्नानगृह होते थे। मोहनजोदड़ो की खुदाई में कुछ अच्छे ढंग के शौचगृह भी मिले हैं। प्रायः ये स्नानगृहों के बगल में ही होते थे। कुछ शौचगृह ऊपरी खण्डों में भी होते थे। बौद्ध स्तूप से लगभग नौ फुट की दूरी पर एक विशाल स्नानागार है। इसके चारों और कई बरामदे और प्रकोष्ठ हैं। इसे सार्वजनिक स्नानगृह माना गया है।

धातु कला

सिन्धु घाटी के निवासियों को विविध धातुओं का ज्ञान था। इन धातुओं को पिघलाकर और सांचों में ढालकर वे विविध प्रकार की वस्तुएँ बनाते थे। वे लोग स्वर्ण, रजत एवं ताम्र आदि धातुओं के कलात्मक आभूषणों का भी निर्माण करते थे। इनमें बाजूबंद, कंठहार, लम्बहार, भुजबन्द, चूड़ियाँ, अतंक और अगूंठियाँ आदि सुन्दर और आकर्षक हैं। हारों में विभिन्न आकार एवं रंगों की गुरियाँ पिरोई जाती थीं। मिट्टी, गोमेद सन्निम और लाल गोमेद तथा अन्य धातुओं की गुरियाँ प्रचलित थीं। चन्हूदड़ों में गुरियों का कारखाना मिला है।[1] गुरियों को खुरच कर इन पर भी रंग लगाया जाता था। मोहनजोदड़ो पर एक स्थान पर गलाए हुए तांबे का ढेर मिला है। कांसे की वस्तुएँ भी प्राप्त हुई हैं।

मुद्रा कला

हड़प्पा संस्कृति के सर्वोत्तम उदाहरण मुद्राओं पर अंकित कलात्मक आकृतियों में मिलते हैं। ये मुहरें शिलखड़ी की बनायी गयी हैं और आरा या चांकू से काटी जाकर निश्चित आकार में बनायी जाती थीं। उत्खनन में मोहरें ढालने के सांचे और ठप्पे मिले हैं। मुद्राओं पर विभिन्न पशु-पक्षी चित्रित हैं। इनमें बैल, हाथी, नील गाय, गैंडा, भैंस तथा बारहसिंगा का सफल चित्रण हुआ है। यह कलाकारों के जन्तु विज्ञान की जानकारी का परिचायक है। मोहनजोदड़ो से प्राप्त कुछ मिट्टी की मुद्राएँ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इनमें पशुओं से घिरे हुए योगीश्वर शिव की मुद्रा मिली है। मिट्टी की एक अन्य मुद्रा पर मानव-व्याघ्र युद्ध का चित्रण हुआ है। इन मुद्राओं का प्रयोग ताबीजों के लिए होता था जिनका धार्मिक महत्व था। हड़प्पा से प्राप्त एक ताबीज पर नृत्य के साथ ढोल वादन का दृश्य है। अधिकांश मोहरों पर लेख भी उत्कीर्ण हैं जो अभी पढ़े नहीं जा सके हैं।

मृद्‌भांड कला

सिंधु सभ्यता के अनेक नगरों में बहुसंख्या में मिट्टी के बरतन मिले हैं। ये बरतन चाक द्वारा बनाये जाते थे। उनके निर्माण में जिस मिट्टी का प्रयोग हुआ है, उसमें कभी मिट्टी, अभ्रक, चूना और बालू भी मिलायी जाती थी। ये बरतन साधारण आकार के हैं। इनमें अधिकांश घड़े, हाँडियां, प्याले, कुल्हड़ और तश्तरियाँ हैं। मोहनजोदड़ो के बरतनों पर लेख नहीं हैं, जबकि हड़प्पा से प्राप्त बरतनों पर लेख मिले हैं। अधिकांश बर्तन हल्के रंग से रंगे हैं, कुछ थोड़े से काले और भूरे रंग के बर्तन भी मिले हैं। चमक लाने के लिए बरतनों पर रंग लगाकर घोटा लगाया जाता था। इसके बाद इन पर अनेक प्रकार का अलंकरण किया जाता था। प्रायः सतह एक रंग की होती थी और अलंकरण दूसरे रंग से किया जाता था। यह अलंकरण रेखाओं के द्वारा किया जाता था। अधिकांश बरतनों पर ज्यामितीय चित्रण मिला है। कुछ पर पशु-पक्षियों, यथा हिरण, बकरी, खरगोश, काक, बतख, मोर, गिलहरी, सर्प और मछली की चित्रकारी है। कुछ बरतनों पर 'वृक्षों और फूल पत्तियों' के चित्र हैं। इनमें पीपल, नीम और खजूर के वृक्ष प्रमुख हैं। सिन्धु प्रदेश के बरतनों में मानवाकृतियों का चित्रण नहीं मिलता। हड़प्पा के कुछ बरतनों पर मानवाकृतियाँ मिलती हैं। एक बरतन पर कछुए का चित्रण है।

कंघे के दांतों जैसा चित्रण भी बरतनों पर यदाकदा मिलता है।[2] गुब्बारे, तारे, स्वास्तिक और सीढ़ी आदि का चित्रण कुछ बरतनों पर मिला है। चन्हूदड़ों के दो बरतनों के टुकड़ों पर मोर सांप पर झपटता हुआ प्रदर्शित किया गया है। हड़प्पा से प्राप्त 'एच कब्रिस्तान' बरतनों पर कुछ अलौकिक दृश्य के चित्र हैं, जैसे सूक्ष्म शरीर को स्वर्ग ले जाने का चित्रण[3] और वैतरणी दृश्य।[4] इनसे आभास होता है कि सिन्धु घाटी के वासियों की परलोक सम्बन्धी अनेक धारणाएं थीं। लेकिन 'एच कब्रिस्तान' की संस्कृति सिन्धु सभ्यता के बाद की है।

मौर्यकालीन स्थापत्य कला

1. नगर योजना

मेगस्थनीज[5] के कथनानुसार पाटलिपुत्र गंगा और सोन नदी के संगम पर बसा था। नगर का आकार एक समानांतर चतुर्भुज के समान था। वह लगभग साढ़े नौ मील लंबा और लगभग दो मील चौड़ा था। नगर चारों ओर से काष्ठ की बनी दीवार से घिरा था जिसमें 570 बुर्ज और चौंसठ द्वार थे। इन दीवारों में तीर चलाने के लिए छिद्र बने थे। सामने की ओर रक्षा के हेतु एक परिखा खुदी थी, जो 600 फुट चौड़ी और 30 फुट गहरी थी। चीनी यात्री के अनुसार ''पाटलिपुत्र की इस काष्ठ नगरी में राजा का भव्य प्रासाद था, जो संसार के राजकीय भवनों में सर्वाधिक सुन्दर था और जिसके सामने सूसा और इकबताना के राजप्रासादों का वैभव भी तुच्छ प्रतीत होता था। इस प्रासाद के मंडित स्तंभों पर स्वर्णिम अंगूरी लतिकाएँ खचित हैं, जिन पर चाँदी की चिड़ियाँ कल्लोल करती दृष्टिगत होती हैं। प्रासाद के निकट मछलियों के सरोवर हैं जिनकी शोभा को बढ़ाने के लिए अनेक सज्जायुक्त वृक्ष, कुंज और झाड़ियाँ लगा दी गयी हैं।'' इस राजप्रासाद को देखकर गुप्तकाल में फाहियान भी आश्चर्यचकित रह गया था। इस यात्री ने भी उक्त प्रासाद की सुन्दरता एवं भव्यता की भूरि-भूरि प्रशंसा की है तथा उसे देवताओं द्वारा निर्मित बताया है।[6] कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र'[7] के अनुसार नगर में एक परिखा, प्राकार, अप्र, द्वार, कोष्ठ और अट्टालक होने चाहिए। उक्त ग्रन्थ में ईंटों अथवा पत्थरों के प्राचीर निर्माण का विधान है।

2. राजप्रासाद

प्राचीन शैली के आधार पर निर्मित नगर महापथों द्वारा चार ब्लाकों में विभक्त था। बीच में उद्यानों के मध्य अनेक भवनों सहित विशाल राजप्रासाद निर्मित था। वह राजप्रासाद पूर्णतः नष्ट हो गया है। इसके ध्वंसावशेष पटना के बुलंदीबाग में प्राप्त हुए हैं। इनसे पता चलता है कि राजप्रासाद विशेषतः काष्ठ निर्मित था। राजप्रासाद का सबसे प्रमुख भाग उसका स्तंभयुक्त भव्य विशाल कक्ष था।[8] यह ऐतिहासिक काल की प्रथम रचनामूलक इमारत है, जो भारतीय कला की अभूतपूर्व देन है। शास्त्रानुसार यह राजकीय भवन तीन भागों में विभक्त था– राजकीय हाथियों एवं रक्षकों का कक्ष, सभा मण्डप और मुख्य कक्ष। ये सब एक ही सीध में थे। प्रत्येक स्तंभ के बीच की दूरी 15 फुट है। स्तंभ अत्यन्त चिकने और पालिशयुक्त हैं। स्तंभयुक्त सभा भवन के दक्षिण की ओर सात काष्ठ निर्मित चबूतरे मिले। इनके किनारे इतने अक्षत और निष्पन्न हैं कि प्रत्येक जोड़ की लकीर अविवेच्य है। इस सम्पूर्ण इमारत का निर्माण बड़ी सुनिश्चितता एवं सावधानी से हुआ है।[9]

चन्द्रगुप्त मौर्य की भांति अशोक मौर्य ने भी एक राजप्रासाद का निर्माण कराया था, जिसमें पत्थर का प्रयोग, दीवारों और तोरणों की व्यवस्था, चित्ताकर्षक नक्काशी तथा सुन्दर मूर्तियाँ

उत्कीर्ण थीं।[10] महल के निर्माण में काष्ठ का प्रयोग बहुलता से किया जाता था। सातवीं शताब्दी में हुएनसांग की यात्रा के समय यह प्रासाद नष्ट हो चुका था। कर्नल बैडेल ने यहाँ मौर्य ओप से युक्त पत्थर के टुकड़े प्राप्त किये थे।[11] 1813 में डा. स्पूनर ने आधुनिक पटना नगर के उत्तर में स्थित कुम्हरार नामक स्थान पर इस राजप्रासाद के ध्वंसावशेष प्राप्त किये थे। चीनी यात्री फाहियान ने भी इसका उल्लेख किया है। इस राजप्रासाद का प्रमुख अंग प्रधान कक्ष था, जिसकी छत 225 विशाल स्तंभों पर आश्रित थी। ये स्तंभ लकड़ी की आधार पीठिकाओं पर निर्मित थे। स्तंभ पत्थर के थे, जिन पर चमकदार पालिश थी। डा. वासुदेव शरण अग्रवाल[12] के अनुसार इसका वर्णन महाभारत के वर्णन से मेल खाता है। ऋग्वेद में भी सौ स्तंभ वाले कक्ष का वर्णन है।

3. शैल गुहाएँ

भारत में शैल गुहाओं की प्राचीन परम्परा रही है। मध्यप्रदेश में अनेक प्रागैतिहासिक एवं आद्यैतिहासिक काल की गुहाएँ मिली हैं।[13] जिनमें आदिवासी निवास करते थे।[14] अशोक और उनके पौत्र दशरथ ने अन्य धर्मों के प्रति सहिष्णुता प्रदर्शित करते हुए आजीवक सम्प्रदाय के भिक्षुओं के निवास के लिए गया से उत्तर 19 मील की दूरी पर स्थित बाराबार पहाड़ियों पर शैल गुहाओं का निर्माण कराया था।[15] इनकी भीतरी दीवारों पर चमकीली पालिश है। मौर्यकालीन सात शैल गुहाएं मिली हैं, जिनमें चार बाराबार पहाड़ी में हैं और तीन नागार्जुनी पहाड़ी पर। सामूहिक रूप में इन्हें सतघर कहते हैं। इसके अतिरिक्त राजगृह से दक्षिण की ओर तेरह मील की दूरी पर और गया से पूर्व में पच्चीस मील की दूरी पर सीतामढ़ी नामक एक अन्य गुहा है जो मौर्यकालीन गुहा का ही उदाहरण लगता है। इनमें लकड़ी या फूस के घरों की हुबहू नकल है अर्थात् लकड़ी के भवन का नक्शा पत्थर पर उतारा गया है।[16] इन गुहाओं में बाराबार पहाड़ी में स्थित लोमश ऋषि और सुदामा गुहाएँ विशेष उल्लेखनीय हैं। ये सबसे पुरानी हैं। इनमें अशोक का अभिलेख खुदा हुआ है। इनके आंतरिक भाग एक तरह के हैं। लोमश ऋषि का द्वार सज्जायुक्त है।[17] नागार्जुनी गुहाओं में गोपी गुहा सबसे अधिक विशाल है (44 × 119 × 10 फुट), जिसका आकार सुरंग की भांति है। इनके द्वार पर एक लेख उत्कीर्ण है, जिसके अनुसार उसका निर्माण दशरथ ने कराया था। इन गुहाओं के भीतर की सतह चिकनी और चमकदार है। इन शैल गुहाओं के निर्माण, इन पर खुदे हुए लेखों के अनुसार, आजीवक सम्प्रदाय के भिक्षुओं के निवास और उनकी साधना के लिए स्थान की व्यवस्था करने के अभिप्राय से किया गया था।

4. शिल्प कला

(क) प्रस्तर स्तंभ

मौर्यकला की सर्वोत्कृष्ट कृतियाँ अशोक के एकाश्म प्रस्तर स्तंभ हैं। फाहियान ने (399-413 ई.) अशोक के छः स्तंभों और हुएनसांग ने (629-645) बारह स्तंभों को देखा

था। किन्तु उनमें से भी कुछ नष्ट हो गये हैं। ये स्तंभ, संकिसा, निम्लीव, लुंबिनी, सारनाथ, वैशाली, सांची, रामपुरवा, कोसम, प्रयाग, लौरिया अरराज, लौरिया नंदनगढ़, टोपरा आदि स्थानों पर प्राप्त हुए हैं। इनके अतिरिक्त भी कुछ स्तंभ थे जिनका उल्लेख चीनी यात्रियों ने किया है।

प्रत्येक स्तंभ को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है – लाट और स्तंभशीर्ष। लाट एक शुण्डाकार दण्ड है जिसकी लम्बाई 40 फुट से 50 फुट तक होती है।[18] स्तंभ शीर्ष लाट की चोटी पर स्थापित रहता है। यह तीन अंगों में विभक्त होता है – उल्टा कमल अथवा घण्टा, आधार पीठिका, पशु और कभी-कभी पशुओं के ऊपर स्थापित धर्मचक्र। इसके निर्माण में चुनार के लाल बलुए पत्थर का प्रयोग किया गया है। यह एकाश्म प्रस्तर है। ये स्तंभ अपने भव्य आकार, अनुपात, सुसज्जा, चमक में बेजोड़ हैं।[19] इनकी उत्कृष्ट कारीगरी कलाकारों की कार्यकुशलता की परिचायक है। इन स्तंभों की निर्माण शैली के आधार पर उनका क्रमिक विकास निर्धारित किया जा सकता है। अशोक द्वारा निर्मित सारनाथ के सिंह शीर्ष स्तंभ में कला अपनी पूर्णता पर पहुँच गयी है। स्मारकीय योजना की शिल्पकला बनावट में सौन्दर्यपूर्ण तथा पार्श्वीय भागों के कार्य संपादन में सादृश्य उपस्थित करती है। इसके अवयव इकहरे सूत्रबद्ध हैं। इनकी फाँकों (कोर विन्यास) कर्ण रेखाओं, शीर्ष वृत्तों की बनावट सूत्रबद्ध और नियंत्रित प्रतीत होती है, जो कलाकार के आत्मविश्वास का परिचय देती है।

सारनाथ स्तंभ शीर्ष की प्रतीकात्मकता[20] के सम्बन्ध में विभिन्न विद्वानों के विभिन्न मत हैं। स्तंभ शीर्ष पर जिन पशुओं की आकृतियाँ हैं उनका सम्बन्ध वैदिक एवं पौराणिक मान्यताओं से है। हाथी पूर्व दिशा का, वृषभ पश्चिम का, सिंह उत्तर का और अश्व दक्षिण दिशा से सम्बन्धित माना गया है।[21] इन पशुओं का प्रतीकात्मक रूप में बुद्ध के जीवन से भी सम्बन्ध माना गया है। हाथी उनके जन्म का, वृषभ राशि का, सिंह शाक्य सिंह का और अश्व महाभिनिष्क्रमण का प्रतीक है। डाक्टर ब्लाक उन्हें चार देवताओं, इन्द्र, शिव, सूर्य और दुर्गा का रूप मानते हैं, जिनके वे वाहन थे और धर्मचक्र के नीचे इनको दिखाने का उद्देश्य यह दर्शाना था कि ये चारों हिन्दू देवता बुद्ध के अधीनस्थ थे। फूशे ने उन्हें बुद्ध के जीवन की चार घटनाओं से जोड़ा है। वृषभ का अर्थ है जन्म, हाथी का माया का गर्भ धारण करना (माया ने गर्भधारण से पूर्व स्वप्न में श्वेत हाथी देखा था) अश्व का अर्थ है बुद्ध का घोड़े पर सवार होकर गृहत्याग और सिंह का अर्थ है शाक्य सिंह के रूप में बुद्ध।[22] इस प्रकार निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि सारनाथ का स्तंभ धार्मिक लाक्षणिकता का परिणाम है। चार सिंह चक्रवर्ती सम्राट की असीम शक्ति के प्रतीक हैं तथा सबसे ऊपर स्थित चक्र, धर्म चक्र का प्रतीक है। अनेक विद्वानों का मत है कि यह स्तंभ विदेशी कला से प्रभावित है। विंसेंट स्मिथ स्तंभों के शीर्ष पर ईरान और असीरिया की कला का प्रभाव तथा पशुओं की आकृतियों पर यूनानी कला का प्रभाव मानते हैं।[23]

हैवेल के अनुसार अशोक के स्तंभ का गोलाकार रूप प्राचीन चन्द्र उपासना की स्मृति का लक्षण है।[24] बैठे हुए चार सिंहों के ऊपर चक्र स्थित था। यह सिंहनाद का प्रतीक है– सिंहनाद जो धर्मचक्रप्रवर्तन सूत्र और संसार में चारों दिशाओं में फैला देगा। अशोक ने इसके द्वारा

सांकेतिक भाषा में यह घोषित किया है कि धर्म चारों दिशाओं या समग्र संसार की रक्षा कर रहा है। दूसरे शब्दों में इसके द्वारा अशोक ने धर्मविजय की घोषणा की है। चौकोर पट्टी, एक घण्टे के आकार के कमल के फल पर, जिसकी पंखुड़ियाँ उल्टी हैं, टिकी है। यह ब्रह्माण्ड का वैदिक प्रतीक है और बुद्ध के दृढ़ हीरक आसन का प्रतीक है, जो सम्पूर्ण संसार को सागर की सीमा तक नाप सकता है, विश्व साम्राज्य का प्राचीन वैदिक प्रतीक है।[25]

(ख) एकाश्म वेदिका

सारनाथ में अशोक के स्तूप के चारों ओर एक पाषाण वेदिका प्राप्त हुई है।[26] यह मूल गंध कुटी (सारनाथ) के दक्षिणी चैत्य की नींव के नीचे तक सफाई करते हुए श्री अर्टल को मिली थी, जो आठ फुट चार इंच ऊँची है और एक ही पत्थर को काट कर बनाई गयी है। इस पर ऐसी पालिश और चमक है जो अशोककालीन कलाकृतियों की विशेषता है। किसी समय यह धर्मराजिका स्तूप की चोटी पर हर्मिका के चारों ओर लगी हुई थी। इसी प्रकार विदिशा और बोध गया आदि स्थानों में अन्य वेदिकाएँ मिली हैं। ये एकाश्म वेदिकाएँ कला की दृष्टि से बड़ी महत्वपूर्ण हैं।

(ग) पशु आकृतियाँ

शिल्पकला में मौर्य स्तंभों, स्तंभ शीर्ष की पशु मूर्तियों और धौली (उड़ीसा) की हाथी की मूर्तियों का विशेष महत्व है। बखीरा (वसाढ़ अथवा वैशाली) का सिंह कालक्रम एवं विकास की दृष्टि से प्राथमिक अवस्था का है। विकास के अग्रिम चरण में धौली का हाथी आता है, जो चट्टान काटकर अर्द्धहस्ति के रूप में कोरा गया है। इस कृति का निर्माण काल सम्राट अशोक के शासनकाल के बारहवें-तेरहवें वर्ष के मध्य आँका गया है। विकास का तीसरा चरण रामपुरवा का वृषभ, चौथे चरण में लौरिया नंदनगढ़ की सिंह मूर्ति और अन्तिम चरण में सारनाथ और साँची के चार सिंहों की मूर्तियों को रख सकते हैं। इनकी कला विकास के चरम बिन्दु पर पहुँच गयी है।

बखीरा की सिंह मूर्ति बेडौल और निष्पादन में अपरिपक्व एवं अपरिष्कृत है। सिर के बालों और रेखाओं में प्रवाह कम है, यद्यपि अयाल का चित्रण सफल हुआ है। केश के गुच्छों का विन्यास अनगढ़ है। मुखाकृति असंगत और पुराने ढंग की है तथा ओजहीन है। कला अप्रौढ़ है। आकृति के चित्रण में ओज और शौर्य का अभाव है, केवल सिंह का विशाल आकार दिखाई पड़ता है। धौली की गजमूर्ति अपेक्षाकृत सुडौल और कला की दृष्टि से प्रौढ़ है। गज का रूपांकन और उसकी छवि का अंकन विशिष्ट है। उसकी रेखाओं का प्रवाह सुन्दर है। इसमें आकार की विशालता है तथा उसकी छवि में कल्पना का पुट है। गज की शांत गरिमा अपूर्व है। गज आगे की ओर बढ़ता हुआ दिखाया गया है और उसकी सूंड में भी गतिशीलता है, केवल उसकी मांसपेशियों के अंकन में जड़ता और तनाव है। डाक्टर नीहार रंजन का कथन है कि धौली के गज की तुलना में सांची और सारनाथ के सिंहों की शैली आडम्बरपूर्ण है।

संकिसा की गजमूर्ति मूर्तिकला की दृष्टि से निम्नस्तरीय है। गज के शरीर का भाग बोझिल होने के कारण झुक गया है। उसके अगले पैर खंभे की बनावट के हैं। कलाकार ने गति लाने का असफल प्रयास किया है क्योंकि गज का विशाल और थुलथुल शरीर जड़ प्रतीत होता है।

लौरिया नन्दनगढ़ की सिंहमूर्ति में बखीरा की सिंहमूर्ति की तुलना में अधिक तनाव और दृढ़ता है। शिराओं और मांसपेशियों का सफल चित्रण हुआ है। पशु आकृति का स्तंभ के अन्य अवयवों से सामंजस्य स्थापित नहीं होता। आकृति और निष्पत्ति के क्षेत्रों में परम्पराओं का पालन सफल ढंग से हुआ है, किन्तु आकार के सूक्ष्म निरूपण और उसके यथार्थवादी प्रस्तुतीकरण में विशेष प्रगति नहीं हुई है।

रामपुरवा की सिंह मूर्ति का सामान्य निखार, आकृति की कल्पना और रेखाओं का प्रवाह लौरिया नन्दनगढ़ की सिंहमूर्ति की तुलना में अधिक सफल हुआ है। मांसपेशियों एवं पुट्ठों के निरूपण में प्रगति दृष्टिगोचर होती है। अयालों, पैरों, पंजों का स्पष्ट अंकन हुआ है। यह मूर्तिकला की दृष्टि से उत्कृष्ट है।

रामपुरवा की वृषभमूर्ति[27] अशोककालीन कला का भव्य एवं उत्कृष्ट उदाहरण है। मूर्ति के आकार और छवि के अंकन में कलाकार के विवेक और उसकी सूझ-बूझ का पता चलता है। इसके सम्पादन में कलाकार ने प्रकृति और कलात्मक वैशिष्ट्य का सूक्ष्म अध्ययन प्रस्तुत किया है। इस प्रकार उसका दृष्टिकोण यथार्थवादी है। वृषभ बड़े शांतभाव और संयमित ढंग से खड़ा है। प्रतिमा ओजपूर्ण है। आकृति एवं रेखांकन में योजनाबद्धता की कमी है किन्तु फिर भी कृति सुन्दर बन पड़ी है। वृषभ में एक नैसर्गिक गतिशीलता, अंग-प्रत्यंगों में जीवन शक्ति और सरलता है।

सारनाथ के अशोक स्तंभ का सिंहशीर्ष भगवान तथागत के प्रथम प्रवचन का स्मारक और
अशोक की धर्मनिरपेक्षता, सहिष्णुता तथा उनके मानव मंगलकारी आदर्श का प्रतीक है। अपनी
अविराम सौंदर्य सौम्यता के कारण वह मौर्य युग की उच्चतम कला कल्पना का भी साक्षी है।
इस सिंह शीर्ष में पीठ सटाए बैठे हुए चार सिंह निर्मित हैं, जो सम्राट की चारों दिशाओं में
धर्मविजय की उद्घोषणा कर रहे हैं। जिनमें सर्वधर्मसमन्वय और मानवतावादी दृष्टिकोण निहित
है।[28]

सारनाथ के चार सिंहों की मूर्ति[29] के नीचे एक फलक में एक लंबे डग भरते बलिष्ठ वृषभ
का अंकन हुआ है। दूसरे फलक पर सिंह का अंकन हुआ है। सिंह बड़ी ओजपूर्ण चाल से जा
रहा है। तीसरे फलक पर हाथी का नैसर्गिक अंकन हुआ है। हाथी धीमी गति से आगे बढ़ रहा
है। चौथे फलक पर दौड़ते हुए अश्व का सफल अंकन हुआ है।[30]

इस मूर्ति की कला उच्चकोटि की है। सर जान मार्शल[31] के अनुसार ''सारनाथ स्तंभ शीर्ष
यद्यपि अद्वितीय तो नहीं है तथापि ई.पू. तीसरी शताब्दी में कला के क्षेत्र में संसार में सर्वाधिक
विकसित कला की देन है।'' इसके कलाकार को कई पीढ़ियों का अनुभव प्राप्त था। सिंह
बलशाली है। उसकी शिराएँ उभरी हैं और पेशियां खिंची हुई हैं। फलक के उद्धृत चित्रों में

जीवंत वास्तविकता है। संपूर्ण कृति में आदिम कला का कोई चिह्न नहीं है। जहाँ तक नैसर्गिकता अभीप्सित थी शिल्पी ने आकृति का आदर्श नैसर्गिक ही रखा है। सिंहों की आकृति बड़ी स्पष्टता एवं विश्वास से गढ़ी गई है। उद्धृत चित्रों की कारीगरी में भी उतनी ही प्रौढ़ता है। डा. नीहाररंजन रे[32] के अनुसार ''इन मूर्तियों की समय कल्पना एवं कार्य निष्पत्ति प्रारंभ से अंत तक परंपरागत है। चारों अर्द्धसिंहों में तकनीकी चातुरी और दक्षता के साथ-साथ संपूर्ण कृति में योजनाबद्धता है।''

सांची के सिंहों की शैली सारनाथ की ही भांति परंपराश्रित एवं रित्यानुकूल है। सिंहों का अयाल का अंकन योजनाबद्ध है। ये सिंह सारनाथ के बाद के प्रतीत होते हैं। मुद्रा और आकृति में औपचारिकता है। आकार में ओज का प्रदर्शन और रूप का भावन सारनाथ के अनुसार हुआ है।

5. स्तूप

स्तूप (पालि थूप) वस्तुतः चिता पर निर्मित टीला होता था, जो प्रारंभ में मिट्टी का बनाया जाता था। स्तूप की दूसरी संज्ञा इसीलिए चैत्य हुई। फिर मिट्टी के टीलों को ईंटों और पत्थरों से ढंका जाने लगा। 'स्तूप' शब्द का उल्लेख प्रारंभिक वैदिक साहित्य[33] में हुआ है। 'महापरिनिर्वाण सूत्र'[34] में महात्मा बुद्ध अपने प्रिय शिष्य आनंद से कहते हैं कि ''मेरी मृत्यु के पश्चात् मेरे अवशेषों पर उसी प्रकार का स्तूप बनाया जाए जिस प्रकार चक्रवर्ती राजाओं के अवशेषों पर बनते हैं।'' इसी सूत्र से पता चलता है कि बुद्ध की मृत्यु के बाद उनके अवशेषों पर आठ स्तूप निर्मित कराए गए परंतु आज ये प्राप्त नहीं होते।

कोई भी स्तूप ऐसा नहीं मिला है जिसकी तिथि निश्चयपूर्वक अशोक के काल से पहले निर्धारित की जा सके। बहुत संभव है कि वे नष्ट हो चुके हों। बौद्ध ग्रंथों के अनुसार अशोक ने चौरासी हजार स्तूपों का निर्माण कराया था। पिपरावा (बस्ती जिला) नामक स्थान पर अशोक के एक स्तूप के भग्नावशेष मिलते हैं। तक्षशिला का धर्मरजिक स्तूप भी अशोक द्वारा निर्मित माना जाता है। चीनी यात्री हुएनसांग ने अशोक द्वारा निर्मित अनेक स्तूपों को देखा था।

अशोककालीन स्तूपों की बनावट सरल होती थी। सर जान मार्शल के अनुसार[35] अशोक-कालीन सांची के स्तूप का आकार वर्तमान स्तूप के आकार का आधा था। इसका व्यास 70 फुट होता था और ऊंचाई 35 फुट। यह ईंटों का बना था। यह अर्द्धगोलाकार था। इसके साथ उठी हुई मेधि थी। स्तूप के चारों ओर काष्ठ की वेदिका थी तथा चोटी पर पत्थर का छत्र लगा था। आगे चलकर शुंगकाल में इसे परिवर्द्धित किया गया।

शुंग-सातवाहनकालीन स्थापत्य कला

शुंग सातवाहन काल में कला का पर्याप्त विकास हुआ। इस काल की कला की निम्नलिखित विशेषताएँ थीं :-

1. शुंगकाल से पहले अर्थात् मौर्यकाल में इमारतों, स्तूपों आदि के निर्माण में लकड़ी (चंद्रगुप्त का राजप्रासाद लकड़ी का था), कच्ची ईंटों और मिट्टी का प्रयोग होता था, किंतु शुंगकाल में उनके निर्माण में पत्थर का प्रयोग किया गया।
2. मौर्यकालीन कला का विषय राजकीय एवं धार्मिक था किंतु इसके विपरीत शुंगकालीन कला में लोकजीवन् के दर्शन होते हैं।[36] शुंगकालीन कलाकार का एकमात्र लक्ष्य मानवजीवन के ऐहिक स्वरूप का दिग्दर्शन है।[37]
3. शुंगकला भारतीय कला के विकास की एक कड़ी थी। मौर्यकाल में जिस स्तूप कला का श्रीगणेश हुआ, वह शुंगकाल में सांची, भरहुत, बोधगया के स्तूपों में विकसित हुई। अमरावती और नागार्जुनीकोण्डा के स्तूप भी महत्वपूर्ण हैं। इसके अतिरिक्त मौर्यकाल में शैलीत्कीर्ण स्थापत्य कला का जन्म हुआ था, किंतु शुंगकाल में यह कला भी पर्याप्त रूप में विकसित हुई। इनमें कार्ले, भाजा, नासिक और अजंता की कलापूर्ण गुफाएँ उल्लेखनीय हैं। शुंगकाल में मौर्यकालीन पाषाण स्तंभों की परंपरा भी बनी रही। विदिशा के गरुड़ध्वज विशेष महत्वपूर्ण हैं।
4. शुंगकाल तक बौद्धधर्म मुख्यत: हीनयानी था। अत: बौद्ध शिल्पकला में कहीं भी बुद्ध की मूर्ति का प्रदर्शन नहीं हुआ है। भगवान बुद्ध की उपस्थिति प्रतीकों (धर्मचक्र, छत्र, पदचिह्न, स्तूप आदि) द्वारा प्रदर्शित की गई है।
5. शुंगकाल के प्रारंभिक चरण में स्थापत्य में पत्र, पुष्प, लता का प्रयोग अधिक किया गया। मनुष्य और पशु आकृतियाँ भी इसी शैली में बनाई गईं। परिणामत: अभिप्राय (रिलीफ) की आकृतियाँ उभर नहीं पायी हैं, किंतु शुंगकाल के अन्तिम चरण में निर्मित कुछ मूर्तियाँ गहरी और उभरी होने के कारण स्वाभाविक लगती हैं।

कला के विभिन्न उपांग

इस काल की कला के तीन अंग विशेष महत्व रखते हैं – गिरि गुहाएँ, मूर्तिकला और स्तूप।

गिरि गुहाएँ

शुंग सातवाहन काल में शैलकृत (पत्थर की चट्टानों को काटकर) गुहाओं का निर्माण हुआ जिनका विवरण निम्नलिखित है :

उदयगिरि-खंडगिरि गुहाएँ

उड़ीसा में (भुवनेश्वर से पाँच मील उत्तर-पश्चिम) खण्डगिरि तथा उदयगिरि की पहाड़ियाँ हैं। खण्डगिरि की पहाड़ी में 16 (नवगिरिगुम्फा, देवसमा, अनत गुम्फा आदि) और उदयगिरि की पहाड़ी में 19 (रानीगुम्फा, गणेशगुम्फा, हाथीगुम्फा, व्याघ्रगुम्फा आदि) गुफाएँ हैं।

हाथीगुम्फा में ई. पू. दूसरी शताब्दी के मध्य एक विस्तृत ब्राह्मी लेख उत्कीर्ण है जिसमें कलिंगराज खारवेल के जीवन का वृत्तांत है। इन गुफाओं का निर्माण खारवेल के समय जैन साधुओं के निवास के लिये किया गया था। इन गुफाओं में रानीगुम्फा सबसे बड़ी है। इसमें दो तल हैं। प्रत्येक कक्ष में एक मध्यवर्ती कक्ष तथा आंगन है। आंगन के तीनों ओर कक्ष हैं।

पश्चिम भारत की बौद्ध गिरि गुफाएँ

पश्चिम भारत में सातवाहन और शकों के राज्यकाल में बौद्ध भिक्षुओं के निवास के लिए गिरिगुहाओं का निर्माण किया गया। पश्चिमी भारत की गिरिगुहाओं का काल ई. पू. दूसरी शताब्दी से लेकर सातवीं शताब्दी तक आँका गया है। ई. पू. दूसरी शताब्दी से लेकर दूसरी शताब्दी ईसवी तक पश्चिमी भारत में हीनयान और तीसरी शताब्दी से सातवीं शताब्दी तक महायान मत का प्राबल्य रहा। पश्चिमी भारत में काठियावाड़ की गुफाएँ सर्वाधिक प्राचीन मानी जाती हैं। इसके बाद बम्बई के आस-पास की गुफाएँ आती हैं, जिनमें भाजा, कोडन, विदिशा कार्ले और जुन्नर, नासिक, पीतलखोरा और अंजता की कुछ गुफाएँ प्रमुख हैं। तीसरा वर्ग कन्हेरी की गुफाओं का है।

प्रथम वर्ग की गुहाएँ

1. भाजा – कार्ले से चार मील दूर भाजा गुहाएँ हैं।[38] भाजा वास्तुकेन्द्र के अंतर्गत, विहार, चैत्य और स्तूप आते हैं। विहार का मुखमंडप लगभग 18 फुट लंबा और लगभग 9 फुट चौड़ा है। अंदर का मण्डप 16 फुट 7 इंच लंबा है। उसके तीनों ओर भिक्षुओं के निवास के लिए कक्ष निर्मित हैं। विहार के अंदर निर्मित कलात्मक प्रतिमाएँ बड़ी महत्वपूर्ण हैं। भाजा का चैत्यगृह बड़ा ही महत्वपूर्ण तथा उत्कृष्ट स्थापत्य का आकार प्रकार प्रस्तुत करता है। यह 55 फुट लंबा और 26 फुट चौड़ा है। इसके पास की वीथिका ढाई फुट चौड़ी है। चैत्यगृह में स्थित स्तंभ 11 फुट ऊंचे हैं। भूमितल से महराब की ऊंचाई 29 फुट है। अब भी समानांतर पंक्तियों में काष्ठ की कड़ियाँ हैं। स्तूप ठोस चट्टान द्वारा निर्मित है। स्तूप के चारों ओर लकड़ी की वेदिका थी। चैत्य का द्वार अथवा कीर्तिमुख भी काष्ठ से सजा था। चैत्यगृह से थोड़ी दूर पर 14 स्तूपों का एक समूह है। स्तूपों के अण्ड के ऊपरी भाग पर वेदिका निर्मित है।

2. कोडन – कार्ले चैत्यगुहा से दस मील उत्तर की ओर कोडन विहार और चैत्यगृह स्थित है। विहार का वास्तु विशेष महत्व रखता है।[39] बीच में स्तंभों पर आधारित बड़ा मण्डप है जिसके तीन ओर भिक्षुओं के निवास के लिए कक्ष हैं। यहाँ के चैत्य का मुखपट्टा पूर्णरूपेण भाजा के चैत्य की भांति है, जिसमें स्तंभ युक्त मुखमण्डप है। कुछ स्तंभ चट्टान काटकर बने हैं। अन्दर के गर्भगृह का आकार 66 फुट लम्बा और 26 फुट 6 इंच चौड़ा है।

दूसरे वर्ग की गुहाएँ

3. पीतलखोरा – पीतलखोरा की गुहाएँ (जिनकी संख्या 13 है) सात माला नामक पहाड़ी

पर अजंता से दक्षिण-पश्चिम 50 मील की दूरी पर स्थित हैं।[40] प्रमुख चैत्यगृह भाजा और कोंडन की ही तरह का है। ऊपर की महराब में लकड़ी की कड़ियां थीं किंतु अब उनके चिह्न मात्र शेष हैं। इस चैत्य में लकड़ी का प्रयोग घट गया और उसके स्थान पर पत्थर का प्रयोग बढ़ा।

4. अजंता - अंजता की वास्तुकला का विकास ई. पू. दूसरी शताब्दी से ईसा की सातवीं शताब्दी तक हुआ। प्रारंभ से लेकर दूसरी शताब्दी तक यह हीनयान मत और चौथी से लेकर सातवीं शताब्दी तक यह महायान मत का केन्द्र रहा। अजन्ता में सब मिलाकर 29 गुहाएँ हैं जिसमें चैत्यगृह और 25 विहार हैं।

अजन्ता की गुहा संख्या 10 का चैत्यगृह सबसे प्राचीन है। इसकी तिथि ई. पू. दूसरी शताब्दी आंकी गयी है। यह 96 फुट 6 इंच लंबा, 41 फुट तीन इंच चौड़ा और 36 फुट ऊंचा है। चैत्यगृह का मध्य भाग 59 सादे अष्टकोणीय स्तंभों के द्वारा वीथिका से पृथक् होता है। अर्धवृत्त में स्थित स्तूप अलंकृत है। अन्य चैत्यों की भांति इसमें भी लकड़ी का मुखपट्टा है।

अजन्ता की गुफा संख्या 9 का चैत्यगृह पहले से छोटा है और इसके मुखपट्ट में लकड़ी का ढांचा नहीं है। इसके मुखपट्ट के बीच में एक तोरण द्वार और दोनों पार्श्वों में खिड़कियाँ हैं। इसके ऊपर संगीतशाला है और उसके ऊपर चैत्यगृह का सर्वोत्कृष्ट भाग चैत्यवातायन है, जिसके द्वारा चैत्य में प्रकाश और वायु का प्रवेश होता है।

अजन्ता के विहारों में सबसे पुरानी गुहा संख्या 12 है जो चैत्यगृह संख्या 10 से सम्बन्धित है। यह वास्तुकला का सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत करता है। अन्दर का मण्डप 38 फुट वर्गाकार है जिसके दोनों ओर स्तंभों की कतारें हैं। मण्डप के तीनों ओर चार-चार कक्ष हैं। इसके बाद गुहा संख्या 13 का निर्माण हुआ। चैत्यगुहा संख्या 9 और विहार संख्या 8 का निर्माण साथ-साथ हुआ। यह गुहा हीनयान मत से सम्बन्धित है।

5. बेदसा - बेदसा का चैत्यगृह आकार में छोटा है। इसकी विशेषता यह है कि इसमें काष्ठ की अपेक्षा पत्थर का प्रयोग अधिक हुआ है। यहाँ चैत्यद्वार की जाली भी पत्थर की है। स्तंभ सीधे हैं किंतु थोड़े अंदर की ओर ढालू हैं। द्वार के पाखे समानांतर हैं। यहाँ के द्वार मंडप की प्रमुख विशेषता यह है कि उसमें दो विशालकाय स्तंभ हैं, जिनमें एक ओर हय संघाट और दूसरी ओर गज संघाट निर्मित है। मुखपट्ट का धरातल सलाका वातायन और जातक वातायन से ढँका हुआ है। चैत्यगृह के अंदर का आकार 45 फुट 6 इंच लंबा और 21 फुट चौड़ा है। महराबदार छत की घन्नियाँ पहले लकड़ी की थीं किंतु बाद में वे पत्थर की निर्मित की गईं। स्तंभों और स्तूप पर चित्रित फ्रेस्को पेंटिंग के चिह्न अब भी दृष्टिगत हैं। इस चैत्यगृह के निकट ही आयताकार विहार है। मण्डप के तीनों ओर चौकोर कक्ष हैं।[41]

6. कार्ले - कार्ले में एक विशाल चैत्यगृह और तीन विहार हैं। कार्ले की चैत्यगुहा बंबई-पूना सड़क से दो मील उत्तर की ओर स्थित है। यहाँ का चैत्यगृह अत्यंत सुंदर है और हीनयान चैत्यगृहों में सर्वोत्कृष्ट है।[42] इसमें वास्तु एवं शिल्पकला अपनी पूर्णता पर पहुँच गई है। इसके द्वार मण्डप पर अंकित एक अभिलेख के अनुसार यह चैत्यगुहा संपूर्ण जम्बूद्वीप में उत्तम है। कार्ले के चैत्यगृह के प्रमुख अंग हैं : 1. सिंह शीर्ष स्तंभ, सहित दो उत्तुंग स्तंभ, 2. स्तंभों पर

आधारित दुमंजिला मुखमंडप, 3. काष्ठ निर्मित संगीतशाला, जो मुख्यमंडप के मध्य में उभरी हुई है, 4. द्वार मंडप के पीछे की दीवार में एक विशाल चैत्य वातायन, 5. मण्डप का मध्य भाग, 6. पार्श्व में स्थित दो लंबी वीथिकाएँ (प्रदक्षिणा पथ), 7. अर्द्धचंद्राकार रूप में चैत्य का छोर, 8. गर्भगृह के बीचोंबीच में स्थित स्तूप, 9. 37 स्तंभों की दो पंक्तियाँ (15-15 स्तंभ दोनों ओर पंक्तियों में है और सात गर्भगृह के चारों ओर हैं, 10. संकलश महराबदार छत, 11. छत के नीचे लकड़ी की घन्नियां, 12. चैत्यगृह के अंदर और बाहर अंकित अनेक अभिलेख।

चैत्यगृह के मध्य में एक विशाल मण्डप है जो स्तंभ पंक्तियों के द्वारा वीथियों को पृथक् करता है। मण्डप 124 फुट लंबा और वीथियों सहित 45 फुट 6 इंच चौड़ा है। यहाँ की वीथियाँ अन्य चैत्यों की अपेक्षा अधिक विशाल और सुंदर हैं। अर्द्धचंद्राकार वृत्त गर्भगृह का रूप धारण करता है। इसी के मध्य में स्तूप स्थित है, जिसका अण्ड दो भागों में विभक्त है। दोनों भाग वेदिका द्वारा मेखला धारण किए हुए हैं। स्तूप के ऊपर हर्मिका स्थित है, जिसके चारों ओर वेदिका है। बीच में काष्ठ का छत्र है। चैत्यगुहा के अंदर 37 शिलायुक्त स्तंभ हैं, जो एक माला के रूप में हैं। इन स्तंभों का आधार पूर्ण घट है जो चौकियों पर रखे हैं। स्तंभों के बीच का भाग अष्टकोणीय है और शीर्ष औंधे पात्र की भाँति है। इसके ऊपर शीर्षफलक के रूप में शीर्षस्तंभ है, जो दो गज संघाटों पर आधारित है। गजों पर दंपति मूर्तियाँ आसीन हैं। चैत्य की ऊँचाई नीचे से ऊपर तक 45 फुट है।

7. जुन्नर - पूना से 48 मील उत्तर की ओर जुन्नर में लगभग 150 शैल गुहाएँ हैं, जिनमें 10 चैत्य और शेष विहार हैं। ये गुहाएँ ई. पू. दूसरी शताब्दी से ईसा की प्रथम शताब्दी तक के काल की आँकी गयी हैं। यहाँ के वास्तु में मूर्तियाँ नहीं हैं। यह हीनयान संप्रदाय का केन्द्र था।[43]

कुछ चैत्यगृह आयताकार हैं जिनकी छतें सपाट और मंडप स्तंभ रहित हैं। यह चैत्यगृह गोल आकृति का है। ऐसी आकृति का चैत्यगृह पश्चिमी भारत में नहीं मिलता। अधिकांश गुहाएँ सादी हैं। केवल कुछ गुहाओं में श्री लक्ष्मी, कमल, गरुड़, सर्प आदि का अलंकरण दृष्टिगत होता है। जुन्नर से पश्चिम में दो मील की दूरी पर कुल्या नामक एक गुहा समूह है। जुन्नर के चारों ओर तोरण सहित वेदिका थी।

8. नासिक - नासिक का प्राचीन नाम 'नासिक्य' है। यह गोदावरी के तट पर स्थित है। ई. पू. दूसरी शताब्दी में यह बौद्धधर्म का केंद्र था। यहाँ 17 गुहाएँ हैं, जिसमें केवल एक चैत्यगृह और शेष विहार हैं।[44] यहाँ के प्रारंभिक विहार हीनयानी हैं। पहला विहार नहपान, दूसरा गौतमी पुत्र शातकर्णि और तीसरा यज्ञश्री शातकर्णि के काल का है। चैत्यगृह जो पाण्ड़लेण कहलाता है, का निर्माण ई.पू. प्रथम शताब्दी में हुआ था। भीतरी मण्डप के स्तंभ सीधे हैं। मुख्य मंडप दुतल्ला और अलंकृत है, जिस पर अनेक ब्राह्मी लेख उत्कीर्ण हैं।

मूर्तिकला

जिस समय दक्षिण भारत में गिरिगुहाओं की परम्परा चल रही थी, उसी समय उत्तर भारत में मूर्तिकला की दो शिल्पशैलियों का विकास हो रहा था, एक शिल्पशैली का केन्द्र था मथुरा

और दूसरी शिल्पशैली का केन्द्र था गांधार। प्रथम मथुरा शैली और दूसरी गांधार शैली के नाम से विख्यात हुई। दोनों शैलियों में बुद्ध की पृथक्-पृथक् मूर्तियाँ निर्मित हुईं।

मूर्तिकला की मथुरा और गांधार शैली का प्रारंभ

ई. पू. प्रथम शताब्दी के लगभग मथुरा में मूर्तिकला की एक विशेष शैली का जन्म हुआ, जिसे मथुरा शैली कहते हैं। मथुरा के कलाकार बलुए लाल पत्थर का प्रयोग करते थे। प्रारंभ में उनको जैनधर्म से विशेष प्रेरणा मिली, अतः उन्होंने पद्मासन में ध्यानमग्न बैठे हुए दिगम्बर तीर्थंकरों की सुंदर मूर्तिया बनवाईं। किंतु मथुरा शैली की यक्षणियों की मूर्तियाँ सबसे उत्कृष्ट हैं जो एक स्तूप की वेष्टणी पर अंकित थीं। इन मूर्तियों की कामुकतापूर्ण भावभंगिमा उत्कृष्ट है। यह बात उल्लेखनीय है कि भरहुत, सांची और बोध गया में बुद्ध की मूर्तियों का अभाव है। केवल पदचिह्न, चक्र, रिक्त सिंहासन और पीपल का वृक्ष आदि प्रतीकों के द्वारा उनकी उपस्थिति को प्रदर्शित किया गया है। मथुरा के कलाकारों ने कुषाणकाल में प्रथम बार बुद्ध और बोधिसत्वों की प्रतिमाओं का निर्माण प्रारंभ किया।

पेशावर (अब पाकिस्तान) के आसपास के प्रदेश में, जो गांधार नाम से विख्यात है, ई. पू. प्रथम शताब्दी में मूर्तिकला की एक विशिष्ट शैली का जन्म हुआ, जिसे गांधार शैली कहते हैं। इस शैली का उत्कर्ष उस समय हुआ जब उक्त प्रदेश से बैक्ट्रिया के यूनानियों की सत्ता समाप्त हो चुकी थी। इस कला में विषयवस्तु भारतीय रही किंतु उन भावों की अभिव्यक्ति ग्रीक शैली में की गयी। गांधार कला का वास्तविक विकास कुषाण काल में हुआ और उसका विस्तृत विवेचन कुषाणकाल के अंतर्गत किया गया है।

शुंगकाल की मृण्मय मूर्तियाँ भी बहुत प्रसिद्ध हैं। कौशाम्बी में इस काल की अनेक मृण्मय मूर्तियाँ मिली हैं। खड़ी नारी-मूर्ति के बहुसंख्यक ठीकरे प्राप्त हुए हैं। कुछ मूर्तियों पर ऐतिहासिक कथाओं के अनेक चित्र भी मिले हैं। उदयन का वासवदत्ता अपहरण चित्र भी मिला है। मृण्मय चित्रों में पुष्पों का प्रचुर प्रयोग किया गया है।

स्तूप

शुंग राजाओं के शासनकाल में भरहुत, सांची और बोधगया के प्रसिद्ध बौद्ध स्तूपों का संस्कार हुआ है। इन स्मारकों में अनेक नवीन अंगों का संयोजन हुआ है।

भरहुत का स्तूप

सर एलेक्जेंडर कनिंघम ने 1873-74 में भरहुत (सतना जिला, मध्य प्रदेश) में एक स्तूप (जो पूर्णतः नष्ट हो गया था) की वेदिका और तोरण द्वार ढूँढ निकाले, जो अब संग्रहालय में सुरक्षित हैं। कुछ अन्य अवशेष भारत तथा विदेश के संग्रहालयों में सुरक्षित हैं।[45]

मूल स्तूप का निर्माण मौर्य सम्राट अशोक ने कराया था। शुंगकाल (ई. पू. दूसरी शताब्दी में) इसका विस्तार हुआ और स्तूप के चारों ओर पत्थर की एक परिवेष्टिनी वेदिका और चार तोरण द्वारों का निर्माण कराया गया।[46] परिवेष्टिनी के एक द्वार के लेख में, 'सुगन रजे' मिलता है।[47] स्तूप तथा परिवेष्टिनी के बीच 10 फुट 4 इंच चौड़ा प्रदक्षिणा पथ था। वेदिका में 7 फुट एक इंच ऊंचे 80 स्तंभ थे। जिनके ऊपर रखे हुए उष्णीषों की लम्बाई कुल मिला कर 330 फुट थी। वेदिका में स्तंभों के मध्य सूचियों और तोरण द्वारों के दोनों ओर ऊँचे स्तंभों पर तीन समांतर बड़ेरियां हैं। तोरणद्वार के स्तंभ अठपहलदार तथा चोपहलदार है जिनके शीर्ष पर सिंह और वृषभ प्रदर्शित हैं।

भरहुत से प्राप्त अवशेषों तथा शिलाओं पर उत्कीर्ण आकृतियों से विशाल स्तूप के स्वरूप का आभास होता है। यह स्तूप घण्टाकार था। स्तूप के अण्ड के ऊपर यष्टि और छत्र सहित चौकोर चौकी थी। पूर्वी तोरणद्वार पर उत्कीर्ण लेख से उनके निर्माण के इतिहास का पता चलता है।

भरहुत के तोरणद्वारों, स्तंभों, सूचियों एवं उष्णीषों पर सुन्दर शिल्पयुक्त चित्रण उपलब्ध है, जिनमें प्राकृतिक दृश्यों, जातकों की कहानियाँ तथा लोक जीवन का सफल चित्रण है। इसके अतिरिक्त लताओं, वृक्षों, पशु-पक्षियों तथा यक्ष-यक्षणियों का भी अंकन किया गया है। प्रमुख दृश्यों में मायादेवी का गर्भ धारण करना, धर्म यात्राएँ, पूजा दृश्य, देवी देवताओं के दृश्य, अजातशत्रु की धार्मिक यात्राओं के दृश्य, सुदत्त द्वारा जेतवन को क्रय करने का दृश्य आदि उल्लेखनीय हैं। इसके अतिरिक्त कुछ हास्य व्यंग्य के दृश्य हैं, यथा बन्दर का जंगली हाथी को पकड़ना और बन्दर तथा हाथी द्वारा यक्ष को सहायता देना। दैनिक जीवन के विविध अंगों का समुचित दिग्दर्शन किया गया है।[48] लगभग दो दर्जन जातक कथाओं के दृश्य भरहुतकला में अंकित हैं। यहाँ बुद्ध के प्रतीकों का अंकन है, उनकी मानव प्रतिमा का नहीं।

सर एलेक्जेंडर कनिंघम ने सर्वप्रथम सांची और उसके आसपास स्मारकों की खोज की थी।[49] मौर्य सम्राट अशोक ने यहाँ एक स्तूप और एकाश्म स्तंभ का निर्माण कराया था। ई. पू. दूसरी शताब्दी के मध्य में शुंग राजाओं के शासनकाल में यहाँ अनेक नवीन वास्तु का निर्माण और जीर्णोद्धार का बहुत काम हुआ है, यथा प्रथम अशोक के स्तूप का संवर्द्धन और उस पर पत्थर की शिलाओं का आवरण, दूसरे इस स्तूप का मूल, पीठ, सोपान मार्ग और हर्मिका के चारों ओर वेदिका का निर्माण, तीसरे मंदिर संख्या 40 का पुनर्निर्माण और चौथे वेदिकाओं सहित स्तूप संख्या दो और तीन का निर्माण। पांचवें, सातवाहन राजाओं के शासनकाल में स्तूप संख्या 1 और 3 में सजावट के तौर पर उत्कीर्ण अलंकारों वाले तोरणद्वार निर्मित किए गए।[50]

स्तूप संख्या एक

वर्तमान स्थिति में विशाल स्तूप के निम्नलिखित अंग हैं—चोटी पर त्रिगुण छत्रावली से सुशोभित अर्द्धगोलाकार अण्ड, चौकोर वेदिका से वेष्ठित एक भारी चौपहल संदूक (हर्मिका),

स्तूप के चारों ओर प्रदक्षिणार्थ ऊँची मेधि, जहाँ पहुँचने के लिए दक्षिण की ओर सोपानों की दो शृखलााएँ हैं, स्तूप के मूल में पृथ्वी की सतह पर वेदिका से घिरा हुआ प्रदक्षिणा पथ, जिसमें प्रवेश के लिए चारों दिशाओं में अलंकृत तोरणद्वार हैं। स्तूप का व्यास 120 फुट और अण्ड की ऊँचाई 54 फुट है।[51]

स्तूप के चारों ओर वेदिका और तोरणद्वारों का निर्माण द्वितीय शताब्दी ई. पू. के उत्तरार्द्ध में हुआ। वेदिका स्तंभों और सूचियों से निर्मित है। स्तंभों को समान अन्तर पर गाड़कर, इनके दोनों पार्श्वों में छिद्र किये गये। इन छिद्रों में चूलों वाली सूचियों को बिठाया गया है। वेदिका के सिरों पर भारी सिरदल उष्णीष रखे हैं। पीठ के बाह्य और माथों और सीढ़ियों की बेष्टिनियों पर एक पूर्ण और दो आधे फुल्ले कोरे गये हैं। इनके बीच पुष्प तथा पशु आकृतियाँ निर्मित हैं। इसके विपरीत स्तूप की सबसे नीचे वाली वेदिका और हर्मिका वेदिका सादी है। मूल की वेदिका तोरण द्वारों द्वारा चार भागों में विभक्त है। पूरी योजना देखकर लगता है कि पत्थर की वास्तुकला में लकड़ी की वास्तुकला की रूढ़ियों का प्रयोग हुआ है।

एक तोरणद्वार पर उत्कीर्ण लेख के अनुसार सातवाहन राजा सातकर्णि के स्थपति ने उसका निर्माण कराया था। तोरणद्वार अपनी कलात्मकता के लिए प्रसिद्ध है। प्रत्येक तोरणद्वार में दो चौपहल स्तंभ लगे हैं। जिनके शिखर पर चार सिंह, चार हाथी अथवा चार बौने (कीचक्र) अपनी खोपड़ी पर कुंडलाकार किनारों वाली तीन वक्र बड़ेरियों को उठाये हुए दिखाए गए हैं। चार चौकोर ब्लाकों से बड़ेरियों के बीच तीन-तीन स्तंभ और इनके मध्य रिक्त स्थान में हाथियों और अश्वों पर आरूढ़ मनुष्य निर्मित हैं। स्तंभों के शीर्षकों की चौकियों के अन्दर की ओर बढ़ी हुई शालभंजिकाओं की मूर्तियाँ हैं। जो सबसे नीचे की बड़ेरियों को अपने सिर पर उठा रही हैं। सबसे ऊपर वाली बड़ेरी के मध्य में तोरण द्वारों पर धर्मचक्र और अलंकृत त्रिरत्न के लक्षण हैं। धर्मचक्र के दोनों ओर चामर लिये हुए यक्ष मूर्तियाँ हैं। त्रिरत्न बुद्ध, धर्म और संघ का प्रतीक है। तोरणद्वारों के रिक्त स्थान पर उभरवां उकेरी में अनेक दृश्य और अलंकरण दिखाए गए हैं। तोरणद्वारों पर उत्कीर्ण अलंकरण अभिप्राय: (रिलीफ) निम्नलिखित वर्गों में विभक्त हैं–

1. **जातक कथाओं का दृश्य :** जातक कथाएँ बुद्ध के पूर्व जन्मों से सम्बन्ध रखती हैं। भरहुत की अपेक्षा सांची के तोरणों पर जातक कथाओं के कम चित्र हैं। सांची के तोरण पर केवल पांच जातक कथाओं के चित्र पहचाने गये हैं - छद्दंत जातक (संख्या 514); महाकपि जातक (संख्या 407), बेस्संतर जातक (संख्या 547), अलंबुसा जातक (संख्या 523) और साम जातक (संख्या 540)।

2. **बुद्ध के जीवन की घटनाएँ :** बुद्ध के जन्म का संकेत कमल और कमल पर खड़ी या बैठी स्त्रीमूर्ति से किया गया है, जिसे कुछ में हाथी स्नान करा रहे हैं। संबोधि का प्रदर्शन अश्वत्थ वृक्ष के नीचे वज्रासन में किया गया है। बुद्ध के प्रथम प्रवचन (धर्मचक्र प्रवर्तन) का निर्देश स्तंभ पर प्रतिष्ठित चक्र से किया गया है। बुद्ध के परिनिर्वाण का लाक्षणिक

प्रदर्शन स्तूप से किया गया है। बुद्ध की अन्य घटनाओं में से निम्नलिखित का सफल अंकन हुआ है। माया का स्वप्न और गर्भ धारण करना, रथयात्रा, महाभिनिष्क्रमण, बुद्ध के केशों की पूजा, सुजाता की भेंट, मार द्वारा प्रलोभन और चमत्कार, कपिलवस्तु में आगमन, श्रावस्ती का चमत्कार, सांकाश्य का चमत्कार और बन्दर द्वारा बुद्ध को मधु की भेंट आदि।

3. **बौद्धधर्म के इतिहास की घटनाएँ :** इनमें धातुओं (अस्थि अवशेषों) का बँटवारा, रामग्राम का स्तूप और बोधि द्रुम के दर्शन के लिए अशोक का आगमन का सफल चित्रण हुआ है।

4. **मानुषी बुद्ध :** सांची के कलाकारों ने बुद्ध से पहले के छः मानुषी बुद्धों को सांकेतिक रूप से सामूहिक और व्यक्तिगत रूप में दिखाया है।

5. **विविध दृश्य और अलंकरण :** इन दृश्यों में कुछ ऐसे हैं जो बुद्ध के जीवन की किसी ज्ञात घटना से सम्बन्ध न रखने पर भी धार्मिक महत्त्व के अवश्य हैं। जैसे बुद्ध के प्रतीक रिक्त सिंहासन या स्तूप की पूजा न केवल मनुष्य और देवता ही वरन् पशु भी करते हैं। इसके अतिरिक्त कुछ सांसारिक दृश्य हैं जिनमें स्त्री-पुरुष स्वच्छंद विहार करते हुए दिखाये गए हैं। कुछ नयनाभिराम पुरुषों के अभिप्राय हैं, जिन्हें बड़ी कुशलता एवं कोमलता से उकेरा गया है।

स्तूप संख्या दो

यह स्तूप प्रथम स्तूप से उत्तर-पूर्व में लगभग 50 मीटर की दूरी पर स्थित है। यह छोटा स्तूप है जिसका व्यास 49 फुट छः इंच है और जो चबूतरे पर स्थित है। इसके भीतर कुछ बौद्धाचार्यों एवं धर्म प्रचारकों के अस्थि अवशेष हैं। इसकी बनावट प्रथम स्तूप की भांति है। स्तूप के चारों ओर मूल की वेदिका पर कमल के पुष्प उकेरे गये हैं। इस स्तूप पर केवल एक ही छत्र चढ़ा था। सोपान, पीठ और हर्मिका की वेदिकाओं सहित यह वास्तु स्तूप संख्या एक के पुनर्निर्माण के बाद निर्मित हुआ था। (ई. पू. दूसरी शताब्दी) तिथि का समर्थन उत्कीर्ण लेखों से होता है। इस पर निर्मित उभारदार चित्र स्तूप संख्या एक पर बने चित्रों से बहुत कुछ मिलते-जुलते हैं।

स्तूप संख्या तीन

यह स्तूप संख्या-1 के उत्तर-पूर्व की ओर स्थित है। इसका महत्व यह है कि कनिंघम को इस स्तूप में बुद्ध के प्रमुख शिष्य सारिपुत्र और मोदगलायन की अस्थियाँ प्राप्त हुई थीं। इस स्तूप का व्यास 49 फुट 6 इंच और 35 फुट 4 इंच है। इस स्तूप में केवल एक द्वार है। इसका निर्माण ऊपर उल्लिखित स्तूपों के बाद में हुआ था। मुख्य कलाकृतियों में माला पहने इन्द्र, नागराज, गज लक्ष्मी और देवसभा के दृश्य उल्लेखनीय हैं।

अर्द्धवृत्तीय मंदिर

सांची में शुंग सातवाहनकालीन दो मंदिरों के (संख्या 18 और 40) अवशेष प्राप्त हुए हैं। इनकी कला कार्ले के शैलगृहों की तरह है।

बोध गया

बोध गया बौद्धधर्म के महान केन्द्रों और तीर्थस्थलों में से है। प्रारंभ में यहाँ एक स्तूप था, जो नष्ट हो गया है। शुंग सातवाहनकालीन परिवेष्टनी के अवशेष आज भी संरक्षित हैं। यह वेदिका भरहुत सांची की वेदिका के समान है। बोध गया का वास्तु भरहुत की प्रारंभिकता और सांची की परिपक्वता की पराकाष्ठा की कड़ी लगता है।

बोध गया की वेदिका पर ब्राह्मी लेख उत्कीर्ण है। वेदिका में कुल 64 स्तंभ थे। (ऊँचाई छः फुट आठ इंच)। स्तंभों के नीचे दो फुट 2 इंच का आधार और ऊपर एक फुट 2 इंच ऊँचे उष्णीष थे, जिन पर कमल पुष्पों के सुन्दर अलंकरण हैं। वेदिका पर जातक कथाओं और बुद्ध के जीवन के कतिपय दृश्य उत्कीर्ण हैं। इसके अतिरिक्त शिलापट्टों पर गजलक्ष्मी, मिथुन, कल्पवृक्ष, चक्र, यक्ष-यक्षिणी और गंधर्व आदि के चित्रण हुए हैं। सिंह, अश्व, हाथी, मकर, नरमत्स्य आदि का सजीव चित्रण हुआ है। भरहुत की अपेक्षा बोधगया की कला अधिक विकसित है। यहाँ की आकृतियाँ भावपूर्ण हैं, उनमें गहराई, उभार, स्पष्टता और संबद्धता अधिक है।

कुषाणकालीन स्थापत्य कला

कुषाण काल में अनेक धर्मों का विकास हुआ और उन धर्मों के स्मारकों का बहुसंख्या में निर्माण हुआ। अशोक की भांति कनिष्क ने बौद्धधर्म के प्रचार के लिए अनेक बौद्धस्तूप और विहार निर्मित कराये थे। उनकी अपनी राजधानी पुरुषपुर (पेशावर, अब पाकिस्तान) में 13 मंजिल की 400 फुट ऊँची मीनार निर्मित करायी थी। मीनार के ऊपर लोहे का एक छत्र था। इसी मीनार के निकटस्थ शिक्षाकेन्द्र के रूप में एक प्रसिद्ध संघाराम निर्मित कराया था। चीनी यात्रियों तथा इतिहासकार अलबरूनी ने इस संघाराम के ध्वंसावशेष का वर्णन किया है।

अनेक स्तूपों का उल्लेख चीनी यात्रियों ने किया है। स्तूपों के साथ-साथ मथुरा, तक्षशिला आदि स्थानों में अनेक विहार भी निर्मित किए गए थे। शककुषाण काल में अनेक ब्राह्मण मंदिरों का निर्माण हुआ इनमें सर्वाधिक प्राचीन मंदिर शकराज शोडासकालीन है। इसकी जानकारी मथुरा से प्राप्त एक अभिलेख से हुई। यह मंदिर संभवत उसी स्थान पर निर्मित था, जहाँ भगवान कृष्ण का जन्म माना जाता है। इसके अतिरिक्त ब्राह्मण देवी-देवताओं की अनेक मूर्तियाँ मिली हैं। लोगों का अनुमान है कि ये मूर्तियाँ उक्त मंदिर की हैं। स्थापत्य के अधिक नमूने उपलब्ध नहीं हैं। किंतु अवशेषों के रूप में जो सामग्री उपलब्ध हुई है, उससे कुषाणकालीन निर्माण शैली का कुछ आभास मिलता है।

गुप्तकालीन स्थापत्य कला

कला के क्षेत्र में गुप्तकाल अपनी उत्कृष्टता की चरमसीमा पर पहुँचा गया। कला दो प्रकार की मानी गयी है[52] – स्थित और गतिशील। स्थित कला के अंतर्गत स्थापत्य कला, शिल्पकला और चित्रकला आते हैं। गतिशील कला में गति, आरोह-अवरोह तथा भाव व्यंजना का बाहुल्य रहता है। नृत्य, संगीत और नाटक आदि इसके अंतर्गत आते हैं। किसी देश की कला को देखने से ही उस देश के मनुष्यों की मनोवृत्तियों एवं मनोभावों का पता चलता है। गुप्तकाल की कला के अंगों का विवरण निम्नलिखित है :

स्थापत्य एवं वास्तुकला

गुप्तकाल की वास्तुकृतियों में मंदिरों के निर्माण का ऐतिहासिक महत्व है। गुप्तकाल तक आते-आते हिन्दुओं ने निर्गुण और निराकर ईश्वरोपासना के स्थान पर सगुण एवं साकार ईश्वरोपासना को अधिक लोकप्रिय बना दिया था। गुप्तकाल तक अवतारवाद का सिद्धान्त समाज में भली-भांति प्रतिष्ठित हो चुका था। इस काल में मूर्तियों का निर्माण बहुसंख्या में हुआ और मंदिरों का विकास किया गया।

गुप्तकालीन भवन निर्माण कला की दो प्रमुख विशेषताएँ थीं। एक तो विदेशी प्रभाव से मुक्त होकर मौलिक रूप से भारतीय कला का विकास हुआ। इसके अधिकांश उदाहरणों में ईंटों के स्थान पर पत्थरों का प्रयोग किया गया। दूसरे उन्होंने सौन्दर्य प्रदर्शन और अलंकरण में विदेशी प्रभाव को हटाकर भारतीय अभिभावों का प्रयोग किया। गुप्तकाल में निर्मित वास्तुकला के अधिकं उदाहरण उपलब्ध नहीं हैं। गुप्तकालीन वास्तुकला के पाँच प्रकार उपलब्ध हैं–

गृह, मंदिर, स्तूप, विहार और स्तंभ

1. गुहावास्तु

देश के प्राचीनतम गुहामंदिर तीसरी शताब्दी ईसापूर्व में निर्मित हुए थे। ब्राह्मण धर्म के प्राचीनतम गुहामंदिर गुप्तकाल में निर्मित हुए। ये भिलसा (मध्यप्रदेश) के समीप उदयगिरि की पहाड़ियों में स्थित हैं। गुहावास्तु श्रम एवं अर्थ साध्य है। ये गुहाएँ चट्टानें काटकर निर्मित हुई थीं।[53] इनमें से दो गुहाओं में चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के अभिलेख उत्कीर्ण हैं।[54] गुहा के द्वार स्तंभ तथा बाहर की दीवारों पर मूर्तियाँ निर्मित हैं। द्वार के दोनों ओर चार द्वारपालों की प्रतिमाएँ बनी हैं। चौखट के ऊपरी भाग में गंगा और यमुना की मूर्तियाँ अंकित हैं। गुहा के बाईं और वराह अवतार की एक विशाल मूर्ति निर्मित है। उदयगिरि के अतिरिक्त अजंता, ऐलोरा और औरंगाबाद और बाघ की कुछ गुफाएँ भी गुप्तकालीन हैं।

अजंता में कुल 29 गुफाएँ हैं। उनमें से 5 ईसा पूर्व की शताब्दियों की हैं कुछ अन्य भी गुप्तकाल से पहले की हैं। गुप्तकालिक गुहाओं में दो (19 और 26) चैत्य और शेष विहार हैं। इन विहारों में प्राचीनतम विहार 11, 12 और 13 कहे जाते हैं (समय लगभग 400 ई.)। 16

और 17 विहारों का समय 500 ई. है और एक तथा दो छठी शताब्दी के माने जाते हैं। गुफाओं के स्तंभों की सुन्दरता अनुपम है। 16वें और 17वें गुफा की ख्याति चित्रों के कारण है। सातवीं शती के मध्य अंजता में गुफा निर्माण समाप्त हो गया।

एलोरा में बौद्ध, ब्राह्मण और जैनधर्म की गुफाएँ हैं। बौद्ध गुफाएँ अन्य दोनों धर्मों की गुफाओं से पूर्व की हैं। संख्या एक से बारह तक की गुफाएँ बौद्धधर्म की हैं। इनका निर्माणकाल 550 से 750 ई. के मध्य माना गया है। इन बारह गुफाओं में केवल 5 गुप्तकालिक हैं। पाँचवीं गुफा के अतिरिक्त अन्य सभी गुफाएं अजंता की गुफा विहारों के समान वर्गाकार हैं। केवल पाँचवीं गुफा ही आयाताकार है। औरंगाबाद में केवल 12 गुफाएँ हैं, जिनमें एक चैत्य और शेष विहार हैं। चैत्य का काल निर्धारण तीसरी शताब्दी और विहारों का छठी शताब्दी किया गया है। ये सभी अजंता की गुफाओं के समान हैं किंतु उनकी अपेक्षा कम आकर्षक हैं। बाघ में 9 गुफाएँ हैं जो सभी विहार हैं। अनुमानतः उनका निर्माण पाँचवीं और छठी शताब्दी ई. के लगभग हुआ होगा।[55] मंदागिरि नाम पहाड़ियाँ भागलपुर (विहार जिला) में स्थित हैं। यहाँ विष्णु का एक भग्न मंदिर है उसी के निकट एक गुफा है जिसमें सिंह[56], वामन, मधु और कैटभ की मूर्तियाँ हैं। इसमें चौथी, पाँचवीं शताब्दी की गुप्तकालिक ब्राह्मी लिपि में एक अभिलेख अंकित है जिसमें तिथि भी उल्लिखित है।[57]

2. मंदिर

गुप्तकाल में ब्राह्मण धर्म का पुनरुत्थान हुआ। धार्मिकता के कारण देवताओं के मंदिरों का निर्माण होने लगा था। यद्यपि भिन्न-भिन्न मंदिरों में भिन्न देवताओं की मूर्तियाँ स्थापित की गयी थीं परन्तु उन सबकी कला में साम्य दिखायी पड़ता है।[58] इन मंदिरों की निर्माण शैली, सज्जा आदि के आधार पर इनकी निम्नलिखित विशेषताएँ हैं–

1. मंदिरों का निर्माण ऊँचे चबूतरों पर हुआ है।
2. चबूतरे पर चढ़ने के लिए चारों ओर सीढ़ियाँ हैं।
3. प्रारंभ में मंदिरों की छतें चपटी होती थीं (सपाट) किंतु बाद में शिखरों का निर्माण प्रारंभ हुआ।
4. मंदिरों की बाहरी दीवारें सादी होती थीं। उन पर किसी प्रकार का अलंकरण नहीं होता था।
5. मंदिर के भीतर गर्भगृह होता था, जिसमें मूर्ति की स्थापना होती थी। साधारणतः गर्भगृह में एक अलंकृत द्वार होता था। द्वारस्तंभ पर गंगा और यमुना की मूर्तियाँ अंकित होती थीं।
6. गर्भगृह के चारों ओर प्रदक्षिणापथ रहता था जो छत से आवृत होता था।
7. मंदिर की छत चार अलंकृत स्तंभों पर टिकी होती थी। स्तंभों के शीर्ष भाग पर

एक-एक वर्गाकार पाषाण खण्ड रखा जाता था। प्रत्येक पाषाण खण्ड पर चार-चार सिंह एक दूसरे से पीठ सटाये हुए आधे बैठे दिखाये जाते थे।

8. मंदिर के आगे बहुधा एक द्वार मण्डप होता था, जो स्तंभों पर आश्रित रहता था।

गुप्तकालीन मंदिरों की वास्तुकला को ध्यान में रखकर उनका दो श्रेणियों में वर्गीकरण किया गया है[59] – प्रारंभिक गुप्तकालीन (319-350 ई.) मंदिर, जिनमें भूमरा के नचना के मंदिर आते हैं। इनकी छतें सपाट हैं। दूसरे उत्तर गुप्तकालीन (351-603 ई.) मंदिर जिसमें देवगढ़ (जिला ललितपुर) का मंदिर आता है। यह मंदिर शिखरयुक्त है।[60]

गुप्तकाल के अभिलेखों में भी अनेक मंदिरों का उल्लेख है। गुप्तकालीन प्रमुख मंदिर निम्नलिखित हैं :

एरण के वैष्णव मंदिर

विष्णु और वराह के मंदिरों में सपाट छत, गर्भगृह और स्तंभों पर आधृत द्वार मण्डप हैं। एरण के वर्तमान विष्णु मंदिर का पुनरुद्धार गुप्तकाल के बाद हुआ।[61]

भूमरा का शिव मंदिर

सतना (मध्य प्रदेश) में भूमरा नामक स्थान पर शिवमंदिर का निर्माण पाँचवीं शताब्दी के लगभग मध्यकाल में हुआ।[62] इस मंदिर का केवल गर्भगृह विद्यमान है। इसके चारों ओर का चबूतरा प्रदक्षिणा पथ का द्योतक है। गुप्तकालीन मंदिरों के प्रायः सभी लक्षण इसमें विद्यमान हैं। द्वारस्तंभ के दाएं-बाएं गंगा और यमुना की मूर्तियाँ अंकित हैं। मंदिर में एकमुखी शिवलिंग की मूर्ति स्थापित है। इसके गर्भगृह का प्रवेश द्वार और मण्डप प्रारंभिक गुप्तकालीन मंदिरों की अपेक्षा अधिक अलंकृत है।

नचना का पार्वती मंदिर

भूमरा के समीप (प्राचीन अजयगढ़ राज्य में) यह मंदिर स्थित है। इस स्थान पर दो मंदिर हैं किंतु पार्वती मंदिर पहले का है और दूसरा सातवीं शताब्दी का है। पार्वती मंदिर की साधारण योजना भूमरा मंदिर के समान है किंतु यह दुमंजिला है और इसमें अलंकरण न्यून कोटि का है।

देवगढ़ का दशावतार मंदिर

ललितपुर जिला में बेतवा नदी के तटपर स्थित देवगढ़ में एक ध्वस्त विष्णु मंदिर है।[63] इसमें अनंतशायी विष्णु की प्रतिमा है। मंदिर की जगतीपीठ ऊंचे चबूतरे पर है। चबूतरे के चारों ओर साढ़े पन्द्रह फुट लंबी सीढ़ियाँ हैं। राखालदास बनर्जी का अनुमान है कि गर्भगृह के चारों ओर ढका प्रदक्षिणा पथ रहा होगा।[64] गर्भगृह बाहर से वर्गाकार साढ़े अठारह फुट और भीतर से पौने

दस फुट है। उसके चारों ओर की दीवारें तीन फुट सात इंच मोटी हैं। भूमरा की तरह ही इसके द्वार हैं। इस मंदिर का विशेष महत्व इसलिए है कि इसमें शिखर है जो संभवतः भारत में शिखर का सबसे प्राचीन उदाहरण है। उससे परवर्ती काल के मंदिरों में सपाट छत का स्थान शिखर लेने लगता है।

भीतरगाँव का मंदिर

कानपुर जिला में कानपुर नगर से लगभग दक्षिण में भीतरगाँव[65] स्थित है, जहाँ गुप्तकालीन एक भव्य मंदिर है। यह ईंटों का प्राचीनतम शिखरयुक्त मंदिर है। यह मंदिर एक ऊँचे चबूतरे (जगती पीठ) पर निर्मित है। इसकी तीन ओर की बाहरी दीवारें बीच में आगे की ओर निकली हुई हैं। पूर्व की ओर सामने ऊपर जाने की सीढ़ियाँ और द्वार हैं, द्वार के भीतर मण्डप है और फिर उसके आगे गर्भगृह में जाने का द्वार है। गर्भगृह के ऊपर एक कमरा है। मंदिर की छत शुण्डाकार है। इसकी बाहरी दीवारों को देवी-देवताओं की मूर्तियाँ से सजाया गया है।

तिगवा का मंदिर

जबलपुर जिला (मध्य प्रदेश) में तिगवा स्थान पर ऊँचे टीले पर एक मंदिर स्थित है। कनिंघम के मतानुसार उस स्थान पर दो मंदिर थे, एक सपाट छत वाला और दूसरा आमलकयुक्त शिखर वाला। यह उदयगिरि के गुप्त मंदिर के समान है। कनिंघम ने इसे पाँचवीं शताब्दी का माना है।[66] काष्ठ के उपकरण का पत्थर में अनुकरण, वस्तु की प्रारंभिक व्यवस्था की ओर संकेत करता है। बचे हुए वर्तमान मंदिर का गर्भगृह वर्गाकार आठ फुट है। उसके भीतर नृसिंह की मूर्ति प्रतिष्ठित है।

सांची का मंदिर

सांची के महास्तूप के दाहिनी ओर एक छोटा सा गुप्तकालीन सपाट छतों वाला मंदिर है और चार स्तंभों पर आधृत है। इसमें द्वारमण्डप है। स्तंभों के अतिरिक्त भवन में कहीं भी अलंकरण नहीं है।[67] यह भीतर से वर्गाकार 8 फुट 2 इंच और बाहर से 20 फुट लंबा और पौने तेरह फुट चौड़ा है।

उदयगिरि का मंदिर

विदिशा से 34 मील उत्तर की ओर उदयगिरि में सांची के मंदिर के समान एक गुप्तकालिक मंदिर है। इसमें भी गर्भगृह और मण्डप है। छत सपाट है।[68]

मुकुन्द दर्रा मंदिर

कोटा (राजस्थान) में एक पहाड़ी दर्रे के अंदर मुकुंद दर्रा नामक एक छोटा-सा मंदिर है। इसकी छत सपाट है। स्तंभों पर आधृत मण्डप है। मण्डप से लगभग चार फुट हटकर तीन ओर दो-दो अर्ध स्तंभ हैं। उन पर शीर्ष, शीर्ष पर सिरदल और सिरदल पर कमल अंकित चौकोर पत्थर रखे हैं। मंदिर के चारों ओर प्रदक्षिण पथ है, अर्धमण्डप भी है।[69] इसे गुप्तकाल के प्रारंभ का मंदिर माना जाता है।[70]

शंकरमढ़ का मंदिर

तिगवा (जबलपुर) से तीन मील पूरब की ओर कुण्डा नामक ग्राम में एक लाल पत्थर द्वारा निर्मित छोटा-सा शिवमंदिर है, जो शंकरमढ़ के नाम से पुकारा जाता है। यह लम्बे पत्थर द्वारा निर्मित है जिसमें चूने या गारे का प्रयोग नहीं किया गया है। इसे प्रारंभिक गुप्तकालिक माना गया है।[71]

ऐइहोलि का मंदिर

महाराष्ट में बीजापुर जिला के अंतर्गत ऐइहोलि में एक गुप्तकालिक मंदिर है।[72] इसकी बनावट अन्य गुप्त मंदिरों से मेल खाती है। यहाँ गंगा और यमुना की मूर्तियाँ अंकित हैं।

कहोम (कहाँव) का मंदिर

देवरिया जिला में कहाँव नामक स्थान पर जैन ध्वज स्तंभ के निकट एक गुप्तकालीन मंदिर है। यह भीतरगांव और बोधगया के मंदिरों के समान है।[73] कनिंघम ने भी मंदिर के ध्वंसावशेष का उल्लेख किया है। उसका गर्भगृह केवल नौ वर्गफुट है और उसकी दीवार डेढ़ फुट मोटी है।[74]

अहिच्छत्र का मंदिर

अहिच्छत्र (जिला बरेली) में उत्खनन के फलस्वरूप एक शिवमंदिर के अवशेष मिले हैं। मंदिर का निर्माण अनेक तल्लों की पीठिका पर हुआ था और पीठिका का प्रत्येक तल अपने ऊपर के चौकोर स्वरूप के चारों ओर प्रदक्षिणा पथ का कार्य करता था।[75] पुराविदों का अनुमान है कि वहाँ एक शिवलिंग स्थापित रहा होगा। सीढ़ियों और गंगा यमुना की मूर्तियों के चिह्न मिले हैं। इसे 450 और 650 ई. के बीच का माना गया है।

पवाया का मंदिर

अहिच्छत्र के समान ही तीन तल्लों का ईंटों का निर्मित एक चौकोर वास्तु पद्मावती (पवाया) से प्रकाश में आया है। नीचे तल्ले का ठोस भाग सादा है। ऊपरी तल्लों के बाहरी भाग

अनेक फलकों एवं अर्धस्तंभों से अलंकृत थे और उनके ऊपरी भागों में गवाक्षों की कतार थी। तलों के ऊपर गर्भगृह के होने का अनुमान किया जाता है और नीचे के तल प्रदक्षिणा पथ का काम करते थे। संभवतः यह विष्णु मंदिर था।[76]

महाबोधि मंदिर

बोध गया के महाबोधि मंदिर को चीनी यात्री हुएनसांग ने देखा था। इसमें गवाक्षों की अनेक पंक्तियाँ थीं, जिनमें बुद्ध की मूर्तियाँ रखी थीं।[77] भीतरगाँव के मंदिर की भाँति यह भी ईंटों द्वारा निर्मित था। इसमें भी शिखर, गवाक्षों की पंक्तियाँ, ऊपर कमरे और द्वार के सिरे वृत्ताकार थे।[78]

इन मंदिरों के अतिरिक्त गुप्तकालीन मंदिरों के समान नालंदा और कुशीनगर आदि स्थानों में भी गुप्तकालीन सरीखे मंदिर बने थे।

3. स्तूप और विहार

स्तूपों का सम्बन्ध बौद्धधर्म से अधिक था। ये मूलतः भगवान बुद्ध के शरीर के अवशेष (अस्थि एवं भस्म) पर निर्मित होते थे। सारनाथ का धमेख स्तूप गुप्तकाल का है। इसकी खुदाई में कनिंघम महोदय को एक लेख मिला है[79], जिससे इसका गुप्तकालिक होना सिद्ध होता है। धमेख स्तूप के प्रस्तर पर अंकित कलाकृतियाँ भी गुप्तकला का उत्कृष्ट नमूना प्रस्तुत करती हैं।[80] इसी आकृति का एक दूसरा स्तूप राजगृह में है, जो 'जरासंध की बैठक' के नाम से विख्यात है। यह भी संभवतः गुप्तकालिक है।

विहार में भिक्षु लोग निवास करते थे। गुप्तकालीन विहारों के भग्नावशेष सारनाथ (वाराणसी) और नालंदा (पटना) में उपलब्ध हैं। सारनाथ के विहार नं. 3 और 4 से प्राप्त सामग्री तथा गवाक्ष से सिद्ध होता है कि ये गुप्तकालीन विहार थे।[81] हुएनसांग का कथन है कि नालन्दा में गुप्त राजाओं ने विहार निर्मित कराये थे[82] जो भिक्षुओं के निवास ही न थे, अपितु वहाँ उच्च शिक्षा भी दी जाती थी।

4. राजप्रासाद

यद्यपि गुप्तकालीन राजप्रासादों के भग्नावशेष आज उपलब्ध नहीं हैं, तथापि साहित्य में उनका उल्लेख मिलता है। कालिदास के ग्रन्थों से पता चलता है राजप्रसाद का निर्माण विशाल स्तर पर होता था। इसमें चित्रशाला, संगीतशाला, नाट्यशाला आदि विविध शालाएँ होती थीं कालिदास ने नगरों की अट्टालिकाओं का भी वर्णन किया है। इनकी छतें स्तंभों पर आधृत होती थीं, वे प्रायः सपाट होती थीं। स्तंभ अलंकृत और राजमहल सज्जायुक्त होते थे। मृच्छकटिक की वसन्त सेना के महल की सज्जा का विस्तृत वर्णन है।[83] मंदसौर की प्रशस्ति में लिखा है कि दशपुर के महल कैलासशिखर के समान ऊंचे थे।[84] राजप्रासाद का भीतरी भाग अन्तःशाला

कहलाता था जिसमें अन्तःपुर और शयनागार होते थे, तथा बाह्य भाग में विद्वानों से मिलने और विचारविमर्श के लिए अग्निगृह, सभागृह, न्यायगृह तथा सहन आदि होते थे। महल के चारों ओर अथवा मुख्यद्वार से संलग्न प्रमोद बन होते थे। पशुओं का संग्रहालय, तालाब, बावली आदि भी वहीं होते थे और उसी से संलग्न अश्वशालाएं, गजशालाएँ आदि होती थीं।

5. स्तंभ

मौर्यसम्राट अशोक के स्तंभों की परम्परा गुप्तकाल में भी चलती रही। किंतु गुप्त स्तंभों की रचना का कारण धर्म प्रचार न था। डा. आचार्य ने गुप्त कालीन[85] स्तंभों को निम्नलिखित भागों में विभक्त किया है – कीर्ति स्तंभ, ध्वज स्तंभ, स्मारक स्तंभ और सीमा स्तंभ।

कीर्ति स्तंभ

समुद्रगुप्त की दिग्विजय का विवरण मौर्य सम्राट अशोक के इलाहाबाद स्तंभ पर अंकित है।[86] इसमें समुद्रगुप्त की कीर्ति का वर्णन किया गया है। कहांव का स्तंभ स्कंदगुप्त की कीर्ति का उल्लेख करता है।[87]

ध्वज स्तंभ

गुप्तवंशीय राजा वैष्णव धर्मानुयायी थे उनकी उपाधि परम भागवत थी। इसी कारण उनके ध्वज, सिक्कों और प्रस्तर स्तंभों पर विष्णु के वाहन गरुड़ की मूर्ति अंकित मिलती है।[88] गुप्तसम्राट बुद्धगुप्त के काल में सामंत मातृविष्णु और धन्यविष्णु ने भगवान जनार्दन का एक ध्वज स्तंभ एरण में निर्मित कराया था जो आज भी विद्यमान है।[89] दिल्ली के निकट महरौली गांव में कुतुबमीनार के पास लोहे का स्तंभ खड़ा है, जिसे गरुड़ ध्वज कहा गया है।

स्मारक स्तंभ

गुप्त राजाओं ने कुछ विशिष्ट अवसरों की घटनाओं को चिरस्थायी बनाने के लिए लेख उत्कीर्ण कराये थे। कुमारगुप्त प्रथम ने स्वामी महासेन के मंदिर के स्मारक के रूप में विलसद में एक स्तंभ का निर्माण कराया था।[90] सम्राट स्कंदगुप्त ने भितरी (जिला गाजीपुर) में भगवान विष्णु की मूर्ति स्थापना में एक स्तंभ निर्मित कराया था।[91] गुप्त नरेश भानुगुप्त का सेनापति गोपराज एरण के युद्ध में मारा गया था, जिसके स्मारक स्वरूप एक स्तंभ गुप्त नरेश ने निर्मित कराया था।

तक्षण कला (शिल्प कला)

गुप्तकालीन तक्षण कला ने भारतीय कला में नवयुगारंभ उपस्थित किया। गुप्त मूर्तिकारों ने विदेशी प्रभावों को त्यागकर भारतीय परंपरावादी शैली को अपना आधार बनाया। गुप्त कलाकारों की प्रतिभा अपूर्व थी। कला की स्वाभाविकता, अंग सौन्दर्य, आकार-प्रकार एवं सजीव

रचनाकौशल प्रशंसनीय है। विवेक एवं सौन्दर्य से अनुप्राणित होने के कारण गुप्तकालीन शिल्प कला अद्वितीय है। सौन्दर्य एवं भावों की अभिव्यक्ति की दृष्टि से गुप्तकालीन शिल्प कला पराकाष्ठा तक पहुँच गयी है। गुप्तकालीन शिल्पी रूढ़िवादिता से जकड़ा नहीं है। कला में लावण्य और लालित्य का सम्मिश्रण है। मूर्तियों की रचना बड़ी सुचारू और उनकी भावभंगिमा मनमोहक है। गुप्तकालीन कला रूप प्रधान है। शिल्पी रूप को सर्वांगसुन्दर बनाने में जितने प्रवीण थे उतने ही अपने आंतरिक और आध्यात्मिक भावों को सुन्दर कृतियों के प्रदर्शन में भी।

गुप्तकाल में कला के तीन प्रमुख केन्द्र थे – मथुरा, सारनाथ और पाटलिपुत्र। मथुरा कला कुषाणकाल में अपनी पराकाष्ठा पर थी। गुप्तकाल में भी मथुरा में मूर्ति निर्माण की परम्परा बनी रही, किंतु गुप्तकाल में निर्माण शैली में हम परिवर्तन पाते हैं। उदाहरणार्थ कुषाणकालीन मूर्तियों का प्रभामण्डल सादगीपूर्ण था किंतु गुप्तकाल में वह अलंकृत हो गया। दूसरे कुषाणकालीन मथुरा की मूर्तियों में दाएँ कंधे पर संघाटी (कमर के ऊपर का वस्त्र) नहीं दिखलायी पड़ती परन्तु गुप्तकाल में दोनों कंधे ढके रहते हैं। कुछ ऐसी भी मूर्तियाँ हैं जिनमें कुषाण और गुप्तकालीन लक्षणों का मिश्रण है।

गुप्तकालीन शिल्पकला का सर्वाधिक महत्वपूर्ण केन्द्र सारनाथ था। बौद्धों का प्रधान तीर्थ स्थल होने के कारण सर्वाधिक मूर्तियाँ यहाँ निर्मित हुई हैं। गुप्त राजा वैष्णव धर्मानुयायी थे इसलिए ब्राह्मण मूर्तियाँ भी निर्मित हुई हैं। सारनाथ में जैन मूर्तियाँ अल्प संख्या में प्राप्त हुई हैं। पाटलिपुत्र में नालन्दा शैली की धातु की मूर्तियाँ अधिक संख्या में मिली हैं, पत्थर की कम संख्या में मिली हैं। पाटलिपुत्र से प्राप्त अधिकांश मूर्तियों की बनावट सारनाथ की मूर्तियों से मिलती है।

गुप्तकालीन तक्षण कला को सुविधा के लिए हम तीन श्रेणियों में विभाजित कर सकते हैं–

1. मूर्तिकला,
2. अलंकरण प्रकार, और
3. मृण्मय मूर्तियाँ।

सल्तनतकालीन स्थापत्य कला

“तुर्कों की भारत विजय के समय मध्य एशिया की अनेक जातियों ने स्थापत्य कला की एक ऐसी शैली विकसित कर ली थी जो एक ओर ट्रांस आक्सियाना, ईरान, ईराक, अफगास्तिान, मिस्र, उत्तरी अमरीका और दक्षिणी-पश्चिमी योरोप की स्थानीय शैलियों तथा दूसरी ओर अरब की मुस्लिम शैली के समन्वय से निर्मित हुई थी। ईरान स्थापत्य कला की कुछ मौलिक विशेषताओं जैसे नोकदार तिपतिया महराब और महराबी डाटदार छतें, इमारतों की अठपहला रूपरेखा, गुंबद आदि का जन्म वैसे तो भारत में हुआ किंतु उसका पूर्ण विकास ईरान में हुआ।[92] इस प्रकार मध्य एशिया की इस मिली-जुली शैली के विकास में भारत का भी योगदान रहा। अतः बारहवीं शताब्दी में तुर्क लोग भारत में जो स्थापत्य कला लाये, वह पूर्णतः मुस्लिम और

अरबी न थी। इस विदेशी स्थापत्य कला की चार प्रमुख विशेषताएँ थीं – गुबंद, उत्तुंग मीनारें, महराब और महराबी डाटदार छतें। इसके विपरीत तुर्कों ने भारत में एक बहुत ही विकसित स्थापत्य कला के दर्शन किये। जो धन्नी टोड़ा (बीम ब्रेकेट) के आधार पर निर्मित थी और उसकी प्रमुख विशेषताएँ थीं : 1. पटी हुई छतें, 2. कदलिका टोड़ा (कार्बेल ब्रेकेट), 3. शिखर, 4. घोड़ियों पर आधारित मेहराब, 5. गुफाएँ, 6. गोल और चौकोर स्तंभ। किंतु विजेता मुसलमानों ने विचार रूपरेखा शैली के अनुरूप भवन बनाये, किंतु मध्य एशिया के भवनों के हूबहू नमूने वे यहाँ नहीं निर्मित कर सके क्योंकि उनके पास विदेशी स्थपतियों का अभाव था। अत: उन्हें कुशल भारतीय कलाकारों (स्थपतियों) से भवन निर्माण कार्य करवाना पड़ा। इन कलाकारों ने मुसलमानी इमारतों की सजावट एवं बनावट में अपनी परंपरागत शैली, प्राचीन आदर्श एवं धारणाओं की छाप लगा दी। दूसरे मुसलमान शासकों ने अनेक मंदिरों को गिरवा कर उनकी सामग्री को अपनी मस्जिदों, मकबरों और भवनों में प्रयुक्त किया। इस प्रकार हिन्दु और मुस्लिम शैलियों में विभिन्नता होते हुए भी उनमें सामंजस्य स्थापित हो गया। स्थापत्य कला के क्षेत्र में यह एक प्रकार का समझौता था। सर जॉन मार्शल के अनुसार, "हिन्दू मंदिर और मुस्लिम मस्जिद की एक मिलती-जुलती बात यह थी कि दोनों ही में एक खुला आंगन होता था, जिसमें चारों ओर खंभेदार कमरे होते थे। इस योजना पर निर्मित मंदिरों को आसानी से मस्जिदों के रूप में परिवर्तित किया जा सकता था। इसलिए विजेता ने सर्वप्रथम उनका इसी कार्य के लिए उपयोग किया और आधारभूत विशेषता, जिसने दोनों शैलियों के बीच कड़ी का कार्य किया, वह यह थी कि हिंन्दू और इस्लामी दोनों ही कलाएँ सजावट में प्रधान थीं। इन्हीं कारणों से स्थानीय हिन्दू कला मुस्लिम स्थापत्य कला की शैली को प्रभावित करती रही। दिल्ली के सुल्तानों ने आगे चलकर हिन्दू स्थापत्य कला की दो बातों, भवनों की दृढ़ता और सुन्दरता को अपना लिया। इस प्रकार हिन्दू और मुस्लिम दोनों की कला शैलियों के समन्वय से एक नयी कला शैली का जन्म हुआ जिसे 'इंडोइस्लामिक कला' कहा जा सकता है। इंडोइस्लामिक स्थापत्य कला को साधारणतया दो कालों में विभक्त किया जा सकता है। प्रथम दिल्ली सल्तनत काल (1206-1526) और दूसरा मुगलकाल (1526-1803)। सल्तनतकाल में दो प्रकार की इमारतें मिलती हैं - दिल्ली शैली और प्रान्तीय शैली (जिसे प्रान्तीय राजवंशों ने अपनाया)।

सल्तनत काल की वास्तुकला

1. गुलामवंश की इमारतें (1206-1290 ई.)

1192 में तराइन के द्वितीय युद्ध के परिणामस्वरूप दिल्ली सल्तनत की स्थापना हुई। दिल्ली और अजमेर के प्रदेश तुर्कों के अधिकार में आ गए। वे अपने साथ अपना एक अलग धर्म, अपनी सामाजिक व्यवस्था और कला के अपने मानदंड लेकर आए। हिंदू धर्म व्यक्तिगत उपासना को प्रधानता देता है। उपासक अव्यक्त-से प्रतीकों के माध्यम से भक्ति के द्वारा संपर्क स्थापित करता है। जीवन का लक्ष्य निर्वाण हो या मोक्ष-वह चुपचाप अकेले बैठकर ध्यानस्थ होकर

सृष्टि के चरम सत्य का अनुभव करना चाहता है। इस भावना के अनुरूप ही उसके धार्मिक संस्थान होते हैं। उदाहरण के लिए मंदिर में गर्भगृह जहाँ उपास्यदेव की प्रतिमा विराजमान होती है एक छोटा सा तंग, अंधकारमय कक्ष होता है। इस्लाम में इसके विपरीत सब मिलकर एकसाथ एक निश्चित प्रणाली से नियमपूर्वक नमाज पढ़ते हैं और इसलिए मस्जिद में बड़े-बड़े खुले हुए कक्ष, दालान और आंगन होना आवश्यक होता है। दिल्ली पर अधिकार होते ही सहधर्मियों के लिए मस्जिद बनाने की आवश्यकता अनुभव हुई। तुर्कों की सेवा में कुछ मुल्ला मौलवी तो धार्मिक कार्यों के लिए थे किन्तु कलाकार एक भी नहीं था। परिणामस्वरूप उन्हें भारतीय कारीगरों से ही काम लेने के लिए विवश होना पड़ा। 27 हिंदू और जैन मदिरों को तोड़कर उन्होंने दिल्ली में एक काम चलाऊ मस्जिद बनाई जिसका नाम 'कुब्बत उल इस्लाम मस्जिद' (इस्लाम की शक्ति प्रदर्शित करने वाली मस्जिद) रखा गया। प्राचीन ऊँची चौकी को ज्यों का त्यों रहने दिया गया। पूर्व, उत्तर और दक्षिण की ओर खंभोंदार दालान और उनके मध्य में द्वार बनाए गए और पश्चिम की दीवार में किबला दिया गया। मंदिरों से प्राप्त पत्थर के खंभे, उदम्बर, छाद्यशिलाएँ और अन्य सामग्री से ही इस मस्जिद का निर्माण हुआ। ऊँचाई बढ़ाने के लिए दो-दो खंभों का प्रयोग किया गया। हिंदू मंदिरों जैसी अलंकृत छतें भी बनाई गईं। अभिलेखों के अनुसार 1197 ई. में यह मस्जिद बनकर तैयार हो गई। 1199 में कुतुबुद्दीन ऐबक ने इसके पश्चिम में मकबरा बनवाया जिसमें मध्य में मुख्य महराब था और दोनों ओर दो-दो छोटे महराब थे। इस प्रकार आराधना स्थान बन गया। बाद में इल्तुतमिश ने किबले की दीवार में बड़े सुंदर विशाल महराब बनवाए जो हिंदुओं की समतल पद्धति पर बने ओर जो सही अर्थों में त्रिज्याकार नहीं हैं। किंतु महराब और गुंबद इस्लाम की कृतियों में, विशेषकर मस्जिद में, विशिष्ट प्रतीक माने जाते थे और चाहे वे आलंकारिक हों उनका मस्जिद में होना आवश्यक था। जिन भारतीय कारीगरों को इस काम में लगाया गया शायद वे त्रिज्याकार महराब नहीं बनाते थे और उन्होंने अपनी पद्धति से ही उनका निर्माण किया।

गुलामवंश (1206-90) की पहली इमारत जिसमें तोड़े हुए मंदिरों से प्राप्त सामग्री का प्रयोग नहीं हुआ वरन् प्रत्येक पत्थर की रचना इसी ध्येय को सामने रखकर की गई कुतुबमीनार है। इसे कुतुबुद्दीन ने 1199 में बनवाना प्रारंभ किया। और उसके उत्तराधिकारी इल्तुतमिश ने 1212 में पूर्ण कराया। यह ध्वजस्तंभ की तरह पत्थर की एक मीनार है जिसमें मूलरूप से चार मंजिलें थीं। बाद में फिरोज तुगलक ने पाँचवीं मंजिल बढ़ा दी और अब इसकी कुल ऊँचाई 228 फीट है। इसमें 360 सीढ़ियाँ हैं। यह गोल है और गर्जराकार है अर्थात् ऊँचाई बढ़ने के साथ साथ इसका व्यास कम होता जाता है और यह छोटी होती जाती है। सबसे नीचे की मंजिल में गोल और नुकीले फिर त्रिकोणात्मक नुकीले दाँते हैं, चौथी बिल्कुल गोल है। प्रत्येक मंजिल में एक छज्जेदार प्रालिनद बनाई गई है जिसमें निच्यावाश्म का प्रयोग हुआ है। एकरूप अरबी अक्षरों में पत्थर में खोदी गई कुरान की आयतों के अतिरिक्त ये निच्यावाश्म भी कुतुबमीनार के विशिष्ट अलंकरण हैं। शहद की मक्खी के छत्ते जैसा इसका रूपांकन छज्जे की छाया में बड़ा सुन्दर

लगता है। हमारे यहाँ इसका प्रयोग कुतुबमीनार के साथ ही आरंभ हुआ।

यह कहना सही नहीं है कि मूलरूप से इसे हिन्दुओं ने बनवाया था और तुर्कों ने इसे मीनार में परिवर्तित कर लिया। न तो यह वाराहमिहिर की वैधशाला का कोई निरीक्षण स्तंभ है न पृथ्वीराज का यमुना स्तंभ। पुरातत्व, वास्तु और लिखित प्रमाणों से सिद्ध हो जाता है कि इसका निर्माण कुतुबुद्दीन और इल्तुतमिश ने ही कराया।

एक और भ्रान्ति इसके विषय में प्रचलित है कि यह मस्जिद का मजीना थी अर्थात् यहाँ से नमाज का समय होने पर आजान दी जाती थी। यह संभव नहीं है कि मुअज्जन प्रतिदिन पाँच बार इस मीनार पर चढ़ता उतरता और आजान देता। न ही वहाँ से आजान का शब्द सुनाई दे सकता है। वास्तव में इसे किसी काम में लाने के लिये नहीं बनवाया गया है। यह प्रतीकात्मक कृति है और इसके बनवाने का ध्येय नए जीते हुए प्रदेश के निवासियों को इस्लाम की शक्ति और वैभव से चमत्कृत करना था। इस सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि 1367 में फिरोज तुगलक ने अम्बाला से लाकर अशोक की एक विशाल लाट को कोटला फिरोजशाह में ठीक अपनी जामी मस्जिद के सामने स्थापित किया। उसका नाम 'मिनारा--ए-जरीन' (सोने की मीनार) रखा गया। यहाँ इसे खड़ा करने का ध्येय किसी उपयोग में लाना नहीं था। यह भी एक प्रतीकात्मक रचना थी। हमारे यहाँ बुद्ध चैत्यों, जैन और हिन्दू मंदिरों के सामने ध्वजस्तंभ बनाये जाते थे जिन पर धर्मचक्र या उस देवता का वाहन सूचक के रूप में विराजमान होता था। अनुमान है कि इसी से प्रेरणा लेकर कुतुबमीनार का प्रतीकात्मक निर्माण हुआ। चन्द्र के लौह स्तंभ को लाकर मस्जिद के प्रांगण में ठीक किबला के सामने गाड़ने का भी भला और क्या ध्येय हो सकता है।

सुल्तानगढ़ी नामक मकबरा इल्तुतमिश ने अपने पुत्र नासिरुद्दीन मुहम्मद (ज्येष्ठ) की स्मृति में 1231 ई. में बनवाया। इसकी प्राचीरें दुर्ग के परकोटे की तरह दृढ़ और विशाल हैं और इस तथ्य की ओर इंगित करती हैं कि उस समय तुर्क लोग अपने आपको भारत में कितना असुरक्षित समझते थे और मकबरों को भी किलों की तरह दृढ़ बनाते थे। इसके अन्दर वर्गाकार एक विशाल आंगन है। जिसके मध्य में एक अठपहलू चबूतरा है। इसके नीचे भूगर्भ में कब्र है। अनुमान है कि चबूतरे के ऊपर एक मण्डप मूलरूप से रहा होगा जो कालान्तर में नष्ट हो गया।

इस आंगन के पूर्व और पश्चिम की ओर खम्भेदार दालान है। पश्चिम वाले दालान के मध्य में मुख्य कक्ष पर गुम्बद है और दीवार में किबला (महराब) बनाया गया है, जो वहाँ मस्जिद होने का सूचक है। केवल यह महराब ही वहाँ मुस्लिम तत्त्व है, नहीं तो खम्भे, तोड़े, उत्कीर्ण शिलाएँ, छतें आदि सभी तत्त्व विशुद्ध भारतीय हैं। स्पष्ट ही इसमें हिन्दू मंदिरों से प्राप्त सामग्री को उपयोग में लाया गया है।

इल्तुतमिश का मकबरा गुलामवंश की इमारतों में सबसे अधिक अलंकृत इमारत है। इसकी रचना 1236 में इल्तुतमिश की मृत्यु के आसपास हुई। यह एक विशाल, वर्गाकार कक्ष है जिसके तीन और मध्य में द्वार दिये गए हैं। पश्चिम की दीवार मक्का की दिशा सूचित करने के लिए

बन्द कर दी गई है और वहाँ किबला बनाया गया है। रचना हल्के पीले रंग के पत्थर में की गई है। मकबरे के अन्दर व्यापक स्तर पर पत्थर में खुदाई का काम किया गया है। इसमें कुरान की आयतों को सुन्दर अरबी अक्षरों में खोदकर भी अलंकरण किया गया है और साथ-साथ अर्धचक्र, कमल आदि विशुद्ध हिन्दू रूपक भी बनाये गए हैं। रेखाकृत डिजाइनों और आलंकारिक मेहराबों का भी प्रयोग हुआ है। पत्थर में खुदाई की कला में भारतीय कारीगर विशेष पारंगत था और यहाँ उसने अपनी निपुणता का बड़ा सुन्दर प्रदर्शन किया है।

इस मकबरे में कोण महराबों का चारों कोनों में प्रयोग किया गया है और इस विधि से वर्गाकार कक्ष को ऊपरी भाग में अठपहलू योजना में परिवर्तित कर दिया है। प्रत्येक कोने पर फिर पत्थर रखकर इसे 16 पहलू बनाया गया और फिर इसके ऊपर मुस्लिम चाप वक्र पद्धति से ही एक गुम्बद का निर्माण किया गया। यह गुम्बद कालान्तर में गिर गया। अनुमान है कि भारतीय कारीगरों ने यहाँ इस विधि से गुम्बद बनाने का पहली बार प्रयोग किया था और कक्ष के अनुपात से वे गुम्बद को आवश्यक ऊँचा नहीं बना सके और यह गुम्बद इसलिये स्थायी नहीं रह सका। कोण महराब और गुम्बद का इस मकबरे में प्रयोग वस्तुत: दोनों शैलियों के सम्मिश्रण की ओर इंगित करता है।

2. खिलजी युग की इमारतें (1290-1320 ई.)

इल्तुतमिश के वंशज अपने झगड़ों में उलझे रहे। बलबन के सामने मंगोलों से निपटने और सुल्तान के पद की मान और प्रतिष्ठा बढ़ाने की समस्याएँ थीं और उसे भवन-निर्माण की ओर ध्यान देने का अवकाश ही नहीं मिला। अलाउद्दीन खिलजी दिल्ली सल्तनत का इसके पश्चात् एक प्रतापी सुल्तान हुआ। उसके राज्यकाल (1296-1316 ई.) की दो प्रमुख इमारतें शेष रह गई हैं – कुतुबमीनार के पास अल्लाई दरवाजा और जमातखाना मस्जिद जहाँ बाद में हजरत निजामुद्दीन औलिया की समाधि बनी।

अलाउद्दीन ने कुब्बत-उल-इस्लाम मस्जिद में और विस्तार कराया और किबला की दीवार बढ़ाई। उसने कुतुबमीनार से भी बड़ी एक मीनार बनवाना आरंभ किया जो किन्हीं कारणोंवश नहीं बन सकी। उसने अल्लाई दरवाजा भी इस मस्जिद के दक्षिणी द्वार की तरह से बनवाया। यह 1305 में पूर्ण हुआ। इल्तुतमिश के मकबरे के समान यह भी वर्गाकार है किंतु इसमें लाल पत्थर के साथ-साथ अलंकरण के लिये श्वेत संगमरमर का भी प्रयोग किया गया है। इसके चारों ओर सीढ़ियोंदार चार द्वार हैं जिनमें नुकीले महराबों का प्रयोग किया गया है। यह त्रिज्याकार महराब है। प्रत्येक महराब के नीचे बर्छी के फलों की माला दी गई है जिससे महराब का सौन्दर्य कई गुना बढ़ जाता है। महराबों के नीचे पतले-पतले कमनीय स्तंभ बनाए गए हैं जो बोझ तो उतना नहीं सभालते हैं जितना शोभा बढ़ाते हैं। इनकी कटाई देखते ही बनती है और सहज ही हिन्दू मंदिरों की कला का स्मरण कराती है।

अल्लाई दरवाजा यद्यपि एक ही मंजिल की इमारत है किंतु बाहर की ओर से इसकी दीवारों को दो मंजिलों में दिखाया गया है और उनमें संगमरमर के साथ सुन्दर कटाई का काम किया

गया है। महराबों के साथ-साथ घूमती हुई अरबी अक्षरों में कटी कुरान की आयतें बड़ी भली लगती हैं। इसमें कोण महराब का प्रयोग हुआ है और उनके आधार पर एक उपयुक्त गुम्बद बनाया गया है। जहाँ शेष इमारत पत्थर की है जिसे निस्सन्देह भारतीय कारीगरों ने सजाया है, गुम्बद चूने का बनाया गया है और ऐसा प्रतीत होता है कि मूलरूप से इस पर चीनी टाइल्स का चटकीले रंगों वाला अलंकरण किया गया था। अल्लाई दरवाजा सल्तनत काल में निर्मित एक उत्कृष्ट कृति है। जहाँ पत्थर में खुदाई की कला का श्रेय भारतीय कलाकारों को मिलता है। इसमें कोण महराब और गुम्बद जैसे मुस्लिम तत्त्वों का भी सफल प्रयोग हुआ है। 15वीं शताब्दी के वर्गाकार मकबरों ने अल्लाई दरवाजे से प्रेरणा ही नहीं ली, इसके रचना विन्यास का अनुकरण किया और इस दृष्टि से अल्लाई दरवाजा सल्तनत काल में वास्तु कला के विकास में एक महत्वपूर्ण स्थान रखता है।

जमातखाना मस्जिद भी लाल पत्थर की है। यह आयातकार है। मुख्य कक्ष में मिम्बर और किबला है और इसके दोनों ओर उपकक्ष है। कोण महराबों द्वारा गुम्बद बनाए गए हैं। इन पर बड़े सुन्दर पद्मकोश, आमलक और कलश जैसे विशिष्ट हिन्दू तत्त्व हैं जो गुम्बद के सौन्दर्य में चार चांद लगा देते हैं। इसके महराब भी अल्लाई दरवाजा जैसे ही नुकीले और अलंकृत हैं। अल्लाई दरवाजे जैसी ही पत्थर में सुन्दर खुदाई का काम किया गया है जिसमें अरबी अक्षरों के रूपांकनों की बहुतायत है। इसमें सन्देह नहीं है कि छोटी सी यह मस्जिद बड़े सुरुचिपूर्ण ढंग से बनाई गयी है और अत्यन्त उत्कृष्ट रूप से अलंकृत इमारतों में गिनी जाती है। यह उस युग की भी परिचायक है जिसमें ऐसी सुन्दर मस्जिद का बनाना संभव हुआ।

3. तुगलककालीन इमारतें (1320-1411 ई.)

तुगलक वंश के संस्थापक गयासुद्दीन तुगलक का मकबरा इस काल की बड़ी सुन्दर इमारत है। यह दिल्ली में तुगलकाबाद में स्थित है। इसका निर्माण 1325 में हुआ। यह मकबरा एक बड़ी कृत्रिम झील के मध्य में चट्टान पर स्थित एक छोटे से दुर्ग से बनाया गया है। दुर्ग में जाने का मार्ग एक तंग ऊँचे रास्ते द्वारा है और इस ढंग से किले को अभेद्य बना दिया गया है। इससे फिर उसी भावना का परिचय मिलता है जिसमें दिल्ली के शासक अपने आपको असुरक्षित समझते थे और स्मारकों को बागों में बनाने की अपेक्षा किलों में बनाना अधिक पसन्द करते थे।

यह मकबरा भी वर्गाकार है और इसमें भी लाल पत्थर के साथ श्वेत संगमरमर का प्रयोग हुआ है। इल्तुतमिश के मकबरे की तरह ही पश्चिमी दीवार किबले के लिये बन्द कर दी गई हैं। शेष तीनों ओर मध्य में द्वार दिये गए हैं। इन द्वारों में एक नयी विशेषता देखने को मिलती है। इसमें मुस्लिम महराब के साथ-साथ भारतीय उदम्बर का भी प्रयोग किया गया है। पत्थर की यह शिला बोझ को अधिक सहारा नहीं देती और स्पष्ट ही वह सौन्दर्य के लिये लगाई गई है। अनुमान है कि यह नया विधान भारतीय कारीगरों ने सुझाया जो कभी भी महराब पर भरोसा

करने को तैयार नहीं होते थे और परम्परागत पद्धति पर ही रचना करना चाहते थे। जैसे-जैसे उन्हें कार्य करने की स्वतंत्रता मिलती गई वे भारतीय तत्त्वों को जोड़ते चले गये। उदम्बर के प्रयोग से प्रत्येक द्वार का सौन्दर्य निखर उठा है। उसमें अल्लाई दरवाजे जैसी बर्छी के फलों की माला भी बनाई गई है। महराब का मध्य बिन्दु भारतीय कीर्तिमुख जैसा घुमावदार बनाया गया है।

इसके विपरीत एक विदेशी तत्त्व भी इस मकबरे में देखने को मिलता है। इसकी बाहरी दीवारें सीधी, लम्बवत् नहीं हैं, उनमें ढाल दिया गया है। ढाल की मात्रा मिस्र के पिरामिडों जैसी नहीं है, बहुत कम है और समरूप दी गई है। अन्दर कक्ष में यह ढाल नहीं है। कोण महराबों द्वारा गुम्बद का निर्माण किया गया है। यह इकहरा गुम्बद इमारत को बड़े सुन्दर और प्रभावशाली ढंग से आच्छादित किये हुए हैं। इस गुम्बद पर भारतीय आमलक और कलश बनाये गए हैं जिनसे यह और भी अधिक सुन्दर लगता है। मंदिर के शिखर की तरह गुम्बद भी इन इमारतों को जैसे मुकुट पहनाता है।

इस प्रकार इस इमारत में भारतीय और मुस्लिम दोनों तत्त्वों का बड़ा मनोरम सम्मिलन हुआ है। महराब के साथ उदम्बर लगाया गया है, कोण महराबों के साथ तोड़ों का प्रयोग है और गुम्बद पर आमलक और कलश का उपयोग हुआ है। वास्तव में यहीं से सही अर्थों में एक मिश्रित शैली का प्रारंभ होता है जिसका चरमोत्कर्ष मुगलों के स्वर्णकाल में हुआ।

फिरोज तुगलक का मकबरा 1388 में बना। फिरोज कट्टर धार्मिक दृष्टिकोण का पक्षपाती था और वातावरण के प्रभाव से इस्लाम में जो भारतीय तत्त्व घुलमिल गये थे उन्हें निकाल देना चाहता था। धर्म के मामले में ही नहीं वास्तुकला में भी उसकी धार्मिक पक्षपात की नीति का परिचय मिलता है। भारतीय कारीगर पत्थर के काम में दक्ष था इसलिये उसने अनगढ़ पत्थरों और चूने की इमारतें बनवाईं जिससे भारतीय कारीगर को अपनी परम्परागत शैली में काम करने का कम से कम अवसर मिले। चूने में इमारतें बनवाने से शुद्ध मुस्लिम रंगीन विधियों से अलंकरण करने की भी सुविधा होती थी। फिरोज के मकबरे में इस प्रकार पत्थर का काम बहुत कम है। अधिकांश चूने की रचना है। इसमें भी बाहरी दीवारों में ढाल दिया गया है। लेकिन वह बहुत कम है।

इसमें दो द्वार हैं। द्वार बनाने की बड़ी सुन्दर विधि इस युग तक विकसित हो गयी थी। सामने के भाग को कुछ आगे बढ़ाकर उसमें एक विशाल महराब की आकृति बनाई जाती थी। इसमें फिर आवश्यक ऊँचाई का द्वार बनाया जाता था। फिरोज तुगलक के मकबरे के द्वार में उदम्बर और भारी तोड़े काम में लाये गये हैं और ऐसा प्रतीत होता है कि ये तत्त्व इतने अधिक प्रचलन में आ गये थे कि उन पर आपत्ति नहीं होती थी। मकबरे के अन्दर कोण महराबों के प्रयोग द्वारा गुम्बद का निर्माण किया गया है। बाहर की ओर गुम्बद एक अठपहलू आधार पर बनाया गया है। इस पर आमलक या कलश जैसे हिन्दू तत्त्व नहीं हैं। मकबरे के बाहर पत्थर की एक वेदिका मथुरा और सांची की प्राचीन पद्धति पर अवश्य बनाई गयी है जो इस कट्टर सुन्नी सुल्तान के मकबरे में बड़ी आश्चर्यजनक लगती है।

भारतीय कलाकारों ने इससे कुछ पहले एक बड़ा महत्वपूर्ण प्रयोग किया। गुम्बद बनाने की आवश्यकता से अब इन्कार नहीं किया जा सकता था। किंतु वर्गाकार कक्षों के ऊपर गोल गुम्बद बनाने में बड़ी कठिनाई होती थी और कोण महराबों आदि का प्रयोग करना पड़ता था। धीरे-धीरे यह अनुभव किया गया कि यदि इमारत ही अठपहलू बनायी जाए तो उस पर गुम्बद बनाना बड़ा सुविधाजनक होगा। अतः 1367-68 में खान-ए-जहान तेलंगानी का मकबरा अठपहलू योजना पर बनाया गया। मुख्य कक्ष अठपहलू रखा गया और उसके बाहर आठों ओर खुला बरामदा बनाया गया। प्रत्येक भुजा में तीन महराब दिये गये और सब तरफ उपर छज्जा ढँका गया। प्रधान गुम्बद के आठों ओर आठ लघु गुम्बद बनाये गये। पत्थर का व्यापक प्रयोग किया गया।

यह मकबरा मध्यकालीन वास्तुकला के विकास में एक महत्वपूर्ण स्थान रखता है। यद्यपि इसमें बहुत से तत्त्वों का प्रयोगात्मक रूप में उपयोग हुआ है फिर भी यह सल्तनत युग की इमारतों में बढ़ते हुए भारतीय प्रभाव का सूचक है। छज्जे, द्वारों में उदम्बर और तोड़े, गुम्बद पर आमलक और कलश आदि का प्रयोग इसी दिशा में संकेत करता है। इस मकबरे से ही बाद में सैय्यदों, लोदियों और सूरों के सुन्दर और विशाल अठपहलू मकबरों का विकास हुआ।

ऐसा लगता है कि फिरोज तुगलक भरसक प्रयत्न करके भी मुस्लिम और हिन्दू शैलियों के सम्मिश्रण की प्रक्रिया को रोक नहीं सका। जिन इमारतों को वह स्वयं बनवाता था उनमें वह भारतीय तत्त्वों को नियन्त्रण में रख सकता था, किंतु अन्य इमारतों में ये तत्त्व खुलकर प्रकाश में आ जाते थे। संस्कृतियों के सम्मिलन की यह भावना इतनी स्वाभाविक थी कि इसे रोक पाना फिरोज तुगलक या किसी के बस की बात नहीं थी।

फिरोज तुगलक के राज्यकाल में कुछ बड़ी मस्जिदें भी बनवाई गयीं। ये दो प्रकार की थीं। एक परम्परागत योजना के अनुसार बनाई जाती थीं जिसके बीच में एक विशाल आंगन होता था और तीन तरफ दालान। मुख्य द्वार पूर्व की ओर होता था, उत्तर-दक्षिण की ओर भी उपद्वार बनाये जा सकते थे। आंगन के पश्चिम की ओर एक विशाल इमारत के रूप में आराधना भवन होता था जिसमें मुख्य कक्ष में किबला और मिम्बर होते थे। दालान और आराधना भवन के सभी मुख महराबों द्वारा बनाये जाते थे। मुख्य कक्ष का मुख्य द्वार एक विशाल महराब होता था जिसे ईवान कहते हैं। इसके दोनों ओर सम्बद्ध गर्जराकार मीनारें होती थीं। छत पर गुम्बदों का प्रयोग होता था। सबसे बड़ा गुम्बद आराधना भवन के मुख्य कक्ष पर होता था। कोटला फिरोजशाह की जामी मस्जिद, काली मस्जिद और बेगमपुरी मस्जिद इसी वर्ग की मस्जिदें हैं। इनमें खम्भों और छज्जे का प्रयोग तो हुआ है किंतु रचना मूलरूप से अनगढ़ पत्थर और चूने में हैं। चूने का मोटा प्लास्टर सब ओर किया गया है जिसपर मूल रूप से शायद रंगीन अलंकरण किया गया होगा और जो अब काला पड़ गया है।

दूसरे वर्ग की मस्जिदें 'कला' और 'खिड़की' मस्जिद हैं। इनको चार भागों में बाँटा गया है। प्रत्येक भाग में एक खुला आँगन और उसके चारों ओर दालान दिए गए हैं। इसमें लघु गुम्बदों का बड़ा व्यापक प्रयोग हुआ है और खम्भों या छज्जों का सर्वथा अभाव है। अनुमान है कि ये

मस्जिदें किसी विदेशी प्रेरणा के फलस्वरूप बनाई गईं और इनमें कोई भी भारतीय तत्त्व नहीं आने दिया गया। किंतु यह योजना चली नहीं। फिरोज के ही राज्यकाल में परम्परागत मस्जिदों का निर्माण हुआ और उसके बाद भी 'चतुरांगण' मस्जिदें बनाई ही नहीं गईं।

फिरोज तुगलक की मस्जिदों की एक अपनी अलग ही श्रेणी है। उनमें चूने का प्रयोग है और बाहरी दीवारों पर विभिन्न विधियों द्वारा ढाल दिया गया है। रेखाकृत, अरबी आयतों और अरबी लिपि से मिलते-जुलते अलंकरण चूने में किये गये हैं और भारतीय पत्थर की खुदाई और रूपकों को यथासंभव बहिष्कृत रखा गया है। पद्मकोश, आमलक, कलश, छत्री, छज्जा, तोडे आदि भारतीय तत्त्वों का भी प्रयोग नहीं किया गया है। परिणामस्वरूप ये इमारतें भद्दी और बदसूरत लगती हैं और उस युग की परिचायक हैं जिसमें इस्लाम के कट्टर दृष्टिकोण के अनुसार शासन किया गया और राज्य को धार्मिक अत्याचार का साधन बना दिया गया। इनका देश की संस्कृति या मध्यकालीन वास्तुकला के विकास की मुख्य धाराओं से कोई सम्बन्ध नहीं है।

4. सैय्यदों, लोदियों और सूरों की इमारतें (1411-1545 ई.)

15-16वीं शताब्दी राजनीतिक उथल-पुथल का युग था। 1398 में तैमूर के हमले ने तुगलकों की बची शक्ति समाप्त कर दी। 1411 में खिज्र खां ने सैय्यद वंश की नींव डाली। 1451 में बहलोल लोदी ने सैय्यदों को हटाकर लोदी वंश की स्थापना की। 1526 में पानीपत युद्ध में अन्तिम लोदी सुल्तान इब्राहीम हार गया और मारा गया और दिल्ली आगरा के प्रदेश बाबर के हाथ में आ गये। किंतु 1540 में शेरशाह सूरी ने हुमायूँ को हरा दिया और देश से बाहर खदेड़ दिया। 1545 में उसकी मृत्यु के पश्चात् सूर साम्राज्य तितर-बितर हो गया और 1556 में मुगलों ने इन प्रदेशों को फिर जीत लिया।

किंतु सम्पूर्ण 15वीं शताब्दी में एक ही वास्तु शैली निरन्तर चलती रही और वंशों या सुल्तानों के परिवर्तन से शैली के क्रमिक विकास पर अंतर नहीं पड़ा। इसके बाद भी यद्यपि 1526 में मुगल साम्राज्य की स्थापना हुई, किंतु अकबर के अभ्युदय से पहले तक इमारतें उसी पद्धति पर बनाई जाती रहीं। इसका चरमोत्कर्ष शेरशाह (1340-45) की इमारतों में मिलता है। इसलिए सैय्यद, लोदी और सूर – इन तीनों वंशों के राज्यकाल की इमारतों का एक ही शैली के अंतर्गत अध्ययन करना होगा।

इसमें दो प्रकार के मकबरे बनाये गये—एक वर्गाकार और एक अठपहलू। वर्गाकार मकबरों में बड़े खान का गुम्बद, छोटे खान का गुम्बद, बड़ा गुम्बद, शांश गुम्बद, दादी का गुम्बद, पोली का गुम्बद और ताजखान का मकबरा मुख्य हैं। इस मकबरे की योजना और रचनाविन्यास अल्लाई दरवाजे जैसी है अर्थात् अंदर एक बड़ा हाल है जिसमें कोण महराबों द्वारा गुम्बद बनाया गया है। किंतु बाहर की दीवारें इस प्रकार बनाई गई हैं कि मकबरे में दो या तीन मंजिलें लगती है। पश्चिम की तरफ बन्द दीवार में किबला है और तीन तरफ द्वार हैं जिनमें महराब और

साथ-साथ तोड़ों पर आधारित उदम्बर है। यह तत्त्व गयासुद्दीन तुगलक के मकबरे से प्रारंभ होकर इन मकबरों में विकसित हुआ है। इमारत के ऊपर एक भारी इकहरा, विशाल गुम्बद है जिसके चारों कोनों पर चार छत्रियाँ हैं। गुम्बद पर आमलक और कलश है। इसमें कहीं भी ढाल नहीं दिया गया है। अंदर चूने और रंगीन विधियों से अलंकरण हुआ है। पत्थर की कटाई का काम भी है। कुछ मकबरे बड़े सुन्दर और प्रभावशाली लगते हैं। विशेष रूप से इन मकबरों की उर्ध्वरचना बड़ी आकर्षक है।

अठपहलू मकबरे अधिकतर सुल्तानों के लिये बनाए गए। ये वर्गाकार मकबरों की अपेक्षा चौड़ाई में अधिक हैं किंतु ऊँचाई में कम हैं। इनमें मुबारक सैय्यद का मकबरा, मुहम्मद सैय्यद का मकबरा, सिकन्दर लोदी का मकबरा और सासाराम (बिहार) में स्थित हसन खां सूर और शेरशाह सूर के मकबरे मुख्य हैं। वर्गाकार मकबरों की तरह इनकी चौकियाँ ऊँची नहीं हैं। मुख्य कक्ष जिसमें कब्र है अठपहलू है और उसके बाहर हर दिशा में एक खुला हुआ बरामदा है। इसकी प्रत्येक भुजा में तीन-तीन महराब हैं जिसमें मध्य का महराब कुछ बड़ा होता है। सब तरफ एक विशाल छज्जा दिया गया है। प्रत्येक कोने पर बाहर की ओर एक ढलान है जो दृढ़ता के लिये कम और परम्परागत सौन्दर्य के लिये अधिक प्रयोग में लाया गया प्रतीत होता है। मुख्य कक्ष पर एक विशाल भारी गुम्बद है जिसके नीचे गुलदस्ते या छत्रियाँ बनाई गई हैं। द्वार में महराब की आकृति है किंतु प्रवेश तोड़ों पर आधारित उदम्बर के द्वारा दिया गया है। सम्पूर्ण रचना पत्थर की है। केवल गुम्बद ईंटों और चूने का बना है जिसमें अंदर रंगीन चित्रकारी की गई है। बाहर की ओर मूल रूप से चीनी टाइल्स का काम किया गया था। इस पर भव्य पद्मकोण और आमलक है। गुम्बद पहले इकहरे बनाए गए, सिकन्दर लोदी के मकबरे में दुहरा गुम्बद है अर्थात् वह बीच में से खोखला है। गुम्बद को ऊँचा उठाने की दिशा में यह एक महत्वपूर्ण प्रयोग था। कक्ष पर छत पाट कर स्थपति यह समस्या निबटा लेता था और फिर वह गुम्बद को इच्छित ऊँचाई तक उठा ले जा सकता था। इमारत का सम्पूर्ण सौन्दर्य उसके उठान पर आश्रित था और धीरे-धीरे स्थपति ऊँचाई बढ़ाकर अपनी कृति को सुन्दर बनाना सीख गया। इस सिद्धान्त का चरमोत्कर्ष ताजमहल में हुआ जिसमें चौड़ाई कम और ऊँचाई कहीं अधिक है। फिर भी समानुपात अत्यन्त मनोरम है।

शेरशाह का मकबरा अठपहलू वर्ग में सबसे सुन्दर मकबरा है। मकबरों के इतिहास में इसका महत्व ताजमहल से कुछ ही कम है। एक झील में सीढ़ियोंदार एक ऊंची चौकी पर इसका निर्माण हुआ है। मूल योजना वही है किंतु विभिन्न अंगों के सम्मिश्रण और विकास से इसकी शोभा अत्यन्त बढ़ गई है। चौकी के चारों कोनों पर चार विशाल छत्रियाँ दी गई हैं जो मुख्य इमारत को चारों ओर से सुशोभित करती हैं। मुख्य इमारत में भी छत्रियों का बड़ा व्यापक प्रयोग हुआ है। आठ छत्रियाँ बरामदे के ऊपर कोनों पर हैं। फिर आठ गुम्बद के आधार पर बनाई गई हैं जो इस प्रकार एक स्वतंत्र मंजिल सी बन गई है। विशाल गुम्बद पर अत्यंत आकर्षक पद्मकोश आमलक और कलश बनाया गया है। वास्तव में इस इमारत का संपूर्ण सौन्दर्य

उर्ध्वरचना में केंद्रित है। निर्माण में पत्थर का प्रयोग हुआ है किंतु अलंकरण के लिये रंगीन विधियां भी काम में लाई गई हैं। महराब आलंकारिक रूप से अधिक प्रयुक्त हुए हैं। वास्तव में रचना भारतीय परम्परागत क्षैतिज है जिसमें पत्थर की शिलाओं को उदम्बर और अन्य विधियों में काम में लाया गया है। यह मकबरा मुस्लिम-भारतीय शैली के विकास में उस अवस्था का सूचक है जहाँ एक दूसरे के तत्त्वों को अपनाने में अब कोई हिचकिचाहट नहीं रह गई थी और मुक्तरूप से एक मिश्रित पद्धति का परिपालन हो रहा था।

लोदियों और सूरों के युग में बड़ी-बड़ी मस्जिदें बनवाई गईं जिनमें बड़ा गुम्बद मस्जिद, खैरपुर मस्जिद, मोठ की मस्जिद, जमाला मस्जिद और शेरशाह की किला-ए-कुहना मस्जिद मुख्य हैं। ये सब एक ही वर्ग की मस्जिदें हैं। ये तुगलकों की मस्जिदों से छोटी हैं और इनमें आंगन, दालान, उपद्वार आदि नहीं होते हैं। मीनार आदि और अंग भी इनमें नहीं हैं। वास्तव में इसमें मुख्य आराधना भवन ही होता है। जिसमें पांच कक्ष होते हैं और परिणामस्वरूप मुख में पाँच महराबद्वार होते हैं। अतः इसका पंचमुखी मस्जिद नामकरण करना सुविधाजनक होगा। पहली दो मस्जिदों में चूने का काम अधिक है, बाद की तीनों पत्थर की हैं। मोठ की मस्जिद में पीछे की ओर दोनों तरफ दो मंजिल की एक-एक अट्टालिका बनाई गई जिसमें खम्भे तोड़े और छज्जे का प्रयोग किया गया। सामने की ओर भी छज्जा दिया गया। पार्श्व में दोनों ओर बाहर निकली हुई प्रसादिकाएँ बनाई गईं जो विशुद्ध भारतीय तत्त्व है। जमाला मस्जिद में इन अंगों में घटा-बढ़ी की गई। गुम्बद पर पद्मकोश और आमलक की छटा बनी रही।

इस वर्ग की सबसे सुन्दर मस्जिद दिल्ली के पुराने किले में स्थित शेरशाह की मस्जिद है जिसे किला-ए-कुहना मस्जिद कहते हैं। इसमें वही पाँच कक्ष हैं किंतु उनमें त्रिज्याकार छतें बनाने के लिये विविध विधियों का प्रयोग हुआ है। मुख्य कक्ष के ऊपर गुम्बद है जिस पर पद्मकोश, आमलक और कलश आदि बड़े आकर्षक भारतीय उपकरणों का प्रयोग हुआ है। पीछे मोठ की मस्जिद जैसी ही अट्टालिकाएं हैं। मुख में आलंकारिक महराबों में प्रवेश भी महराबों द्वारा दिया गया है। पत्थर में सुन्दर खुदाई और कटाई की कला का प्रदर्शन तो हुआ ही है रंगीन पत्थरों द्वारा जड़ाऊ काम भी किया गया है। मिश्रित शैली के दृष्टिकोण से ही नहीं, सौन्दर्य के दृष्टिकाण से भी यह मस्जिद एक उत्कृष्ट कृति है और मुगलों से पहले की मस्जिदों में सर्वाधिक महत्वपूर्ण है।

प्रान्तीय शैलियाँ

अरब आक्रमण के समय से लेकर 1457 ई. तक मुल्तान विदेशियों के हाथ में रहा और 1457 ई. में स्वंतत्र हुआ। मोहम्मद बिन कासिम ने 712 ई. में मुल्तान में एक मस्जिद का निर्माण कराया था। 985 ई. में कोर्मनिनों ने एक सूर्य मंदिर ध्वस्त करा कर उसके ऊपर एक मस्जिद का निर्माण कराया था, किंतु सभी इमारतों के ध्वंसावशेष हैं।

बंगाल के स्थापत्य में पत्थर का कम, ईंटों का अधिक प्रयोग हुआ है। इसके अतिरिक्त छोटे-छोटे स्तंभों पर नुकीली महराबें, बांस की इमारतों से ली गई हिंदू मंदिरों को लहरियादार कार्निसों की परंपरागत शैली का मुसलमानी अनुकरण और कमल सरीखे सुंदर हिंदू सजावट के प्रतीक चिह्नों को अपना लिया गया है। इन इमारतों के ध्वंसावशेष गौर, लखनौती, त्रिवेनी और पांडुआ में प्राप्त हुए हैं। बंगाली स्थापत्य कला शैली के सर्वप्रथम नमूने जफर खां गाजी का मकबरा और उसकी मस्जिद हैं, जो हिंदू मंदिरों की सामग्री से बने हैं। विख्यात विशाल अदीना मस्जिद का निर्माण सिकंदर शाह ने पांडुआ में कराया था। यहाँ जलालुद्दीन मोहम्मद शाह का सुंदर मकबरा है। बंगाल की अन्य उल्लेखनीय इमारतों में लोटन मस्जिद, बड़ा सोना मस्जिद, छोटा सोना मस्जिद और कदम रसूल मस्जिद हैं। बंगाली शैली का अपना एक विशेष पृथकत्व है, जो डिजाइन आकार, सज्जा एवं सौंदर्य में अधिकांश अन्य प्रांतीय शैलियों से न्यून है।

जौनपुर पहले हिंदू राज्य की राजधानी थी। 1394 ई. में यह स्वतंत्र हो गया किंतु सिकंदर लोदी ने इस पर अधिकार कर लिया। शर्की राज्य वंश के एक शताब्दी के शासनकाल में यहाँ मस्जिदें, मकबरे एवं भवन आदि बने। जौनपुर का किला 1377 ई. में निर्मित हुआ। इन इमारतों की विशेषता हिंदू-मुस्लिम शैलियों का समन्वय है। जौनपुर के निम्नोक्त स्थापत्य के उदाहरण उल्लेखनीय हैं।

अटाला देवी मस्जिद शर्की शैली का सुंदर नमूना है। यह पूर्व निर्मित अटाला देवी के हिंदू मंदिर के स्थान पर बनी, जिसमें एक खुला वर्गाकार सहन है। सहन के दक्षिण पूर्व में स्तंभयुक्त कक्ष है और पश्चिम में इबादतखाना है। इसके तीन प्रवेश द्वार हैं और प्रत्येक द्वार के ऊपर एक गुंबद है। दूसरी महत्वपूर्ण इमारत झंझरी मस्जिद है। इसे इब्राहिम शर्की ने 1430 ई. में निर्मित कराया था। इसके भग्नावशेषों में प्रवेश द्वार ही शेष है। यह मस्जिद अटाला देवी मस्जिद की अनुकृति है। जौनपुर की 'लाल दरवाजा मस्जिद' 15वीं शताब्दी के मध्य निर्मित हुई। यद्यपि यह भी अटाला देवी की अनुकृति है, इसमें कुछ भिन्नता है। उदाहरणार्थ इसमें एक ही विशाल प्रवेश द्वार है, जिसकी ऊँचाई उसके आकार की चौड़ाई की तुलना में कम है। जौनपुर की सर्वाधिक उल्लेखनीय तथा विशाल इमारत वहाँ की जामी मस्जिद है, जिसे हुसैन शाह शर्की ने 1417 ई. में निर्मित कराया था। कुछ अंतर के साथ यह भी अटाला देवी की अनुकृति है। यह ऊँचे चबूतरे पर निर्मित है। इसके कक्ष दुमंजिले हैं।

मालवा की प्राचीन राजधानी धार में दो उल्लेखनीय मस्जिदें हैं। इनमें प्रथम हिंदू मंदिर से संलग्न संस्कृत पाठशाला की इमारत का परिवर्तित रूप है, जिसे अभी भी योगशाला कहते हैं। दूसरी मस्जिद भी हिंदू मंदिरों की सामग्री से बनी है। दोनों मस्जिदों में हिंदू प्रभाव झलकता है। मालवा के मुसलमान शासकों ने मांडू को राजधानी बनाया। हुशंगशाह ने मांडू के किले का निर्माण कराया था। इसके चारों ओर बुर्जयुक्त प्राचीरें थीं, जिनमें महराबयुक्त प्रवेशद्वार थे। इन प्रवेशद्वारों में दरवाजे का विशेष स्थान है। किले के अंदर की इमारतों में जामी मस्जिद सर्वाधिक

विशाल और शानदार है। मांडू की अन्य उल्लेखनीय इमारतों में हिंडोला महल, जहाज महल, हुवांगशाह का मकबरा, रूपमती तथा बाजबहादुर के महल हैं।

तुर्की विजेताओं ने गुजरात के कारीगरों से अनेक इमारतों का निर्माण कराया, जिनकी विशेषता उन पर काष्ठ सरीखी खुदाई, पत्थर पर जाली का काम एवं सज्जा है। गुजरात की राजधानी अहमदाबाद की नींव अहमदशाह ने डाली थी। नगर में जो अनेक इमारतें बनाई गई थीं, उनमें हिंदू मंदिरों की सामग्री का प्रयोग हुआ था। गुजराती शैली की सर्वोत्कृष्ट कृति वहाँ की जामा मस्जिद है, जिसे अहमदशाह ने निर्मित कराया था। वह ऊँचे चबूतरे पर बनी है। इसके आंगन के चारों ओर चार मठ हैं। पर्सी ब्राउन के मतानुसार यह जामा मस्जिद "संपूर्ण देश में नहीं तो कम से कम पश्चिमी भारत में मस्जिद निर्माण कला का श्रेष्ठतम नमूना है।" इसके विविध भाग, सुंदर स्तंभों की कतारें और सुंदर वीथिकाएँ महत्वपूर्ण हैं। अहमदशाह का मकबरा जामा मस्जिद के पूर्व में एक अहाते में निर्मित है। यह वर्गाकार है। इसका प्रवेशद्वार दक्षिणी भाग में है। इसके ऊपर एक गुंबद है। गुजरात के अन्य भागों में अनेक ऐतिहासिक इमारतें हैं। महमूद बेगड़ा (1458-1511 ई.) ने भवनों सहित तीन नगर बसाए थे। चम्पारन में एक जामा मस्जिद बनी थी, जो शिल्पकला की दृष्टि से गुजरात की सबसे सुंदर मस्जिद है। गुजरात स्थापत्य कला शैली को अनेक कारणों से सुंदर माना गया है। गुजराती शैली को 'सर्वाधिक स्थानीय भारतीय शैली' माना गया है।

मुसलमान सुल्तानों ने कश्मीर में भी हिंदुओं की पुरानी परंपरागत पत्थर और काष्ठ की कला शैली ही अपनाई। फलस्वरूप हिंदू-मुस्लिम कला शैलियों का समन्वय हुआ। जैनुअल आबिदीन (1420-1470 ई.) के शासनकाल में कुछ इमारतों का निर्माण हुआ। श्रीनगर में स्थित मंदानी का मकबरा और उससे संलग्न मस्जिद स्थापत्य कला के सुंदर नमूनों में से हैं। बुतशिकन सिकन्दर ने श्रीनगर की जामा मस्जिद का निर्माण कराया था। उसके बाद जैनुअल आबिदीन ने उसका विस्तार कराया। इसे पूर्व मुगल शैली का शिक्षाप्रद उदाहरण माना गया है। इमारती लकड़ी की निर्मित शाह हमदान द्वारा निर्मित मस्जिद कला की दृष्टि से उत्तम है।

दक्षिणी भारत के बहमनी सुल्तानों ने स्थापत्य कला के क्षेत्र में एक नवीन शैली को जन्म दिया, जो भारतीय, तुर्की, मिस्र और ईरानी शैलियों का समन्वय थी। गुलबर्ग और बीदर की मस्जिदें इसी कला की शैली से निर्मित हैं। किंतु बीजापुर में सर्वोत्तम दक्षिणी कला शैली दृष्टिगोचर होती है। मोहम्मद आदिलशाह का मकबरा, जो गोलगुंबद के नाम से विख्यात है, इसी शैली में निर्मित है। इस पर तुर्की कला के आदर्शों का प्रभाव है। इसी प्रकार अन्य उल्लेखनीय इमारतों में गुलबर्ग की जामा मस्जिद, दौलताबाद की मीनार और बीदर का महमूद गावां का मदरसा है। बहमनी इमारतों पर हिंदू स्थापत्य की छाप स्पष्ट दृष्टिगत होती है। मार्शल के अनुसार "बहमनी कला में अपने विकास के प्रारंभिक चरणों में दक्षिणी स्थानीय कला को अपने अस्तित्व के लिए बड़ा कठोर संघर्ष करना पड़ा, किंतु 15वीं शताब्दी के अंत तक यह फिर उभरने लगी और इस प्रकार अंत में भारतीय प्रतिभा ने विदेशी प्रभावों को आत्मसात् कर लिया।"

मुगल वास्तुकला

1. बाबर और उसकी चारबाग व्यवस्था

बाबर केवल कुशल सेनापति ही नहीं था वह कला प्रेमी और सुसंस्कृत व्यक्ति भी था। उसे काव्य से बड़ा प्रेम था और स्वयं भी कविता करता था। प्रकृति से उसे बड़ा लगाव था। अपनी आत्मकथा में वह ऐसे बहुत से उल्लेख करता है जब वह युद्ध से हारकर भागा है और किसी झरने के किनारे बैठकर शराब के प्याले के सहारे शेरो-शायरी में डूब गया है।

जब बाबर आगरा में आया वहाँ भयंकर गर्मी पड़ रही थी। वह पहाड़ी प्रदेश का रहने वाला था और ऐसी हड्डियाँ पिघला देने वाली गर्मी उसने नहीं देखी थी। अपनी आत्मकथा में उसने इन कठिनाइयों का उल्लेख किया है। विशेषकर यहाँ की धूल, गर्मी और लू ने उसे बड़ा परेशान किया। यहाँ यह देखकर उसे बड़ा आश्चर्य हुआ कि न तो लोग योजनाबद्ध रूप से बाग लगाते हैं और न बहते हुए पानी की कोई कृत्रिम व्यवस्था करते हैं। उसे बाग लगाने का बड़ा शौक था और कई बड़े-बड़े बाग उसने काबुल में लगाए थे। समरकंद के विशाल उद्यानों को उसने स्वयं देखा था। फारसी के कवियों जैसे फिरदौसी, सादी, हाफिज और खैय्याम की रचनाओं में उसने बागों के रोचक उल्लेखों का अध्ययन किया था। वास्तव में चारबाग और कृत्रिम जल व्यवस्था की ईरानी पद्धति से वह भली-भांति परिचित था। इसके अनुसार बाग को चार समान भागों में नहरों द्वारा बाँट दिया जाता था। ठीक बीचों-बीच में आवास का महल या आमोदालय बनाया जाता था जिससे बाग उसके चारों ओर रहे! नहरों में फव्वारे लगाए जाते थे। पत्थर की वीथिकाएँ बनाई ज़ाती थीं जिनके दोनों ओर ऊँचे-ऊँचे वृक्षों की पंक्तियाँ रोपी जाती थीं। क्यारियों में फूलदार पौधे लगाए जाते थे। पानी को एक तल से दूसरे तल पर विविध विधानों द्वारा गिराया जाता था। कल-कल करते ये कृत्रिम झरने और फव्वारे सुंदर ही नहीं लगते थे, ये वातावरण को ठंडा और मनोरम भी बना देते थे।

बाबर ने इस पद्धति का सूत्रपात भारत में किया। उसने आगरे में कई बाग लगाए जिनमें बाग-ए-गुलअफ्शां अभी शेष रह गया है। इसे अब रामबाग कहते हैं। उसने रहट द्वारा पानी खींचने की व्यवस्था की। पत्थर की नालियों द्वारा यह पानी बाग में चारों ओर ले जाया गया। स्थान-स्थान पर पत्थर के ही तालाब और झरने बनाए गए। यह व्यवस्था आवास के महल में भी की गई। साथ-साथ पेड़ और पौधे लगाए गए। फिर इसी व्यवस्था द्वारा पानी को दूसरे तल पर उतारा गया। वहाँ फिर नालियों द्वारा उसे चारों ओर ले जाया गया। फिर तीसरे तल पर यही व्यवस्था की गई।

अर्थात् वास्तु के साथ दो अन्य तत्त्वों बाग और पानी की कृत्रिम व्यवस्था को अधिकाधिक सुन्दर रूप में सम्बद्ध कर दिया गया। अब तक अधिकांश इमारतें एकाकी बनाई जाती थीं और बाग न तो उनकी पूर्वभूमि में होता था न पृष्ठभूमि में। अब इमारत बाग के मध्य में ऐसे बनाई गई जैसे सोने की अंगूठी में नगीना जड़ दिया गया हो। उसके साथ बहते हुए पानी की व्यवस्था नालियों, तालाबों, फव्वारों और झरनों ने चार चांद लगा दिए। इन तीनों तत्त्वों के घुलमिल जाने

से एक अभूतपूर्व सौन्दर्य की सृष्टि हुई। बाबर के वंशजों ने अपने महल और मकबरे इसी चारबाग पद्धति के अनुसार बनाए। स्वंतत्र रूप से भी बड़े-बड़े बागों का निर्माण मुगलकाल में हुआ। इस प्रकार बाबर की इस व्यवस्था ने मध्यकालीन वास्तुकला में क्रांतिकारी परिवर्तन कर दिया। उसे एक नई परिभाषा, एक नया रूप और निश्चय ही एक नया सौन्दर्य प्राप्त हुआ। अब इमारत बनाना केवल स्थपति का ही काम नहीं था उसके साथ बाग व्यवस्था का विशेषज्ञ और जलसाधनों के इंजीनियर भी सहयोग देते थे। मुगल इमारत अब एकाकी खड़ी दिखाई नहीं देती थी वरन् पत्थर की नालियों और तालाबों से घिरी हुई बाग के मध्य में प्रस्तुत की जाती थी। बाग और बहते हुए पानी की कृत्रिम व्यवस्था धीरे-धीरे मुगल व्यवस्था के अभिन्न अंग बन गए। हुमायूँ के मकबरे से लेकर ताजमहल तक मुगल मकबरों के प्रस्तुतीकरण का लगभग संपूर्ण सौन्दर्य वास्तुकला के इस रचना विधान के कारण है।

2. हुमायूँ का मकबरा

मुगल वास्तु शैली की सबसे पहली सुंदर कृति दिल्ली में स्थित हुमायूँ का मकबरा है। (चित्र 56)। इसका निर्माण 1564 और 1570 के मध्य हूमायूँ की एक रानी हाजी बेगम ने कराया। चारबाग पद्धति पर ही इसकी योजना बनाई गई है।

मुख्य मकबरा 22 फीट ऊँची महराबदार चौकी के बीचोंबीच स्थित है। यह वर्गाकार है किंतु कोनों को इस प्रकार काट दिया गया है जिससे अठपहलू प्रतीत हो। इमारत के प्रत्येक मुख्य पट के मध्य में एक विशाल महराब है जिसके ऊपर वर्गाकार छत्रियां और दोनों ओर लघु मीनारें हैं। मुख्य महराब के दोनों ओर उप-महराब बनाए गए हैं। कुछ भागों को आगे बढ़ा दिया गया है, कुछ कोनों को काट दिया गया है। यह विधान बड़े सुरुचिपूर्ण ढंग से हुआ है और बड़ा सुन्दर लगता है। अंदर मध्य में एक अठपहलू हाल है, चारों कोनों पर चार छोटे अठपहलू कमरे हैं और भुजाओं में चार अन्य कमरे हैं। सब आलिन्दों द्वारा परस्पर सम्बद्ध हैं। सबसे ऊपर एक विशाल दुहरा गुम्बद है। जिसके चारों ओर चार छत्रियाँ हैं। गुम्बद बल्बाकार है। उस पर पद्मकोश या कलश नहीं है। छत्रियाँ गुम्बद से कुछ अधिक हट गई हैं। अगर वे कुछ और समीप होतीं तो उर्ध्व रेखा कहीं अधिक सुन्दर लगती। रचना पत्थर की है जिसमें श्वेत संगमरमर का भी प्रयोग किया गया है।

चारबाग पद्धति का सूत्रपात्र तो बाबर ने किया किंतु इमारत की चतुर्मुखी वर्गाकार योजना से भारतीय कारीगर परिचित था। हमारे यहाँ सर्वतोभद्र मंदिर इसी शैली पर बनते थे। इसमें केन्द्र में गर्भगृह और चारों ओर चार मण्डप होते थे। गर्भगृह के ऊपर मुख्य शिखर और मण्डपों के ऊपर चार उप-शिखर होते थे और ऊर्ध्व रेखा पर इस प्रकार पंचरत्न विधान बनता था। हुमायूँ के मकबरे में मूलरूप से यही योजना है और अनुमान है कि इसकी प्रेरणा भारतीय वास्तु सिद्धांतों से ली गई।

हुमायूँ का मकबरा मुगल वास्तुकला की उत्कृष्ट कृति है। इसमें विभिन्न प्रेरणाओं का सुंदर सम्मेलन हुआ है। गुंबद के साथ छत्रियों का प्रयोग यहाँ आकर परिपक्व अवस्था को पहुँचा और आगे चलकर ताजमहल में उसका चरम सौंदर्य प्रकट हुआ। इसमें महराब के साथ शीर्ष पर भी छत्रियों का सुंदर प्रयोग किया गया। लाल पत्थर के साथ श्वेत संगमरमर का उपयोग बड़ी कुशलता से हुआ है। इमारत के विभिन्न भागों में तालमेल बनाए रखने का प्रयत्न किया गया है। फिर भी मकबरे को आवश्यक उठान नहीं दिया जा सका है। यह दोष स्थपति ने अन्य मकबरों में ठीक किया है। हुमायूँ के मकबरे का इस दृष्टि से मुगल मकबरों के विकास में महत्वपूर्ण स्थान है। ताजमहल ने भी रचनाविधि की मूल प्रेरणा इसी मकबरे से ली।

3. मुहम्मद गौस का मकबरा

लगभग उसके समकालीन ही ग्वालियर में प्रसिद्ध सूफी संत मुहम्मद गौस के मकबरे का निर्माण हुआ। इसकी रचना विधि कुछ भिन्न है। मध्य में एक वर्गाकार हाल है जिसके चारों ओर बरामदा है। ऊपर छज्जा दिया गया है। छज्जे के तोड़े बड़े कलात्मक हैं। बरामदे को सुंदर डिजाइनों में काटी हुई पत्थर की जालियों द्वारा मुख्य द्वार को छोड़कर चारों ओर से बंद कर दिया गया है। वे जालियाँ भी बड़ी सुंदर लगती हैं। छज्जे के तोड़े और जालियों को देखकर अनुमान होता है कि इसकी रचना में गुजरात के कारीगरों ने भाग लिया होगा। ये दोनों ही तत्त्व स्पष्ट ही गुजरात की कला से प्रेरित हैं। हाल के ऊपर कोण महराबों पर आधारित एक विशाल गुम्बद है जिसके चारों कोनों पर चार छत्रियाँ हैं।

इस मकबरे में एक और विशिष्ट तत्त्व का सूत्रपात हुआ। इसके चारों कोनों पर और प्रत्येक भुजा के मध्य में अट्टालिकाएँ सम्बद्ध की गईं। कोनों की अट्टालिकाएँ षटपहलू और तिमंजिली हैं जिनमें सबसे ऊपर छत्रियाँ हैं। भुजाओं के मध्य में इनकी रचना वर्गाकार है। इनके ऊपर की छत्री भी वर्गाकार है। उर्ध्व रचना में छत्रियाँ देने की योजना के अनुसार ही इनका विधान किया गया है। गुम्बद को चारों ओर से विभिन्न तलों में विभिन्न प्रकार की छत्रियों द्वारा ऐसे घेर दिया गया है जैसे कमल के फूल के चारों ओर पत्ते गिर जाते हैं। इससे इस इमारत का सौन्दर्य निखर उठा है। छत्रियाँ लिये हुए सम्बद्ध अट्टालिकाओं का प्रयोग बाद में बड़े व्यापक स्तर पर आगरे में अकबर के मकबरे में किया गया और निश्चय ही वहाँ इस तत्त्व की प्रेरणा मुहम्मद गौस के मकबरे से ली गई। इस दृष्टि से इस इमारत का मुगल वास्तुकला के विकास में बड़ा महत्व है।

4. अकबरी शैली की इमारतें

अकबर ने 1558 में आगरा को राजधानी बनाया। 1571 में वह फतेहपुर सीकरी जाकर रहने लगा। इन दोनों ही नगरों में उसने बड़ी-बड़ी इमारतें बनवाईं। उसने गुजरात, राजस्थान और अन्य प्रांतों से देशी कारीगर बुलवाये और उन्हें निर्माण कार्य में लगा दिया। रेतीला लाल पत्थर यहाँ बहुतायत से मिलता है और इसी पत्थर से इन इमारतों का निर्माण हुआ। अकबर किसी धार्मिक

अंकुश का कायल नहीं था और उसने इन कारीगरों को अपने ढंग से कार्य करने की पूर्ण स्वतंत्रता प्रदान की। इन कारीगरों में गुजरात के कारीगर प्रमुख थे। इनके पूर्वज पहले लकड़ी की इमारतें बनाते थे। लकड़ी के ही खम्भे, सर्पाकार तोड़े, तोरण, प्रसादिकाएँ आदि तत्त्व बनते थे। धीरे-धीरे उन्होंने पत्थर में काम करना प्रारंभ किया और यही तत्त्व पत्थर में बनाए जाने लगे। मूल कमनीयता बनी रही। प्राचीनकाल में ये लोग हिन्दू और जैनों के मंदिर बनाते थे, अहमदशाही शासकों के अधीन उन्होंने लगभग इन्हीं तत्त्वों से मस्जिदों और मकबरों का निर्माण किया। उन्हीं के साथ ये तत्त्व आगरा और फतेहपुर सीकरी आए। अकबर की इमारतों में इन तत्त्वों का विशेष रूप से प्रयोग हुआ है और इस प्रकार इन इमारतों की अपनी एक विशेष शैली बन गई। जिसमें महराब और गुम्बद तो है किंतु जिसमें इनसे कहीं अधिक व्यापक प्रयोग खम्भों, तोड़ों, छज्जों, प्रसादिकाओं और छत्रियों का हुआ है। रचना अधिकांशतः क्षैतिज है। पत्थर में कटाई के काम द्वारा अलंकरण किया गया है। सुंदर जालियों का प्रयोग हुआ है। इस्लाम में जीवधारियों की अनुकृतियाँ बनाना वर्जित होते हुए भी इस शैली के अंतर्गत इनका व्यापक चित्रण हुआ है। हिंदुओं के कमल, चक्र, स्वस्तिक, पूर्ण घट आदि रूपकों का भी मुक्तहस्त प्रयोग किया गया है।

अकबर ने 1565 में आगरा के किले का पुनर्निर्माण आरंभ कराया। पहले यह दुर्ग ईंटों का था। अब इसे लाल पत्थर का बनाया गया। अत्यंत ऊँची, दृढ़ और प्रशस्त प्राकारें बनाई गईं जिनमें बंदूकों और तोपों के युद्ध के अनुसार कंगूरों, ढलवाँ छिद्रों और झिरियों का विधान किया गया। सैनिक दृष्टि से इस प्रकार इस दुर्ग को लगभग अभेद्य बना दिया गया। अबुलफजल के अनुसार अकबर ने इस किले में लगभग 500 से ऊपर इमारतें बनवाईं। इनमें से अब केवल देहली और अमरसिंह द्वार और अकबरी और जहाँगीरी महल आदि ही शेष रह गए हैं।

जहाँगीरी महल अकबर के काल की एक अत्यंत उत्कृष्ट कृति है। इसका यह नाम 19वीं शताब्दी में पत्थर के उस हौज के कारण पड़ गया जिसे जहाँगीर ने 1611 में बनवाया था और जो इस महल के सामने गड़ा पाया गया और अब भी इसके मुख्य द्वार के सामने रखा है। वास्तव में इस महल को अकबर ने ही अपने रनिवास के लिये बनवाया था। मुखपट की योजना बड़ी आलंकारिक है। कृत्रिम महराबों के ऊपर तोड़ों पर आधारित छज्जा और खुले हुए दर बड़े अच्छे लगते हैं। दोनों ओर दो अट्टालिकाएँ और उन पर बड़ी आकर्षक छत्रियाँ हैं। अंदर एक विशाल आंगन है जिसके चारों ओर कमरों, हाल वीथिकाओं का आयोजन किया गया है। उत्तरी हाल में मकर की आकृति के तोड़ों से छत का बोझ सँभालने के लिए काम में लाया गया है। यह बड़ी सुंदर विधि है। अन्य कमरों में समतल छतों की विविध वीथियों का प्रयोग हुआ है। आँगन के चारों ओर अत्यन्त कलात्मक तोड़ों पर छज्जा आधारित किया गया है। ऊपर की मंजिल में महराब की आकृति के झरोखों की श्रृंखला दी गयी है। यहाँ भी बड़े आकर्षक तोड़ों का प्रयोग हुआ है। शीर्ष पर छत्रियाँ हैं। सबसे ऊपर की मंजिल में कार्तिकेय का विशाल मंदिर था जिसके मयूराकृति के तोड़े अब भी शेष रह गये हैं। इस विशाल महल की सम्पूर्ण रचना लाल पत्थर की है और उसमें खम्भे, तोड़े, छज्जे और छत्रियों का व्यापक प्रयोग किया गया है। इसमें हंस,

तोते, मोर और मकर की अनुकृतियां हैं। कमल और श्रीवत्स के रूपक हैं। स्पष्ट ही यह महल हिन्दू मंदिर सा-लगता है। यह अकबर की वास्तु शैली का सही अर्थों में परिचायक है। अकबर ने 1571 में फतेहपुर सीकरी जाकर रहना प्रारंभ किया।

फतेहपुर सीकरी में अकबर के जाकर रहने के फलस्वरूप बड़ी-बड़ी इमारतों का निर्माण हुआ। इनमें जामी मस्जिद, सलीमचिश्ती का मकबरा और कुछ महल जैसे तथाकथित जोधाबाई और बीरबल के महल, मरियम और सुल्ताना के महल, ख्वाबगाह और पंचमहल, और तथाकथित दीवानेखास और दीवानेआम मुख्य हैं। जामी मस्जिद का निर्माण 1571 में हुआ। यह भारत की सर्वश्रेष्ठ मस्जिदों में गिनी जाती है। मध्य में एक विशाल आंगन है जिसके उत्तर, पूर्व और दक्षिण की ओर खम्भेदार चौड़े दालान हैं। उनके मध्य में एक-एक विशाल द्वार था। पूर्व का बादशाही दरवाजा ज्यों का त्यों है। उत्तर के द्वार को बन्द करके कब्रिस्तान में मिला दिया गया है। दक्षिण के मूल द्वार को तोड़कर दक्षिणी भारत के कुछ प्रदेश (अहमदनगर, असीरगढ़ आदि) को जीतने के उपलक्ष्य में 1601 में बुलंद दरवाजा का निर्माण हुआ। 176 फीट ऊँचा यह दरवाजा संसार के सर्वोच्च द्वारों में गिना जाता है। लाल और भूरे पत्थर में बड़े सुरुचिपूर्ण ढंग से इसका निर्माण हुआ है। चौड़ी सीढ़ियों के अंत में विशाल महराब है जिसके ऊपर छत्रियों का बड़ा सुंदर संयोजन हुआ है। पत्थर में कटाई के अतिरिक्त संगमरमर द्वारा जड़ाऊ काम भी किया गया है। कुछ भाग आगे बढ़ाकर प्रकाश में लाए गए हैं, कुछ में दर बनाये गए हैं और इस प्रकार छाया और प्रकाश के सिद्धान्त के द्वारा कृति को प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत किया गया है। यह दरवाजा मस्जिद का एक गौण अंग होते हुए भी अपने आप में एक विशाल और भव्य इमारत है। यह उस युग की शान-शौकत और नवीन वास्तु विधानों की रचना करने की क्षमता का परिचय कराता है।

अकबर के बनवाए हुए महलों में जोधाबाई का महल सबसे बड़ा है। जोधाबाई के महल में पूर्व की ओर एक सुंदर द्वार और पोली है। शेष सब तरफ से ऊँची-ऊँची प्राचीरों द्वारा वह बंद है। बाहरी दीवार में दूसरी मंजिल में स्थान-स्थान पर प्रसादिकाएँ बनाई गयी हैं जो झरोखों-सी सुंदर लगती हैं। पौली भी आंगन में सीधी नहीं खुलती है वरन् मुड़कर जाती है जिससे बाहर से आंगन में नहीं देखा जा सकता है। यह विन्यास मध्यकाल में प्रचलित पर्दे की प्रथा के अनुसार किया गया था। अंदर महल को हवादार बनाए रखने के लिए बीचोंबीच में एक विशाल आंगन है जिसके चारों ओर आवास के भवनों की व्यवस्था है। चारों भुजाओं के मध्य में बने भवन विशेषरूप से सजाये गए हैं। ये दुमंजिले हैं। नीचे जैन मंदिरों के कोणात्मक खम्भों और दीवार में तोरणों का प्रयोग किया गया है। जालियोंदार प्रसादिकाएँ दी गयी हैं। ऊपर छत्रियाँ बनाई गई हैं। इनमें भी पश्चिम की ओर स्थित भवन कदाचित मंदिर की तरह प्रयुक्त होता था। अत्यंत कलात्मक तोरणों से सज्जित आलय शायद मूर्तियाँ रखने के काम आते होंगे। मंदिरों जैसे झुके आयन भी बड़े सुंदर लगते हैं। सम्पूर्ण रचना पत्थर की है। इनमें कमल, चक्र और श्रीवत्स तो हैं ही चित्र वल्लरी पर हंसों की पंक्तियाँ भी अंकित की गयी हैं। कोनों पर ऊपर की मंजिल

में गुम्बदार कक्ष बनाये गए हैं। उत्तर और दक्षिण के भवनों की छतें ढलवाँ और खपरैल के डिजाइन की हैं और उन पर रंगीन टाइल्स का काम किया गया है। दक्षिण की ओर स्नानागार, हम्माम और दासियों के रहने की व्यवस्था थी।

जोधाबाई के महल के पड़ोस में ही मरियम का दुमंजिला महल स्थित है। इसे रंगीन महल भी कहते हैं और इसका यही नाम सार्थक है। इसकी दीवारों पर बड़ी सुंदर चित्रकारी की गयी थी जिनमें युद्ध के दृश्य, शिकार, खेल, हाथियों के युद्ध, जुलूस आदि चित्रित थे। कुछ अब भी शेष रह गए हैं। परियों के चित्र भी बनाये गये थे। और तो और हिन्दू देवी-देवताओं की अनुकृतियां भी अंकित थीं। वास्तव में यह अकबर का चित्र मंदिर सा लगता है। पंचमहल उसके उत्तर-पूर्व में स्थित है। खम्भों द्वारा निर्मित यह पाँच मंजिल की खुली इमारत सभाओं और उत्सवों के काम आती होगी। इसमें विविध प्रकार के खम्भों का प्रयोग हुआ है। सम्पूर्ण रचना पत्थर की है।

इसी प्रांगण में तथाकथित दीवाने खास स्थित है। लाल पत्थर की यह वर्गाकार इमारत बड़े सुंदर ढंग से बनाई गई है। बाहर प्रत्येक मुखपट के मध्य में तोड़ों और उदम्बर द्वारा एक द्वार बनाया गया है जिसके दोनों ओर जालियाँ हैं। इनके ऊपर चारों ओर सुंदर आकृति के तोड़ों पर जालियोंदार गौख दी गयी है। बाहर से यों यह दूसरी मंजिल सी प्रतीत होती है। इसमें प्रत्येक भुजा में तीन दर हैं। इसके ऊपर का छज्जा विशेष रूप से झुका हुआ और कोणात्मक है। सबसे ऊपर चारों कोनों पर चार सुंदर छत्रियाँ है। बीच के चबूतरे पर भी अगर एक गुम्बद होता तो बड़ा सुंदर लगता।

5. जहाँगीरकालीन इमारतें

आगरा के समीप ही सिकन्दरा नामक स्थान पर अकबर ने 1605 में अपने लिये मकबरा बनवाना प्रारंभ किया। उसकी केवल चौकी ही बन पाई थी कि अकबर की मृत्यु हो गयी। जहाँगीर ने उसे 1612 में पूरा कराया। चारबाग पद्धति पर ही इसका विन्यास हुआ।

मुख्य द्वार स्वयं में एक भव्य इमारत है। अंदर एक विशाल हाल है। प्रत्येक मुखपट के मध्य में एक महराब है जिसके दोनों ओर छोटे महराबदार आलय हैं। प्रत्येक महराब पर संगमरमर में सुरुचिपूर्ण ढंग से काटे हुए फारसी के अभिलेख हैं। आलयों में उत्कीर्तित चित्रकारी की गयी है। बाहर की ओर सब तरफ विभिन्न रंग के पत्थरों से बड़ा सुंदर जड़ाऊ काम लिया गया है। रेखाकृत और अरबीसम डिजाइनों का प्रयोग हुआ है। वैसे इमारत लाल पत्थर की है। ऊपर शीर्ष पर लाल पत्थर की ही छत्रियाँ बनाई गई हैं। छत्रियों के साथ इमारत के चारों कोनों पर संगमरमर की चार सुन्दर मीनारें बनाई गई हैं। ये गर्जराकार हैं। पहली मंजिल में कुतुबमीनार जैसी धारियां हैं इसके ऊपर गौख है किंतु तोड़ों की अपेक्षा उसको निच्यावाश्म पर आधारित किया गया है। दूसरी और तीसरी मंजिल की गौखों में तोड़ों का प्रयोग किया गया है। सबसे ऊपर एक अत्यन्त सुंदर छत्री है जो बड़े प्रभावशाली ढंग से इस मीनार को मुकुट पहनाती है। चारों मीनारें मिलकर इस द्वार की शोभा में चार चाँद लगा देती हैं। उत्तरी भारत में इतने अधिक विकसित रूप में

मीनारों का यह प्रयोग पहली बार किया गया और निश्चय ही यह इस इमारत का एक विशिष्ट तत्त्व है।

जहाँगीर के राज्यकाल में और भी बहुत सी इमारतें बनवाई गईं। जहाँगीर ने अपनी माँ का मकबरा भी सिकन्दरे में ही बनवाया। कांच महल नामक एक सुंदर महल का भी निर्माण हुआ। वह अपनी आत्मकथा में एक और महल का उल्लेख करता है जो उसने किले में बनवाया था। यह अब शेष नहीं है। इन दो मकबरों के अतिरिक्त जहाँगीर के कुछ बाग भी विख्यात हैं। काश्मीर में श्रीनगर में उसने 1619 में शालीमार बाग बनवाया जो संसार के सुंदरतम बागों में गिना जाता है। यह विभिन्न तलों में बनाया गया है। फुहारोंदार एक बड़ी नहर इसके मध्य में बहती है। पत्थर की वीथिकाओं और सीढ़ियों के बीच में बहती हुई और झरने के रूप में गिरती हुई यह नहर बड़ा सुंदर वातावरण उपस्थित करती है। स्थान-स्थान पर तालाबों और मण्डपों की व्यवस्था है। इस झील पर आसफ खां ने ऐसे ही एक सुंदर बाग निशात बाग का निर्माण कराया। मध्यकाल के बागों में यह दोनों सर्वोत्कृष्ट उद्यान हैं जिसमें केवल पेड़ पौधे ही नहीं हैं, मनोरम वास्तु विधानों के साथ बहते हुए पानी की सुंदर व्यवस्था भी की गई है। जहाँगीर ने लाहौर में रावी के किनारे दिलकुश बाग बनवाया। वह आगरा की गर्मी सहन नहीं कर पाता था और लाहौर या काश्मीर में रहता था। दिलकुश बाग पर उसने विशेष ध्यान दिया क्योंकि यहीं उसने अपना मकबरा बनाने का निश्चय किया था। बाग को चार बड़े भागों में और प्रत्येक भाग को फिर चार उप भागों में नहरों द्वारा बाँटा गया है। केन्द्र में मकबरे की योजना है। 1627 में उसकी मृत्यु के पश्चात् नूरजहाँ ने यह मकबरा बनवाया। यह एक मंजिला है। कोनों पर पांच मंजिल की मीनारें सम्बद्ध हैं। डिजाइनों में फूल पत्तियों की बहुतायत है। जहाँगीर को प्रकृति से बड़ा प्रेम था और वह चित्रकला में और अपनी इमारतों में यह प्राकृतिक रूपक ही प्रदर्शित करना चाहता था।

6. शाहजहाँ का स्वर्णयुग

शाहजहाँ के काल में मुगल वास्तुकला अपनी परिपक्व अवस्था पर पहुँची और कुछ अत्यन्त सुंदर इमारतों का निर्माण हुआ। यह निस्संदेह वास्तु का स्वर्ण युग था और विकास की यह चरम स्थिति थी जिसके पश्चात् केवल पतन की ही संभावना रह जाती है।

इस काल की इमारतों को अध्ययन की दृष्टि से तीन भागों में बाँटा जा सकता है :

1. प्रशासकीय और आवास के महल,
2. मस्जिदें, और
3. ताजमहल, जो अपने वर्ग की संसार में अकेली इमारत है।

आगरा के किले में शाहजहाँ ने अकबर की बनवाई लाल पत्थर की बहुत सी इमारतों को तुड़वा दिया और उसके स्थान पर श्वेत संगमरमर के महल बनवाये। खासमहल आवास के लिए

बना। यह अंगूरी बाग नामक एक बाग के सामने एक ऊँची चौकी पर स्थित है। सामने एक बड़े हौज में फुहारों की व्यवस्था है। अंदर के कक्ष में संगमरमर पर सुनहरी चित्रकारी की गई। बाहर दालान में कटाई का अलंकरण भी है। इस प्रांगण के उत्तरी-पूर्वी कोने पर शीशमहल स्थित है। यह नहाने का कमरा नहीं है जैसी भ्रांति प्रचलित है। यह गर्मी के मौसम में रहने के काम आता था। इसमें पानी के झरने, फुहारे और एक नहर की व्यवस्था है। अंदर की दीवारों पर शीशे का जड़ाऊ काम किया गया है जो किसी भी कृत्रिम प्रकाश में दमदमाता है। इस शीशे की कला की प्रेरणा 'बैयजन्टाइन' से आयी जहाँ इसका भीतरी अंलकरणों में व्यापक प्रयोग होता था। तत्कालीन इतिहासकार अब्दुल हमीद लाहौरी ने इस सम्बन्ध में हलब (अर्थात् अलीपो) नगर का उल्लेख भी किया है। भारत में मध्यकालीन शीश महलों में यह शीश महल सर्वोत्कृष्ट कृति है।

शीश महल के ठीक ऊपर दीवाने खास स्थित है। यह प्रशासकीय इमारत है। जहाँ विशेषरूप से दरबार का आयोजन होता था और केवल विशिष्ट व्यक्तियों, मंत्रियों और मनसबदारों को ही आमंत्रित किया जाता था। यहाँ महत्वपूर्ण विषयों पर विचार-विमर्श होता था। यहीं औरगंजेब ने शिवजी से पहली बार भेंट की थी। इसमें अंदर एक विशाल हाल है जिसमें अत्यंत कलात्मक शिलापट्ट लगे हैं। बाहर चौड़ा दालान है जिसमें तीन तरफ दुहरे खम्भों का प्रयोग किया गया है। इन पर 9 दाँतों वाले बड़े सुंदर महराब बने हैं। इस इमारत का संपूर्ण सौन्दर्य इन दुहरे खम्भों और इन महराबों के कारण है। इन इमारतों में अधिकांशतः समतल छतों का प्रयोग हुआ है। जिस प्रांगण के दक्षिणी-पूर्वी कोने पर दीवाने खास स्थित है उसे मछी भवन कहते हैं। मूलरूप से यहाँ तालाबों और झरनों की व्यवस्था थी जो अब शेष नहीं है।

इससे कुछ आगे उत्तर की ओर मोती मस्जिद स्थित है। यह मुगलों की मस्जिदों में ही नहीं संसार की सर्वोत्कृष्ट मस्जिदों में गिनी जाती है। बाहर से इसमें लाल पत्थर की रचना है किंतु सम्पूर्ण भीतरी भाग और उर्ध्व रचना संगमरमर की है। इसके मध्य में खुला हुआ आंगन है जिसके तीन ओर खम्भे और महराबदार दालान हैं जिनके ऊपर सुंदर छज्जा है। मुख्यद्वार पूर्व की ओर है। दो उपद्वार उत्तरी और दक्षिणी भुजा के मध्य में भी बनाये गये हैं जिनमें दोनों ओर सीढ़ियों का विधान है। आराधना भवन का विन्यास बड़े सुन्दर ढंग से हुआ है। मुखपट में चौड़े खम्भों पर सात, परम्परागत 9 दातोंदार महराब हैं। खम्भों द्वारा सम्पूर्ण हाल को वर्गाकार उपभागों में बाँट दिया गया है। मध्य के तीन भागों की छतें गोल हैं और उनके ऊपर गुम्बद बने हैं, शेष सभी की छतें समतल हैं। इसमें स्थपति ने विशेष ध्यान उर्ध्व रचना पर दिया है। प्रत्येक महराब के ऊपर एक कमनीय वर्गाकार छत्री है। तीनों गुम्बद दुहरे और बल्बाकार हैं और बड़े प्रभावशाली ढंग से आराधना भवन को आच्छादित करते हैं। चारों कोनों पर चार छत्रियाँ और बनाई गई हैं और ऐसी ही आठ खम्भेदार दो छत्रियाँ मस्जिद की पूर्वी भुजा के कोनों पर स्थित हैं। सब मिलाकर यह विन्यास बड़ा सुंदर लगता है। वास्तव में शाहजहाँ एक अद्वितीय मकबरा बनवाने के पश्चात् एक अद्वितीय मस्जिद बनवाना चाहता था जो उसके राज्यकाल की सम्पन्नता और कलात्मक उपलब्धियों का ताजमहल की तरह से स्मारक हो। इस युग के सांस्कृतिक

विकास की यह चरमावस्था थी।

शाहजहाँ ने दिल्ली में लाल किले का निर्माण कराया। यह आगरा के किले की तरह दृढ़ और अभेद्य नहीं है, न ही शाहजहाँ के युग में ऐसे विशाल दुर्ग को बनाने की कोई आवश्यकता ही थी। सम्राट के रहने की व्यवस्था करनी थी और उसके लिए इतनी सुरक्षा काफी थी। यमुना की ओर आवास के बड़े-बड़े महल बनाए गए। उनमें बहते हुए पानी की समुचित व्यवस्था की गई। एक बड़ी नहर इन महलों के बीच से होकर जाती है और इससे सम्बद्ध स्थान-स्थान पर झरनों, फुहारों और लघु तालाबों का विधान है। इसे 'नहरे बहिश्त' या स्वर्ग की नहर कहते हैं। यह नहर हम्माम, दीवान ए खास, ख्वाबगाह, मिजान ए इन्साफ आदि महलों से होती हुई रंगमहल में आती है। आवास के ये महल इस प्रकार जल महल से लगते हैं। दीवाने खास में इसका सौन्दर्य ऐसा अनोखा है कि शाहजहाँ ने वहाँ फारसी में यह उक्ति अंकित करा दी है– अगर पृथ्वी पर कहीं स्वर्ग है तो वह यहीं है। रंग महल में भी उसकी छटा दर्शनीय है। विशेष रूप से इसके मध्य में स्थित कमल सर का सौन्दर्य तो अवर्णनीय है। बीस फुट वर्ग के एक भाग में संगमरमर का जड़ाऊ एक विशाल कमल का फूल बनाया गया है जिसके मध्य में कमल की कली जैसा ही एक फुहारा है। पानी फुहारों से निकलकर पंखुड़ियों पर गिरता है और पंखुड़ियों से गिरकर नहर में मिल जाता है। पानी की गति से पंखुडियाँ उठती गिरती हुई प्रतीत होती हैं। यह अद्भुत कला है और भारतीय कारीगर की उस क्षमता का द्योतक है जिसके कारण वह एक युग में बोलती हुई अप्सराओं की मूर्तियाँ बना सकता है और दूसरे युग में अगर उसे मूर्तियाँ बनाने की स्वंतत्रता प्राप्त नहीं है तो वह सजीव फूलों और पत्तियों का निर्माण कर सकता है। संसार में और कहीं भी ऐसे कलात्मक विधान नहीं हैं। इन महलों के समीप ही मोती मस्जिद स्थित है। यह कहना सही नहीं है कि इसे औरंगजेब ने बनवाया। यह शाहजहाँ के स्वर्णयुग की और उसी की शैली की कृति है।

इस मस्जिद की उर्ध्व रचना का विन्यास अत्यंत सुंदर ढंग से किया गया है। तीन दुहरे बल्बाकार गुम्बद हैं जिनमें बीच का गुम्बद बड़ा और ऊँचा उठा हुआ है। इन पर बड़ी सुंदर धारियाँ दी गयी हैं। इनके पद्मकोश और कलश भी बड़े प्रभावशाली हैं – गुम्बद इमारत को मुकुट पहनाते हैं और ये गुम्बद को सुशोभित करते हैं। इन गुम्बदों को छत्रियों द्वारा चारों ओर से घेर दिया गया है। कुल मिलाकर यह सुंदर विधान है और उस युग के कलाकार के सौन्दर्य बोध का परिचायक है। सीमेंट की चादरों से बैरकें बनाये जाने वाले युग में इस अद्भुत ऊर्ध्व रचना का महत्व लोग कठिनाई से समझ पाते हैं। इन घरेलू मस्जिदों के अतिरिक्त शाहजहाँ के युग में बड़ी-बड़ी मस्जिदों का भी निर्माण हुआ जिनमें आगरा और दिल्ली की जामी मस्जिदें प्रमुख हैं। आगरा की जामा मस्जिद का निर्माण 1648 के लगभग जहाँआरा ने कराया। इसके सामने का भाग 1857 में अंग्रेजों ने तुड़वा दिया था। जिससे इस पर तोपें रखकर किले के दिल्ली द्वार को ध्वस्त नहीं किया जा सके। दिल्ली की जामी मस्जिद इससे बड़ी और इससे कहीं अधिक सुंदर है। इसे शाहजहाँ ने 1650 में पूर्ण कराया।

7. ताजमहल

संसार के इस महान आश्चर्य का निर्माण शाहजहाँ ने अपनी प्रिय पत्नी अर्जुमंद बानू बेगम की स्मृति में कराया। वह अतिशय सुन्दरी थी। शाहजहाँ ने उसे मुमताज महल का नाम दिया था। वह उससे अनन्य प्रेम करता था। 1622 में जब शाहजहाँ ने जहाँगीर के विरुद्ध विद्रोह कर दिया था तो मुमताज उसके साथ थी। पाँच वर्ष के विद्रोही जीवन में मुमताज उसके साथ मालवा, दक्षिण, उड़ीसा, बंगाल और बिहार में मारी-मारी फिरी। 1628 में जब शाहजहाँ गद्दी पर बैठा तब कहीं जाकर चैन मिला किंतु 1630 में ही जब शाहजहाँ विद्रोही खान-ए-जहान लोदी का पीछा कर रहा था, मुमताज महल की बुरहानपुर में मृत्यु हो गई। शाहजहाँ को इससे बड़ा गहरा धक्का लगा। वह फूट फूट कर रोया। उसके इतिहासकार लाहौरी का कथन है कि इस दुर्घटना से पहले उसकी दाढ़ी में बीस बाल भी सफेद नहीं थे, इस दुर्घटना के पश्चात् उसके अधिकांश बाल सफेद हो गये। उसने मनोविनोद, भड़कीले कपड़े, उत्तम पकवान आदि का परित्याग कर दिया और शोक में डूबा रहा। इसी प्रिय मुमताज की स्मृति को अमर कर देने के लिये उसने एक सुंदर मकबरा बनवाने का निश्चय किया। वैसे भी उसे इमारतें बनवाने का बड़ा शौक था और इस माध्यम से उसे अपनी रुचि को अधिकाधिक सुंदर ढंग से व्यक्त करने का अवसर मिल गया।

यहाँ भी चार-बाग योजना का प्रयोग हुआ किंतु उसमें एक बड़ा सुंदर परिवर्तन कर दिया गया। अब तक मकबरे चार-बाग के मध्य में बनाये जाते थे। यहाँ मध्य में संगमरमर का एक तालाब दिया गया और मकबरे को बाग के उत्तर में ठीक यमुना नदी के ऊपर बनाया गया। सम्पूर्ण बाग को जैसे प्रेम के इस सुंदर स्मारक के चरणों में रख दिया गया है। इससे इसके सौन्दर्य में एक विशेष अंतर पड़ा। अब तक पूर्व भूमि और पृष्ठभूमि एक बाग द्वारा ही प्रस्तुत होती थी। यहाँ बाग से केवल पूर्व भूमि का विन्यास हुआ। संगमरमर के इस विशाल भवन की पृष्ठभूमि में खाली नीला आकाश आ गया। यह आकाश नित्य प्रति नये रंग बदलता है और श्वेत संगमरमर की इमारत पर आकाश के ये रंग प्रतिबिम्बित होते हैं। प्रातः इसका रंग नर्गिस जैसा हल्का पीला सा लगता है। दोपहर में वह श्वेत कमल सा दमदमाता है। सांझ को गुलाब के फूल की तरह रक्तिम सा हो जाता है। तारों भरी रात में जैसे यह सो जाता है। विभिन्न प्राकृतिक अवस्थाओं में इसे विभिन्न 'मूडों' में देखा जा सकता है। ताज सदा नया लगता है। क्रमशः बदलती रहने वाली पृष्ठभूमि के कारण ही यह जादू संभव हुआ है। स्थपति ने ताज के सौन्दर्य को प्रकृति के साथ अभिन्न रूप से सम्बद्ध करके सही अर्थों में यहाँ कमाल कर दिया है।

एक बृहत आयताकार मंच पर ताजमहल ठीक जमुना के ऊपर बनाया गया है। इसके एक ओर मस्जिद है और दूसरी ओर वैसा ही मेहमानखाना है। ये दोनों लाल पत्थर की इमारतें हैं जिनमें संगमरमर का प्रयोग हुआ है। अंदर उत्कीर्तित चित्रकारी की गयी है। जिस चौकी पर ताजमहल स्थित है वह 19 फीट ऊँची है। यह सारी रचना श्वेत संगमरमर की है। मुख्य मकबरा वर्गाकार है किंतु इसके कोणों को इस प्रकार काट दिया गया है जिससे वह अठपहलू प्रतीत होता

है। इन कोनों के ठीक सामने चौकी पर चार अत्यंत सुंदर मीनारें हैं जिनके ऊपर छत्रियाँ सुशोभित हैं। ये मीनारें बड़े आकर्षक ढंग से इमारत को चारों ओर से घेरे हुए हैं जैसे कोई रानी अपनी सहेलियों के बीच खड़ी हो।

प्रत्येक भुजा में एक विशाल महराब है जिसके दोनों ओर दुमन्जिले लघु महराब हैं। कोनों पर भी ऐसे ही लघु महराब हैं। सामने के महराबों की योजना आयताकार है जबकि कोनों के महराबों को अठपहलू योजना पर बनाया गया है जिससे वे किसी भी स्थान से देखने पर मुखपट से सम्बद्ध दिखाई दें। अंदर 80 फीट ऊँचा एक विशाल हाल है। कोनों पर चार छोटे अठपहलू कमरे हैं। भुजाओं के केन्द्र में वर्गाकार कक्ष है। इन सबको बड़े-बड़े आलिन्दों द्वारा सम्बद्ध किया गया है। दूसरी मंजिल पर भी यही विधान है। प्रवेश द्वार को छोड़कर सभी बाहरी महराबों को छोटे-छोटे शीशे के टुकड़ों को पत्थर की जालियों में लगाकर बंद कर दिया गया है। अंदर की इस योजना की प्रेरणा हुमायुँ के मकबरे से ली गई। वैसे हमारे यहाँ हेमकूट मंदिर भी इसी योजना पर बनते थे और यह संभव है कि मूलरूप से यह विन्यास हेमकूट मंदिर की योजना से प्रेरित हो।

अंदर के हॉल में महराबों के ऊपर कुरान की आयतों के अभिलेख अंकित हैं। शिलापट्टों पर विशेष अलंकरण किया गया है। इनके मध्य में संगमरमर में कमनीय ढंग से काटे गए घट पल्लव हैं जिनमें फूल पत्तियों को वास्तविक रूप में प्रस्तुत किया गया है। इनके हाशियों में रंगीन पत्थरों का जड़ाऊ काम है जिसमें शैली करित डिजाइन है। ऐसा ही जड़ाऊ काम कब्रों के चारों ओर बने संगमरमर के पर्दे की सुंदर जालियों के हाशियों पर हैं। ये महीन जालियाँ, कलात्मक घटपल्लव और जड़ाऊ काम अत्यन्त उत्कृष्ट श्रेणी की कलाएँ हैं और अपने-अपने क्षेत्र में अद्वितीय हैं। संसार में ऐसे सुंदर शिलापट्टों का अन्यत्र कहीं प्रयोग नहीं हुआ है।

संदर्भ ग्रन्थ

1. मैके, चन्हूदड़ों, एक्सकेवेशन्स, 1, 46, 190
2. मैके, फर्दर एक्सकेवेशन्स एट मोहनजोदड़ो, 1,184
3. वैत्स, एक्सकेवेशन्स एट हड़प्पा, 1, 207 और आगे।
4. वही
5. मैक्रिडल कृत एंशेंट इंडिया एज डिस्क्राइब्ड बाई मेगस्थनीज एंड एरियन, पृ. 65-69
6. देखिये फाहियान-लेगो, पृ. 77
7. देखिये अर्थशास्त्र, दुर्गविधान, 2, 21
8. जर्नल आफ रॉयल एशियाटिक सोसायटी, 1915 पृ. 63 और आगे तथा 403 और आगे।
9. आर्कियोलोजिकल सर्वे ऑफ इंडिया, 1912-13, पृ. 76
10. स्मिथ, अशोक, पृ. 87

11. वैडल, डिस्कवरी ऑफ दि एक्जेक्ट साइट आफ अशोकाज क्लासिक कैपिटल ऑफ पाटलिपुत्र, कलकत्ता, 1892।
12. इंडियन आर्ट, पृ. 85, 88
13. देखिये, जगदीश गुप्त कृत प्रागैतिहासिक चित्रकला।
14. पर्सी ब्राउन, वही, पृ. 13
15. वही
16. फर्गुसन, हिस्ट्री ऑफ इंडियन एण्ड इस्टर्न आर्किटेक्चर, 1, 130-31
17. हुल्स, कर्पस इंशक्रिप्शन इंडिकेरम, 1, 181
18. पर्सी ब्राउन, इंडियन आर्किटेक्चर (बुद्धिस्ट एण्ड हिन्दू), पृ. 11
19. वही, पृ. 12
20. देखिये थपलियाल का लेख ''दि सिबालिज्म इन सारनाथ लायन कैपिटल एण्ड इट्स पर्पज'' जर्नल ऑफ यू. पी. हिस्टारिकल सोसायटी, भाग 8, पृ. 11
21. पर्सी ब्राउन, वही, पृ. 12
22. मेमोयर्स ऑफ आर्कियोलोजिकल सर्वे ऑफ इंडिया, नंबर 46, पृ. 5
23. स्मिथ कृत अशोक, पृ. 110-111
24. ए हैंडबुक आफ इंडियन आर्ट, पृ. 40-45
25. राधा कमल मुकर्जी, भारत की संस्कृति और कला, पृ. 93
26. वासुदेव शरण अग्रवाल, सारनाथ, पृ. 9
27. देखिये, जर्नल आफ रायल एशियाटिक सोसायटी, 1908
28. वाचस्पति गैरोला कृत भारतीय संस्कृति और कला, पृ. 312
29. भारत सरकार द्वारा राष्ट्रीय मुहर अथवा चिह्न के रूप में स्वीकार किया गया।
30. देखिये, के. के. थपलियाल, जर्नल आफ यू. पी. हिस्टारिकल सोसायटी, म्युसिटीज, 1930, पृ. 11 और आगे।
31. कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इंडिया, भाग एक (1968), पृ. 562-563
32. एज आफ दि नंदाज एंड मौर्याज, 373
33. ऋग्वेद, 7, 2, 1 और 1, 2, 4, 7 देखिये वैदिक इंडेक्स, 2, 483
34. दीघ निकाय, 14, 5, 11 और सेकण्ड बुक ऑफ दि ईस्ट, 11, 93
35. ए गाइड टू सांची, पृ. 33
36. डा. नीहाररंजन रे कृत मौर्य एण्ड शुंग आर्ट।
37. कुमार स्वामी कृत इंडिया एंड इंडोनेशियन आर्ट।
38. देखिये, बर्गेस, बुद्धिस्ट केव टेम्पल्स।
39. वही, पृष्ठ 8 और आगे।

40. बर्गेस, वही, पृ. 12 और आगे।
41. बर्गेस, वही, पृ. 22, 23
42. बर्गेस, पृ. 26 और आगे।
43. कनिंघम, स्तूप आफ भरहुत।
44. एस. सी. काला, भरहुत वेदिका।
45. सर एलेक्डजेंर कनिंघम
46. वही
47. शुंगों के राज्य में।
48. बेनी माधव बरुआ, भरहुत और वासुदेव शरण अग्रवाल, भारतीय कला।
49. देखिये कनिंघम कृत भिल्सा टोप्स, पृ. 5-91
50. श्रीमती देवला मित्र, सांची, पृ. 3-4 .
51. देखिये सर जान मार्शल कृत दि मानूमेण्ट्स आफ सांची, भाग-1
52. सामान्यत: साहित्य में 64 कलाओं का उल्लेख हुआ है किंतु वात्स्यायन कृत कामसूत्र में 66 कलाओं की सूची उपलब्ध है।
53. कनिंघम कृत आर्कियोलोजिकल सर्वे रिपोर्ट, 10, पृ. 46-54
54. देखिये, उदयगिरि गुहा लेख, संख्या 6
55. द बाथ केव्ज, पृ. 6 और आगे।
56. कनिंघम कृत आर्कियोलोजिकल सर्वे रिपोर्ट, 130-36
57. एपिग्राफिया इंडिका, 36, 305
58. कनिंघम, वही, 10, पृ. 60 और स्मिथ हिस्ट्री आफ फाइन आर्ट्स, पृ. 33
59. वासुदेव उपाध्याय, गुप्त साम्राज्य का इतिहास, 228
60. बनर्जी, दि एज आफ दी इंपीरियल गुप्ताज, पृ. 135 और आगे।
61. देखिए कृष्णदत्त बाजपेयी कृत सागर थ्रू द एजेज और कनिंघम, वही, 10, पृ. 823
62. मेमोयर ऑफ आर्कियोलोजिकल सर्वे नं. 16 (भूमरा का मंदिर)
63. देखिये, माधव स्वरूप वत्स कृत, गुप्त टेम्पुल एट देवगढ़ (मेमोयर्स आफ आर्कियोलोजिकल, सर्वे ऑफ इण्डिया नं. 17) और कनिंघम कृत आर्कियोलोजिकल सर्वे रिपोर्ट, 10, 105
64. दि एज ऑफ दि इम्पीरियल गुप्ताज, पृ. 145 और आगे।
65. कनिंघम कृत आर्कियोलोजिकल सर्वे रिपोर्ट, 11, 40 और आर्कियोलोजिकल सर्वे आफ इंडिया, एनुअल रिपोर्ट, 1908-09, पृ. 8
66. कनिंघम, वही, 9, 41-44
67. कनिंघम, वही, 10-62
68. हरमन गीयत्स, इंपीरियल, रोम एंड जेनेसिस आफ क्लासिकल इंडियन आर्ट, ईस्ट एंड वेस्ट, 10, 153

69. फर्गुसन, इंडियन आर्किटेक्चर, 132, पर्सी ब्राउन इंडियन आर्ट, इंडियन आर्किटेक्चर, 50-51 और वासुदेवशरण अग्रवाल, स्टडीज इन गुप्त आर्ट, पृ. 226-27
70. जर्नल आफ एशियाटिक सोसायटी, (चौथी सीरीज), पृ. 79-81
71. देखिये जर्नल आफ एशियाटिक सोयायटी, 8, 79-81
72. आर्कियोलोजिकल सर्वे रिपोर्ट, 1907-8, पृ. 189 और पर्सी ब्राउन, इंडियन आकिटेक्चर, पृ. 63 और आगे।
73. बुकालन, ईस्टर्न इंडिया
74. कनिंघम, वही 1, 941
75. ऐंशेंट इंडिया, 1, 34 और 4, 133, 167
76. पुरातत्त्व विभाग (ग्वालियर राज्य) का वार्षिक प्रतिवेदन, 1927, पृ. 19
77. कनिंघम, महाबोधि आर द ग्रेटेस्ट बुद्धिस्ट टेम्पुल एट बोध गया, पृ. 18
78. कुमारस्वामी, हिस्ट्री आफ इंडियन एंड इंडोनेशियन आर्ट, पृ. 81 और क्लासिकल एज. पृ. 517-18
79. कनिंघम कृत आर्कियोलोजिकल सर्वे रिपोर्ट, 1, 111
80. स्टेला क्रैमरिख, इंडियन स्कल्पचर, प्लेट 46, 107
81. आर्कियोलोजिकल सर्वे रिपोर्ट, 1907-8, पृ. 58
82. देखिये, वाटर्स कृत हुवान च्वांग, 2, 164
83. मृच्छकटिक, अंक 4
84. कुमार गुप्त का मंदसौर अभिलेख (गुहा लेख 18)
85. डिक्शनरी ऑफ हिन्दू आर्किटेक्चर, 359-61
86. गुप्त लेख नं. 1, इलाहाबाद स्तंभ लेख।
87. गुप्त लेख नं. 15, कहांव स्तंभ लेख।
88. गुप्त लेख नं. 32, महरौली स्तंभ लेख।
89. गुप्त लेख नं. 19, बुद्धगुप्त का एरण लेख।
90. गुप्त लेख नं. 10, विलसद स्तंभ
91. फ्लीट, गुप्त लेख नं. 20
92. डा. आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव कृत मध्यकालीन भारत, पृ. 128
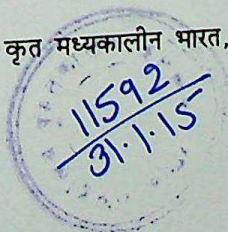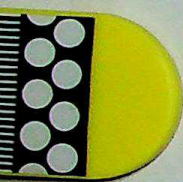
बहुभाषाविद् एंव भारतीय संस्कृति की अप्रतिम अध्येतृ डा. किरण कुमारी ने अब तक हिन्दी वांग्मय में अपना स्पृहणीय स्थान बना लिया है। मौलिक चिन्तन की धनी विदुषी लेखिका की कई कृतियों ने अपनी असंदिग्ध उपयोगिता, सूचना- संप्रेषणीयता एंव पठनीयता के फलस्वरूप लोकप्रियता के उन उतुंग शिखरों का संस्पर्श किया है जो औरों के लिए असंभव हीं है। एक प्रतिष्ठित महिला-महाविद्यालय में संस्कृत की व्याख्याता डा. किरण ने कई सम्मेलनों और संगोष्ठियों में प्रशंसनीय सहभागिता द्वारा अपनी अमित पहचान गढ़ी है। तीन विषयों में एम.ए.के साथ पी.एच.डी. उपाधि से अलंकृत लेखिका की जिह्वा पर ऐसे वाग्देवी साक्षात् विराजती है जिसके फलस्वरूप उनके लेखन के साथ-साथ उनकी वाचा शक्ति भी खूब प्रशंसनीय हुई है।

अब तक उनकी निम्नलिखित कृतियां प्रकाशित एंव प्रशंसित है।

१. वैदिक साहित्य और संस्कृति, प्रथम भाग
२. वैदिक साहित्य और संस्कृति, द्वितीय भाग
३. धर्म और दर्शन
४. वैदिककालीन शिक्षा
५. गाँधी एंव मार्क्स वर्त्तमान के आलोक में
६. गाँधी विचार और दर्शन
७. क्या कहते हैं पुराण
८. क्या हैं उपनिषदों में
९. त्रिगुणात्मक अद्वैत दर्शन

ग्रंथो के अतिरिक्त प्रतिष्ठित पत्र- पत्रिकाओं एंव शोधाधारित 'जर्नलों' में भी उन्होंने विपुल लेखन किया है। इसके साथ ही इन्होंने मानव संसाधन विकास मंत्रालय शिक्षा विभाग द्वारा आयोजित प्रोजेक्ट ''दर्शनशास्त्र परिभाषा कोश'' में भी कार्य कर चुकी है।

प्रकाशक

2011
Vol.1: *xxiv, 460 pp., 25 cm.* Rs. 2500/-
Vol.2: *xxii, 316 pp., 25 cm.* Rs. 1800/-
Vol.3: *xx, 308 pp., 25 cm.* Rs. 1700/-
ISBN 978-81-7646-751-3 (Set)
ISBN 978-81-7646-752-0 (Volume 1)
ISBN 978-81-7646-753-7 (Volume 2)
ISBN 978-81-7646-754-4 (Volume 3)
Rs.6000 (Set of 3 volumes)